सहज ध्यान योग

प्राणायाम व कुण्डलिनी

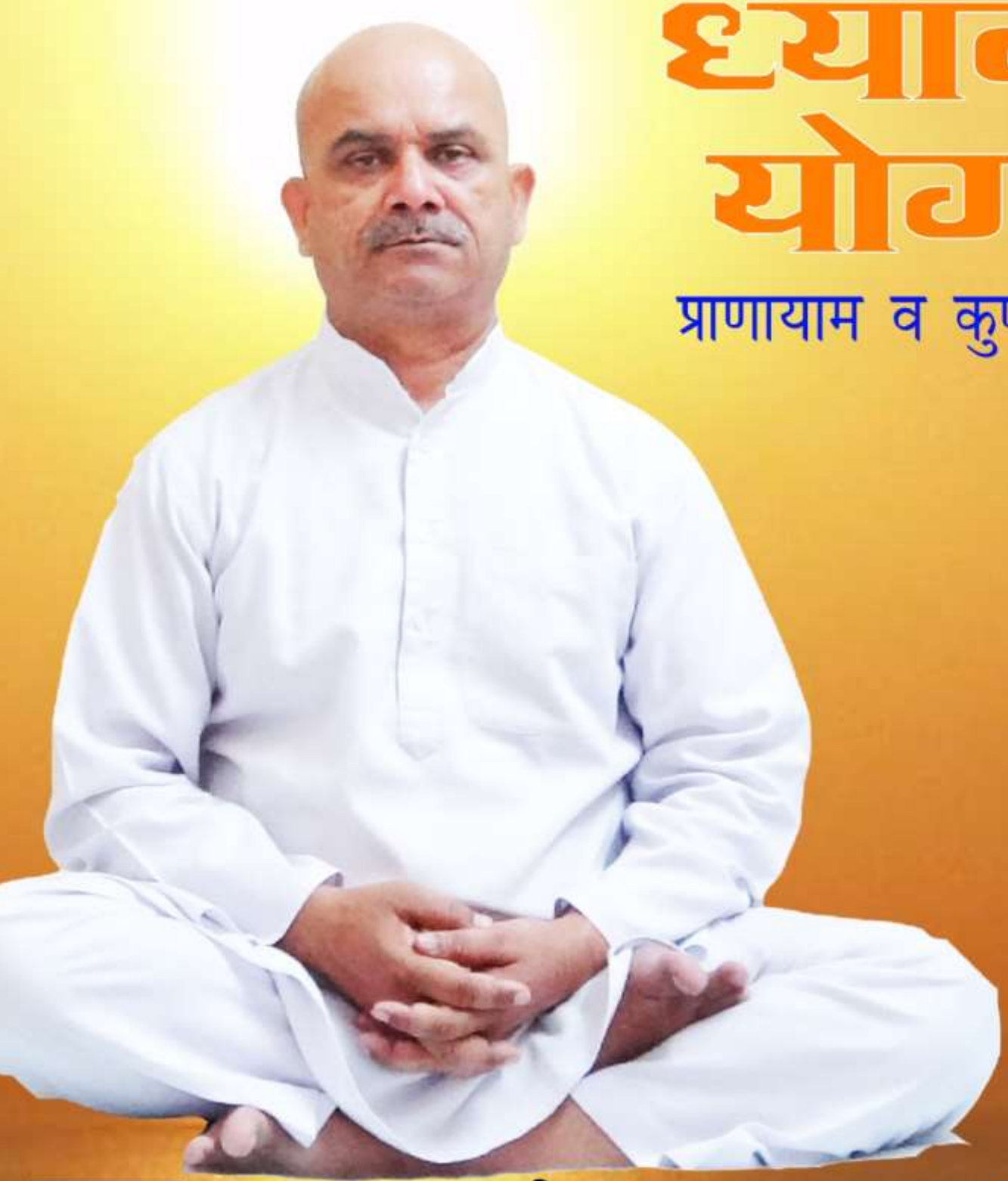

1
BOOK

योगी आनन्द जी

सहज ध्यान योग

प्राणायाम व कुण्डलिनी

योगी आनन्द जी

इस पुस्तक में सम्मिलित सामग्री के किसी अंश को किसी भी रूप में कोई प्रकाशक/लेखक/संपादक – इस पुस्तक के प्रकाशक से अनुमति लिये बिना प्रयोग न करें। ऐसा करना कॉपीराइट अधिनियम का उल्लंघन करना होगा।

द्वितीय संस्करण

ISBN 978-93-5288-031-7

© लेखक

योगी आनन्द जी

anandkyogi@gmail.com

http://www.kundalinimeditation.in/

http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog

https://www.fb.com/sahajdhyanyog/

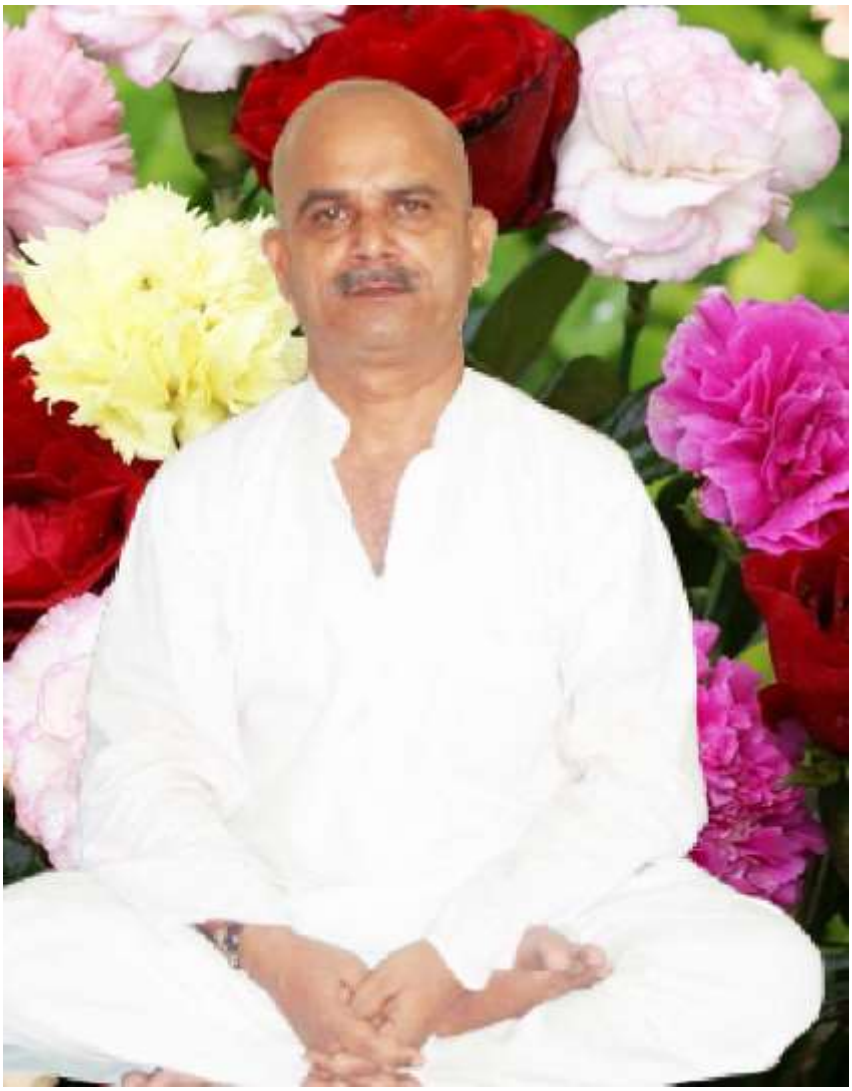

योगी आनन्द जी

प्रस्तावना

इस लेख के द्वारा मैं सभी पाठकों को जानकारी देना चाहता हूँ कि वास्तव में योग क्या है तथा इसका महत्त्व क्या है। वर्तमान समय में ज्यादातर पुरुषों को योग के विषय में सही जानकारी नहीं हो पा रही है। इसका सबसे बड़ा कारण है बहुत से मार्गदर्शकों को योग का पूर्ण ज्ञान न होना, इसीलिए कभी-कभी योग के विषय में भ्रमित करने वाली बातें सुनने को मिलती हैं।

आजकल जो वास्तव में योगी हैं, वे ज्यादातर अपने आपको प्रकट नहीं करते हैं। कुछ पुरुष छोटी-छोटी सिद्धियाँ प्राप्त करके चमत्कार दिखाते हैं और अपने आपको योगी कहते हैं। चमत्कार योग नहीं है। योग के द्वारा साधक अंतर्मुखी होकर प्रकृति के वास्तविक स्वरूप की जानकारी करता है तथा अपनी प्रवृत्ति अपने चेतन स्वरूप की ओर करता है। प्रकृति की वास्तविकता जानने पर दुख स्वरूप भौतिक जगत के आवागमन से मुक्त हो जाता है, फिर अपने स्वरूप में अवस्थित होकर चिरशांति को प्राप्त होता है।

हे अमृत के पुत्रों! योग के विषय को जानो और उससे लाभ लेने का प्रयास करो। फिर अपने निजस्वरूप में सदैव के लिए अवस्थित हो जाओ और परम शांति को प्राप्त कर अपने जीवन को दिव्य बनाओ– यही मेरा उद्देश्य है।

धन्यवाद!

– योगी आनन्द जी

आभार

पुस्तक के रूप में योग-सम्बन्धी साधन-संग्रह का बड़ा कार्य सफलता पूर्वक संपन्न हुआ। प्रारंभ में यह कठिन सा कार्य जान पड़ता था। स्वाभाविक रूप से किसी एक व्यक्ति के लिए इसे पूरा कर पाना मुश्किल होता। इस कार्य को पूर्ण करने में प्रो० रवीन्द्र, डॉ. रविकान्त पाण्डेय (पीएच.डी.), प्रो० अंशुल, रजत (पीएच.डी.), कौशलेन्द्र (पीएच.डी.), विकास (एम.टेक.) एवम् आशीष (एम.टेक.) का योगदान उल्लेखनीय है। मैं सर्वप्रथम रजत ढींगड़ा, जो आईआईटी कानपुर में शोधार्थी था, को श्रेय देना चाहूँगा। उसने अपने मित्रों से भी व्यक्तिगत आग्रह करके इस महत कार्य को करने में सहयोग दिलवाया। जनकल्याण के लिए इतनी लगन से काम करने के लिए मैं रजत को विशेष आशीर्वाद देता हूँ। प्रो० अंशुल ने व्यस्त होते हुए भी पुस्तक में अपने मूल्यवान समय और श्रम का महत्वपूर्ण योगदान अर्पित किया।

पुस्तक को तैयार करने के लिए कुछ शक्तियों ने भी मार्गदर्शन किया। अंत में, संभव है कि कुछ नाम छूट गए हों, तथापि पुस्तक के निर्माण में दृश्य-अदृश्य, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिनका भी सहयोग रहा है, उन सभी साधकों को शुभ आशीष!

“त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये”

– योगी आनन्द जी

निवेदन

प्रिय पाठकों, यह लेख मैं आदिगुरु शंकराचार्य की प्रेरणा से लिख रहा हूँ। मैं एक छोटा-सा साधक हूँ। मेरे अन्दर जितनी योग्यता और ज्ञान है, उसी के अनुसार योग पर लेख लिखूँगा। इस लेख में कहीं पर यदि कोई त्रुटि हो तो कृपया हमें क्षमा कर दीजिएगा। यदि कोई साधक या योगी हमें हमारी त्रुटियों से अवगत कराएगा, तो मैं उसका आभारी रहूँगा। शायद मैं लेख नहीं लिखता, मगर जब मैं शाकम्भरी के एक आश्रम में था, उस समय आदिगुरु शंकराचार्य जी की हम पर कृपा हुई। फिर ध्यानावस्था में उन्होंने हमसे कहा– **"आप तत्त्वज्ञानी हैं, महान योगी हैं, इसलिए जन-कल्याण के लिए आपको कुछ करना चाहिए।"** मैं उस समय उनके कहने का अर्थ नहीं समझ सका। मैं बोला– **"कृपया आप स्पष्ट कहिए ताकि मैं आपके कहने का अभिप्राय समझ सकूँ।"** वे बोले– **"आप योग पर लेख लिखिए।"** मैं बोला– **"मेरे अन्दर इतनी योग्यता कहाँ जो योग पर लेख लिख सकूँ। योग पर लेख लिखने के लिए योग में परिपूर्ण होना जरूरी है।"** वे बोले– **"तुम अपने आपको अयोग्य क्यों समझते हो? तुम लेख शुरू कर दो, तुम्हारे अन्दर क्षमता स्वयमेव आ जाएगी। भविष्य में तुम योग के विषय में परिपूर्ण हो जाओगे, हमारा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"** फिर मैंने जनवरी 1994 में इस लेख को लिखना शुरू कर दिया। हमें भी योग के माध्यम से कुछ जानकारियाँ हासिल करनी थी तथा अपने आपको उच्चतम स्थिति में ले जाना था ताकि मैं कुछ विषयों पर अधिकारपूर्वक लिख सकूँ; मैं ध्यान करता और जब इच्छा होती उस समय थोड़ा लेख भी लिख लिया करता था। इस तरह इस लेख को पूरा करने में चार वर्ष लग गये।

मैं अपनी गुरुमाता जी की कृपा से योग में इस अवस्था को प्राप्त हुआ। उन्होंने हमें अपने मार्गदर्शन से योग में परिपक्व बना दिया। वैसे हमें योग का मार्गदर्शन कई महापुरुषों द्वारा प्राप्त हुआ है। ये महापुरुष व दिव्यशक्तियाँ सूक्ष्म लोक के वासी हैं। ये ध्यानावस्था में हमारी शंकाओं का समाधान किया करती थीं। हमारा मार्ग **'सहज ध्यान योग'** है। योग हर मनुष्य कर सकता है। इसका अभ्यास करने के लिए आवश्यक नहीं कि आप को आश्रम या जंगल में जाना पड़ेगा। आप गृहस्थ जीवन में रहकर भी न केवल

योग का अभ्यास कर सकते हैं, बल्कि अपने लगन व परिश्रम से इसमें उच्चावस्था भी प्राप्त कर सकते हैं। योग का मार्ग कठिन अवश्य है, मगर थोड़े से संयम का पालन करके आपका अभ्यास बराबर चलता रहेगा। हमारे गुरुदेव जी ने तो गृहस्थ में रहकर ही साधना की तथा हम जैसे ढेरों साधकों का मार्गदर्शन किया। उनका सारा समय मार्गदर्शन के लिए ही समर्पित रहा।

प्रिय पाठकों! हमें आशा है कि आप हमारे लेख को पढ़कर लाभान्वित होंगे। जो साधक साधना करते हैं, उन्हें यह लेख मार्गदर्शन का काम भी करेगा। मगर योग का मार्गदर्शन बिना गुरु के नहीं हो सकता है। योग पर लिखी पुस्तकों से सिर्फ सहायता ही मिलती है। आजकल बाजार में योग पर लिखी ढेरों पुस्तकें उपलब्ध हैं। कुछ लेखक तो पुस्तकीय ज्ञान से ही योग पर लेख लिखते हैं। मगर जिन्होंने योग का अभ्यास किया हो और अपने अभ्यास के आधार पर लेख लिखा हो, ऐसी पुस्तकें कम होंगी। योग अभ्यास की चीज है। किताबी ज्ञान से सिर्फ योग के विषय में जाना जा सकता है। अथवा जो साधक साधना करते हैं, उन्हें इस प्रकार की पुस्तकों से थोड़ी सहायता मिल जाती है तथा शंकाओं का समाधान हो जाता है। इस दृष्टि से योग पर लिखी पुस्तकें उपयोगी हैं।

इस लेख में मैं कुण्डलिनी और प्राणायाम पर विस्तार से लिखूँगा ताकि साधकों को अपनी समस्याएँ हल करने में आसानी हो। हमने स्वयं कुछ लोगों के मुँह से कुण्डलिनी के विषय में उल्टा-सीधा कहते हुए सुना है। ऐसे अज्ञानी लोग स्वयं भ्रम में हैं और दूसरों को भी भ्रम में डालने की कोशिश कर रहे हैं। हे साधकों! आप किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में अभ्यास अवश्य करें।

प्रिय पाठकों! आप अपने असली स्वरूप को पहचानो। आप आदिकाल से महान हैं, मगर अज्ञानता के कारण मन और इन्द्रियों के वश में हो गए हैं। इसलिए आप जन्म-मृत्य के बन्धन में बंधे हुए हैं। इस बन्धन को तोड़ने का प्रयास कीजिए, आप अवश्य सफल होंगे। हाँ, सफलता भले ही आपको देर से मिले। मैं भी आपकी तरह साधारण पुरुष हूँ, मगर सद्गुरु के मार्गदर्शन में योग की ऊँचाइयों को छुआ है। इसीलिए हमारे अन्दर योग पर लेख लिखने का सामर्थ्य आ पाया है। आप अपने शरीर के अंदर छुपी सुषुप्त शक्तियों को जगाने का प्रयास करो। आपका परिश्रम अवश्य फल देगा और आप उन शक्तियों के स्वामी होंगे। हे अमृत के पुत्रों! अपने आपको पहचानो, आप अपने को भूल चुके हो; कब तक इस

परिवर्तनशील माया से युक्त क्षणभंगुर संसार को अपना समझते रहोगे! यह संसार परिवर्तनशील है, यहाँ सिर्फ दुःख ही दुःख है। अपने निजस्वरूप में स्थित होकर आनन्दमय हो जाइए।

योग एक ऐसा मार्ग है जिसका कोई अंत नहीं है। यह मार्ग अनंत है। इसलिए योग के विषय में पूरी तरह से नहीं लिखा जा सकता है। फिर भी मैंने योग के विषय में थोड़ा लिखने का प्रयास किया है। मैं जानता हूँ, योग के विषय में बहुत आवश्यक बातें लिखनी छूट गयी होंगी। यदि मैं विस्तार से लिखने का प्रयास करता तो लेख बहुत लंबा हो जाता। इसलिए सभी बातों को ध्यान में रखते हुए संक्षेप में लिखा है।

मुझे मालूम है कि जब नया साधक साधना करना शुरू करता है तो उसके सम्मुख कई प्रकार के अवरोध आते हैं तथा आगे के मार्ग की पूर्ण रूप से जानकारी नहीं होती है। इसलिए कहा गया है कि योग करने के लिए गुरु अथवा मार्गदर्शक होना आवश्यक है। हमारा भी यही कहना है कि ध्यान शुरू करने से पहले योग में परिपक्व अभ्यासी व अनुभवी योगी की तलाश करें, फिर उसके निर्देशन में साधना करें। साधकों! एक साधारण व्यक्ति अनुभवी योगी के विषय में नहीं जान सकता कि यह योगाभ्यास में परिपक्व है अथवा नहीं। आप किसी भी योगी से तुरंत दीक्षा न लें, बल्कि उसके निर्देशन में योग का अभ्यास करते रहें। क्योंकि आजकल वास्तविक योगी बहुत ही कम मिलते हैं।

साधकों! यह मत सोचो कि आप योग का अभ्यास कर सकते हैं अथवा नहीं। मैं कहता हूँ, योग का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। गृहस्थ में रहकर भी अभ्यास किया जा सकता है, आप करके तो देखिये! यदि विद्यार्थी अभ्यास करें तो उनके लिए अति उत्तम है क्योंकि योग के अभ्यास से मस्तिष्क का विकास होता है। यदि परिवार में प्रत्येक सदस्य सामूहिक रूप से बैठकर अभ्यास करें तो भविष्य में निश्चय ही आपसी मेल बढ़ेगा तथा मानसिक तनाव आदि दूर होगा। योग का अभ्यास करने का अर्थ यह नहीं है कि उसे सफलता प्राप्त करने के लिए समाज त्याग कर आश्रम या जंगल आदि में जाना चाहिए। योग के अभ्यास से इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होती हैं, मन की चंचलता कम होती है, गंभीरता आती है तथा शांति मिलती है, स्थूल रूप से शरीर निरोग होता है, मनुष्य के अन्दर का चिड़चिड़ापन व क्रोध कम होता है, प्रसन्नता बढ़ती है, सांसारिक दुःख धीरे-धीरे कम महसूस होने लगते हैं और आनन्दानुभूति बढ़ती जाती है।

अब आप योग के विषय में यह न सोचें कि मालूम नहीं हमसे योग होगा कि नहीं होगा। मैं कहता हूँ आपसे योग अवश्य होगा। थोड़ी-सी लगन लगाइए तथा थोड़ा परिश्रम कीजिए तो सफलता अवश्य

मिलेगी। जिस प्रकार हमने ध्यान करने की विधि लिखी है, उसी अनुसार आप ध्यान करने की विधि अपनाइए। यदि आपको कोई बात समझ में न आए अथवा योग के विषय में जानकारी प्राप्त करनी हो तो मैं अपनी योग्यतानुसार आपको जानकारी देने का प्रयास करूँगा।

मैं उन साधकों से कहना चाहता हूँ जो अभ्यास कर रहे हैं तथा उच्चावस्था को प्राप्त है। यदि हमसे कुछ पूछेंगे तो मैं अपनी योग्यतानुसार बताने का प्रयास करूँगा। वैसे आप हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं। हो सकता है आपको हमारे जैसे अनुभव न आये हों, मगर अनुभवों का अर्थ लगभग एक जैसा ही होता है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद आप अपना अभ्यास कम न करें, बल्कि अभ्यास करते रहें। क्योंकि आपको अभी बहुत लंबा सफर तय करना है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद ही चित्त पर स्थित कर्माशयों का अधिक मात्रा में नाश होना शुरू होता है। अभी योग में कई सीढ़ियाँ चढ़ना शेष है, इसलिए कठोर अभ्यास में लगे रहिए क्योंकि आपके चित्त में **'क्लेशात्मक कर्माशय'** शेष होते हैं। इन्हें भोगकर नष्ट करना होता है ताकि अविद्या से मुक्ति मिल सके तथा आत्मा में अवस्थिति हो सके।

–योगी आनन्द जी

विषय-सूची

पहला अध्याय

योग और योग का महत्त्व	1
ध्यान करने की विधि	10
शुद्ध सात्विक भोजन	33
दान	35
परोपकार	37
इच्छाएँ	39
निंदा	42
नारी	46
सुख और दुख	50
धैर्य	54
मौन	57
गुरु	59
शक्तिपात	63
योगी और भक्त	76
संन्यासी	81
वैराग्य	85
मृत्यु और मृत्यु के बाद	89

दूसरा अध्याय

अष्टांग योग	103
आसन	120
प्राणायाम	131

त्राटक 142
अशुद्धता 150
मंत्र जाप 154
वलय 159
ज्ञान चक्र 168
दिव्य दृष्टि 172
सिद्धियाँ 178
कुण्डलिनी 186
समाधि 219
ज्ञान 229
मोक्ष 234
लोकों के विषय में 239
योगबल 257

तीसरा अध्याय

शरीर 269
अवस्थाएँ 281
कोष 284
नाड़ी 286
चक्र 288
प्राण 292
बन्ध 294
कर्म 296
अहंकार और इन्द्रियाँ 311
चित्त 324

गुण 336
अविद्या और माया 341
प्रकृति 345
ईश्वर 349
आत्मा 354
सृष्टि और प्रलय 357
ब्रह्म 363

पहला अध्याय

योग और योग का महत्त्व

आदिकाल से लेकर आज तक भारतवर्ष योगियों का देश रहा है। सभी योगियों ने शरीर, मन और प्राण को शुद्ध बनाने पर जोर दिया है, जिससे ब्रह्म की सत्ता का ज्ञान हो सके तथा आत्म-साक्षात्कार किया जा सके। तत्त्वज्ञान और आत्मा के साक्षात्कार के लिए एक ही मार्ग है, वह है योग। इसलिए योगी तत्त्वज्ञानी व दार्शनिक होते हैं। योग जितना सर्वांग होगा, उतने ही दार्शनिक विचार होंगे। योग का अर्थ सिर्फ सत्य को जानना ही नहीं, बल्कि उसको अपने जीवन में उतार लेना है। योगियों ने इस सत्य को जानने के लिए अलग-अलग तरीके अपनाए और वही तरीके आगे चलकर अलग-अलग योग मार्ग हुए।

योग शब्द संस्कृत के युज् धातु से बना है। जिसका अर्थ है जोड़ना, मिलना अथवा तादात्म्य। इस अवस्था में योगी को जीवात्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति हो जाती है। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को योग कहते हैं। वैसे भी योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ ही है। योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग कराने की प्रक्रिया बतलाती है; जीवात्मा को इस मायारूपी स्थूल जगत के वास्तविक रूप से अवगत कराकर, परम शांत व शुद्ध ज्ञान से युक्त करके अपने वास्तविक स्वरूप से परिचय करा देती है।

योग में सबसे अधिक महत्त्व मन को नियंत्रण करने के उपाय से है, क्योंकि मन के नियंत्रण के बिना परमात्मा से तादात्म्य होना असंभव होता है। मन के नियंत्रण से साधक के अंदर की संकल्पशक्ति बहुत बढ़ जाती है तथा विचारों की संकीर्णता जाती रहती है और मन में विशालता आती है। इससे निश्चय ही साधक के अंदर आनन्दानुभूति बढ़ेगी। मन को नियंत्रण करने के लिए साधक को स्वयं अपने को नियम-संयम में रखना होगा तथा योग के नियमों का पालन करना होगा। इन योग के नियमों का पालन करने से साधक के अंदर असाधारण गुणों की प्राप्ति होने लगती है। योग के अभ्यास से उसे विशेष प्रकार की दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे उसे इस स्थूल जगत से परे सूक्ष्म जगत व सूक्ष्म पदार्थों की जानकारी प्राप्त होती है और उसे ज्ञान भी प्राप्त होता है। संकल्पशक्ति बढ़ने से साधक ढेरों प्रकार की असाधारण शक्तियाँ प्राप्त करता है।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड की संरचना है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य के शरीर की संरचना होती है। ब्रह्माण्ड, ब्रह्म और उसकी शक्ति द्वारा निर्मित है। मनुष्य के शरीर में भी ब्रह्म व उसकी शक्ति का स्थान है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में ईश्वर व सूक्ष्म लोक हैं, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में सभी विद्यमान हैं। योगी जब अपने शरीर में स्थित सूक्ष्म चक्रों को जाग्रत कर क्रियाशील कर लेता है, उस अवस्था में योगी जहाँ चाहे, जिस लोक में चाहे, सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। योगी अपने शरीर में मूलाधार चक्र में स्थित ब्रह्मशक्ति कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्त्रार में स्थित ब्रह्म से मिला देते हैं। इस मिलन को योग कहते हैं। इस मिलन की अवस्था में योगी निर्बीज समाधि में होता है। मगर पर-वैराग्य के संस्कार रह जाने के कारण, उसे बराबर समाधि का अभ्यास करना जरूरी है जब तक ऐसे पर-वैराग्य के संस्कार नष्ट न हो जाएँ।

योग के अभ्यास से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को देखा जा सकता है। प्रकृति और उसके विकारों को वास्तविक रूप में देखने की योग्यता आ जाती है। योग द्वारा हम यह जान सकते हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, हम पहले कहाँ थे, भविष्य में क्या होगा, हम कहाँ होंगे, हमारा पिछला जन्म क्या था और हमारे कर्म पहले कैसे थे। इसके अलावा हम वर्तमान पाप-पुण्य कर्मों को भी भली-भांति समझ सकते हैं, तथा हमारा कर्तव्य क्या है आदि की भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। योग आलस्य का सख्त विरोधी है। योग से शरीर हल्का हो जाता है, निरोग रहता है, वासना की इच्छा समाप्त होने लगती है, चेहरे पर तेज आ जाता है व बुढ़ापा देर से आता है।

हमारा शरीर देखने में हाड़-माँस व चमड़ी द्वारा बना दिखायी देता है, परंतु इसके अंदर नाना प्रकार की दिव्यशक्तियाँ स्थित हैं। शरीर के उन स्थानों को, जहाँ पर गुप्त शक्तियों के केंद्र हैं, चक्र कहते हैं। जो साधकगण और पाठक योग के विषय में परिचित हैं, वे इन चक्रों का अर्थ अच्छी तरह से जानते होंगे। सब लोग जानते हैं कि जाग्रत अवस्था में मनुष्य की सोचने-समझने, देखने-सुनने आदि की सभी क्रियाएँ मस्तिष्क में स्थित विभिन्न केंद्रों के क्रियान्वित होने पर होती हैं। इन केंद्रों (चक्रों) में भी इसी प्रकार की क्रियाओं को करने की योग्यता होती है, परंतु इन चक्रों की योग्यता अत्यन्त उच्चकोटि की होती है। इन चक्रों के क्रियान्वित होने पर मनुष्य को ध्यानावस्था में ब्रह्म का दर्शन प्राप्त होता है। जिस प्रकार स्थूल आँखों के द्वारा स्थूल जगत के सूर्य का दर्शन होता है, उसी प्रकार इन चक्रों के क्रियान्वित होने पर योगी को प्रकृति से परे शुद्ध चेतन तत्त्व की अनुभूति होती है। इन चक्रों को क्रियाशील करने की क्रिया को योग

कहते हैं। इन चक्रों को क्रियाशील करने के तरीके अलग-अलग होते हैं। यही अलग-अलग तरीके विभिन्न प्रकार के योग मार्ग हैं। साधक अपनी सुविधा के अनुसार योग मार्ग का चयन करता है।

जीवात्मा के बन्धन का कारण अहंकार, बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ हैं। यही जीवात्मा को बन्धन में जकड़ते हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर सांसारिक विषयों के भोग में लिप्त रहती हैं। लिप्तता इतनी बढ़ जाती है कि सांसारिक पदार्थो को अपना समझने लगती हैं। अपना समझने के कारण राग की उत्पत्ति होती है और राग की पूर्ति न होने से द्वेष उत्पन्न होता है। फिर धीरे-धीरे तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्य मृत्यु के समय भी अज्ञानतावश सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में लिप्त रहता है अथवा सांसारिक पदार्थों से राग रखता है। वह मरना नहीं चाहता है, जबकि वह जानता है कि उसका मरना निश्चित है। यह सब कार्य तृष्णा करती है। यही सब जीवात्माओं के बन्धन का कारण है। मगर योग के द्वारा मनुष्य इस बन्धन से मुक्त हो सकता है। जब मनुष्य संयमित होकर गुरु द्वारा बताए गये योग मार्ग पर चलता है तो उसकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होने लगती हैं। योग के निरंतर अभ्यास के द्वारा मन, बुद्धि आदि अंतर्मुखी होने लगते हैं। इस अवस्था में सांसारिक पदार्थों से राग भी कम होने लगता है, तृष्णा कमजोर पड़ने लगती है और तमोगुणी अहंकार भी स्वच्छ होने लगता है। जब योग में निर्विकल्प समाधि का अभ्यास ज्यादा बढ़ने लगता है तो शेष कर्माशय भी समाप्त होने लगते हैं। जब ये शेष कर्माशय समाप्त हो जाते हैं तो जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जाती है।

पतंजलि के योग सूत्र के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देने की क्रिया को योग कहते हैं। जब योग द्वारा चित्त की वृत्तियाँ धीरे-धीरे पूरी तरह शांत हो जाती हैं तो उस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। जब चित्त में कर्माशय रूपी वृत्तियों का संचय होने लगता है तो इन वृत्तियों के कारण आत्मा छिप जाती है। इसी को आत्मा से दूर हट जाना कहते हैं। जिन साधनों द्वारा दूर हटी आत्मा का फिर दर्शन होने लगे, उस साधन को योग कहते हैं। चित्त की पाँच प्रकार की अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ हैं– **(1) मूढ़ावस्था, (2) क्षिप्तावस्था, (3) विक्षिप्तावस्था, (4) एकाग्रावस्था** और **(5) निरुद्धावस्था**। साधक की जब एकाग्र अवस्था होती है, तो चित्त में ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों होते हैं। योग का ज्यादा अभ्यास बढ़ने पर चित्त की निरुद्धावस्था प्राप्त होती है। अभ्यास ज्यादा बढ़ने पर जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव होता है। चित्त की वृत्तियाँ जब तक पूर्णतः

नष्ट नहीं होतीं तब तक जीव की अलग सत्ता रहती है। गीता के छटवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– **"योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, योगी शास्त्र ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ है, सकाम कर्म वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन, तुम योगी हो जाओ।"** इन शब्दों से लगता है कि योगी ही श्रेष्ठ है।

योगी योग के माध्यम से मन को स्थिर करके, शरीर के अंदर कहाँ क्या है, यह सब जानकर कि हर एक चक्र में, हर एक स्नायु केंद्र में अलौकिक शक्ति भरी है, उस सुषुप्त अलौकिक शक्ति को प्राणायाम और ध्यान द्वारा जाग्रत करते हैं। फिर उन अलौकिक शक्तियों के स्वामी बन जाते हैं। योगी योग के माध्यम से ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख तथा इन्द्रियों पर अपना अधिकार करके शांतचित्त होकर पृथ्वी पर शांति का राज्य स्थापित करने में सहायक हुए हैं, जैसे आदि गुरु शंकराचार्य, भगवान गौतम बुद्ध, भगवान महावीर, स्वामी विवेकानंद आदि।

चित्त की वृत्तियों को निरोध करने के लिए मन का एकाग्र होना जरूरी है। मन और प्राण का आपस में गहरा, अटूट रिश्ता है। मन को स्थिर करने से प्राण की गति कम होने लगती है। यदि प्राण को प्राणायाम द्वारा अनुशासित कर दिया जाए तो मन भी एकाग्र होने लगेगा। मन को वैराग्य द्वारा भी बाह्य विषयों से हटाने का धीरे-धीरे अभ्यास किया जाए तो मन में एकाग्रता आने लगती है। मन को एकाग्र करने के लिए इस तरह का अभ्यास धीरे-धीरे किया जाता है। शुरुआत में मन एकाग्र तो नहीं होता है, मगर अभ्यास में लगे रहने पर मन में एकाग्रता आने लगती है।

अध्यात्म मार्ग का मार्गदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिल जाता है, बल्कि पिछले जन्मों के अच्छे कर्मों के कारण मिलते हैं। हर किसी को गुरु बना लेना भी अच्छा नहीं है। आजकल इस मार्ग में गुरु बनने वालों की बहुतायत है। वास्तविकता यह है कि अनेक ढोंगी-पाखंडी और लोभी योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते हैं। इस कारण वास्तविक योगी को लोग पहचान नहीं पाते हैं। साधु-महात्मा के वेश में आजकल लोग धन कमाने में लगे रहते हैं। बहुत से संत-महात्मा पुस्तकों से ज्ञान हासिल कर, योग के विषय में खूब प्रवचन करते हैं। मगर इस प्रकार के संत-महात्मा योग का मार्गदर्शन नहीं कर सकते, क्योंकि योग का मार्गदर्शन वही कर सकता है जो अभ्यास द्वारा योग में पारंगत हो। ऐसे योगी आजकल बहुत कम संख्या में मिलते हैं। वास्तविक योगी ज्यादातर अपने आपको समाज से थोड़ा दूर रखते हैं, वे अपने आपको प्रकट नहीं करते। जो योगी कल्याण भाव से समाज में मनुष्यों के उत्थान में लगे हैं, उन्हें सदैव

समाज द्वारा अवरोध मिलता है। क्योंकि आजकल ढोगी-पाखंडी योगियों की कमी नहीं है, ऐसे योगी योग के नाम पर समाज के भोले-भाले अनभिज्ञ लोगों को ठगते हैं। थोड़ा-बहुत चमत्कार दिखाकर वे लोगों को प्रभावित करते हैं। इसीलिए समाज में उनका आदर सत्कार होता है, मगर जब उनकी असलियत सामने आती है तो वे योगी कुछ और ही निकलते हैं। समाज के भोले-भाले लोगों का क्या कसूर है जो वे ऐसे योगियों द्वारा ठगे जाते हैं। चमत्कार दिखाने वाली छोटी-छोटी सिद्धियों का यह अर्थ नहीं है कि वे योगी हैं। निम्न प्रकार की सिद्धियाँ थोड़े से संयम व परिश्रम से प्राप्त हो जाती हैं। योगी को भी साधना काल में सिद्धियाँ मिलती हैं, मगर इन सिद्धियों की ओर योगी ध्यान नहीं देता है। सिद्धियाँ योग में अवरोध का काम करती हैं। इसीलिए योगी इन सिद्धियों को छोड़कर आगे बढ़ जाता है क्योंकि उसे काफी आगे जाना होता है।

मनुष्य सांसारिक भोग के पीछे दौड़ लगाता रहता है, लेकिन भोगों को भोगने से भोग की इच्छा कम नहीं होती है, बल्कि ऐसी अवस्था में आग में घी डालने का कार्य जैसा होता है, जिससे दिनों-दिन तृष्णा को बढ़ावा मिलता है। इसी तृष्णा के कारण मनुष्य को जीवन भर शांति नहीं मिलती है। सारा जीवन अशांति में बीतता है। इन सबका कारण मनुष्य की इन्द्रियाँ हैं। योग के द्वारा मनुष्य की इन्द्रियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं। जिससे सांसारिक भोगों की इच्छा नहीं रहती। फिर मनुष्य पर तृष्णा अपना अधिकार नहीं कर पाती, बल्कि तृष्णा धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। योग में साधक अपने शरीर के अंदर ही सत्य की खोज करता है, बाह्य जगत में सत्य की खोज के लिए भटकना नहीं पड़ता। मनुष्य की इन्द्रियाँ परम सत्य का ज्ञान नहीं करा सकतीं, क्योंकि इन्द्रियों की एक निश्चित सीमा है। बाह्य इन्द्रियों से सिर्फ सीमित स्थूल ज्ञान हो सकता है। मगर सत्य का ज्ञान स्थूल जगत से परे है। मनुष्य के अंदर स्थित आत्मा, जो कि ब्रह्म का स्वरूप है तथा जगत का साक्षी है, वह चेतन स्वरूप व सत्य है। किसी वस्तु को अंदर और बाहर पूर्ण रूप से जानने के लिए एक मात्र उपाय है कि उसके साथ तादात्म्य स्थापित करें। जब हम मिलकर उसके साथ एक हो जाएँगे, तभी उसे सच्चे रूप में जान सकेंगे। इसलिए आत्मा के विषय में पूर्ण रूप से जानने के लिए हम अपनी इन्द्रियों को अंतर्मुखी कर दें, जिससे मन की चंचलता जाती रहेगी, मन में स्थिरता आयेगी और मन भी अंतर्मुखी हो जाएगा। निरंतर अभ्यास से आत्मा के साथ तादात्म्य हो जाएगा, तब सत्य का ज्ञान होना संभव हो जाएगा। सत्य का ज्ञान होने से अज्ञानता मिट जाएगी तथा माया के प्रभाव से मुक्त हो सकेंगे, ऐसा निश्चित है।

योग एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा हम ईश्वर की प्राप्ति कर सकते हैं। हमने जो अपना अस्तित्व भुला दिया है उसे फिर प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति के लिए अथवा अपने भूले हुए अस्तित्व को दुबारा प्राप्त करने के लिए योग करता है। योग के मार्ग कई प्रकार के होते हैं, मगर सभी का लक्ष्य तो एक ही होता है, सिर्फ रास्ते अलग-अलग हैं, जैसे– सहज ध्यान योग, कुण्डलिनी योग, राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, नादयोग, लययोग और कर्मयोग आदि ढेरों मार्ग हैं। मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी भी मार्ग को चुन सकता है। हाँ, यह हो सकता है कि किसी साधक को अपना लक्ष्य शीघ्र मिल जाता है, किसी को उसका लक्ष्य देर से मिल पाता है। योग के द्वारा मनुष्य अपनी शक्ति असाधारण रूप से बढ़ा लेता है। यदि बिखरी हुई शक्ति को एकत्र कर लिया जाए तो निश्चित रूप से वह शक्तिशाली होगा। जब तक मनुष्य इस संसार का वास्तविक स्वरूप समझ नहीं लेता, तब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अज्ञानी पुरुष इस संसार को अपना समझता रहेगा, उसे अपने भाई-बहन, माता-पिता, कुटुम्बी रिश्तेदार आदि अपने प्रतीत होते रहेंगे, और वह इसी तृष्णा में बना रहेगा। तृष्णा के कारण इस संसार को अपना समझना ही बन्धन है। जब तक इन बन्धनों से मुक्त नहीं हुआ जाएगा, तब तक भूलोक पर बराबर आवागमन जारी रहेगा। हमें इसी बन्धन को तोड़ना है और मुक्त होना है। इस बन्धन में बन्धने के लिए हमें किसी ने मजबूर नहीं किया, बल्कि हम स्वयं अज्ञानतावश बंधे हुए हैं। इसके जिम्मेदार हम स्वयं हैं। यदि कोई मनुष्य चाहे तो सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकता है। जिन पुरुषों ने चाहा कि हमें ईश्वर की प्राप्ति हो, उन्हें अवश्य ईश्वर की प्राप्ति हुई। उन्होंने सारे बन्धनों से अपने आपको मुक्त कर लिया।

गृहस्थी यह सोचता है कि मैं कैसे मुक्त हो सकता हूँ, मैं तो गृहस्थ में फँसा हूँ। मगर ऐसा नहीं है, गृहस्थ आश्रम में रहकर भी निष्काम कर्म करके मुक्त हो सकता है। निष्काम कर्म करने वाले का हर कार्य ईश्वरमय समझकर होता है। उसका बन्धन कैसा? बहुत से महापुरुष हमारे यहाँ ऐसे भी हो चुके हैं जिन्होंने गृहस्थ में रहकर ईश्वर की प्राप्ति की है, जैसे संत तुकाराम, निर्गुण संत कबीर, संत रविदास आदि। मगर बहुत से हमारे यहाँ ऐसे भी संत हुए हैं जिन्होंने संसार को नीरस व क्षणभंगुर समझकर अपना सबकुछ त्याग दिया और ईश्वर को प्राप्त कर महापुरुष बन गए, जैसे भगवान गौतम बुद्ध जी, मीराबाई, तुलसीदास जी आदि। कुछ ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने संसार को शुरू में ही अच्छी तरह पहचान लिया। गृहस्थ धर्म का पालन न करते हुए बस एकमात्र सत्य ब्रह्म का चिंतन करने में लग गये और महान योगी हुए, जैसे

आदि गुरु शंकराचार्य, समर्थ गुरु रामदास आदि। इन उदाहरणों से यह अर्थ लगाया जा सकता है कि ईश्वर प्राप्ति हर मनुष्य कर सकता है, वह चाहे जिस परिस्थिति में हो। इन महान योगियों और संतों ने ईश्वर प्राप्ति को ही प्राथमिकता दी तथा संसार में रहकर ही संसार से विरक्त रहे और ईश्वर को प्राप्त कर अपने आपको ईश्वरमय बना लिया।

मनुष्य रात-दिन सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास करता रहता है। सिर्फ क्षणिक सुख के लिए ऐसा करता है और इस संसार में भटकता रहता है। मनुष्य की इच्छा के अनुसार जब लक्षित वस्तु प्राप्त नहीं होती है तो वह दुखी हो जाता है। जबकि हर मनुष्य का असली सुख उसी के अंदर छुपा होता है। वह स्वयं अपने में खोज नहीं करता है। यदि अपने में खोज करे तो अवश्य वह सुख और शांति को प्राप्त कर सकता है, ऐसी शांति जहाँ दुःख का नामोनिशान नहीं है। इसके बाद वह ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। इसीलिए आदिकाल से आज तक योगी पुरुष अपने आप में ही ईश्वर को प्राप्त कर उसी का अखण्ड रूप से चिंतन करते रहते हैं। ऐसे योगियों पर संसार में रहते हुए भी सांसारिक वस्तुएँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पायी हैं। सांसारिक वस्तुओं में लिप्त करने का कार्य हमारे विकार और इन्द्रियाँ करती हैं और यही इन्द्रियाँ मनुष्य पर हावी रहती हैं। इन्द्रियों के अधिकार में रहने पर मनुष्य अच्छे और बुरे का निर्णय नहीं कर पाता है। ऐसे कार्यों के कारण विकार उत्पन्न होता रहता है। मनुष्य की जिंदगी नारकीय बन जाती है। दुःखों से भरी यही जिंदगी जीता रहता है और ईश्वर को दोष देता है। अपनी परिस्थिति का जिम्मेदार ईश्वर को बनाता है, जबकि स्वयं मनुष्य अपनी सफलताओं और असफलताओं का जिम्मेदार होता है।

मगर योग एक ऐसी क्रिया है जिसके करने से मनुष्य को अपने ढेरों झंझटों से छुटकारा मिल जाता है। ऐसा योगी इच्छा से रहित होकर निडरतापूर्वक संसार में विचरण करता है। मुझे भी अपने गुरु द्वारा इस मार्ग पर चलने का मार्गदर्शन मिला। तृष्णा और दुःख से भरे इस संसार के अज्ञान रूपी अंधेरी गलियों से निकालकर, अमृत रूपी अनंत का रास्ता दिखा दिया। इस अनंत रूपी रास्ते पर स्वयं गुरु ने मेरी उंगली पकड़कर आगे बढ़ाया। उन्होंने मुझे अंतिम लक्ष्य को बताकर धन्य कर दिया। और अब हमारे ऐसे सद्गुरु हमारे हर श्वास में, हमारे शरीर के रोम-रोम में, अदृश्य रूप में विराजमान हैं। ऐसे गुरु को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हमें जो हमारे गुरु से प्राप्त हुआ, उसे संक्षेप में लिखने का प्रयास कर रहा हूँ।

सबसे पहले मैं यह समझा दूँ कि योग कोई ऐसी चीज नहीं है जो मनुष्य न कर पाये। हर मनुष्य योग कर सकता है। कुछ मनुष्यों का सोचना है और कहना है कि पता नहीं मैं योग कर पाऊँगा या नहीं। यह बात हर पुरुष व स्त्री अपने मन से निकाल दे। मैं कहता हूँ कि आप सभी योग करने के काबिल हैं। सहज ध्यान योग हर पुरुष व स्त्री थोड़ा समय निकालकर अपने घरों में कर सकते हैं। हाँ, उसके लिए आपको समय अवश्य निकालना होगा। यदि आप रोजमर्रा के कार्यों के समान इस योग को एक कार्य समझकर ही शामिल कर लें, तो अवश्य समय निकल आयेगा। आज के लोग कार्यालय के लिए, मनोरंजन के लिए, पार्टी के लिए, सैर-सपाटे के लिए समय निकाल लेता है तो ध्यान के लिए समय क्यों नहीं निकलेगा? अवश्य निकलेगा। जब हम सांसारिक कार्यों के लिए समय निकाल लेते हैं, तो ईश्वर की प्राप्ति व शांति प्राप्त करने के लिए समय क्यों नहीं निकाल सकते! जब स्थूल कार्यों में मनुष्य, दूसरे मनुष्य को सहानुभूति जताता है, उसे धन्यवाद देता है, तो क्या ईश्वर के हमारे ऊपर कम एहसान हैं जिसने हमें मनुष्य का शरीर दिया। वह तो सृष्टि का नियंता है। इसलिए उसको चौबीस घंटे में कुछ-न-कुछ समय अवश्य देना चाहिए, ताकि हम उसको थोड़ी देर स्मरण कर सकें, अपने इस मनुष्य जन्म को सफल बना सकें। कुछ योगियों का मत है कि योग अत्यन्त गुप्त चीज है, इसलिए सभी के सामने नहीं बताना चाहिए। मगर हम इस बात से सहमत नहीं हैं। हमारा सोचना है कि हर योगी को योग के बारे में सभी को जानकारी देनी चाहिए। योग के द्वारा क्या-क्या लाभ हैं, यह भी समझाना चाहिए। यदि हमारे पूर्वजों ने भी ऐसे सोचा होता तो यह योग आज कोई नहीं जानता होता और आज न हम इस विषय पर कुछ लिख पाते। योग एक ऐसा मार्ग है जो ईश्वर की ओर जाता है। ईश्वर की ओर जाने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है। इसलिए उसे योग के विषय में अवश्य बताया जाए, और उसका उचित मार्गदर्शन भी किया जाए ताकि मानव जाति का कल्याण हो।

योगियों व संतों की लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। आध्यात्मिक रुचि रखने वाले पुरुषों की यह शिकायत होती है कि ऐसी पुस्तकों में यह तो लिखा होता है कि मनुष्य को ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलना चाहिए, मगर इनमें यह नहीं लिखा होता है कि इस मार्ग पर किस प्रकार से चलें अथवा योग किस प्रकार से किया जाए। हमारा सोचना है कि यदि योग करने के तरीके को लिखा जाए तथा योग को बारीकी से समझाया जाए, तो शायद अध्यात्म में रुचि रखने वालों को सहायता मिल सकती है। योगियों को योग के विषय में खुलकर लिखना चाहिए, ताकि सभी मनुष्य योग के विषय में अच्छी तरह से समझ सकें। हाँ, यह निश्चित है कि बिना गुरु या मार्गदर्शक के योग नहीं किया जा सकता है। पुस्तकें पढ़कर

सिर्फ थोड़ा-सा योग किया जा सकता है, मगर आगे चलकर मार्गदर्शन के बिना योग नहीं किया जा सकता है। इसलिए साधना करने के लिए मार्गदर्शक का होना जरूरी है। मार्गदर्शक वही होना चाहिए जो इस मार्ग की पूरी तरह से जानकारी रखता हो।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए ईश्वर के प्रति भाव होना जरूरी है। जब तक ईश्वर के प्रति भाव नहीं होगा अर्थात ईश्वर के प्रति खिंचाव नहीं होगा, तब तक आपको ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने लक्ष्य के लिए विवेकपूर्वक साहस से कर्म करना होगा, तभी आपको लक्ष्य मिल पायेगा, अन्यथा आपको लक्ष्य प्राप्ति में देरी होगी। इसलिए ईश्वर प्राप्ति के लिए भाव होना महत्त्वपूर्ण है। यदि आप पूर्णभाव से अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दें तो ईश्वर प्राप्ति में आपको देर नहीं लगेगी। यदि आप अपने अस्तित्व को ईश्वर के अस्तित्व से अलग समझते रहेंगे तो आपको देर लगेगी। ईश्वर प्राप्ति के लिए यदि आप अपने आपको शुद्ध मन से ईश्वर को समर्पित कर योग करने की तैयारी कर लेते हैं तो आपको सफलता अवश्य मिलेगी।

ध्यान करने की विधि

सबसे पहले आप अपने घर में या कमरे में साफ-सुथरी जगह चुन लीजिए, जहाँ बैठकर आपको ध्यान करना है। जहाँ तक हो सके, ऐसी जगह चुनिए जो शोर से रहित हो या जहाँ कम से कम शोर आता हो, ताकि शोर के कारण आपको अवरोध उत्पन्न न हो। आप एक आसन बना लीजिए जिस पर आप आराम से बैठ सकें। यह आसन कुश का बना हो तो अच्छा है। यदि कुश का आसन न उपलब्ध हो सके तो आप एक कंबल लीजिए और तह लगाकर बिछा लीजिए। फिर इसके ऊपर स्वच्छ सफेद रंग का कपड़ा बिछा दीजिए। यह आसन अन्य कार्यों में बिल्कुल न प्रयोग कीजिएगा। सिर्फ ध्यान के लिए प्रयोग में होना चाहिए। ध्यान के बाद उस आसन को संभालकर सुरक्षित रख दीजिएगा। गंदा आसन प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। आसन बिल्कुल स्वच्छ होना चाहिए। बिना आसन के फर्श पर नहीं बैठना चाहिए। इसके कुछ वैज्ञानिक नियम भी हैं। हमारी पृथ्वी ऋणात्मक (नेगेटिव) चार्ज है तथा हमारा स्थूल शरीर धनात्मक (पॉजिटिव) चार्ज है। ध्यानावस्था में शरीर के अंदर से विशेष प्रकार की किरणें निकलती हैं। वे शरीर से सीधे पृथ्वी में न समाहित हो जाएँ, इसलिए कुश अथवा कंबल का आसन होना चाहिए। आसन पर बैठने में सुविधा होती है तथा पृथ्वी और हमारे शरीर के बीच अवरोध का कार्य भी करता है।

ध्यान करने का समय भी निश्चित होना चाहिए। अभ्यास के शुरुआत में समय का निश्चित होना अनिवार्य सा है। यदि आप समय निश्चित करके ध्यान पर बैठते हैं तो आपको स्वयं याद आ जाएगा कि अब ध्यान का समय हो गया है। आप अपने कार्यों को निपटा कर स्वयं आसन पर बैठ जाएँगे। वैसे ध्यान के लिए सुबह का समय अति उत्तम है। वातावरण भी शांत होता है और ध्यान भी अच्छा लगता है। यदि किसी कारण यह समय अनुकूल नहीं है, तो आप अपनी इच्छानुसार समय चुन लीजिए जिस समय आप रोजाना ध्यान पर बैठ सकें। शाम के समय यदि आपके पास समय हो तो थोड़ा-सा समय निकाल लें। चौबीस घंटे में दो बार ध्यान में बैठने पर मन थोड़ा लगने लगता है। सायंकाल के समय 6 से 8 बजे के बीच का समय अच्छा रहता है या फिर अपनी सुविधानुसार समय निकाल लें। रात्रि के ग्यारह बजे से सुबह चार बजे के बीच का समय नए साधक के लिए वर्जित है। इस समय ध्यान नहीं करना चाहिए क्योंकि यह समय तामसिक शक्तियों के भ्रमण का समय रहता है। तामसिक शक्तियों को सात्विक साधक अच्छे नहीं लगते हैं, आपस में विरोधाभास रहता है। किसी भी कार्य के लिए समय का पाबन्द होना जरूरी है।

अब आप अपना मनपसंद देवता चुन लीजिए। जो देवता आपको अच्छा लगता हो, उस देवता का मंत्र याद कर लीजिए, क्योंकि हर देवता का मंत्र अलग-अलग होता हैं। ध्यान करने के लिए सिर्फ एक ही देवता को चुनना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि आज इस देवता का स्मरण किया कल दूसरे देवता का। यदि अलग-अलग देवताओं का स्मरण किया जाएगा तो हमारा मन स्थिर न होकर चंचल बना रहेगा। इसलिए इष्ट एक ही होना चाहिए। सभी देवता मूलत: एक ही हैं, सिर्फ उनका स्वरूप अलग-अलग है। इसलिए साधक को किसी देवता की दूसरे देवता से तुलना नहीं करनी चाहिए। देवता सभी समान हैं। यदि आप देवताओं को इष्ट नहीं बनाना चाहते हैं तो मन को स्थिर करने के लिए 'ॐ' के चित्र पर मन एकाग्र कर सकते हैं अथवा किसी बिंदु पर मन एकाग्र कर सकते हैं क्योंकि मन एकाग्र करने के लिए आधार चाहिए। बिना आधार के मन शीघ्र एकाग्र नहीं होगा। इसलिए साधक को मन एकाग्र करने के लिए ध्येय वस्तु का चयन कर लेना चाहिए। ध्यान पर बैठते समय साधक के शरीर पर साफ-सुथरे कपड़े होने चाहिए। स्नान करके बैठना जरूरी नहीं है, फिर भी स्नान करके बैठें तो अच्छा है। हाँ, हाथ-मुँह, पैर धोकर अवश्य बैठना चाहिए।

नये साधक को ध्यान से पहले मानस पूजा करनी चाहिए। मानस पूजा से अंत:करण पर प्रभाव पड़ता है तथा यह शुद्ध होने लगता है। मानस पूजा करने से ध्यान में मन थोड़ा स्थिर-सा होने लगता है। मानस पूजा इष्ट की मूर्ति अथवा फोटो के सामने करनी चाहिए। आसन पर बैठकर मानस पूजा कीजिए। मानस पूजा के समय आपका भाव अपने इष्ट के लिए जितना ज्यादा होगा, उतनी ही श्रेष्ठ होगी आपकी मानस पूजा। कुछ भक्तों को तो मानस पूजा करते समय प्रभु की याद में आँखों से आँसू आ जाते हैं, भाव-विभोर होकर प्रभु की याद में खो जाते हैं, उन्हें अपनी सुध-बुध ही नहीं रहती। आपका ईश्वर के प्रति जितना ज्यादा समर्पण होगा, उतनी जल्दी आपका ध्यान लगने लगेगा। वैसे पतंजलि योग सूत्र में योग के आठ अंग बताये गये हैं। ध्यान सातवीं सीढ़ी है। आठ अंग ये हैं: **(1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान** और **(8) समाधि।** इस विषय पर थोड़ा आगे वर्णन करूँगा। मगर साधक को ध्यान के शुरूआत में आसन व प्राणायाम करना चाहिए। आसन व प्राणायाम पर लेख आगे लिखूँगा। प्राणायाम से मन थोड़ा स्थिर होने लगता है। यदि प्राणायाम उचित मात्रा में किया जाए तो मन की चंचलता थोड़ी कम हो जाएगी।

मानस पूजा के बाद आप सहजासन अथवा पद्मासन लगाकर बैठ जाइए। अपने दोनों हाथ मिलाकर गोदी में रख लीजिए। बिल्कुल सीधे बैठ जाइए। शरीर को ढीला नहीं रखना चाहिए। पीठ आपकी बिल्कुल सीधी रहनी चाहिए ताकि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ध्यानावास्था में रीढ़ की हड्डी सीधी रहना अति आवश्यक है। ध्यान से पूर्व आप ग्यारह बार मृत्युंजय मंत्र का जाप करिए। यदि न करना चाहें तो न करें, वैसे इस मंत्र से लाभ मिलता है। इस मंत्र के प्रभाव से शरीर के बाहर चारों ओर रक्षा कवच बन जाता है, तथा साधक के वलय को भी शुद्ध करता है। कुछ क्षणों पश्चात अपने इष्ट की मूर्ति या फोटो पर किसी एक जगह केंद्रित करके अपनी दृष्टि उस स्थान पर लगाये रखिए। इस अवस्था में पलकें बन्द नहीं करनी चाहिए। जितनी देर हो सके, देखें। इस क्रिया को **त्राटक** कहते हैं। त्राटक के विषय में आगे लिखूँगा। फिर आँखें बन्द कर लीजिए। आप अपने मन को भृकुटी में स्थिर करने का प्रयास कीजिए तथा भृकुटी में अपने इष्ट का काल्पनिक चित्र (स्वरूप) बनाने का प्रयास कीजिए। उसी समय अपने इष्ट के मंत्र का जाप मन में कीजिए। यदि आपकी इच्छा भृकुटी पर केंद्रित करने की न हो तो आप हृदय में केंद्रित कर सकते हैं। यदि आप मस्तक (भृकुटी) पर ध्यान केंद्रित करेंगे तो भविष्य में आपके मस्तक में भारीपन महसूस होगा अथवा हल्का-सा सिर भी दुःख सकता है क्योंकि वायु का दबाव मस्तक में पड़ता है तथा नाड़ियों में खिंचाव होता है। मगर हृदय में यह सब कुछ नहीं होता है। मगर ज्यादातर योगी मस्तक पर ध्यान करते हैं। मैं भी मस्तक पर ध्यान करता था और अब भी मस्तक पर ध्यान करता हूँ। मस्तक (भृकुटी) पर ध्यान शीघ्र लगने लगता है तथा मन का स्थान भी मस्तक पर ही है।

जब आप अपने इष्ट का काल्पनिक स्वरूप बनाने का प्रयत्न करेंगे और उसी समय मंत्र का जाप भी करेंगे तो आपका मन कुछ समय के लिए ठहर जाएगा। मगर दूसरे ही क्षण मन इधर-उधर भाग जाएगा। उसी समय ध्यानावस्था में आपको अपने स्थूल कार्यों की याद आने लगेगी। मन कभी मित्रों की याद दिलाएगा, कभी कार्यालय की याद आएगी, तो कभी बाजार की। हमारे कहने का अर्थ यह है कि मन चंचल हो जाएगा। कुछ समय बाद आपको याद आएगा कि मैं ध्यान पर बैठा हूँ। उसी समय आप फिर भृकुटी पर मन को स्थिर करने कर प्रयास कीजिएगा। इष्ट का काल्पनिक स्वरूप बनाने का प्रयास कीजिए तथा मंत्र का जाप फिर शुरू कर दीजिएगा। मगर फिर आपका मन इधर-उधर भाग जाएगा। आपको स्थूल कार्यों की याद दिलाएगा। मगर आप कुछ सोचिए मत, फिर मन को पहले की भाँति लगा दीजिए। बस यही होता रहेगा। मन इधर-उधर भागेगा, आप मन को अपने इष्ट के काल्पनिक स्वरूप में लगाते रहिए।

आप इस क्रिया से घबराना नहीं। मन भागता है तो भागने दो। उसे बारम्बार प्रभु-चिन्तन में लगा दीजिए और अपना मंत्र चालू रखिये। अब आप सोचेंगे कि मन एक जगह स्थिर क्यों नहीं होता। इस विषय में आप बिल्कुल न सोचें, क्योंकि मन साधारण चीज नहीं है जो वह तुरंत स्थिर हो जाएगा। मन तो चंचल है, उसका कार्य एक जगह ठहरना नहीं है। वह तो बंदर की भाँति इधर-उधर उछल-कूद करता रहता है। उसके साथ जबरदस्ती मत करो। जबरदस्ती से वह एक जगह रुकने वाला नहीं है। उसे प्यार से समझाओ। प्यार से एक जगह ठहरने के लिए प्रेरित करो। उसे समझाओ– अरे भाई, कुछ समय के लिए शांत हो जाओ, कुछ क्षणों के लिए तो प्रभु का चिन्तन कर लो। यदि आप मन पर क्रोध करेंगे तो मन और अस्थिर होगा। मन इसलिए चंचल होता है क्योंकि वह सांसारिक पदार्थों के भोग में लिप्त रहा है। उसे सांसारिक वस्तुओं से भोग के कारण राग है। इसलिए वह बहिर्मुखी होकर इधर-उधर भागता रहता है। यह मन चित्त की वृत्तियों द्वारा बना हुआ है। चित्त का स्वभाव है कि वृत्तियाँ सदैव उठती रहती हैं और वे मन का रूप धारण करती हैं। इसलिए मन शीघ्र नहीं ठहर सकता है, धीरे-धीरे, अभ्यास के द्वारा ठहरेगा। प्राणायाम के द्वारा भी मन में ठहराव आता है क्योंकि प्राण और मन का काफी गहरा रिश्ता है। इसलिए प्राणायाम द्वारा जब प्राण को अनुशासित करते हैं तो मन भी अनुशासित होने लगता है। त्राटक के द्वारा भी मन स्थिर होता है। इसलिए साधक को त्राटक का भी अभ्यास करना चाहिए।

शुरुआत में ध्यान पर 15-20 मिनट बैठने का अभ्यास कर लेना चाहिए। धीरे-धीरे बैठने का समय अभ्यास के द्वारा बढ़ जाएगा। इसी तरह प्रतिदिन सुबह 15-20 मिनट ध्यान पर बैठना चाहिए। ध्यान से उठने के पश्चात् अपने आसन को उठाकर सुरक्षित रख दीजिए। उस आसन का प्रयोग अन्य किसी कार्य में न कीजिएगा। जिस जगह आप ध्यान करते हैं, उस जगह पर अन्य कार्य न करें तो अच्छा है। यदि जगह की कमी है तो कोई बात नहीं। जिस जगह पर ध्यान किया जाता है उस जगह पर आपके शरीर से निकली किरणें फैल जाती हैं। ये किरणें अत्यन्त शुद्ध होती हैं, जिससे वह जगह पवित्र हो जाती है। उस स्थान पर अन्य कार्य करने से वे किरणें वहाँ नहीं रह जाएँगी, शुद्ध किरणें मौजूद रहने से उस जगह पर आपका ध्यान अच्छा लगेगा।

ध्यान के बाद जब आपको समय मिले तो दिन में दो-तीन बार प्राणायाम करें व समय मिलने पर त्राटक भी करें। त्राटक से आपकी आँखों की ज्योति तेज हो जाती है तथा मन स्थिर होने लगता है। दो-

तीन महीने तो मन थोड़ा कम लगता है ध्यान पर बैठने के लिए, लेकिन फिर मन लगने लगता है। साधक की इच्छा होने लगती है कि मैं ध्यान पर बैठूँ। कुछ साधकों का मन देर से लगता है। इसलिए साधक को हताश नहीं होना चाहिए, बल्कि दृढ़तापूर्वक ध्यान में लगा रहना चाहिए। कुछ साधकों का मन ध्यान में शीघ्र लग जाता है। हमने पहले लिखा है कि मन और प्राण का गहरा अटूट रिश्ता है। यदि ध्यानावस्था में मन स्थिर होगा तो प्राणों का स्पंदन भी धीमा पड़ने लगता है। अपान वायु का स्वभाव है अधोगति। अपान वायु मनुष्य के निचले भाग में कार्य करती है। उसकी गति भी नीचे की और है। मन के स्थिर होने से अपान वायु की गति ठहर जाती है तथा अपना व्यवहारिक स्वभाव छोड़कर ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगती है। जब मन स्थिर होता है तो अन्य प्राण भी अपने कार्य अत्यन्त धीमी गति से करने लगते हैं, ऐसा समझना चाहिए। मन के थोड़ा ठहरने से शरीर के अंदर की क्रियाएँ ध्यानावस्था में धीमी पड़ने लगती हैं।

जब साधक का मन ध्यानावस्था में लगने लगता है तो अपान वायु रीढ़ के सहारे ऊर्ध्व होने लगती है। रीढ़ के बिल्कुल निचले सिरे में मूलाधार चक्र है। अपान वायु ऊर्ध्व होने पर मूलाधार चक्र में आ जाती है। उस समय साधक को महसूस होता है कि हवा का बुलबुला मूलाधार चक्र के नीचे की ओर से रीढ़ की हड्डी की नोक में (रीढ़ का बिल्कुल नीचे का सिरा) चढ़ आया है। यह क्रिया ध्यानावस्था में महसूस होती है। उस समय उस जगह पर हल्की-सी गर्मी महसूस होती है। साधक को अपान वायु के स्थान पर हल्की-सी गुदगुदी महसूस होती है। गर्मी के कारण उस स्थान पर हल्का-सा पसीना भी कभी-कभी आ जाता है। इस क्रिया के होने पर साधक में उत्साह सा आ जाता है। साधक की इच्छा होती है कि ध्यान पर बैठा रहूँ। उस समय साधक के ध्यान में समय की अपने आप बढ़ोत्तरी हो जाती है। मैं एक बात और बता दूँ, यह क्रिया सभी साधकों को महसूस नहीं होती, सिर्फ कुछ साधकों को महसूस होती है। जिन साधकों को महसूस होती है, उनका मन अवश्य प्रसन्न-सा रहने लगता है तथा इच्छा होती है कि मैं ध्यान पर बैठूँ। अपान वायु का महसूस न होने का यह अर्थ नहीं है कि आपकी अपान वायु ऊर्ध्व नहीं हो रही है। अपान वायु ऊर्ध्व होने पर भी कुछ साधकों को महसूस न होना, यह प्रकृति का स्वभाव है। मैंने अपने अनुभवों से ज्ञात किया है कि जिस साधक ने पिछले जन्मों में तीव्र योग का अभ्यास किया होता है, उसे यह अवश्य महसूस होती है तथा शरीर शुद्ध होने पर भी यह क्रिया महसूस होती है। इसलिए साधक इस खींचातानी में न पड़ें कि हमें यह क्रिया क्यों नहीं महसूस होती। बस ध्यान करते रहिए, सफलता अवश्य मिलेगी।

मनुष्य के शरीर में सात मुख्य चक्र होते हैं। ये चक्र स्नायुमंडल व सूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा बने होते हैं। ये चक्र दिव्यशक्तियों से युक्त हैं, मगर सुषुप्त अवस्था में रहते हैं। योग के अभ्यास के द्वारा इन सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करते हैं। सबसे नीचे स्थित पहले चक्र का नाम मूलाधार चक्र है। यह रीढ़ की हड्डी के नुकीले सिरे से थोड़ा ऊपर गुदा द्वार के निकट स्थित होता है। साधक की अपान वायु मूलाधार चक्र में चढ़ती है तो उसे कोई खास अनुभव नहीं होता है, सिर्फ प्राणवायु की अनुभूति होती है। साधक का साधना के प्रति खिंचाव-सा हो जाता है। नित्य अभ्यास के द्वारा कुछ दिनों पश्चात् मूलाधार चक्र खुल जाता है। हर चक्र में कमल का फूल होता है। सुषुप्तावस्था में यह फूल कली के समान बन्द रहता है। जब यह कली खिलती है तो बन्द पंखुड़ियाँ खुलकर फूल का रूप धारण कर लेती हैं। इसे चक्र का खुलना कहते हैं। इस चक्र के कमल में चार पंखुड़ियाँ होती हैं। यह सब कुछ सूक्ष्म रूप में स्थित है। कभी-कभी साधक को यह फूल दिखायी देता है। कभी-कभी किसी साधक को यह फूल दिखायी नहीं देता है। इस चक्र के देवता गणेश जी हैं।

ध्यान का अभ्यास ज्यादा बढ़ने पर प्राणवायु ऊपर की ओर बढ़ने लगती है। मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर रीढ़ में **स्वाधिष्ठान चक्र** होता है। स्वाधिष्ठान चक्र जननेन्द्रिय के पीछे रीढ़ में होता है। इस चक्र से जननेन्द्रिय प्रभावित होती है। जब प्राणवायु ऊर्ध्व होकर स्वाधिष्ठान पर आती है तो लगता है कि रीढ़ के सहारे हवा का बुलबुला ऊपर की ओर चढ़ रहा है। तथा हल्की-सी गुदगुदी, गर्मी एवं मीठा-सा दर्द महसूस हो सकता है। स्वाधिष्ठान चक्र पर प्राण जब आता है तो कुछ दिनों तक इसी चक्र में यह प्राण ठहरता है। जब यह चक्र खुल जाता है तो इस चक्र का कमल खिल जाता है। इस चक्र के कमल में 6 पंखुड़ियाँ होती हैं। सभी पंखुड़ियाँ खुल जाती हैं। फिर प्राणवायु ऊपर जाने का प्रयास करती है। इस चक्र के देवता ब्रह्मा जी हैं।

जब स्वाधिष्ठान चक्र खुल जाता है तो प्राण ऊर्ध्व होकर रीढ़ के सहारे ऊपर चढ़ता है। स्वाधिष्ठान से चार अंगुल ऊपर नाभि चक्र है। नाभि चक्र नाभि के पीछे है। इस चक्र से नाभि के आसपास का क्षेत्र प्रभावित रहता है। इसी चक्र को **मणिपुर चक्र** भी कहते हैं। जब प्राण नाभि चक्र में आता है तो यहाँ पर साधकों को ध्यानावस्था में अनुभव आने शुरू हो जाते हैं। नाभि में जठराग्नि रहती है। यह जठराग्नि ध्यान के माध्यम से ज्यादा तेज हो जाती है। इसी से शरीर गर्म रहता है तथा भोजन पचाने का कार्य यही

जठराग्नि करती है। नाभि चक्र में दस दल का कमल होता है। नाभि चक्र में कभी-कभी भगवान विष्णु के दर्शन होते हैं, क्योंकि नाभि चक्र के देवता भगवान विष्णु हैं। कभी-कभी साधक को ध्यानावस्था में अनुभव होता है कि मैं अंधकार में आगे बढ़ता चला जा रहा हूँ। आगे काफी दूरी पर आग जल रही है। आग की लपटें आसमान को छू रही हैं। यह दृश्य देखकर साधक को डरना नहीं चाहिए क्योंकि यह स्वयं आपकी जठराग्नि दिखायी देती है। अथवा कभी-कभी अनुभव हो सकता है कि मैं अंधकार में आगे चला जा रहूँ। इसी प्रकार के अनुभव होते हैं। जब यह चक्र खुल जाता है तो इस चक्र में स्थित कमल की दसों पंखुड़ियाँ खुलकर फूल का रूप धारण कर लेती हैं। फिर प्राणवायु ऊर्ध्व होकर हृदय की ओर जाने लगती है।

जब प्राणवायु हृदय चक्र में आ जाती है, तब साधक को अति प्रसन्नता होती है। हृदय चक्र में 12 दल का कमल है तथा इस चक्र के देवता भगवान रूद्र हैं। इस चक्र में साधक की प्रसन्नता का कारण यह है कि इस चक्र में अनुभव बहुत आते हैं। अनुभव इतने अच्छे होते हैं कि साधक सोचता है कि मैं कब ध्यान में बैठूँ और अनुभव आएँ। इस चक्र में अनुभवों की बड़ी भरमार होती है। साधक खुशी से झूमने लगता है, क्योंकि उसके इष्ट के यहीं पर दर्शन होते हैं। किसी-किसी साधक को इतने अनुभव आते हैं कि उसके ध्यान का समय अनुभवों में ही बीतता है। किसी साधक को कम अनुभव होते हैं। मैंने यह अनुभव किया कि किसी-किसी साधक को अनुभव नहीं आते हैं, मगर मन प्रसन्न रहता है। यदि किसी साधक को अनुभव नहीं आते तो वह दुखी न हो। अनुभव आने का अर्थ यह नहीं कि सिर्फ अनुभव वालों का ही ध्यान लगता है। अनुभव न आने वाले का भी ध्यान लगता है। फिर भी यदि मन में किसी प्रकार की शंका हो तो आप अपने गुरुदेव से जानकारी हासिल कर लें अथवा किसी योग्य साधक या योगी से भी शंका का समाधान कर सकते हैं। यहाँ पर अनुभव कुछ इस प्रकार के आते हैं, जैसे आसमान स्वच्छ है, चारों और स्वच्छ चाँदनी की तरह प्रकाश फैला हुआ है, आप उसी प्रकाश में घूम रहे हैं; हरा-भरा जंगल है, बर्फीले पहाड़ हैं, पहाड़ों पर आप घूम रहे हैं, पहाड़ों पर ऊँचे पेड़ हैं, हवा बहुत तेज चल रही है; स्वच्छ, सुन्दर तालाब है, तालाब में कमल खिले हैं; चारों ओर हरियाली है, उसी में पगडंडी है, आप पगडंडी पर जा रहे हैं, सुन्दर पक्षियों के चहचहाने की आवाज़ आ रही है, मोर नाच रहा है, आपके इष्ट के भी दर्शन होंगे आदि। कई प्रकार के सुन्दर-सुन्दर अनुभव आते हैं। इस स्थान पर आपको अपने गुरु के भी दर्शन होते हैं।

बहुत ज्यादा अनुभव होना कोई अच्छी बात नहीं है क्योंकि ये अनुभव सारा वृत्तियों का खेल है। हृदय में विशाल जगह है। यहाँ काफी मात्रा में प्राणवायु भी होती है। यहीं पर चित्त में वृत्तियाँ उठती हैं, इन्हीं वृत्तियों के कारण अनुभव आते हैं। यहाँ पर जो चाँदनी के समान स्वच्छ प्रकाश दिखायी पड़ता है, वह सात्विक वृत्ति के कारण होता है। यहीं हृदय से नाद उत्पन्न होता है जो किसी-किसी साधक को सुनायी पड़ता है। काफी समय तक साधक इस चक्र में आनन्दानुभूति महसूस करता है। मगर जब प्राण इस चक्र से ऊपर ऊर्ध्व होने लगता है तो अनुभव समाप्त हो जाते हैं। साधक की पहली वाली प्रसन्नता गायब हो जाती है। हृदय चक्र से प्राण ऊर्ध्व होकर ऊपर की ओर जाने लगता है। हृदय के ऊपर कण्ठ चक्र है।

कण्ठ चक्र गले में पीछे की ओर होता है। यह चक्र गले के क्षेत्र में होता है। इसीलिए इस चक्र को कण्ठ चक्र कहते हैं। कण्ठ चक्र में 16 दल का कमल है। यहाँ पर जीव का स्थान है। इस चक्र को **विशुद्धि चक्र** भी कहते हैं। अभी तक साधक को जो मजा अथवा आनन्द आता था, वह यहाँ पर सब समाप्त हो जाता है क्योंकि कण्ठ चक्र में अनुभव बिल्कुल नहीं होते हैं। यहाँ पर घोर अंधकार दिखायी पड़ता है। प्राण यहाँ तक रीढ़ के सहारे बड़े आराम से आ गया है। प्राण को कण्ठ चक्र तक आने में ज्यादा समय नहीं लगता है, मगर कण्ठ चक्र में प्राण को ऊपर जाने का मार्ग नहीं मिलता है क्योंकि कण्ठ चक्र में आगे का मार्ग बन्द रहता है। इसीलिए प्राण को आगे जाने का रास्ता नहीं मिलता है। प्राण ऊपर उठने की कोशिश करता है, मगर आगे का मार्ग बन्द होने के कारण अवरुद्ध रहता है, इसलिए प्राण के दबाव के कारण गर्दन पीछे की ओर झुकती है। यदि साधक की साधना तीव्र है तो सिर पीछे की ओर पीठ से चिपकने लगता है। इस क्रिया से साधक को बड़ी परेशानी होती है। ऊपर से मन के अंदर निराशा-सी होने लगती है क्योंकि गर्दन पीछे की ओर जाने के कारण दुखने लगती है, प्राण भी कण्ठ में रुका हुआ होता है तथा साधक को किसी प्रकार के अनुभव नहीं आते हैं। साधक सोचता है हम कहाँ आ गए। कुछ सूझता ही नहीं है। साधक के लिए यही समय परीक्षा का होता है। जो अच्छे साधक होते हैं, वे अपने लक्ष्य को पाने के लिए नियम-संयम से कठोर साधना में लगे रहते हैं। जो साधक अपने लक्ष्य के लिए उत्साही नहीं होते, वे हताश होने लगते हैं। साधकों को कण्ठ चक्र में कई वर्षों तक साधना करनी पड़ती है। कुछ साधक यहीं पर अपनी साधना छोड़ देते हैं क्योंकि वे निराश हो जाते हैं। वास्तव में यह जगह है ही ऐसी कि यहाँ किसी भी साधक को जल्दी सफलता नहीं मिलती है। जब साधक की साधना अच्छी होती है तो गर्दन पीछे की ओर

झुकती है। उसी समय कण्ठ से ऊँऽऽऽ, ऊँऽऽऽ, ऊँऽऽऽ की आवाज निकलती है। ऐसा लगता है जैसे भँवरा जोर से शोर मचा रहा है। भँवरे के गुंजन की तरह आवाज आती है।

साधक को यहाँ से पार होने के लिए कठोर नियम-संयम करना पड़ता है, शुद्ध सात्विक भोजन व प्राणायाम पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, कठोर साधना करनी पड़ती है। तब काफी समय बाद थोड़ी सी सफलता मिलती है। इसी चक्र के पास नाड़ियों की ग्रन्थि है। यही ग्रन्थि प्राण का मार्ग अवरुद्ध किये रहती है। जब कठोर साधना के द्वारा नाड़ियाँ थोड़ी शुद्ध होती है, तब यह ग्रन्थि थोड़ी-थोड़ी खुलती है। जब ग्रन्थि के ज्यादा खुलने से नाड़ियाँ अलग-अलग हो जाती हैं तो थोड़ा-सा मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यहीं पर जीव, माया, अविद्या आदि का स्थान है। इसी कारण साधक आगे नहीं बढ़ पाता है। कभी-कभी साधक को कण्ठ चक्र में अनुभव आ जाते हैं। साधक ध्यानावस्था में देखता है– मैं एक सुरंग के अंदर तीव्र गति से घुसता चला जा रहा हूँ। सुरंग में पीले रंग का प्रकाश है। यह सुरंग समाप्त नहीं हो रही है। उसी समय अनुभव समाप्त हो जाता है। कभी देखता है– मैं सुरंग के अंदर तीव्र गति से जा रहा हूँ, आगे वह सुरंग बन्द है। उसी स्थान पर साधक खड़ा हो जाता है और अनुभव समाप्त हो जाता है। इस सुरंग को ही भ्रमर गुफा कहते हैं। यह कण्ठ चक्र का दृश्य है। जिस स्थान पर सुरंग बन्द दिखायी पड़ती है, यह बन्द वाला स्थान ग्रन्थि के कारण होता है। जब तक ग्रन्थि खुलकर आगे का मार्ग प्रशस्त नहीं करेगी, तब तक प्राण यहीं पर रुका रहेगा।

इसी स्थान पर **दूर-दर्शन** व **दूर-श्रवण** सिद्धियाँ मिलती हैं। साधक इन सिद्धियों के द्वारा दूर के दृश्य देख सकता है और उसी स्थान की आवाज भी सुन सकता है। दूरी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। पृथ्वी के किसी भी स्थान का दृश्य देख सकता है व आवाज सुन सकता है। दूसरे किसी भी व्यक्ति की गुप्त से गुप्त बात सुनी जा सकती है। इन सिद्धियों को कार्य करने में समय बिल्कुल नहीं लगता है। पलक झपकाते ही ये सिद्धियाँ कार्य करना शुरू कर देती हैं। ऐसा लगता है कि घर बैठे टी.वी. देख रहे हैं। ये सिद्धियाँ अधिकतर साधकों को कभी न कभी अवश्य मिलती हैं। मगर कार्य करने की क्षमता में फर्क रहता है। ये सिद्धियाँ साधना के अनुसार ही कार्य करती हैं। यदि साधक की साधना अति तीव्र है तो ये सिद्धियाँ भी अति तीव्रता से कार्य करती हैं। यदि साधक की साधना धीमी है, तो सिद्धियाँ कम कार्य करती हैं। साधक को इन सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। सिद्धियाँ योग मार्ग की अवरोधक हैं। जो साधक

इन सिद्धियों के चक्कर में पड़ जाता है, उसका योग यहीं पर रुक जाता है। सिद्धियाँ सदैव कार्य नहीं करतीं, ये सिद्धियाँ सदैव योगबल पर ही कार्य करती हैं। योगबल कम पड़ने पर अथवा समाप्त होने पर सिद्धियाँ कार्य करना बन्द कर देती हैं। तब साधक को पछतावा होता है। साथ ही कण्ठ चक्र में वाचा सिद्धि भी मिलती है। यह सिद्धि साधक की शुद्धता व योगबल पर कार्य करती है। इस सिद्धि के लिए शुद्धता अति आवश्यक है। यदि साधक को यह सिद्धि मिल जाए तो मौन रहने की आदत डालनी चाहिए। ज्यादा बेकार की बात नहीं करनी चाहिए। यह सिद्धि हर साधक में एक जैसा कार्य नहीं करती है। साधक की साधना अनुसार यह सिद्धि कार्य करती हैं। इस अवस्था में साधक अपनी योग्यतानुसार अतृप्त जीवात्माओं से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, उनसे बात भी कर सकता है, जीवात्माओं के विषय में जानकारी हासिल कर सकता है। यदि साधक की साधना तीव्र है तो अतृप्त जीवात्माओं को तृप्त कर सकता है, चाहे तो मुक्त भी कर सकता है। मगर ये सब बातें साधक की साधना में अवरोध डालने की हैं, इसलिए इनसे सर्वथा दूर रहें।

ज्यादातर साधकों की कुण्डलिनी यहीं पर जाग्रत हो जाती है। यह कुण्डलिनी गुरु अथवा मार्गदर्शक द्वारा ऊर्ध्व कर दी जाती है। कुण्डलिनी जाग्रत होने से साधक के अंदर सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ने लगती है, तथा साधना भी तीव्रता से होने लगती है। इसके जाग्रत होने से साधक के अंदर मनोबल बढ़ने लगता है। ध्यान के लिए उत्साह ज्यादा बढ़ने लगता है। मगर ध्यानावस्था में गर्दन पीछे जाने के कारण उसे कष्ट भी महसूस होता है। कष्ट के बावजूद उसके अंदर साधना करने की तीव्र लगन होती है। इस प्रकार का कष्ट वह सहने के लिए तैयार रहता है। कभी-कभी साधक ध्यानावस्था में पीछे की ओर गिर जाता है। यह क्रिया तभी होती है जब साधना अति तीव्र होती है। मगर कुछ साधकों को देखा गया है कि उनकी गर्दन ज्यादा पीछे नहीं जाती है, गर्दन थोड़ी-सी पीछे की ओर जाती है। ऐसे साधक यह न समझ लें कि हमारी साधना नहीं हो रही है। ऐसे साधकों का स्वभाव सौम्य होता है, ऐसा देखा गया है।

इसी स्थान पर साधक को बाह्य शारीरिक क्रियाएँ भी होती हैं। कुछ साधकों को बहुत ज्यादा क्रियाएँ होती हैं, कुछ साधकों को बाह्य क्रियाएँ नहीं होतीं। इन क्रियाओं का कारण प्राणवायु हैं। साधक के शरीर के अंदर की नाड़ियाँ अशुद्ध होने के कारण अवरुद्ध होती हैं। प्राण इन्हीं नाड़ियों में रुका होता है। जब ध्यानावस्था में प्राण का दबाव नाड़ियों पर पड़ता है तो साधक को ध्यानावस्था में बाह्य क्रियाएँ होने

लगती हैं। इन क्रियाओं को साधक ध्यानावस्था में रोक नहीं सकता है। साधक को इन बाह्य क्रियाओं का धीरे-धीरे आभास होता रहता है। यह क्रियाएँ साधक के ध्यान में अवरोध होती हैं। क्रियाओं के समय मन चंचल हो जाता है। साधक मन को स्थिर करने का प्रयास करता है। इन क्रियाओं को बन्द करने के लिए साधक को ज्यादा-से-ज्यादा प्राणायाम करना चाहिए, तथा शुद्ध रहना चाहिए। ज्यादा प्राणायाम से नाड़ी शुद्ध हो जाती है। नाड़ी शुद्ध होने पर प्राण का अवरोध दूर हो जाता है। फिर भी यदि क्रियाएँ बन्द नहीं होती हैं तो अपने मार्गदर्शक या गुरु से क्रियाएँ बन्द करवा लें, ताकि साधक स्थिर होकर बैठ सके। गुरु या मार्गदर्शक का कर्तव्य है कि अपने शिष्य की क्रियाएँ शक्तिपात कर पूर्णतया बन्द कर दें ताकि साधक योग में आगे बढ़ सके।

साधक को मुद्राएँ भी होती हैं। क्रियाओं और मुद्राओं में फर्क होता है। वैसे मुद्राएँ भी प्राण की गति के कारण होती हैं। मुद्राएँ होना साधक के लिए बुरा नहीं है। मुद्राएँ साधक की योग्यता दर्शाती हैं। मुद्राओं से साधना में अवरोध नहीं आता है। साधक को साधना काल में कई मुद्राएँ हो सकती हैं। हर मुद्रा का कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होता है। जब कण्ठ चक्र में स्थित ग्रन्थि थोड़ी खुलने लगती है तो ऊपर के लिए मार्ग थोड़ा सा खुल जाता है। कण्ठ चक्र में रुका हुआ प्राण थोड़ी मात्रा में भृकुटी पर आ जाता है क्योंकि प्राण पूरी तरह से ऊपर नहीं आता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ग्रन्थि पूरी तरह से नहीं खुली होने के कारण प्राण को ग्रन्थि अवरुद्ध किये रहती है। प्राण जब थोड़ा सा ऊपर जाता है तो अनुभव आने शुरू हो जाते हैं। यहाँ के अनुभव पहले से उच्चकोटि के होते हैं। यदि साधक की कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगती है तो कण्ठ चक्र इस अवस्था में शीघ्र खुल जाता है। फिर भी अक्सर साधक की कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने के 2-3 साल बाद कण्ठ चक्र पूर्ण रूप से खुल पाता है। कण्ठ चक्र पूर्ण रूप से खुलने का समय निश्चित नहीं है, यह साधक की साधना पर निर्भर करता है। इस ग्रन्थि को खुलने में कुण्डलिनी सहायता देती है। ग्रन्थि खुलते समय गर्दन बुरी तरह से दुखने लगती है। ग्रन्थि खुलने के बाद दर्द बिल्कुल महसूस नहीं होता है। ग्रन्थि खुलने पर प्राण पूरी तरह से ऊपर चला जाता है। कण्ठ चक्र खुलना साधक के लिए साधना में बहुत बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि यह ऐसी जगह है जहाँ पर साधक अपना धैर्य खो बैठता है। साधक सोचता है कि उसे कई वर्ष हो गये, न जाने कब यह कण्ठ चक्र खुलेगा। मगर सच्चा साधक प्रयासरत रहकर सफलता पा ही लेता है। यदि साधक ने साधना पिछले जन्म में की है तो उसे जल्दी सफलता मिल जाती है। पिछले जन्म में की गई साधना वर्तमान जन्म में सहायक होती है। जिस साधक ने योग के अभ्यास के द्वारा अपना

कण्ठ चक्र खोल लिया है, उसका अगला जन्म मनुष्य का ही होगा, ऐसा निश्चित है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यह चक्र खुल गया है, अब साधना बन्द कर देनी चाहिए, अगला जन्म तो मनुष्य का मिलेगा। साधक को निरन्तर साधनारत रहना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो योग नहीं करते हैं, वे अगले जन्म में मनुष्य नहीं बनेंगे। ऐसे लोगों का कर्म निश्चित करता है कि उसे किस योनि में जाना है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार सूक्ष्म शरीर अन्य भोग योनियों में जाकर अपना कर्म भोगता है। मगर कण्ठ चक्र पार करने वाला साधक अन्य योनियों में न जाकर कुछ समय पश्चात् जल्दी ही मनुष्य शरीर धारण करता है और यह भी निश्चित है कि वह अगले जन्म में साधना करेगा। हाँ, यह निश्चित नहीं है कि वह किस उम्र में योग का अभ्यास करना शुरू करेगा। साधना को शुरू करना कर्म पर आधारित रहेगा। ऐसा साधक परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर भी साधना करना शुरू कर देगा। उस समय साधना के लिए परिस्थितियाँ स्वमेव अनुकूल हो जाएँगी।

अब आता है आज्ञा चक्र। यह चक्र दोनों भवों की बीच भृकुटी में होता है। यहाँ पर दो दल का कमल है। यहाँ के देवता भगवान शिव हैं और गुरु का भी यहीं पर स्थान है। कण्ठ चक्र से प्राणवायु दो भागों में बँट जाती है। प्राणवायु का एक भाग भृकुटि की ओर आ जाता है। दूसरा भाग गर्दन से ऊपर सिर के पिछले भाग में लघुमस्तिष्क पर आ जाता है। लघुमस्तिष्क वाले मार्ग को पश्चिम मार्ग कहते हैं। जो प्राणवायु कण्ठ चक्र से आज्ञा चक्र पर सीधे आ जाती है, उसे पूर्व मार्ग कहते हैं। पहले पूर्व मार्ग के विषय में लिखूँ। जब साधक का प्राण मस्तक पर आता हैं तो उसे लगता है मस्तक पर ढेर सारी प्राणवायु भर गयी है। साथ ही मस्तक पर गुदगुदी व खुजली-सी होती है। साधक को ध्यानावस्था में यह जगह बहुत अच्छी लगती है। उसे लगता है कि मैं बहुत ऊपर आ गया हूँ। दूर-दूर तक हरा-भरा मैदान दिखायी पड़ता है। यदि साधक के इष्ट भगवान शंकर हैं तो यहाँ अवश्य दर्शन होंगे। यहाँ पर साधक को शिवलिंग भी दिखायी पड़ता है।

जब साधक की साधना आज्ञा चक्र पर होती है तो उसका सिर दुखने-सा लगता है। दुखने का कारण यह है कि सिर में प्राणवायु भर जाती है। सिर की नाड़ियों में प्राणवायु का दबाव बढ़ जाता है। नाड़ियाँ अशुद्ध होने के कारण बन्द रहती हैं। उस स्थान पर प्राणवायु दबाव देती है, जिससे दर्द-सा महसूस होता है। ध्यान के बाद प्राणवायु ऊपर से पूरी तरह नीचे नहीं आ पाती है। वायु रुकने के कारण सिर भारी-

सा हो जाता है अथवा दुखने लगता है। इस अवस्था में साधक को ज्यादा-से-ज्यादा प्राणायाम करना चाहिए ताकि नाड़ियाँ शुद्ध होने लगें। शुद्ध होने से सिर का दुखना कम हो जाएगा अथवा समाप्त हो जाएगा। यदि साधक की साधना तीव्र है तो साधक को शौच में थोड़ी परेशानी होने लगती है क्योंकि शरीर में गर्मी बहुत बढ़ जाती है। इससे बचने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा पानी सुबह को पीना चाहिए, इससे शौच में आराम मिलेगा।

साधक ने अभी तक जो साधना की होती है, उसके द्वारा उसे अभी तक अपनी साधना के बारे में ज्यादा ज्ञान नहीं हुआ होता है। मगर आज्ञा चक्र पर आने पर यह जानने का प्रयास करने लगता है कि **'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, अब कहाँ जाऊँगा'**। प्रकृति के बारे में ज्ञान होने लगता है। उस समय उसे संसार की असलियत का पता लगने लगता है। संसार क्या है, यह उसकी समझ में आने लगता है और इस संसार से छुटकारा पाने की कोशिश करने लगता है। यदि साधक किसी वस्तु की खोज करना चाहे तो उसे उस वस्तु के विषय में ढेर सारी जानकारियाँ हासिल हो जाती हैं। साधक सूक्ष्म वस्तुओं को भली-भाँति समझ सकता है। भूतकाल और भविष्यकाल की घटनाएँ उसे भली-भाँति दिखायी पड़ने लगती हैं। साधक की शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। जिस कार्य में हाथ डालता है, उसे उस कार्य में सफलता ही सफलता मिलती है। तब साधक को समझ में आता है कि योग का महत्त्व क्या है; साधना करके उसने कोई गलती नहीं की। उस समय गुरु के महत्व को भी समझ जाता है कि हमारे गुरु ने हमें क्या दिया, हमारे गुरु ने क्या से क्या बना दिया। उस समय साधक अपने आपको गुरु का ऋणी समझने लगता है। यदि गुरु मार्गदर्शक न बनते तो वह इस संसार में भटकता रहता।

अब साधक का मनोबल बहुत बढ़ जाता है। वह निडर होकर रहने लगता है। यहाँ तक कि मृत्यु भी उसे नहीं डरा पाती है। साधक के विचारों में परिवर्तन आने लगता है। उसके अंदर सेवा और प्रेम की भावना जाग्रत हो जाती है। हर जीव, हर वस्तु से प्रेम करने लगता है। सारा संसार ब्रह्ममय है, यह समझ में आने लगता है। साधक में आलस्य नहीं रहता है। वह अपने शरीर में चैतन्यता ही चैतन्यता महसूस करता है। ध्यान में बैठने की अवधि बहुत बढ़ जाती है। एक बार में डेढ़ घंटे से साढ़े तीन घंटे तक आराम से बैठा रहता है। इतना समय कब बीत गया यह मालूम नहीं होता है, क्योंकि सविकल्प समाधि लगती है। साधक का शरीर दुबला-पतला हो जाता है, मगर शरीर की स्फूर्ति कम नहीं होती है क्योंकि शरीर की शक्ति को

कुण्डलिनी बढ़ाये रखती है। मस्तक के मध्य में एक गाँठ होती है, प्राण इसी गाँठ में फँसने लगता है। जब तक यह गाँठ खुलती नहीं है, तब तक मस्तिष्क दुखता रहता है। आज्ञा चक्र खोलने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा मंत्र जाप करना चाहिए। मंत्र जाप मन के अंदर नहीं होना चाहिए, बल्कि मंत्र की ध्वनि निकलनी चाहिए। मंत्र बोलने का तरीका सही होना चाहिए, यह महत्त्वपूर्ण बात है। मंत्र जाप स्वयं अपने आप में एक योग है। मंत्र की शक्ति बड़ी विशाल है। साधनाकाल में जितना ज्यादा मंत्र जाप किया जाए, उतना ही अच्छा है।

कण्ठ चक्र से प्राणवायु ऊर्ध्व होकर लघु मस्तिष्क की ओर आती है। लघु मस्तिष्क का स्वरूप सूक्ष्म रूप से लुचलुचे माँस द्वारा निर्मित है। साधक की उत्कृष्ट साधना होने पर लघु मस्तिष्क साफ दिखायी पड़ता है। उसके अंदर कोई छिद्र नहीं होता, मगर योग में लघु मस्तिष्क के अंदर से होकर पश्चिम मार्ग जाता है। प्राण लघु मस्तिष्क में आकर रुक जाता है। उसी समय साधक को जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध व मूल बन्ध लगते हैं। इन तीनों बन्धों के विषय में आगे लिखूँगा। कण्ठ चक्र खुलने के बाद प्राण तो ऊपर चला जाता है, मगर कुण्डलिनी तुरंत ऊपर नहीं जाती है। कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊर्ध्व होती है। कण्ठ के संकरे छिद्र से प्राण तो ऊपर हो जाता है, परंतु कुण्डलिनी अपने मुँह से धक्के मार-मार कर उस छिद्र को चौड़ा कर देती है और वहाँ का माँस जला-सा डालती है। कण्ठ से ऊपर पहुँच कर उसका मार्ग सीधे ऊपर जाता है। यह सीधा मार्ग ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँचता है। इस मार्ग पर सिर्फ कुण्डलिनी ही जाती है। इस मार्ग को सीधा मार्ग कहते हैं। कण्ठ चक्र से ठीक ऊपर 90° का कोण बनाता हुआ मार्ग है। मगर कुण्डलिनी पश्चिम मार्ग व पूर्व मार्ग पर क्रमश: चढ़ती और वापस आती है। इस प्रकार कुण्डलिनी बारी-बारी से (क्रमश:) तीनों मार्गों पर जाती है। पूर्व मार्ग तो भृकुटि तक खुला होता है, मगर पश्चिम मार्ग पूरी तरह से बन्द रहता है। अब कुण्डलिनी पश्चिम मार्ग को खोलने में लग जाती है। पश्चिम मार्ग पर धक्के मार-मारकर लघु मस्तिष्क के अंदर से मार्ग बनाती है। लघु मस्तिष्क से मार्ग बनाते समय साधक को थोड़ी पीड़ा होती है। उसे महसूस होता है कि लघु मस्तिष्क के अंदर गर्म सुआ की (सूजा) तरह कोई चीज चुभ रही है। कुछ दिनों पश्चात् लघु मस्तिष्क से अपना मार्ग बना लेती है, लघु मस्तिष्क के पृथ्वी तत्त्व को जला डालती है और चैतन्यता भर देती है। लघु मस्तिष्क से होकर पश्चिम मार्ग गोलाई में ऊपर चढ़ता हुआ ब्रह्मरंध्र द्वार पर आता है। कुण्डलिनी भी इसी मार्ग से होकर ब्रह्मरंध्र द्वार तक आती है, फिर सीधा मार्ग पूरी तरह से खुलने पर कुण्डलिनी सीधे मार्ग से ब्रह्मरंध्र द्वार पर आती है। पूर्व मार्ग से होते हुए कुण्डलिनी

आज्ञा चक्र पर आती है। जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर आती है तो आँखों में जलन होने लगती है। जलन कुण्डलिनी की उष्णता के कारण होती है। इस चक्र में स्थित गाँठ को वह बुरी तरह से नोंचकर खोल डालती है। यहीं पर आज्ञा चक्र के पीछे की ओर तीसरा नेत्र होता है। इसे दिव्य दृष्टि कहते हैं, वह भी खुल जाती है। जब कुछ समय बाद आज्ञा चक्र खुल जाता है तो यहाँ का रुका हुआ प्राण ब्रह्मरंध्र द्वार की ओर चला जाता है। मैं यह बता दूँ कि तीनों मार्ग (पूर्व मार्ग, सीधा मार्ग, पश्चिम मार्ग) एक साथ ही लगभग खुलते हैं। कुण्डलिनी हमेशा तीनों मार्गों को एक साथ क्रमश: खोलती रहती है। पश्चिम मार्ग देर से खुलता है। अब दो भागों में बँटी हुई प्राणवायु ब्रह्मरंध्र द्वार पर एक हो जाती है। आधी प्राणवायु पश्चिम मार्ग से आकर (सिर के पीछे से होकर) ब्रह्मरंध्र द्वार पर आ जाती है, आधी प्राणवायु पूर्वमार्ग से होकर आज्ञा चक्र होते हुए ब्रह्मरंध्र द्वार पर आ जाती है। यदि पूर्व मार्ग और पश्चिम को ध्यान से देखा जाए तो लगता है कि पुल के आकार में ये मार्ग हैं। ऐसा लगता है दो मित्र पुल के दोनों ओर से चलकर बीच में मिल गये हों। जिस जगह मिलते हैं, उसके ऊपर ब्रह्मरंध्र का द्वार है। अब कुण्डलिनी सीधे मार्ग से होकर ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँचती है।

जब आज्ञा चक्र खुलने वाला होता है तो साधक की आँखों पर दवाब पड़ता है। जब कुण्डलिनी पूर्व मार्ग से आँखों पर आ जाती है तो आँखों में बड़ी तेज गर्मी बढ़ती है। आँखों में तीव्र जलन होती है। ऊपर पलकों में ऐसा लगता है कि जली जा रही हैं। उस समय आँखों में आग ही आग नजर आती है। साधक की आँखें अत्यन्त तेज हो जाती हैं। आँखों के किनारे ज्यादा खुलने लगते हैं, क्योंकि आँखों के किनारे चौड़े हो जाते हैं। तब साधक की आँखें धूप में खोलने पर चकाचौंध सी होने लगती हैं। ऐसे साधक को दूसरे व्यक्ति से सीधे आँख मिलाकर बात नहीं करनी चाहिए। यदि उस समय साधक किसी व्यक्ति पर गहरी दृष्टि डालता है तो उस व्यक्ति के अंदर का सारा हाल जाना जा सकता है कि वह किस तरह का आदमी है, क्या सोच रहा है। यदि साधक अपने पर आ जाए तो दृष्टि मात्र से किसी भी व्यक्ति को नियंत्रित कर सकता है। यह क्रिया सिर्फ उग्र कुण्डलिनी वाले से होगी। भृकुटि से थोड़ा ऊपर की ओर पीछे की तरफ (अंदर की ओर) तीसरी आँख होती है जिसे सिर्फ योगी या भक्त ही खोल पाता है। यह आँख इन चर्म चक्षुओं से बड़ी होती है। देखने पर मस्तक पर खड़े आकार में दिखायी पड़ती है। मगर अनुभव में साधक को यह आँख आड़ी भी दिखायी पड़ती है। यह आँख तेजस्वी दिखायी पड़ती है। जब आँख खुलती है तो साधक को लगता है कि एक आँख खड़ी या आड़ी आकार में है, वह धीरे-धीरे खुल रही है।

उसके अंदर प्रकाश ही प्रकाश भरा है, उससे प्रकाश बाहर आ रहा है। यह प्रकाश बड़ा तीव्र व चमकीला होता है। इस नेत्र के खुलने से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टि के साथ-साथ दूर-दृष्टि भी प्राप्त होती है जिससे साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पष्ट दिखने लगता है। दिव्य दृष्टि व दूर-दृष्टि से साधक अन्य लोकों को देख सकने में सामर्थ्यवान होता है।

दिव्य दृष्टि से साधक सूक्ष्म से सूक्ष्मतम वस्तु देख लेने में सामर्थ्यवान होता है। ब्रह्म का सगुण रूप अर्थात ईश्वर का स्वरूप इसी दृष्टि से देखा जा सकता है। इस दृष्टि के क्रियाशील होने पर साधक को अत्यंत सर्वोच्च स्थिति के अनुभव होने लगते हैं। साधक ध्यानावस्था में जिस लोक में भ्रमण करता है, वहाँ का दृश्य अच्छी तरह से देख सकने या समझ सकने में सामर्थ्यवान होता है। साधक अपने कार्य के लिए भी दिव्य दृष्टि से दूर-दृष्टि का उपयुक्त लाभ उठा सकता है। भूतकाल व भविष्यकाल को बड़े आराम से देख सकता है। दिव्य दृष्टि के बल पर आदिकाल के ऋषि-मुनियों व तपस्वियों से सम्बन्ध अपनी योग्यतानुसार स्थापित कर सकता है। पहले के संत-महात्माओं के दर्शन करके उनसे मार्गदर्शन ले सकता है। वैसे भी बिना इच्छा के संतों के दर्शन व उनका मार्गदर्शन कभी-कभी मिलता रहता है। इस नेत्र के द्वारा साधक अपना पिछला जन्म देख सकता है। एक ही नहीं बल्कि योग्यतानुसार कई पिछले जन्म देखे जा सकते हैं। यदि मैं अपनी बात लिखूँ तो मुझे अपने पिछले कई जन्म दिखाई दिये। कुछ जन्मों के विषय में मैंने अपने अनुभवों में उल्लेख किया है। आप हमारे पिछले जन्मों के विषय में हमारे अनुभव पढ़कर जानकारी हासिल कर सकते हैं। साधक अपना अगला जन्म भी देख सकता है तथा उस जन्म की घटनाएँ भी दिखायी देती हैं। साधक दूसरे के विषय में भी देख सकता है। किसी भी व्यक्ति का पिछला जन्म देखना साधारण बात है। अब कोई भी व्यक्ति यह सवाल कर सकता है कि पिछला जन्म कैसे जाना जा सकता है। मैं यहाँ पर संक्षेप में बताता हूँ। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसके कर्माशय चित्त पर वृत्तियों के रूप में एकत्र होते रहते हैं। उसके चित्त में कर्माशय कई जन्मों के संचित रहते हैं। दिव्य दृष्टि के द्वारा चित्त में स्थित कर्माशयों को देखा जा सकता है, जिससे उसके द्वारा किया गया कर्म स्पष्ट दिखता है। ऐसा समझो कि चित्त एक वीडियो कैमरा है। मनुष्य जो भी करता है या देखता है, उसकी छाप चित्त पर पड़ती है। यही संस्कार कहे जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार मनुष्य वर्तमान जीवन में भोग करता है।

साधक की दिव्य दृष्टि की क्षमता उसकी साधना के अनुसार होती है। जरूरी नहीं कि सभी साधक एक जैसा देख पाने में सामर्थ्यवान हों। अगर साधक की साधना तीव्र, शुद्ध व पूरी तरह से सात्विक है तो उसका तीसरा नेत्र कण्ठ चक्र खुलने के बाद ही खुल जाता है। किसी का आज्ञा चक्र खुलने पर खुलता है। तीसरा नेत्र खुलने पर उसकी कार्य क्षमता तुरंत ज्यादा नहीं होती है। जब कुण्डलिनी तीसरे नेत्र या भृकुटि पर पहुँचती है, उस समय यह नेत्र बहुत शक्तिशाली हो जाता है। कुण्डलिनी अपने तेज से इस नेत्र को तेजस्वी कर देती है। उस समय दिव्य दृष्टि की कार्यक्षमता बहुत बढ़ जाती है। मंत्रजाप तीसरा नेत्र खोलने में बहुत सहायक होता है। इसलिए साधक को ज्यादा से ज्यादा जाप करना चाहिए। मैं तो यह कहूँगा कि योग में सबसे ज्यादा आनन्द तब आता है जब तीसरा नेत्र खुल जाता है। उस समय उसे उच्चकोटि के अनुभव होते हैं। तब लगता है कि मैं कितना शक्तिशाली हूँ। लेकिन अभी उसे बहुत लंबा रास्ता तय करना है। साधक की इस अवस्था में समाधि लगती है। इस समाधि को सविकल्प समाधि कहते हैं। इस विषय में आगे लिखूँगा।

अब आती है साधक की साधना ब्रह्मरंध्र द्वार पर। जब कुण्डलिनी सीधे मार्ग से ऊपर चढ़ती है तो सीधा मार्ग भी खुल जाता है। सीधा मार्ग खुल जाने के बाद ब्रह्मरंध्र द्वार से या सिर के ऊपरी हिस्से से टपकता हुआ विशेष प्रकार का द्रव्य सीधे गले से होकर नाभि पर गिरता है। तब साधक की जठराग्नि शांत होने लगती है। साधक ज्यादा भोजन न करके अल्प भोजन करता है। उसकी भूख भी अल्प रह जाती है। जब ऊपर से उस द्रव्य की बूँदें गले पर गिरती हैं तो साधक उसके स्वाद का मजा लेता है। द्रव्य गाढ़ा व रंगहीन होता है। उसका स्वाद शहद के समान मीठा होता है। ऐसा लगता है जैसे गले के अंदर शहद लगा दिया गया हो। शहद का मीठापन कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाता है। मगर इस द्रव्य का मीठापन दिनभर नहीं जाएगा। उस समय लगता है कोई चटपटी चीज खायी जाए। मगर चटपटी वस्तु खाने से मीठापन नहीं जाएगा। द्रव्य सदैव नहीं टपकता है। एक बार में दो-चार बूँदें गिरती हैं जिसका स्वाद लेकर साधक को विशेष मजा आता है। योग की भाषा में इसे अमृत की बूँदें कहते हैं। कुछ दिनों के अंतर से फिर ये बूँदें गिरती हैं।

इस अवस्था में साधक जब ध्यान पर बैठता है तो ध्यानावस्था में सिर नीचे को दबाव मारता है। इससे गर्दन पर दबाव पड़ता है। और गर्दन से नीचे का भाग ऊपर को दबाव मारता है। तो सिर का व शरीर

का दबाव दोनों ओर से गर्दन पर पड़ता है, जिससे गर्दन बिल्कुल सिकुड़ जाती है। इसका कारण यह है कि सिर की वायु नीचे जाती है और शरीर के निचले भाग की वायु ऊपर सिर में आती है। कभी-कभी यह दबाव आपस में इतना हो जाता है कि सिर में हल्का-सा कंपन होने लगता है। उसी समय उड्डियान बन्ध लगता है तो कुण्डलिनी ऊपर जाने का प्रयास करती है। साधक की श्वास उस समय बन्द व गहरी हो जाती है। आंतरिक कुम्भक व बाह्य कुम्भक लगता है। बाह्य कुम्भक इतने जोर से होता है कि श्वास वापस शरीर में आने का नाम ही नहीं लेता। उस समय साधक के अंदर बेचैनी होती है। फिर थोड़ी देर में श्वास वापस आती है तो साधक को राहत मिलती है। मगर जैसे ही श्वास अंदर आता है तो बाहर जाने का नाम नहीं लेता है। आंतरिक कुम्भक बहुत जोर से लगता है। फिर कुछ समय पश्चात् श्वास बाहर निकल जाता है। ये भीतरी और बाह्य कुम्भक साधक रोक नहीं सकता क्योंकि यह क्रिया स्वयं कुण्डलिनी द्वारा की जाती है। इन कुम्भकों से कुण्डलिनी को ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है।

गले से ब्रह्मरंध्र द्वार तक का मार्ग देखने में थोड़ा मालूम पड़ता है, मगर कुण्डलिनी को यह मार्ग तय करने में अथवा कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र तक का मार्ग प्रशस्त करने में बहुत समय लग जाता है। जब तक साधक पूर्ण रूप से ब्रह्मनिष्ठ नहीं होगा, तब तक अवरोध सा आता रहता है। साधक के अंदर जो विकार आते हैं, वे विकार नष्ट करने पड़ते हैं। इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाती हैं, अचेतन-सी हो जाती हैं। इन्द्रियाँ कभी भी नष्ट नहीं होती हैं। साधक ने जरा भी असावधानी की तो ये इन्द्रियाँ क्रियाशील होने में देर नहीं लगाती हैं। इसलिए साधक को हमेशा सावधानी बरतनी चाहिए।

साधक को ध्यानावस्था में लाल रंग का आग का गोला दिखायी पड़ता है। यह गोला कभी-कभी साधक को अंतरिक्ष में चारों और घूमता नजर आता है। वास्तव में यह ब्रह्मरंध्र के अन्दर का दृश्य है जो इस रूप में दिखायी पड़ता है। कभी-कभी ध्यानावस्था में नाद भी सुनायी देता है। नाद हृदय से उत्पन्न होता है, मगर आवाज सुनने का काम कर्ण ग्रन्थियाँ करती हैं। इस अवस्था में कर्ण ग्रथियाँ सूक्ष्म आवाज अच्छी तरह से सुन लेती हैं। ऐसा लगता है नाद कानों में ही हो रहा है। नाद योग में दस तरह के नाद बताये गये हैं। कुछ नाद तो मैंने भी सुने हैं। इन नादों की आवाज बहुत मधुर होती है। आखिरी नाद मेघ गर्जना है। ऐसा लगता है बरसात के बादल भयंकर रूप से गरज रहे हों। इस नाद की उत्पत्ति वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व से होती है। आकाश तत्त्व में वायु तत्त्व समाया हुआ है। वायु तत्त्व का घर्षण आकाश में

होता है, तब यह नाद उत्पन्न होता है। यह नाद ब्रह्मरंध्र द्वार खुलने के पहले होता है। ब्रह्मरंध्र द्वार की संरचना बड़ी विचित्र है। यह द्वार अत्यन्त कठोर परत से बन्द रहता है। इस द्वार को प्राणवायु नहीं खोल सकती। कुण्डलिनी धक्के मार-मार कर इस द्वार को खोलती है। इस अवस्था में साधक की आँखें कभी-कभी (ध्यानावस्था में) अंदर की ओर दबाव मारती हैं, यह दबाव इतना ज्यादा होता है कि ऐसा लगता है कि आँखें टूटकर सिर के पीछे की ओर चली जाएँगी। साधक खूब जोर लगाए, मगर आँखें खुल नहीं सकती हैं। उस समय उसे लगता है कि कहीं आँखों की रोशनी न चली जाए, वह अंधा न हो जाए, मगर ऐसा नहीं होता।

दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर, साधक को एक बार ईश्वर के दर्शन होते हैं। किसी-किसी स्थान पर इन्हीं ईश्वर का नीलमय पुरुष के शब्द से वर्णन मिलता है। ये भगवान शंकर होते हैं। इनके शरीर का रंग हल्के नीले रंग का होता है। मैंने भी नीलमय पुरुष के रूप में भगवान शंकर का दर्शन किया है। भगवान शंकर के स्थान पर भगवान विष्णु या भगवान श्रीकृष्ण आदि के भी दर्शन हो सकते हैं, मगर नीले रंग के प्रकाश में नीले रंग का शरीर धारण किए होंगे। अर्थात् नीलमय पुरुष के दर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में होता है। अब साधक की पहुँच सभी लोकों में हो जाती है। कारण शरीर का रंग नीला होता है। यहीं से साधक कारण शरीर में प्रवेश करता है। जब साधक ध्यानावस्था में कारण शरीर में होता है तो साधक का सम्बन्ध कारण जगत से हो जाता है, कारण शरीर धारण करने वाली जीवात्माओं के दर्शन होते हैं। यहाँ पर सारे दर्शन चैतन्यमय होते हैं। कुण्डलिनी जब ब्रह्मरंध्र द्वार खोलने लगती है तो साधक को महसूस होता है कि कोई चीज ब्रह्मरंध्र द्वार पर चुभ रही है, क्योंकि कुण्डलिनी अपने मुँह से जोरदार धक्का मारती है। अंत में एक समय ब्रह्मरंध्र द्वार खोल देती है। इसका ज्यादा वर्णन कुण्डलिनी वाले पाठ में पढ़ लीजिएगा।

ब्रह्मरंध्र निर्गुण ब्रह्म का प्रवेश द्वार है। ब्रह्मरंध्र को सहस्त्रार चक्र नहीं कहते हैं। वास्तव में कुछ मार्गदर्शक यहाँ पर अज्ञानता में आ जाते हैं। वे यह समझते हैं कि यही ब्रह्मरंध्र ही सहस्त्रार चक्र है। सच तो यह है कि यह सहस्त्रार चक्र नहीं होता। सहस्त्रार चक्र खुलने या विकसित होने पर तो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने लगती है, जिसे हम तत्त्वज्ञान भी कह सकते हैं। ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्रकट होने पर मोक्ष प्राप्त होता है, सभी प्रकार के दुखों से निवृत्ति मिल जाती है। ब्रह्मरंध्र द्वार तक अभ्यासी की साधना तन्मात्राओं के अंतर्गत चलती है। इन्हीं तन्मात्राओं के कारण उसे विभिन्न प्रकार के नाद सुनाई देते हैं। तन्मात्राओं से

आगे की अवस्था अहंकार के अंतर्गत आती है। इसीलिए ब्रह्मरंध्र द्वार खुलने पर फिर अभ्यासी को नाद सुनाई नहीं पड़ते क्योंकि वह तन्मात्राओं से आगे की अवस्था में पहुँच जाता है। तन्मात्राओं के कारण यहाँ पर दसों नादों में आखिरी नाद मेघ गर्जना सुनाई दिया करता है। कारण यह है कि आकाश तत्त्व में अधिष्ठित वायु तत्त्व में उसके अंदर जोरदार खिंचाव या घर्षण हुआ करता है, उस समय ध्वनि प्रकट होती है। ऐसा लगता है मानो मेघ गर्जना कर रहे हैं, इसलिए इस ध्वनि को मेघनाद कहा गया है। जब ब्रह्मरंध्र खुल जाता है तो उसे विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ व दृश्य दिखाई देते हैं। इसकी अनुभूति के लिए साधक को अपने गुरु के मार्गदर्शन में कठोर योग का अभ्यास करना होगा। वैसे यहाँ पर साधक को जो अनुभूति होती है, उस अनुभूति को थोड़ा लिखने का प्रयास कर रहा हूँ, क्योंकि अनुभूति लिखने का विषय नहीं होता है, सिर्फ महसूस की जाती है।

जब कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र खोलती है तो साधक को मेघ की गर्जना सुनाई पड़ती है। बाद में जब कुण्डलिनी द्वार खोल देती है, तो द्वार पर रुका हुआ प्राण ब्रह्मरंध्र के अंदर प्रवेश कर जाता है। उस समय साधक कुछ समय के लिए चेतना-शून्य हो जाता है। मेघ गर्जना ब्रह्मरंध्र द्वार खुल जाने के बाद सदैव के लिए सुनाई देना बन्द हो जाती है। फिर निराकार अत्यन्त तेजोमय ब्रह्म का अत्यन्त सात्विक सशक्त वृत्ति के द्वारा दर्शन होता है। साधक को ध्यानावस्था में जो आग का गोला चारों ओर घूमता हुआ अथवा स्थिर दिखाई पड़ता था, वह भी फटकर बिखर चुका होता है। इसी के फटने पर ब्रह्मरंध्र खुलता है। आग का गोला फटते ही अथवा ब्रह्मरंध्र द्वार खुलते ही ऐसा लगता है, जैसे करोड़ों सूर्य एक साथ फट पड़े हों। चकाचौंध कर देने वाला प्रकाश दिखाई पड़ता है। उस समय दिव्य दृष्टि भी इस प्रकाश के तेज को सहन नहीं कर पाती है। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश होता है। स्वयं साधक कई-कई घंटे ध्यान पर बैठा रहता है। उसे मालूम नहीं पड़ता कि इतना समय कैसे बीत जाता है। शुरूआत में साधक का प्राण ब्रह्मरंध्र में बहुत समय नहीं रुकता है। जल्दी ही ब्रह्मरंध्र के नीचे उतर आता है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर प्राण ब्रह्मरंध्र के अंदर ज्यादा समय तक ठहरने लगता है। सच यह है कि ब्रह्मरंध्र द्वार खुलने पर जो अत्यन्त तेजोमय प्रकाश दिखाई देता है मानो करोड़ों सूर्य फट पड़े हों, वह वास्तव रूप में निर्गुण ब्रह्म नहीं होता, बल्कि अत्यन्त सात्विक सशक्त अहंकार की वृत्ति होती है जो इस रूप में दिखाई देती है। ज्यादातर मार्गदर्शक व अभ्यासी यह समझ लेते हैं कि यह निर्गुण ब्रह्म का दर्शन हुआ है। हाँ, यह सत्य है कि यह अत्यन्त सात्विक सशक्त वृत्ति निर्गुण ब्रह्म की ओर से निर्देशन कर रही होती है, इसलिए उसका स्वरूप निर्गुण ब्रह्म

के समान ही होता है। इसी कारण ऐसी वृत्तियों के द्वारा ही अभ्यासी को समाधि अवस्था में यहाँ पर 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे शब्द सुनाई पड़ते हैं।

जब तक प्राण ब्रह्मरंध्र में रहता है, तब तक साधक की निर्विकल्प समाधि लगती है। संकल्प उठना बन्द हो जाता है। बहिर्मन अंतर्मन में विलीन हो जाता है। इस अवस्था में द्वैतभाव विलीन हो जाता है, अद्वैतभाव आ जाता है, सारी वस्तुएँ ब्रह्ममय लगने लगती हैं, अपने-पराये का भाव मिटने लगता है, साधक को चौथी अवस्था (तुरीयावस्था) प्राप्त होती है। यहाँ पर दृष्टा, दृष्टि और दृश्य एक हो जाते हैं। जब तीनों एक हो जाते हैं, तो कौन किसे देखे, साधक स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है– चित्त में तीनों गुणों का दो प्रकार का परिणाम होता रहता है। पहले प्रकार का परिणाम चित्त को बनाने वाला होता है। दूसरे प्रकार का परिणाम चित्त पर स्थित वृत्तियों (कर्माशयों) पर होता है जिससे जीव को वृत्तियों के द्वारा संसार की अनुभूति होती है। इसे बाहरी परिणाम भी कहते हैं, यह बाहरी परिणाम होना बन्द हो जाता है। पहले सविकल्प समाधि में दृष्टा, दृष्टि और दृश्य की जो त्रिपुटी बनती थी, वह अब यहाँ नहीं बनती है। सविकल्प समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान का प्रवाह बहता रहता है। उसके कारण त्रिपुटी बनती है। अब इस अवस्था में शब्द और ज्ञान का प्रवाह अर्थ रूपी प्रवाह में विलीन हो जाता है। सिर्फ अर्थ का प्रवाह ही बहता है। इस कारण अभ्यासी को समय और संसार का ज्ञान नहीं हो पाता, ध्येय वस्तु सिर्फ अर्थ स्वरूप में ही रह जाती है। नाम (शब्द) और ज्ञान ये दोनों अर्थ में विलीन हो जाते हैं। वृत्ति सिर्फ अर्थ स्वरूप में विद्यमान रहती है, इसीलिए साधक को निर्विकल्प समाधि के समय किसी प्रकार के दृश्य नहीं आते और न ही कुछ याद रहता है, मगर साधक के शेष संस्कारों के कारण समाधि भंग हो जाती है। इस अवस्था में हर एक साधक की समाधि का समय काफी अधिक हो जाता है। मैं इस अवस्था में तीन घंटे से लेकर चार घंटे तक समाधि में बैठता था। साधकों, कुण्डलिनी बहुत समय तक ब्रह्मरंध्र में नहीं ठहरती है। समाधि का अभ्यास बढ़ने पर कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र द्वार से आज्ञा चक्र की ओर आने लगती है। इसे योग की भाषा में कुण्डलिनी का उलटना कहते हैं। जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर आती है तो आँखों में तीव्र गर्मी बढ़ जाती है। ऐसा लगता है आँखें जल जाएँगी, फिर आज्ञा चक्र से कुण्डलिनी सीधे नीचे की ओर (पूर्व भाग से) आने लगती है और तालू पर आकर इसको काट डालती है। कुछ योगियों ने इस स्थान को (तालू को) एक चक्र माना है। तालू को काट कर नीचे की ओर अपना नया मार्ग बनाने लगती है, फिर हृदय में आ जाती है।

जब कुण्डलिनी हृदय में आती है, उस समय कुण्डलिनी की लम्बाई लगभग साधक के शरीर की लंबाई के बराबर हो जाती है, क्योंकि कुण्डलिनी मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक, ब्रह्मरंध्र से आज्ञा चक्र होते हुए नीचे की ओर हृदय तक आ जाती है। समाधि टूटने के बाद कुण्डलिनी मूलाधार में फिर आ जाती है। अब उसकी यात्रा बहुत लंबी हो जाती है। हृदय में आकर हृदय की वायु सोखने लगती है तथा कुछ मात्रा में कर्माशयों को भी जला देती है। समाधि का धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर कुण्डलिनी स्थिर हो जाती है। जब कुण्डलिनी स्थिर हो जाती है, तब मूलाधार में ध्यान के बाद वापस नहीं लौटती है, बल्कि पूरे मार्ग में उसका शरीर समाया रहता है। कुण्डलिनी का शरीर अग्नि तत्त्व से बना होता है। स्थिर होने के पश्चात् अग्नि तत्त्व से वायु तत्त्व में परिवर्तित हो जाती है। फिर कुण्डलिनी वायु रूप में साधक के शरीर में व्याप्त रहती है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद हृदय में साधक को ज्योति का दर्शन होता है। वह समाधि अवस्था में देखता है कि हृदय के अंदर अत्यन्त तेजस्वी ज्योति जल रही है। यह स्वयं साधक की अत्यन्त सात्विक सशक्त वृत्ति होती है। साधक को अभी भी बराबर समाधि का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि अभी उसके शेष कर्माशय बाकी हैं। ये शेष कर्माशय भोगकर ही समाप्त होते हैं, योग के प्रभाव से ये जल नहीं सकते। समाधि के द्वारा ये कर्माशय धीरे-धीरे बाहर निकलते रहते हैं। ये कर्माशय क्लेशात्मक होते हैं, जिनके कारण साधक को क्लेश भोगना ही पड़ता है। शेष कर्माशयों की समाप्ति पर भी योग करना जरूरी होता है क्योंकि तमोगुणी अहंकार को मूलस्त्रोत में विलीन करना होता है ताकि शुद्ध अहंकार रह जाए तथा चित्त का साक्षात्कार करना जरूरी है, ताकि फिर चित्त में फिर कर्माशय न बनें। इस अवस्था में साधक को शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। प्रकृति के विषय में जानकारी हो जाती है। फिर जीवात्मा प्रकृति के बन्धन में नहीं बंधती है।

साधक इस अवस्था में बाहर से देखने पर पहले जैसा दिखता है, मगर उसके अंदर विलक्षण शक्ति आ जाती है। अब ढेरों कार्य अपने योगबल पर कर सकता है। वह समाज का कल्याण कर सकता है, योग का मार्गदर्शन कर सकता है, योग के अभ्यास के प्रभाव से अपनी बात दूसरों को मनवा सकता है। अब वह संसार में रहते हुए भी संसारी नहीं है। वह तो कमल के समान है। इन्द्रियाँ उसके बस में रहती हैं। सदा सत्य और अहिंसा का आचरण करता है। योग के माध्यम से अन्य जीवधारियों से भी संपर्क स्थापित कर सकता है। दूसरे जीवधारियों की इच्छा समझ सकता है। अब वह मृत्यु के भय से दूर, अपनी मृत्यु को कुछ समय के लिए टाल सकता है। ऐसे योगी भूलोक में जब अपने स्थूल शरीर को त्याग कर ऊपर के लोकों में

जाते हैं, तो उन्हें उच्चलोक में स्थान मिलता है और अनंत समय तक वहीं रहते हैं। फिर योग प्रचार के लिए अपनी इच्छानुसार भूलोक पर वापस आते हैं। समाज का कल्याण करते हुए धर्म-प्रचार और योग का प्रचार करते हैं। फिर अपना कार्य करके वापस चले जाते हैं।

साधकों, योग करने के लिए साधक को कई बातों का ध्यान रखना चाहिए। यदि आप अच्छे साधक बनना चाहते हैं तो आप अपने जीवन में योग के नियमों का पालन करिए तथा कुछ बातों का ध्यान रखिए जिससे आपका ध्यान अच्छा चलता रहे। अच्छे अभ्यास के लिए जरूरी है स्थूल शरीर तथा अपनी नाड़ियों को शुद्ध रखें। इन सब बातों का ध्यान रखने के लिए साधक को ध्यान के अलावा कुछ और नियम भी अपने जीवन में शामिल कर लेने चाहिए। जैसे ब्रह्मचर्य, अहिंसा, मौन, परोपकार, दान, शुद्ध भोजन, आसन, प्राणायाम, त्राटक, मंत्र जाप, स्वाध्याय आदि के पालन से ध्यान अच्छा लगने लगता है तथा शुद्धता बढ़ती है। इन सबका पालन करने से योग में प्रगति शीघ्र होती है। यदि साधक सिर्फ ध्यान ही करेगा और इन सब बातों का पालन नहीं करेगा, तो योग में अवरोध सा बना रहेगा। प्रगति शीघ्र संभव नहीं होगी।

शुद्ध सात्विक भोजन

साधक को अपना शरीर शुद्ध रखने के लिए जरूरी है कि सात्विक भोजन करे। सात्विक भोजन से शरीर शुद्ध होता है, तथा नाड़ियाँ भी शुद्ध रहती हैं। साधक को सदैव याद रखना चाहिए कि उसे साधनाकाल में सात्विक भोजन करना है। तामसिक स्वभाव वाले भोजन से साधक को बचना चाहिए। तामसिक भोजन में अशुद्धता अथवा तमोगुण की मात्रा अधिक होती है। ऐसा भोजन साधक को तामसिक स्वभाव वाला बनाता है तथा तमोगुण का सूक्ष्म तत्त्व साधक की सूक्ष्म नाड़ियों में प्रभाव डालता है। इससे नाड़ियाँ अशुद्ध होती हैं तथा तमोगुण का सूक्ष्म तत्त्व भर जाता है। जब साधक साधना करता है तो साधक का प्राण इन्हीं नाड़ियों में रुक जाता है जिससे ध्यान में प्रगति रुक जाती है। फिर नाड़ियों को शुद्ध करने के लिए साधक प्राणायाम आदि का सहारा लेता है। साधक की साधना में तमोगुण अवरोध का काम करता है। इसलिए साधक को सतर्क रहना चाहिए कि उसके शरीर में तमोगुण की मात्रा बढ़ने न पाये। यदि शरीर में तमोगुण का प्रभाव अधिक होगा तो साधक का स्वभाव तामसिक हो जाएगा, जबकि साधक को सात्विक स्वभाव वाला बनना है। इसलिए सात्विक भोजन पर साधक को अधिक ध्यान देना चाहिए। साधक को दूध, दही, चावल, हरी सब्जियाँ आदि का प्रयोग ज्यादा करना चाहिए। यदि साधक फलों का प्रयोग अपने भोजन में कर सकता है तो और भी अच्छी बात है। साधक को तेज चटपटे, तले हुए पदार्थ, बासा भोजन, स्वादिष्ट भोजन जिसमें मसाले का प्रयोग किया गया हो, माँस, लहसुन, प्याज आदि तामसिक भोजन से बचना चाहिए।

साधक को यह भी ध्यान देना चाहिए कि भोजन बनाने वाला कैसा है, क्योंकि भोजन बनाने वाले का जिस प्रकार का स्वभाव होगा, उसका असर भोजन पर पड़ता है। मनुष्य के शरीर के वलय के कण भोजन पर पड़ते हैं। मनुष्य के आँखों से तेज के रूप में उसकी इच्छाएँ निकला करती हैं, वे भोजन को प्रभावित करेंगी। भोजन बनाने वाले के कर्माशयों का प्रभाव भोजन पर पड़ेगा। यह सब प्रभाव सूक्ष्म रूप से पड़ता है। यदि भोजन बनाने वाला क्रोधी, ईर्ष्यालु और झगड़ालू स्वभाव का है तथा पाप-युक्त कर्म करने वाला है तो उसका प्रभाव भोजन पर अवश्य पड़ेगा। उस भोजन को जब साधक खायेगा तो बनाने वालों के विचार भोजन द्वारा साधक के अंदर प्रवेश कर जाते हैं। इससे साधक के अंदर वैसे ही विचार उत्पन्न होंगे क्योंकि अन्न के सूक्ष्म भाग से प्राण प्रभावित होता है, तथा प्राण का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। इससे प्राण व मन दूषित होंगे। इसीलिए कहते हैं कि जैसा अन्न खाएँगे वैसा मन बनेगा या विचार

आएँगे। इसलिए भोजन बनाने वाला भी सात्विक विचार का होना चाहिए। सबसे अच्छा तो यह है कि साधक अपना भोजन स्वयं बनाये तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है। भोजन बनाते समय ईश्वर का चिंतन करना चाहिए अथवा मंत्रोच्चारण करना चाहिए। इससे साधक को साधना में सहायता मिलेगी। साधक से यदि हो सके तो बाजार के बने किसी भी प्रकार के भोजन से बचना चाहिए। बाजार की बनी हुई वस्तुएँ पूरी तरह से अशुद्ध होती हैं। साधनाकाल में भोजन बहुत ज्यादा मात्रा में नहीं करना चाहिए अथवा बिल्कुल कम भी नहीं करना चाहिए, नहीं तो शरीर कमजोर पड़ जाएगा। कमजोर शरीर से ध्यान में अवरोध आता है। शरीर का स्वस्थ होना जरूरी है क्योंकि शरीर के माध्यम से ही साधना होती है।

दान

दान शब्द की बात याद आते ही बड़े-बड़े दानवीरों की याद आ जाती है। ऐसे दानियों की जितनी भी प्रशंसा की जाए या गुणगान किया जाए, उतना कम है। ऐसे महापुरुषों ने दान देते समय सब कुछ दान दे दिया, अपने पास कुछ भी नहीं रखा। यहाँ तक कि अपने आपको भी दान में दे दिया। राजा बलि ने आदिकाल में भगवान वामन जी को सब कुछ दान दे दिया था। यहाँ तक कि बाद में अपने को भी दान में दे दिया था। दधीचि ने देवताओं के कार्य हेतु अपने शरीर को नष्ट कर अपनी हड्डियाँ दान में दे दी थीं। भगवान परशुराम जी ने पृथ्वी को जीतकर 21 बार ब्राह्मणों को दान में दे दी थी; स्वयं आप एक पर्वत पर रहते थे। राजा हरिश्चंद्र के विषय में सभी जानते हैं। कर्ण के बिना महाभारत अधूरा है। उसने भी सब कुछ दान में दे दिया था, इसीलिए उसके नाम के आगे दानवीर कर्ण लगता है। कहने का अर्थ यह है कि दान एक ऐसी चीज है जिसकी बराबरी अन्य किसी चीज से नहीं की जा सकती है। यह शुद्ध परोपकार है। दान अपने-पराये को नहीं देखता है। दानी पुरुष के लिए अपना-पराया दोनों समान हैं, भेदभाव से रहित है। ऐसे महान पुरुष अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए जीते हैं। इच्छा से रहित होकर, अपनी जरूरत की चीजें दूसरों (याचक को) को प्रेमपूर्वक दे देते हैं। जिस पुरुष ने बिना स्वार्थ के दान दिया है, वह पुरुष महापुरुष कहलाता है। ऐसा पुरुष ईश्वर का सच्चा भक्त है।

साधक को अपनी यथाशक्ति के अनुसार अवश्य दान देना चाहिए। दान उसी को देना चाहिए जो दान के योग्य हो। दान देते समय किसी प्रकार के स्वार्थ की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। दान देने से पुण्य बढ़ता है, मन में विशालता आती है, अंत:करण शुद्ध होता है। यदि देने के योग्य व्यक्ति है तो चलकर दान देना चाहिए। यदि दान लेने वाला आपके दान से तृप्त हो गया है तो अवश्य अदृश्य रूप में आपको आशीर्वाद मिलेगा। दान का अर्थ यह नहीं है कि आप दान लेने वाले को निम्नभाव से देखें, स्वार्थ अथवा तिरस्कार की भावना हो; इस प्रकार का दान बिल्कुल उचित नहीं है। दान का अर्थ यह भी नहीं है कि ज्यादा मात्रा में दान दिया जाए, तभी दान हुआ। दान की तुलना किसी दूसरे दानी द्वारा नहीं की जानी चाहिए। यदि गरीब व्यक्ति एक रुपये का दान देता है तो वह किसी धनी व्यक्ति द्वारा दिये 100 रु. से ज्यादा मूल्य रखता है क्योंकि गरीब व्यक्ति के पास उसकी हैसियत के अनुसार एक रुपये का मूल्य बहुत है, जबकि धनी व्यक्ति के पास 100 रुपये का कुछ भी मूल्य नहीं होता। उस व्यक्ति के दान का मूल्य अधिक है जिसने अपना पैसा अधिक परिश्रम द्वारा कमाया है। उस दान का महत्त्व ज्यादा नहीं है जिसने दूसरों का

शोषण करके पैसा कमाया है अथवा गलत ढंग के कार्यों में लिप्त होकर पैसा कमाया है। दान में सिर्फ रुपए या वस्तुएँ दिये जाएँ, ऐसा जरुरी नहीं है। साधक या कोई भी पुरुष विद्या का दान दे सकता है। अपनी योग्यतानुसार किसी को भी निःशुल्क शिक्षा दे सकता है। यदि ऐसे गरीब बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाए जो शिक्षा-शुल्क नहीं दे सकते तो और भी उत्तम है। बहुत से दानी व्यक्ति सामूहिक रूप से भोजन कराते हैं, कपड़ा दान करते हैं, यह बहुत अच्छी बात है।

आजकल हमने देखा है कि ज्यादातर आश्रम व धार्मिक संस्थान दान द्वारा ही चलाये जाते हैं। हमने कुछ आश्रमों में देखा है कि वहाँ उस दिये हुए दान के रूपये व वस्तुओं का गलत ढंग से उपभोग किया जाता है। उन रुपयों को आश्रम के अधिकारी वर्ग अपनी सुविधाओं के लिए खर्च करते हैं। आपस में पैसों के लिए झगड़ते हैं, मुकदमेबाजी करते हैं। उस दान का सदुपयोग न होकर, बल्कि दुरुपयोग होता है। इसलिए साधकों दान देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे दान ऐसी संस्थाओं को दें जहाँ उनके दान का सदुपयोग हो। किसी अंधे, भूखे, अपाहिज व्यक्ति को खाना दे दिया जाए तो अच्छा है। ऐसा दान कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। इसलिए साधक को अपनी हैसियत के अनुसार दान देना चाहिए।

परोपकार

परोपकार एक ऐसा शब्द है कि साधक क्या, हर एक व्यक्ति को अपने जीवन में शामिल कर लेना चाहिए। परोपकार हर व्यक्ति को करना चाहिए। परोपकार एक आदर्श है, निःस्वार्थ कार्य है। न मालूम कब आपकी जरूरत इस समाज को या किसी प्राणी को पड़ जाए। परोपकार के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। इसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि आपके परोपकार से किसी की जान बच जाए, किसी का रुका कार्य चल जाए, किसी का कष्ट कम हो जाए आदि। अगर आप ध्यान दें तो पाएँगे सभी प्राणी अपने लिए जीते हैं, अपना-अपना जीवन-यापन करते हैं। मगर मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो परोपकार कर सकता है। वैसे आजकल ज्यादातर व्यक्ति स्वार्थी होते हैं जो दूसरों का कार्य स्वार्थ के लिए करते हैं। कुछ व्यक्ति तो दूरगामी स्वार्थ सोचकर दूसरों का कार्य करते हैं, मगर उस कार्य को परोपकार का नाम दिया जाता है। परोपकार में स्वार्थ के लिए कोई जगह नहीं हैं। परोपकार तो निःस्वार्थ भाव से अपना-पराया छोड़कर किया जाता है। परोपकार जाति व धर्म से परे है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के जरूरत के समय काम आये, इससे बड़ा उपकार और क्या हो सकता है। परोपकार सिर्फ मनुष्य के साथ नहीं किया जाता है, अन्य प्राणियों के साथ भी किया जा सकता है। परोपकारी व्यक्ति को हर व्यक्ति में व अन्य प्राणियों में ईश्वर का रूप दिखायी पड़ता है, इसीलिए बिना भेदभाव के सभी की सेवा करने को तैयार रहता है।

एक बात ध्यान देने योग्य है, यदि आपने किसी के साथ परोपकार किया या सेवा की है, उसके बदले में आप उस व्यक्ति से सेवा की इच्छा न रखिए। अथवा आपकी जरूरत पर वह व्यक्ति आपके काम में न आया तो आपको क्रोध आ गया कि मैंने इसका उपकार किया था, अब यह हमारे काम में नहीं आया अथवा इसने अमुक छोटा-सा कार्य नहीं किया। ऐसी अवस्था में आप समझिए कि आपने परोपकार नहीं किया है, बल्कि आपने उसके साथ स्वार्थ के लिए कार्य किया है, इसीलिए आपको क्रोध आ गया क्योंकि स्वार्थ पूरा न होने पर क्रोध आता है। क्रोध आने पर बुद्धि सही रूप से कार्य नहीं कर पाती है, इसलिए वह गलत निर्णय कर लेता है। परोपकार ईश्वर की भक्ति है, ईश्वर की ओर जाने का मार्ग है। ईश्वर के कार्य में स्वार्थ नहीं होता और स्वार्थी को कभी ईश्वर नहीं मिल सकता है। जो व्यक्ति अपना जीवन परोपकार में बिताता है, वह ईश्वर का सच्चा भक्त है। उसने मानव रूप में व अन्य प्राणियों के रूप में ईश्वर को पहचान लिया है। अपने समाज में जो व्यक्ति कुष्ठ रोगी हैं, अंधे हैं, अपाहिज व विकलांग हैं, उन्हें

हमारी व आपकी जरूरत है। हमें इनकी सेवा के लिए तैयार रहना चाहिए। इस बात का अहंकार बिल्कुल नहीं लाना चाहिए कि मैं इस व्यक्ति की सेवा कर रहा हूँ, बल्कि इन व्यक्तियों का हार्दिक अभिनंदन करना चाहिए, इन्हें धन्यवाद देना चाहिए क्योंकि इन्हीं व्यक्तियों ने हमें ईश्वर का कार्य करने के लिए ऐसा सुपात्र बनने का अवसर प्रदान किया है। हमें कभी भी अंधे, विकलांगों व कुष्ठ रोगियों और अत्यन्त वृद्धों को हीन भावना से नहीं देखना चाहिए, बल्कि ऐसा समझना चाहिए कि ये व्यक्ति हमारे लिए एक कसौटी की तरह हैं कि हम निःस्वार्थ भाव और मानवता की दृष्टि से अपने आपको कसौटी पर उतार पाते हैं या नहीं। इनको हमारी बहुत जरूरत है।

साधक या ईश्वर भक्त अपने आपको परोपकार में अवश्य लगाएँ। यदि परोपकार की शिक्षा लेनी है तो मदर टेरेसा के जीवन से शिक्षा लो जिन्होंने अपना सारा जीवन परोपकार में बिता दिया, भारत में लगभग 50 वर्ष तक निःस्वार्थ परोपकार किया। आज वह भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व के लिए आदर्श है। यदि आप दूसरों की सेवा करेंगे तो आपकी सेवा होगी। साधक के लिए अंतःकरण शुद्ध करने के लिए बहुत अच्छा तरीका परोपकार है। इससे अंतःकरण शुद्ध व निर्मल बनता है।

इच्छाएँ

आजकल सभी मनुष्य किसी न किसी प्रकार की इच्छाओं से ग्रसित रहते हैं। ये इच्छाएँ हर मनुष्य की अपनी-अपनी अलग-अलग तरह की होती हैं। इसका कारण है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं। बहिर्मुखता के कारण इन्द्रियाँ चंचल होकर स्थूल संसार में लिप्त रहती हैं। इस परिवर्तनशील संसार में सुख कहाँ है, सिर्फ दुःख ही दुःख है। मनुष्य इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर संसार का असली स्वरूप अज्ञानता के कारण पहचान नहीं पाता है। इसी कारण वह इस संसार को अपना समझता है। क्षणिक सुख भोगने के लिए सांसारिक वस्तुओं में लिप्त रहता है। इन्द्रियों के पराधीन होकर मनुष्य सुख के चक्कर में दुःख ही दुःख उठाता है। वह सोचता है कि अमुक प्रकार का सुख प्राप्त कर मैं तृप्त हो जाऊँगा। इसी तृप्ति के चक्कर में वह दिन-दुगना रात-चौगुना लगा रहता है, मगर तृप्ति नहीं होती। जैसे-जैसे इच्छाएँ बढ़ेंगी, वैसे-वैसे तृष्णा बढ़ेगी। किसी इच्छा की पूर्ति हो जाने पर तृष्णा कम नहीं होती है, बल्कि तृष्णा को बढ़ावा मिलता है। यदि जलती हुई लकड़ियों में आप घी डाल दें तो आग बुझ नहीं जाती है, बल्कि और भड़कती है। इसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति पर इच्छा और बढ़ती है। जितनी इच्छाएँ ज्यादा चलेंगी, उतना ही उस वस्तु पर मोह अधिक हो जाएगा। मोह को दूर करने के लिए उसे अपनी तृष्णा पर अधिकार करना होगा। तृष्णा पर अधिकार करने के लिए इच्छाओं का दमन करना होगा। इच्छाओं को दमन करने के लिए उसे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करना होगा। इन्द्रियों पर अधिकार तभी हो सकता है जब इन्द्रियों को अंतर्मुखी किया जाए। इन्द्रियों के अंतर्मुखी होने पर इच्छाएँ कम हो जाएँगी। मगर इसके लिए योग का सहारा लेना पड़ेगा।

यदि मनुष्य सूर्य की ओर मुँह करके उसकी ओर बढ़े तो उसकी अपनी परछाई उसके पीछे-पीछे चलेगी। यदि मनुष्य सूर्य की ओर पीठ करके विपरीत दिशा में चलेगा तो उसकी परछाई उसके आगे-आगे चलेगी। इसी प्रकार मनुष्य जब योग मार्ग पर या ईश्वर प्राप्ति के पथ पर चलता है तो इन्द्रियाँ बहिर्मुखता और चंचलता को छोड़कर अंतर्मुखी व शांत हो जाती हैं। जब मनुष्य ईश्वर से विमुख होकर सांसारिक सुख की प्राप्ति के चक्कर में पड़ जाता है तो इन्द्रियों की चंचलता के कारण इच्छाओं व मोह में डूब जाता है। फिर यही इन्द्रियाँ मनुष्य का जीवन बर्बाद कर डालती हैं क्योंकि मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर पथभ्रष्ट हो जाता है। कभी-कभी इन्द्रियों की दासता के कारण बहुत गलत कार्य करने के लिए क्रियाशील हो जाता है जिससे समाज में तो घृणा का पात्र बनता ही है, साथ ही पाप-युक्त कर्म करने के कारण नरकगामी भी हो

जाता है। इन्हीं इच्छाओं के कारण मनुष्य का बहुमूल्य जीवन मूल्यहीन बनकर पतन का रास्ता तय करने लगता है। बहुत से मनुष्य कहते हैं कि हमारी अमुक आदत छूटती ही नहीं है अथवा अन्य इच्छा के अधीन हूँ जो शायद इस जिंदगी में न छूटे। जो मनुष्य यह कहता है कि हमारी अमुक आदत नहीं छूटती है जबकि आदत का परिणाम बुरा है, इससे मालूम पड़ता है कि उसकी इच्छाशक्ति बहुत ही कमजोर है। उसे अपनी इच्छाशक्ति में दृढ़ता लानी होगी। साथ ही उसे संकल्प करना होगा कि उसे अमुक वस्तु ग्रहण नहीं करनी है अथवा अमुक कार्य नहीं करना है, तो इसका उस पर अवश्य असर पड़ेगा। यहाँ पर थोड़ा हठ का भी प्रयोग करना चाहिए, तब किसी भी कार्य में कामयाबी मिलनी शुरू हो जाएगी। चाहे नशीले पदार्थ छोड़ने हों अथवा असामाजिक कार्य छोड़ने हों, सफलता अवश्य मिलेगी। यह सफलता एकदम से समझ नहीं आती है, मगर धीरे-धीरे महसूस होती है।

साधक को सबसे पहले अपने विषय में यह जानकारी करनी चाहिए की उसकी कौन सी इन्द्रिय चंचल है जिसका वह वशीभूत है, फिर शांत होकर उस इन्द्रिय को समझाये, क्यों हमारा पतन कर रही हो; अब ऐसा कार्य करो जिससे हमारा उत्थान हो जाए। ऐसा कई बार आप कीजिये। बिल्कुल एकांत में गंभीर होकर समझाइए। आपको कुछ समय बाद लगेगा कि आप जिस इन्द्रिय को समझा रहे हैं, उसका समर्थन आपको अन्तःकरण से भी मिल रहा है। यदि आप सच्चे भाव से उस कार्य को छोड़ना चाहते हैं तो आपको अंदर से सहायता अवश्य मिलेगी। फिर भी यदि उस कार्य को छोड़ने में आपको अवरोध आ रहा है तो उसी समय आपको हठ का प्रयोग करना चाहिए। यदि आप जिह्वा के वशीभूत हैं तो आपकी जिह्वा हमेशा स्वादिष्ट भोजन अथवा नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे व्यञ्जन के लिए व्याकुल रहती होगी। आप उसी समय पूर्ति करने का प्रयास करते होंगे। यदि पास में पैसे नहीं हैं तो दूसरों से उधार माँग लेते होंगे। जिह्वा के अधीन जो ठहरे! किसी-किसी की आदत पड़ जाती है दूसरों की बुराई करने की, उल्टे-सीधे शब्द बोलने की, क्योंकि उन्होंने जिह्वा पे लगाम नहीं लगा रखी है। वह बेलगाम घोड़े की तरह भागती रहती है यानि बोलती रहती है। इससे स्थूल व स्थूल से परे दोनों जगह हानि उठानी पड़ती है। इसलिए हमें अपनी जिह्वा को समझाना चाहिए व विकसित करना चाहिए कि स्वादिष्ट भोजन की ओर न भागे, दूसरों को गलत शब्द न बोलें, बल्कि आदरयुक्त बोले व ईश्वर का गुणगान करे। इसी प्रकार इन्द्रियों को समझाएँ। इससे इच्छाएँ कम हो जाएँगी। हाँ, जितनी आसानी से हमने लिख दिया और आपने पढ़ भी लिया कि हमें अपनी इन्द्रियों को अंतर्मुखी बनाना चाहिए और अच्छे कार्यों के लिए प्रेरित करना चाहिए, यह कार्य

इतना आसान नहीं है। यह कार्य शीघ्र ही नहीं हो जाएगा। मगर दृढ़-निश्चयी व विवेकी मनुष्य इस कार्य के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें विश्वास होता है कि एक-न-एक दिन अवश्य सफलता मिलेगी।

मनुष्य को जन्म-मृत्यु से छुटकारा न मिलने का कारण उसकी इच्छाएँ ही हैं। क्योंकि वह जीवन भर इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहता है और इच्छाओं से ग्रसित रहता है। मृत्यु के समय भी इच्छा नहीं छूटती है। इन्हीं अतृप्त इच्छाओं के कारण मनुष्य मृत्यु के पश्चात भी सूक्ष्म शरीर धारण किए यहीं भटकता रहता है। सूक्ष्म शरीर किसी प्रकार का कार्य करके तृप्त नहीं हो सकता है। उसके द्वारा किसी प्रकार का कार्य संभव नहीं है। इसलिए उसे क्लेश होता है। जब तक कोई योगी या भक्त उसको इच्छित सामग्री ग्रहण न कराये, तब तक वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता है। इसलिए उसकी इच्छापूर्ति नहीं हो पाती है। ऐसी अतृप्त जीवात्माएँ घोर कष्ट महसूस करती हैं। कुछ समय बाद वे हताश हो जाती हैं और ऊर्ध्वगमन कर जाती हैं, क्योंकि उनकी वासना पूरी होती नहीं दिखायी पड़ती है। ऊर्ध्व लोक में कर्मानुसार यातनाएँ सहती हैं और फिर इच्छाओं के कारण जन्म लेना पड़ता है।

निंदा

साधकों, बड़ा मुश्किल कार्य है किसी के द्वारा निंदा सुनना। कौन ऐसा व्यक्ति है जो निंदा सुनेगा अथवा निंदा सुनने के लिए तैयार रहेगा? इससे उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। कौन है जो अपने स्वाभिमान को ठेस पहुँचाएगा, क्योंकि स्वाभिमान को ठेस लगते ही अहंकार उबाल मारता है– हम क्या उससे कम हैं! यदि किसी व्यक्ति ने थोड़ी सी निंदा कर दी तो जवाब में उसे भरे समाज में खरी-खोटी सुना कर आते हैं तथा निंदक को ढेरों कमियाँ व आरोप सुनाकर आते हैं। ऐसे विचार सभी व्यक्तियों में आते हैं। यदि किसी ने थोड़ी सी निंदा कर दी तो बड़ी भारी बेइज्जती महसूस होती है। वे समझते हैं कि हमारे पूर्वजों के शान के डंके बजते रहे हैं। ज्यादातर व्यक्ति झूठी शान के लिए पता नहीं क्या-क्या करते हैं। एक झूठ को सच करने के लिए सौ झूठ बोलते हैं। कारण यह होता है कि झूठी शान पर कहीं धब्बा ना लग जाए। समाज उसे शानदार व इज्जतदार व्यक्ति कहे, उसकी तारीफ करे, उसकी हाँ-में-हाँ मिलाये, ऐसा सोचा करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को न तो सच कहने की आदत होती है, न सत्य सुनने की हिम्मत ही होती है। यदि किसी व्यक्ति ने उसकी खोखली शान के विषय में सत्य कह दिया तो उसकी आफत समझो क्योंकि समाज में उसकी कलई खुल जाती है। इस कारण वह अपनी बेइज्जती महसूस करता है। अपनी बेइज्जती का बदला लेने के लिए मालूम नहीं क्या-क्या करने को तैयार रहता है। इस बदले का निष्कर्ष कुछ भी निकले, मगर बदले के लिए तैयार हो जाता है। यदि बदला ना ले पाया तो मानसिक रूप से परेशान हो जाता है। ऐसा सिर्फ इसलिए होता है क्योंकि सत्य को सुनने की हिम्मत नहीं है। सच पूछो तो बुरा ही क्या कर दिया, यदि किसी के बारे में किसी ने सत्य कह दिया।

साधारण मनुष्य तो एक दूसरे की निंदा करते ही हैं, किन्तु मैंने देखा है कि एक साधक स्वयं दूसरे साधक की निंदा करता है। साधक को दूसरे की निंदा नहीं करनी चाहिए। निंदा करने से पाप का भागीदार होता है। किसी साधक को क्या अधिकार है दूसरे की निंदा करने का। किसी को अधिकार नहीं है कि कोई व्यक्ति दूसरे की निंदा करे। फिर भी यदि कोई निंदा करता है तो वह स्वयं जिम्मेदार होगा, उसका फल उसे स्वयं भोगना होगा। साधक के लिए निंदा करना अत्यन्त वर्जित कार्य है। इससे स्वयं साधक का मुँह गंदा होता है। यदि किसी स्थान पर निंदा हो रही हो तो साधक को उतने समय के लिए वह स्थान छोड़ देना चाहिए। यदि हम गहराई में जाएँ तो पाएँगे कि वह स्थान दूषित हो जाता है। यह बात साधक को ध्यान में रखनी चाहिए। जिस व्यक्ति की निंदा करने की आदत हो, उससे ज्यादा संपर्क नहीं रखना चाहिए। साधक

को चाहिए कि वह अपनी निंदा सुन ले। निंदा सुनकर किसी प्रकार से विचलित न हो, दुखी ना हो, क्योंकि निंदा सुनने से पाप का नाश होता है। जो साधक निंदा सुन लेगा, उसके अंदर सहनशीलता बढ़ेगी, साथ में अंतर्मुखी भी बनेगा। सच तो यह है कि पहली बार निंदा सुनने में साधक को अंदर से बड़ी तकलीफ महसूस होगी, क्योंकि उसे निंदा सुनने की पहले से आदत नहीं होती है। अंदर से बेचैनी महसूस होती है। सोचता है, मैंने इसका क्या बिगाड़ा है जो हमारी निंदा कर रहा है। लेकिन धीरे-धीरे आदत डालने पर आदत पड़ जाएगी। फिर निंदा सुनने में तकलीफ नहीं होगी। यदि हम गौरपूर्वक सोचें, तो समझ में आ जाएगा कि निंदा करने वाले से हमें बड़ा लाभ है। क्योंकि निंदा करने वाला हमारी कमियाँ बताएगा। मनुष्य को या साधक को अपनी कमियाँ पूरी तरह से समझ में नहीं आती हैं। मगर उसके अंदर क्या-क्या कमियाँ हैं, यह कार्य निंदक हल कर देता है। वह आपके अंदर की कमियाँ बाहर निकालता रहेगा। फिर आप निंदक द्वारा बताई गयी कमियों पर गौर कीजिये। उन कमियों को दूर करने का प्रयास कीजिये। इस प्रकार साधक की सारी कमियाँ दूर हो जाएँगी। आप एक अच्छे साधक बन जाएँगे। देखा, निंदक से कितना बड़ा फायदा है। एक विवेकहीन व्यक्ति निंदा सुनने पर झगड़ा कर बैठता है। फिर आपस में दुश्मनी हो जाती है। इससे नुकसान भी हो सकता है। मगर साधक या बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि का प्रयोग करके निंदक की निंदा से फायदा उठाते हैं।

साधक को सोचना चाहिए हम पर ईश्वर की बड़ी कृपा हुई है। उसने हमारे पास एक ऐसा व्यक्ति भेज दिया जो हमारे अंदर छुपी कमियों को निकालने के लिए सहायता दे रहा है। हमारा सुधार करने में सहायक है। यह हमारा निंदक नहीं, बल्कि सुधारक है। साधक को निंदक के प्रति ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'इस पर आप कृपा करो, इसका कल्याण करो। इसने हमें अच्छा बनाने में सहायता की है'। जिस प्रकार डॉक्टर मरीज का बुखार जाँचने के लिए थर्मामीटर लगाता है, उसी के अनुसार फिर दवा देता है या इंजेक्शन लगाता है, ताकि बुखार उतर जाए और मरीज ठीक हो जाए; ठीक इसी प्रकार निंदक भी साधक की गहराई को नापता है। इससे साधक की सहनशीलता का, क्रोध का व धैर्य का पता चल जाता है कि साधक कितना सहनशील है। निंदा कर साधक के सारे दोष निकाल देता है, जिससे साधक दोषरहित हो जाता है।

निंदा सुनने का फल साधक को तभी मिलेगा जब वह आंतरिक रूप से उसकी निंदा सहन कर ले। निंदा सुनने के कारण साधक के अंदर किसी प्रकार का विकार न आए। क्योंकि निंदा को ग्रहण करने के कई तरीके हैं: -

1. निंदा करने वाला अगर आपसे शरीर में हृष्ट-पुष्ट है, वह आपसे शारीरिक शक्ति में बहुत ज्यादा है, स्वभाव से क्रूर भी है, लड़ाई-झगड़ा करने वाला है, तो आपके अंदर विचार आ सकता है कि यह हमारी बेइज्जती सबके सामने कर रहा है। ठीक है, यह हमारी मजबूरी है अभी हम उसके द्वारा निंदा सुन लें, क्योंकि अभी हम इससे झगड़ा करके इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। आज नहीं तो कल हम इसे देख लेंगे जब हमारे और दोस्त या शुभचिंतक हमारे साथ होंगे। क्योंकि उस समय इसे हर तरह का जवाब दे सकते हैं। और मन ही मन में ढेरों गालियाँ देने लगते हैं। क्योंकि उस समय आप उससे निर्बल हैं। आप निंदक का कुछ नहीं बिगड़ सकते हैं। इसलिए निंदा सुन ली। मगर यह निंदा सुनना नहीं हुआ। आप भी तो अपने मन के अंदर उस निंदक की निंदा कर रहे हैं या बदला लेने की सोच रहे हैं। यदि उस समय निंदक आपके बराबरी का होता तो आप झगड़ा करने को तैयार हो जाते। क्योंकि आपके अंदर की भावनाएँ यही कह रही हैं। यदि उस समय निंदक आपसे कमजोर होता तो अवश्य झगड़ जाते, क्योंकि आपको मालूम है कि वह आपसे शरीर में कमजोर है।

2. यदि आपकी निंदा करने वाला आपके समकक्ष कमजोर है तो आप सोच सकते हैं, क्या बताऊँ सारा समाज हमें साधक या भक्त समझता है। यदि मैं निंदक को जवाब दूंगा तो सभी व्यक्ति या समाज कहेगा, निंदा करने वाला वैसे भी बेकार व्यक्ति है, उससे आप क्यों वार्तालाप कर रहे हैं। आप तो एक अच्छे साधक हैं, ईश्वर के भक्त हैं, आपको निंदा सुन लेनी चाहिए। साधक को निंदा से क्या लेना-देना, साधक को तो सभी लोग वैसे भी बुरा-भला कहते हैं। यह निंदा सुनना नहीं हुआ क्योंकि आपके अंदर विचार आ रहा है कि मेरी मजबूरी है क्योंकि मैं साधक हूँ, इसलिए सुन रहा हूँ। यहाँ पर निंदा सुनने में विरोधाभास है, यह आपका मन जाहिर कर रहा है।

3. आपकी निंदा आपसे बहुत कमजोर व्यक्ति कर रहा है, जो आपकी किसी प्रकार की बराबरी नहीं कर सकता है। फिर भी आप उसके द्वारा की हुई निंदा बड़े आराम से सुन रहे हैं, आपके अंदर किसी प्रकार का विकार नहीं आया। सही या झूठी निंदा सुनते क्रोध जरा-भी नहीं आया, बल्कि आप उस समय उस पर

तरस खा रहे हैं, अज्ञानी समझकर माफ कर रहे हैं। इसी को निंदा सुनना कहते हैं, क्योंकि आपके अंदर किसी प्रकार का विकार नहीं आया। अब आप अपने को अच्छा साधक समझ सकते हैं। अपने से शक्तिशाली पुरुष द्वारा निंदा सुनकर व्यक्ति मजबूरी में चुप रह जाते हैं क्योंकि आप उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, फिर भी आपके मन में निंदक के प्रति ईर्ष्या की भावना पनपती है। मन-ही-मन आप द्वेष करने लगते हैं। साधक को किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे साधक को ही हानि पहुँचती है। आपको आदत बदलनी चाहिए; जब आपकी निंदा आपसे निर्बल व्यक्ति कर रहा हो, फिर भी शांत भाव से सुन लें, आप पर किसी प्रकार का असर न पड़े तो निंदा सुनने का फल अवश्य मिलेगा। मगर साधारण व्यक्ति निंदा सहन नहीं कर पाता। इसलिए निंदा, ईर्ष्या या दुश्मनी में बदल जाता है। मनुष्य अपनी बड़ाई सुनना पसंद करता है। यदि किसी ने झूठ की अतिशयोक्ति करके तारीफ कर दी तो वह अपने आपको एक अच्छा योग्य व्यक्ति समझने लगता है, जिससे वह स्वयं भ्रमित हो जाता है। इसलिए साधक को निंदा सुन लेनी चाहिए, अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

नारी

नारी शब्द जैसे ही होंठों पर आता है, तो सारे विश्व का ध्यान भारतीय नारी की ओर आ जाता है। आज भी सारे विश्व में भारतीय नारियाँ आदर्श का प्रतीक बनी हुई हैं क्योंकि वह आज भी सबसे पुराने सनातन धर्म के अनुसार गृहस्थ व सारी जिम्मेदारियों को निभाती आ रही हैं। इसीलिए पश्चिमी देशों के बड़े-बड़े दार्शनिक भारतीय नारियों को श्रद्धा भाव से देखते हैं। उनका कहना है– "भारतीय शादी का मतलब है दो आत्माओं का मिलन।" भारतीय नारी अपने पति के साथ सारा जीवन अपने पति की सेवा करते ही गुज़ार देती है, चाहे उसके पति में ढेरों त्रुटियाँ क्यों न हों। भारतीय नारी पति की सेवा को ही अपना धर्म मानती है। यदि हम प्राचीन काल की ओर देखें तो पाएँगे कि नारी ने अपनी योग्यता से अति उच्च स्थान प्राप्त किया है। कभी कभी इन नारियों के सामने देवता, ऋषि और मुनि भी फीके पड़ गये थे। आज भारत देश ऐसी नारियों पर गर्व करता है। उन्हीं के द्वारा बतायी गयी शिक्षाओं पर भारतीय नारी को अनुसरण करना चाहिए, ताकि उनका दर्जा एक आदर्श नारी के समान बरकरार रहे। हर नारी को समाज में अपने जीवन काल में कई तरह के फर्ज़ निभाने पड़ते हैं। सभी अलग-अलग रूपों में, जैसे बेटी, बहन, पत्नी व माँ। जब वह माँ के रूप में अपना कर्तव्य करती है तो उसका पुत्र अपनी माँ का ऋणी होता है। पुत्र अपनी माँ का ऋण सारे जीवन में, माँ की सेवा के बाद भी नहीं उतार पाता है। माँ की ममता के आगे सभी रिश्ते फीके पड़ जाते हैं। यदि आज की नारी को देखें तो पाएँगे उसकी कितनी दुर्दशा की गयी है। नारी का शोषण किया जाता है, जलायी जाती है, दहेज के कारण उसे कष्ट दिया जाता है। नारियों के साथ इस समाज ने ढेरों जुल्म ढाये है, आखिर क्यों? जो नारी आदर्श का प्रतीक थी, उसका इतना पतन कैसे? सच तो यह है कि नारी, नारी का शोषण करती है। इन सब जुल्मों के लिए स्वयं नारी और उसकी अज्ञानता जिम्मेदार है। हमारा मतलब यह नहीं है कि ऐसे कार्यों में पुरुष की भूमिका नहीं है। लेकिन यदि नारी इन कार्यों में लिप्त न हो, बल्कि विरोध करे तो इस प्रकार के कार्य नहीं हो सकते हैं। यदि हम उदाहरण दें तो पाएँगे कि नारी ही नारी को कष्ट देती है। जब बेटे की शादी होकर बहू घर में आती है तो उसकी सास और ननद ही दहेज का ताना देती हैं, ढेरों प्रकार के कष्ट देती हैं। दहेज के कारण बहू की हत्या तक कर दी जाती है अथवा बहुत समय तक बहू को कष्ट झेलने पड़ते हैं। यही बहू जब भविष्य में सास बनती है, तो वह भी अपने बहू के साथ वैसा ही सलूक करती है जैसा उसकी सास ने पहले उसके साथ किया था। वह क्यों भूल जाती है कि मैं भी कभी बहू थी। यही कारण है कि घर में कलह होती रहती है। सास क्यों नहीं सोचती

है कि हमारी बहू भी किसी की बेटी है। अपने बेटे से प्यार करती है, फिर बहू से ऐसा सलूक क्यों किया जाता है? जब आपकी बेटी बहू बनकर जाती है तो उसके ससुराल वाले भी वही सलूक करते हैं, जैसा आप अपनी बहू के साथ करती हैं। फिर बुरा क्यों लगता है कि तुम्हारी बेटी के साथ ससुराल वाले गलत व्यवहार करते हैं।

जब किसी के घर में पुत्र जन्म लेता है तो खुशियाँ मनायी जाती हैं। यदि पुत्री ने जन्म ले लिया तो पूरा परिवार दु:खी हो जाता है। वे स्त्रियाँ भूल जाती हैं उनके जन्म के समय भी यही हालत थी, उस समय उन्हें भी घर में उपेक्षा मिली थी। इस सम्बन्ध में सिर्फ अपना दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है। यदि हमारे घर में किसी पुत्री ने जन्म लिया है तो उसी हर्ष व उल्लास के साथ उसका स्वागत करना चाहिए, जिस हर्ष और उल्लास से पुत्र का स्वागत करते हैं। जब तक सामूहिक रूप से हम सब अपना दृष्टिकोण नहीं बदलेंगे, किसी भी परिवार में अच्छी बहू नहीं आ सकती है।

नारी चाहे तो अपनी कार्य कुशलता से, सहनशीलता व विवेक से गृहस्थी को स्वर्ग बना दे और यही नारी चाहे तो स्वर्ग सी गृहस्थी को नरक बना दे। नारी सिर्फ अपने घर को नहीं, बल्कि सारे देश को बदलकर रख सकती है। नारी पुरुष को जैसा चाहे, वैसा बना दे। क्योंकि जब वह माँ के रूप में होती है तो वह अपने बच्चे की पहली गुरु होती है। वह गुरु रूप में उस बच्चे को जो बनाना चाहे वैसी ही शिक्षा दे, वैसे ही संस्कार उस बच्चे में भरे ताकि वही बच्चा कल युवक बनकर राष्ट्र का वैसा ही निर्माण करे क्योंकि माताओं की छाप ही उस बच्चे पर पड़ती है। यही बच्चे सम्पूर्ण जीवन अपने माता द्वारा बताये गये आदर्शों पर चलते हैं। इसी प्रकार नारियाँ चाहे तो समाज को बदलकर रख दें। लोग कहते हैं कि नारी अबला है। मैं नहीं कहता हूँ कि नारी अबला है। मैं कहता हूँ कि नारी सर्वशक्तिमान है। पुरुष अपने को सामर्थ्यवान कैसे कहता है? यही पुरुष उस नारी के कोख से जन्म लेता है, जिसे अबला कहता है। शैशव अवस्था में यही नारी पालन-पोषण करती है, जिसे अबला कहता है। समझ में नहीं आता है कि पुरुष ने किस क्षेत्र में नारी को अबला समझ रखा है। यहाँ तक कि नारी युद्ध क्षेत्र में भी पुरुषों से पीछे नहीं है। प्राचीन काल से लेकर आज तक नारियों ने पुरुषों को परास्त किया है। काली, दुर्गा, चंडी से लेकर रानी लक्ष्मीबाई तक ढेरों उदाहरण मौजूद हैं। आज की नारी भी पुरुष से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं हैं। आज सम्पूर्ण विश्व में हजारों नारियाँ सेना में कार्यरत हैं जो लड़ाई के मैदान में भी जाती हैं। नारी पुरुष से हर क्षेत्र में श्रेष्ठ है। पुरुष कभी भी नारी की बराबरी नहीं कर सकता है। नारी शक्ति की प्रतीक है। हाँ, यह बात सत्य

है कि कुछ देशों में नारी को स्वतन्त्रता नहीं है। इसलिए पुरुष अपना पलड़ा भारी रखता है। ऐसी नारियों को जागरुक होना चाहिए। उन्हें अपने अस्तित्व को पहचानना चाहिए। नारी में जब जागरुकता की भावना आ जाएगी तो पुरुषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चल पड़ेगी। बल्कि पुरुषों से भी ज्यादा कर्मठ व सहनशीलता का परिचय मिलेगा। हाँ, यह सच है कि सहनशीलता में कभी भी पुरुष नारी की बराबरी नहीं कर पायेगा। क्योंकि कहीं पर वह बेटी, कहीं पर पत्नी, कहीं पर माता और कहीं पर बहन बनकर आयी है। उसके ये स्वरूप एक से बढ़कर एक हैं। यह कह पाना बिल्कुल असंभव है कि इसमें कौन-सा रूप सबसे अच्छा है। इसीलिए बुद्धिमान पुरुषों ने नारी को 'माया' भी कहा है क्योंकि नारी हर रूप में खरी उतरी है। इसलिए यह समझ पाना असंभव है उसका सर्वोत्तम रूप कौन-सा है।

संसार एक रंगमंच है। इस रंगमंच को प्रकृति ने बर्फीले पहाड़, कहीं-कहीं हरे-भरे जंगलों से युक्त पहाड़, नदियाँ, जंगलों और समुद्रों से सजाकर सौंदर्यमय बना दिया है। इस रंगमंच का नायक पुरुष है और नायिका स्त्री है। जो भी नाटक किया जाता है उसमें नारी की भी भूमिका होती है। बिना नायिका के यह रंगमंच सूना व बेकार है। नारी के बिना इस संसार का अस्तित्व मूल्यहीन है। अर्थात नारी के बिना यहाँ पर नाटक नहीं खेला जा सकता है। मनुष्य ही नहीं ईश्वर भी नारी के बिना अधूरा है, चाहे भगवान शंकर हों, चाहे भगवान विष्णु हों, चाहे भगवान ब्रह्मा हों। पूरे रूप में भगवान शंकर अर्द्धनारीश्वर कहलाते हैं।

किसी-किसी जगह पर नारी की निंदा की गयी है। कहा जाता है 'नारी नरक का द्वार है'। इसका मतलब यह नहीं है कि उसे हम निंदित भाव से देखें, बल्कि इन शब्दों को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। इसके दो अर्थ निकलते हैं: (1) ब्रह्मचारी व सन्यासियों के मन में नारी के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिए नारी को ऐसा कहा गया है; (2) उन दुष्ट नारियों की निंदा की गयी है जो धर्म और लज्जा को त्यागकर अधर्म के मार्ग पर चलती हैं। वास्तव में नारी की नहीं, बल्कि उसके दुर्गुणों की निंदा की गयी है। दुराचार में लिप्त पुरुष हो या नारी हो, सभी निंदा के पात्र हैं। पुत्री, बहन, पत्नी और माँ सभी आदर की अधिकारिणी हैं। वास्तव में, नारी पुरुष की जननी होने के कारण सदा ही पुरुषों से श्रेष्ठ व वंदनीया है।

योग में नारी का महत्त्व बहुत बड़ा है। दूसरे शब्दों में, योग में बिना नारी के आपको अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि कुण्डलिनी का एक स्वरूप नारी का है। वह ध्यान में योगियों को नारी के रूप में दिखायी पड़ती है। यही नारी आदिशक्ति है। सृष्टि की उत्पत्ति इसी से हुई है। यही शक्ति का प्रतीक है। इसी शक्ति को धारण कर ब्रह्मा सृष्टि की रचना करते हैं। इसी शक्ति से भगवान नारायण सृष्टि का

पालन करते हैं। इसी शक्ति को धारण कर भगवान शंकर सृष्टि का विनाश (संहार) करते हैं। जब योगी की कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो यही कुण्डलिनी नारी स्वरूप में अत्यन्त मोहक व कामुक रूप में भी दिखायी पड़ती है। यह योगी की परीक्षा का समय होता है। यदि योगी भ्रमित हो गया तो उसका पतन हो जाएगा। यदि वह भ्रमित नहीं हुआ तो यही नारी त्रिपुर सुंदरी के रूप में दिखायी देगी। जो सिर्फ योगी ही नहीं बल्कि सारे ब्रह्मांड की 'माँ' है। योगी की सारी कामवासनाएँ नष्ट हो जायेंगी। कभी यही कुण्डलिनी कन्या के रूप में दिखायी पड़ती है जिसकी उम्र 7-8 साल से 12-13 साल तक हो सकती है। यही कुण्डलिनी हम सभी की वास्तविक माँ है। यह तो हम सभी जानते हैं कि माँ ही पुत्र को पिता से मिलवा सकती है। माँ को ही मालूम होता है पुत्र का पिता कौन है। हमारा वास्तविक पिता ब्रह्म है क्योंकि सभी की उसी से उत्पत्ति हुई है। यदि किसी को अपने पिता तक पहुँचना है तो उसे अपनी माँ का सहारा लेना पड़ेगा। वही पिता तक पहुँचने का मार्ग बतायेगी और पहुँचा देगी। कुण्डलिनी साधक के शरीर में योग के माध्यम से जाग्रत होकर आदि-शिव से मिला देगी, वही शिव हम सबका परम पिता है। परम पिता के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उनका निवास स्थान मनुष्य के शरीर में सहस्त्रार में है। निर्गुण ब्रह्म का यही स्थान है। इसीलिए नारी को श्रेष्ठ कहा गया है, शक्ति का प्रतीक कहा गया है। आदिकाल से लेकर आज तक देवता, ऋषि-मुनि, योगी शक्ति का प्रतीक नारी की पूजा करते चले आये हैं। इसलिए हम सबको नारी के प्रति सम्मान व आदर करना चाहिए।

आजकल भी हमने साधकों के द्वारा सुना है कि हमें स्त्रियों से दूर रहना चाहिए, उनसे बात नहीं करनी चाहिए। ऐसा विचार हमें अपने मन में नहीं लाना चाहिए। कमियाँ स्त्रियों के अंदर नहीं है, कमियाँ ऐसे साधकों के अंदर है। साधकों को अपनी कमियाँ दूर करनी चाहिए। जब आपका अन्तःकरण स्वच्छ हो जाएगा तब यह शिकायत अपने आप दूर हो जाएगी। जहाँ तक मेरा विचार है, हम यही कहेंगे कि नारी के कारण आज हमारा जीवन धन्य हो गया। जिसने मुझे जन्म दिया, वह भी नारी थी। मेरे गुरुदेव का स्थूल शरीर भी नारी का है। माँ कुण्डलिनी की सहायता से हमें आत्म-साक्षात्कार हुआ है। इसी ने हमें योगबल में शक्तिशाली बनाया है। सारे विश्व की नारी जाति को मैं कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।

सुख और दुख

आजकल तो सारे संसार में हर मनुष्य दुखी है। जब मनुष्य को उसकी इच्छानुसार वस्तु प्राप्त नहीं होती है, तो वह दुख महसूस करता है। किसी भी मनुष्य की इच्छाएँ तो उसके जीवन काल में अनगिनत होती हैं। सभी इच्छाओं की पूर्ति होना निश्चित रूप से असंभव है। हर मनुष्य अपने जीवन में सुख चाहता है। यदि परिश्रम करके उसके अनुसार सुख मिल भी जाएगा, तो जरूरी नहीं सुख का सदैव भोग करता रहे। जैसे ही सुख की समाप्ति होती है, दुख मिलना शुरू हो जाता है। लेकिन कोई भी मनुष्य दुख को ग्रहण नहीं करना चाहता है, सदैव सुख की इच्छा रखता है। मगर इस क्षणभंगुर संसार में दुख-ही-दुख है। सभी व्यक्ति सुख की चाह में भटकते रहते हैं, सुख का प्रयास करते हैं। मगर ढेरों प्रयत्नों के बाद भी दुख ही हाथ लगता है। मनुष्य दुख को भोगना नहीं चाहता है। मनुष्य सदैव ईश्वर से सुख की प्राप्ति के लिए ही प्रार्थना करता है कि हमें सुख सदैव मिलता रहे, जीवनभर सुख भोगूँ। मगर मनुष्य को इच्छानुसार सुख नहीं मिलता है। जब सुख नहीं मिलता है तो दुख की अनुभूति करता है। फिर ईश्वर पर आरोप लगाता है कि ईश्वर ने हमें दुख-ही-दुख दिया है। जब सुख मिलता है तो बड़ी प्रसन्नता होती है। उस समय मनुष्य यह नहीं कहता है कि ईश्वर ने हमें सुख दिया है, बल्कि सुख का श्रेय अपने ऊपर ले लेता है। मनुष्य कितना स्वार्थी है! दुख तो ईश्वर ने दिया, मगर सुख का जिम्मेदार स्वयं अपने को समझता है। जब दुख की जिम्मेदारी ईश्वर को देता है, तो सुख की जिम्मेदारी भी ईश्वर को दे। अथवा दुख और सुख दोनों का जिम्मेदार स्वयं अपने को बनाए, मगर मनुष्य ऐसा नहीं करता। यहाँ पर मनुष्य ईश्वर से भी भेदभाव बरतता है, जिसने हमें बनाया है, जो सारी सृष्टि का मालिक है। ईश्वर के प्रति जब भाव ऐसा है तो मनुष्य, मनुष्य के प्रति कैसा भाव रखता होगा! जिसकी जैसी भावना होगी, उसका वैसा ही कार्य होगा। जिस कार्य का फल दुख है तो सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि कोई चाहे किसी गंदी नाली से चन्दन की महक आए, तो यह कैसे संभव हो सकता है। चन्दन की महक तो चन्दन से ही आएगी।

साधकों, सुख और दुख का जोड़ा है। जब दुख मनुष्य की सेवा करता है, तो सुख वहाँ नहीं रहता है। क्योंकि सुख जानता है, हमारा मित्र इस समय उसकी सेवा में लगा है, अभी हमें थोड़ा आराम कर लेना चाहिए। जब दुख काफी समय तक सेवा कर चुका होता है, तो सुख सोचता है चलो अब हम उस मनुष्य की सेवा कर दें क्योंकि हमारा मित्र थोड़ा आराम कर ले। बस, फिर क्या, सुख की बारी आ जाती है। दुख बहुत समय तक सेवा करने के बाद आराम करने लगता है, और अपने मित्र से कहता है– "अरे भाई सुख,

चिंता नहीं करना, मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा। यदि आने में देर लग जाए तो हमें तुरंत इशारा कर देना, मैं उपस्थित हो जाऊँगा।" कहने का अर्थ यह है कि सुख और दुख आते-जाते रहते हैं, ये स्थिर नहीं रहते। दोनों में कितनी घनिष्ठ मित्रता है! मनुष्य की सेवा के लिए, इन दोनों में दुख तो कभी-कभी हमेशा तैयार रहता है, यह बड़ा बलवान है। दुख जिसकी सेवा करता है, उसे शीघ्र नहीं छोड़ता। शक्तिशाली होने के कारण उसे थकान भी नहीं आती है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य की जिंदगी में दुख का पलड़ा भारी रहता है, इसलिए दुख ज्यादा उठाना पड़ता है। सुख का पलड़ा कमजोर होता है, इसलिए जिंदगी में दुख की अपेक्षा सुख कम मिलता है।

दुख और सुख अनुभूति के विषय हैं। सारे जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक दुख-ही-दुख की अनुभूति होती है। वैसे भी सभी व्यक्ति जानते हैं कि इस संसार में दुख-ही-दुख है। बच्चा जब गर्भावस्था में होता है तो उसे घोर कष्ट सहना पड़ता है। मनुष्य को जब रोग लग जाता है तो दुख सहना पड़ता है। यदि कोई कार्य मनुष्य की इच्छानुसार न हुआ हो तो दुख महसूस करता है, किसी प्रकार की इच्छापूर्ति न होने पर दुख महसूस होता है। उसके पास से जब सुख चला जाए या किसी वस्तु के नष्ट होने या चोरी हो जाने पर, इन्द्रियों के स्थूल पदार्थों में लिप्त हो जाने पर दुख मिलता है। यह सारा संसार दुख से भरा हुआ है। मनुष्य सुख की तलाश में जहाँ-जहाँ भागता है, वहाँ-वहाँ उसे दुख ही दुख मिलता है। सुख की प्राप्ति के लिए वह प्रयास करता है। जब उसकी इच्छा पूर्ति नहीं होती है तो दुख मिलता है और सारी जिंदगी ऐसे ही व्यतीत हो जाती है।

अब हमें यह ध्यान देना चाहिए कि दुख की उत्पत्ति कहाँ से होती है, दुखों का कारण क्या है। दुखों का मूल कारण है तृष्णा और अज्ञानता। तृष्णा के कारण ही मनुष्य को दुख मिलता है। जिसकी जितनी कम या ज्यादा तृष्णा होगी, वैसा ही उसे कम या ज्यादा दुख मिलेगा। तृष्णा का कारण इन्द्रिय-सुख भी है। जीवन से संबंधित ढेरों ऐसे कार्य हैं, जिनसे तृष्णा को बढ़ावा मिलता है। देखा गया है कि मनुष्य को बुढ़ापे में तृष्णा का प्रभाव अधिक होता है क्योंकि शारीरिक शक्ति कम हो जाने के कारण स्थूल सुखों के साधन कम जुटा पाता है अथवा बुढ़ापे के कारण एक जगह बैठा रहता है। उसमें कार्य करने की क्षमता नहीं रहती, मन तो अपना असफल प्रयास करता है। इससे तृष्णा और बढ़ती है। इसी तृष्णा के कारण मनुष्य मृत्यु के समय व मृत्यु के बाद भी दुख भोगता है, फिर दुबारा जन्म ग्रहण करता है। जन्म के बाद पिछले जन्मों की

तृष्णा के कारण पड़े संस्कार उभरने लगते है। फिर वही क्रम चलने लगता है। सांसारिक पदार्थों की पूर्ति के लिए वही पहले जैसा दुख। बस, यही क्रम चलता रहता है जन्म और मृत्यु का।

ये दुख मनुष्य को अज्ञानता के कारण भी मिलते हैं, अज्ञानता के कारण वह संसार का वास्तविक स्वरूप नहीं पहचान पाता है। वह संसार को ही अपना सबकुछ समझने लगता है कि वह वस्तु हमारी है। इस कार्य को सम्पन्न करने का कार्य ईश्वर के ही द्वारा रचित माया करती है। माया सबको भ्रमित किये रहती है। जब तक साधक अज्ञानता को नष्ट नहीं करेगा, तब तक वह स्थूल नश्वर संसार का भेद नहीं समझ सकता है। जब तक संसार को भली प्रकार से नहीं पहचानेगा, तब तक दुख का अंत नहीं हो सकता है। सिर्फ ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान को नष्ट किया जा सकता है। साधक को ज्ञान प्राप्त होने पर संसार की क्षणभंगुरता की जानकारी हो जाती है। उसकी समझ में अच्छी तरह से आ जाता है कि यहाँ के कोई भी पदार्थ मेरे नहीं हैं। फिर सांसारिक पदार्थों में साधक लिप्त नहीं होगा। हाँ, साधक सांसारिक पदार्थों के बीच में रहेगा तथा उपभोग भी करेगा, मगर इन पदार्थों से अछूता रहेगा। जैसे कीचड़ के बीच में कमल रहता है, इसी प्रकार ज्ञानी साधक रहता है। सांसारिक ज्ञान की बात हम नहीं कह रहे हैं, योग द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान की बात कह रहे हैं। यह दिव्यज्ञान साधक को सहजता से नहीं मिल पाता है। इसे पाने के लिए एक ही रास्ता है और वह है योग। योग के द्वारा साधक दिव्यज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए कोई सा भी मार्ग अपना लेने पर यह ज्ञान अत्यन्त उच्च स्थिति पर प्राप्त होता है। ज्ञान की प्राप्ति पर साधक को किसी प्रकार दुख अथवा कष्ट नहीं होता क्योंकि ईश्वर द्वारा रचित माया का आवरण नष्ट हो जाता है। स्थूल संसार की सभी वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञात हो जाता है। साथ ही समझ लेता है कि 'मैं कौन हूँ'। साधक की सारी इच्छाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इन्द्रियों पर अधिकार कर लेता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी नहीं रह जातीं, बल्कि अंतर्मुखी हो जाती हैं। जिससे स्थूल पदार्थों के भोग की इच्छा नहीं रह जाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने दुखों का अंत कर सकता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष हमेशा इस संसार में रहकर भी आनन्द की अनुभूति करता है।

कुछ मनुष्य यह भी कह सकते हैं कि हमने आज तक कोई भी ऐसा पाप कर्म नहीं किया था जिसके कारण अमुक कष्ट भोगना पड़ा या वह परेशानी सामने आ गयी। बहुत से छोटे-छोटे बच्चों को भी बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। जबकि बच्चा ढंग से बोल भी नहीं पाता है, अभी पैरों से चल भी नहीं पाता है, इतनी छोटी आयु में भी बड़े-बड़े कष्ट मिलते हैं। अब यह कहा जा सकता है कि ये दुख क्यों भोगने

पड़ते हैं। हाँ, यह सत्य है कि कुछ दुख मनुष्यों को इस प्रकार के मिलते हैं। ऐसे कर्म उसने वर्तमान जन्म में नहीं किए होते हैं। इससे यह अर्थ लगाना चाहिए कि पिछले जन्मों के आधार पर यह दुख मिले हैं। पिछले जन्मों के कर्म इस जन्म में भी भोगने पड़ते हैं। इसलिए मनुष्य यदि अच्छा कर्म करेगा तो वह पुण्य का भागीदार होगा। पुण्य के प्रभाव से सुख का भोग करेगा। यदि बुरा कर्म करेगा तो अवश्य पाप का भागीदार होगा और दुख भोगेगा। इसलिए मनुष्य को अपने कर्मों का भोग अवश्य करना होता है। अगर इस जन्म में न भोग पाया तो अगले जन्म में भोगेगा। कुछ पाप और पुण्य कर्मों का भोग मनुष्य मृत्यु के पश्चात सूक्ष्म शरीर द्वारा भोगता है। मतलब यह कि दुखों का अंत मृत्यु के पश्चात भी नहीं होता है।

अब शायद समझ में आ गया होगा कि दुख व सुख हमें कौन देता है। दुख और सुख के हम स्वयं जिम्मेदार होते हैं। इसलिए अब हमें किसी के ऊपर आरोप नहीं लगाना चाहिए कि यह दुख अमुक व्यक्ति के कारण मिला है। जो आपने कमाया है उसे भोगने से नहीं डरना चाहिए क्योंकि दुख भोगने से पाप नष्ट होता है। सुख भोगने से पुण्य का क्षय होता है। यदि हम ज्ञान से सोचें तो पाएँगे कि दुख कितनी अच्छी चीज है। उससे पाप नष्ट हो जाता है। मगर आप हमेशा सुख की इच्छा करते हैं। सुख के भोगने से आपके द्वारा किए हुए अच्छे कर्म समाप्त होने लगते हैं। जब आप बुरे कर्मों का भोग पूरा कर लेंगे, तो किसी की मज़ाल है कि आपको दुख भोगने के लिए मजबूर करे। फिर आपको हर हालत में सुख ही सुख मिलेगा। इसी प्रकार मनुष्य इच्छा करता है कि हमें स्वर्ग की प्राप्ति हो क्योंकि वहाँ पर सुख-ही-सुख है। मगर नरक की कोई इच्छा नहीं करता क्योंकि वहाँ पर दुख के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

हे साधकों! स्वर्ग एक ऐसी जगह है, जहाँ पर आपका पुण्य क्षीण होगा। पुण्य के क्षीण होने पर आपका स्वयमेव पतन हो जाएगा। फिर आपको स्वर्ग की प्राप्ति किसी भी हालत में नहीं हो सकती है। आपको पृथ्वी पर आकर जन्म लेना पड़ेगा। फिर कर्म करना पड़ेगा। इसलिए हे मनुष्यों! आपको ऐसी जगह की इच्छा करनी चाहिए, **जहाँ सुख भी न हो और दुख भी न हो, सिर्फ शाश्वत आनन्द हो।** योग के द्वारा ही हमें शाश्वत आनन्द मिल पाएगा तथा ईश्वर की प्राप्ति होगी, जन्म-मृत्यु से छुटकारा मिल जाएगा। योगी अपने योग के द्वारा चित्त की वृत्तियों को रोक देता है, तब सुख अथवा दुख दोनों ही नहीं रहते, तृष्णा नष्ट हो जाती है, किसी प्रकार की इच्छाएँ नहीं चलतीं। जब किसी प्रकार की इच्छाएँ नहीं चलतीं तो उसे किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहता है, बन्धन से मुक्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त योगी स्वर्ग-नरक से परे ईश्वर के लोक में चिरकाल तक रहता है।

धैर्य

यह गुण हर मनुष्य के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। धैर्यवान पुरुष अपने जीवन में कभी दुख महसूस नहीं करता है। भले ही उसके जीवन में परेशानियाँ आएँ, मगर धैर्यपूर्वक परेशानियों से अपने आपको पार कर ले जाएगा। ऐसा मनुष्य कभी विचलित नहीं होता है। जो पुरुष अपने मार्ग से विचलित नहीं होते हैं, उन्हें अवश्य सफलता मिलती है। जो मनुष्य धैर्यवान नहीं हैं, वे कठिन कार्य करते समय विचलित हो जाते हैं क्योंकि स्थूल जीवन में ढेरों परेशानियों का सामना करना पड़ता है एवं कठिन कार्य करते समय बाधाएँ तो आती ही हैं। बाधाओं के कारण मनुष्य को अपना लक्ष्य दूर दिखने लगता है, फिर उसका साहस टूट जाता है। इसलिए कोई भी कार्य करते समय धैर्य का होना आवश्यक है। धैर्यवान मनुष्य साहसी होता है। ऐसे मनुष्य अपनी मंजिल अवश्य तय कर लेते हैं क्योंकि उनका मन एकाग्र होता है। उसे अपना लक्ष्य दिखाई देता है, इसलिए मन लगाकर अपना कार्य करते हैं। जो मन लगाकर कार्य करेगा, उसे सफलता मिलने से कौन रोक सकता है?

साधक को धैर्यवान होना बहुत जरूरी है। क्योंकि योगमार्ग पर चलना साधारण बात नहीं है। बड़े-बड़े योगियों व साधकों ने कहा है– "यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, इस मार्ग में काँटे ही काँटे हैं"। इसलिए जब तक साधक के अंदर धैर्य व साहस नहीं होगा तो वह यह मार्ग कैसे तय कर पाएगा! जब गृहस्थी वाला इस मार्ग पर चलने लगे तो उसके लिए वह और कठिन कार्य है क्योंकि उसे दो मार्गों पर चलना पड़ेगा। दोनों मार्गों पर चलकर उसे आगे बढ़ना होगा। वर्तमान समय में गृहस्थी में भी ढेरों अवरोध आते हैं। ऐसे में साधक को धैर्य से काम लेना होगा। बिना धैर्य के दोनों मार्ग तय नहीं हो पाएँगे। जब साधक साधना की शुरुआत करता है, फिर कुछ समय बाद ही सोचने लगता है कि हमें सफलता मिलने में देरी क्यों हो रही है, न जाने हम कब अपने लक्ष्य तक पहुँचेंगे। दूसरे साधक से तुलना करना शुरू कर देता है कि अमुक साधक ने और मैंने एक साथ साधना शुरू की थी, फिर वह साधना में आगे कैसे बढ़ गया। हमारी साधना उसके बराबर अथवा आगे किस प्रकार से होगी? ढेर सारा चिंतन करना शुरू कर देते हैं। इसका कारण है धैर्य का न होना, अपने ऊपर विश्वास का न होना जैसा है। यदि उसके अंदर धैर्य होता तो यह सब नहीं सोचता। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिन्हें जोश आ जाता है, दो-चार महीने खूब साधना करेंगे, फिर जोश ठंडा पड़ने लगता है और साधना भी कम करने लगते हैं। जोश आया तो लग गए, कुछ समय बाद फिर धीमे पड़ गए। लेकिन ऐसा नहीं करना चाहिए। साधक को योग करने की गति समान रखनी

चाहिए अथवा बाद में बढ़ा देनी चाहिए। योग में जल्दबाजी का काम नहीं है और न निराश होने से काम चलता है, क्योंकि मार्ग बहुत लंबा है। इसलिए साधना की गति समान रखनी चाहिए।

साधकों में ज्यादातर व्याकुलता इस बात की रहती है कि उनका कण्ठ चक्र कब खुलेगा, बहुत समय से साधना इसी चक्र पर चल रही है, कुण्डलिनी जाग्रत होगी कि नहीं होगी अथवा कब तक होगी, कितनी और साधना करनी पड़ेगी, कौन से उपाय हैं जिससे कुण्डलिनी जाग्रत हो जाए आदि। ढेर सारे प्रश्नों का उत्तर जानना चाहते हैं। इससे साफ़ जाहिर होता है कि साधक के अंदर धैर्य नहीं है। यह जो इस प्रकार की इच्छाएँ चलती हैं, इन सबका जवाब आपकी साधना में मिल जाएगा। जब आप साधना द्वारा अपने आपको उसके योग्य बना लेंगे तो स्वयं वह स्थिति आपको प्राप्त हो जाएगी, जल्दबाजी की क्या आवश्यकता है। इन बातों को जानने की इच्छाएँ जब प्रबल होगी तो आपका मन इन्हीं इच्छाओं से चिंतित रहेगा। इससे ध्यानावस्था में मन एकाग्र करने में अवरोध आएगा। इसलिए साधक को चिंता नहीं करनी चाहिए, बल्कि मन को एकाग्र करने की ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ साधक शुरू में खूब ध्यान करते हैं, ध्यान के विषय में तर्क-वितर्क भी खूब करते हैं। तर्क-वितर्क करते करते वह सायुज्य-मुक्ति तक पहुँच जाते हैं। कुछ समय बाद इच्छाएँ कमज़ोर पड़ जाती हैं और ध्यान के प्रति लगन भी कम पड़ने लगती है। उनका तर्क होता है कि उन्हें साधना में सफलता नहीं मिलती, शायद हमारे ऊपर गुरु की कृपा कम है अथवा नहीं है। कुछ तो साधना करना ही छोड़ देते हैं अथवा गुरु में त्रुटियाँ निकालने लगते हैं। फिर गुरु बदलने के चक्कर में पड़ जाते हैं और अपना गुरु भी बदल लेते हैं, दूसरा गुरु कर लेते हैं। ऐसे साधकों को अपनी कमियाँ देखनी चाहिए। यदि अपनी कमियाँ समझ लें तो समस्या हल हो जाती है। इन सबका कारण धैर्य का न होना है।

नये साधक को ज्यादा तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। बल्कि अपने मार्गदर्शक से ध्यान-सम्बन्धी जानकारियाँ हासिल कर लेनी चाहिए। अपने मार्गदर्शक या गुरु पर पूर्ण विश्वास करना चाहिए। साधक को सदैव साहस, धैर्य, विवेक पूर्वक ध्यान में लगा रहना चाहिए तथा अपने ऊपर विश्वास करना चाहिए कि उसे सफलता अवश्य मिलेगी। यह अवश्य अपने आप में देखना चाहिए कि उसके अंदर त्रुटियाँ तो नहीं हैं, जो ध्यान के लिए अवरोध का कारण बनती हों। साधक को अपनी त्रुटियों को दूर करना चाहिए। साधक को कभी अपना मनोबल नहीं गिराना चाहिए और न ही सफलता और असफलता के बारे में सोचना

चाहिए। साधक को साधना में दूसरे साधक की बराबरी भी नहीं करनी चाहिए कि उसे जल्दी सफलता मिली है, हमें अभी क्यों नहीं मिली है। हाँ, यह सच है कि किसी साधक को जल्दी सफलता मिलती है व किसी को देर से मिलती है। हो सकता है साधना करने में कुछ त्रुटियाँ हों, इस कारण साधना में सफलता शीघ्र नहीं मिल रही है। यह भी हो सकता है अमुक साधक ने पिछले जन्म में भी साधना की हो, आपने पिछले जन्म में साधना न की हो; उसकी साधना पिछले जन्म में साधना करने के कारण तेज गति से हो रही हो। इसलिए साधक को दूसरे साधक से बराबरी नहीं करनी चाहिए।

जिस साधक ने इसी जन्म में साधना की शुरुआत की है, उसे अवश्य सफलता थोड़ी देर में मिलेगी। उसे कई बार ऐसा लगता है कि सफलता नहीं मिल रही क्योंकि पिछले जन्मों के पाप अवरोध करते हैं। साधक जितनी साधना करेगा, उससे पिछले जन्मों के पाप नष्ट होंगे। जब तक निश्चित मात्रा में पाप नष्ट नहीं हो जाएँगे, तब तक उसे साधना आगे बढ़ती नजर नहीं आएगी। इसलिए साधक को धैर्य रखना चाहिए। बस आपको अज्ञानता के कारण अपनी साधना के विषय में जानकारी नहीं हो रही है। आपको समझना चाहिए कि साधना के कारण ही तो पाप नष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार की जानकारियाँ अपने मार्गदर्शक से अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि साधक सही तरह से साधना करेगा तो अवश्य उन्नति होगी। कुछ साधक थोड़े समय तक साधना करते हैं, फिर साधना छोड़ देते हैं क्योंकि उनका धैर्य डांवाडोल हो जाता है। ज्यादातर साधकों का धैर्य कण्ठ चक्र में कमजोर पड़ने लगता है क्योंकि यह चक्र कई वर्षों तक ध्यान करने के पश्चात खुलता है। साधकों! यह चक्र आपकी परीक्षा के लिए है कि आपका धैर्य व साहस कितना है। इसलिए कभी भी धैर्य को नहीं छोड़ना चाहिए।

मौन

साधकों! मौन रहना एक ऐसा व्रत है जिससे साधक क्या, साधारण मनुष्यों को भी ढेरों लाभ मिल सकते हैं। योग में मौन का महत्व बहुत ज्यादा है। हर साधक को कुछ समय के लिए अवश्य इस व्रत को धारण करना चाहिए। मौन रहने से जिह्वा की चंचलता कम होने लगती है तथा इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होने लगेंगी। साधक को इसलिए इस व्रत का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि अत्यधिक बोलने से शक्ति का ह्रास होता है। साधक को अपनी साधना हेतु इस तरह की शक्ति-ह्रास से बचना चाहिए। वैसे भी साधक को बातूनी नहीं होना चाहिए। साधक का गंभीर रहना उचित है। बातूनी मनुष्य में फूहड़पन झलकने लगता है, जरूरी बात को भी अंदर नहीं रख पाता। अधिक बात करने के कारण जरूरी बात भी मुँह से निकल जाएगी। जिह्वा चंचल होने पर कभी शांत नहीं बैठ पाता है। मनुष्य जितना कम बोलेगा, उतना सोचकर बोलेगा। ऐसे शब्द किसी को कटु नहीं लगेंगे, क्योंकि वह सोच-समझकर बोल रहा है। साधकों को मौन रहने की आदत अवश्य डालनी चाहिए। शुरू में साधक को निश्चित कर लेना चाहिए कि वह आधा घंटा मौन रहेगा। ऐसा करने से मौन व्रत में सहायता मिलती है। यदि दिन के कार्यों की व्यस्तता के कारण मौन नहीं रह सकते हैं, तो आप रात्रि के समय मौन व्रत का पालन करिए। रात्रि का अर्थ यह नहीं है कि आप सोते समय मौन रहते हैं। मौन जाग्रत अवस्था में रहा जाता है। मौन के समय आप सांकेतिक भाषा में भी बात मत कीजिएगा। सांकेतिक भाषा में बात करने से मौन नहीं रह जाता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे मौन की अवधि बढानी चाहिए। साधक को 24 घंटे में 2 घंटे मौन व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए। इससे जिह्वा की चंचलता जाती रहेगी, फिर अंतर्मुखी होने लगेगी।

जो साधक आश्रमों में या एकांत में रहकर साधना करते हैं, वे मौन व्रत ज्यादा रख सकते हैं। कुछ साधक तो कई दिनों तक मौन व्रत का पालन करते हैं। मौन व्रत के द्वारा साधक के अंदर असीम शक्ति आ सकती है। मौन व्रतधारी को वाचा सिद्धि भी प्राप्त होती है क्योंकि उसके अंदर शरीर की शुद्धता बढ़ जाती है। जिसे वाचा सिद्धि प्राप्त हो जाए, उसे अत्यन्त कम अथवा जरूरी काम पड़ने पर ही बोलना चाहिए। उसे सोच-समझकर ही बोलना चाहिए। क्रोध को सर्वथा त्याग देना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा कहा गया शब्द सच हो जाएगा, जिससे दूसरे को हानि पहुँच सकती है। ध्यान रहे ऐसे वाचा सिद्धि प्राप्त करने वाले को कभी भी सिद्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका आपकी साधना पर प्रभाव पड़ेगा। इस अवस्था में साधक अपनी वाचा सिद्धि से दूसरों का परोपकार कर सकता है, बिगड़ा हुआ कार्य बना

सकता है। बहुत से साधक इस कार्य में लग जाते हैं, अपने नाम व यश के चक्कर में पड़ जाते हैं, मगर कुछ दिनों के बाद यह सिद्धि कार्य करना बन्द कर देती है। पहले के योगी, संत-महात्मा मौन व्रत का कठोरता से पालन करते थे। जब कोई व्यक्ति अपशब्द बोलने लगे, तब आप इसी मौन व्रत नामक अस्त्र का प्रयोग कर दीजिये। स्वयं मौन हो जाओगे तो व्यक्ति स्वयं आपसे हार जाएगा। आप अपने आप में शांत रहेंगे, मगर वह व्यक्ति अशांत होकर अपने मन का चैन खो चुका होगा।

साधक जब शुरू में मौन व्रत का पालन करेगा, तो उसके मुँह में व जिह्वा में विशेष प्रकार की बेचैनी महसूस होगी। कभी-कभी धोखे में मुँह से शब्द भी निकल सकता है। मगर धीरे-धीरे अभ्यास से फिर आपको किसी प्रकार की परेशानी नहीं होगी। यदि शुरुआत में ज्यादा बेचैनी महसूस हो तो उस समय त्राटक अथवा मन के अंदर जाप कर सकते हैं। मगर अभ्यास हो जाने पर दोनों को छोड़ दीजिएगा, सिर्फ शांत होकर रहें।

गुरु

योग का अभ्यास करने के लिए गुरु का होना अति आवश्यक है। बिना गुरु या मार्गदर्शक के योग का अभ्यास नहीं हो सकता है। योग का अभ्यास गुरु की देखरेख में ही संभव है। इसलिए साधक को गुरु बनाना अनिवार्य है। मगर मुश्किल यह है कि गुरु किसे बनाया जाए क्योंकि योग का गुरु अभ्यासी व अनुभवी होना जरूरी है। योग मार्ग का गुरु सहज ही नहीं मिल जाता है। अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों के प्रभाव से अनुभवी और दयालु गुरुदेव मिलते हैं। बिना जाने किसी को गुरु बना लेना उचित नहीं है। आजकल अपने देश में गुरु बनने वालों की भरमार है क्योंकि कई प्रकार के योगी और महात्मा बने घूमा करते हैं। इसलिए इस प्रकार के नकली योगियों व महात्माओं से दूर रहें। अच्छा यही है कि जिसे गुरु बनाना हो आप उसके बारे में जानकारी प्राप्त कर लें। वैसे योगी को पहचानना असंभव है। फिर भी यह तो कुछ समय बाद मालूम पड़ सकता है कि यह योग में अनुभव रखता है कि नहीं। अच्छा है कुछ समय बाद दीक्षा लें, तो मालूम पड़ जाएगा कि योगी के भेष में कोई अन्य तो नहीं है। फिर भी हमने देखा है बहुत से अज्ञानी व भोले लोग नकली योगियों के चक्कर में फँस जाते हैं। मगर योग का मार्गदर्शन एक अनुभवी गुरु ही कर सकता है।

गुरु शब्द का अर्थ है अंधकार से दूर करने वाला। अज्ञानरूपी अंधकार से दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश में गमन कराने वाला, ऐसा प्रकाश जो सत्य हो। कभी भी अज्ञानरूपी अंधकार का प्रभाव न पड़ता हो। ऐसा प्रकाश सिर्फ ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म ही सत्य है। प्रकाश का मार्ग वही दिखाएगा अथवा प्रकाश की ओर वही ले जाएगा जिसे यह मार्ग मालूम होगा, स्वयं इस मार्ग पर गया होगा। योग का अभ्यास करते समय साधक का लक्ष्य होता है अज्ञानरूपी अंधकार मिट जाए, माया के प्रभाव से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाए। ऐसा मार्गदर्शक वही हो सकता है जिसको यह स्थिति प्राप्त हो। इसीलिए गुरु को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। गुरु एक ऐसा सुपात्र है जो प्रकृति के नियमों को पूरी तरह से जानकर जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त होकर भी प्रकृति के नियमों का पालन करता है तथा अपने शिष्य को भी इसी मार्ग पर आगे बढ़ाते हुए मोक्ष के द्वार तक ले जाता है। इसीलिए गुरु की तुलना ब्रह्मा, विष्णु व शंकर से की गयी है।

जिस प्रकार ईश्वर के दो रूप होते हैं– सगुण और निर्गुण, इसी प्रकार गुरु के भी दो रूप होते हैं। एक तो पंचभौतिक शरीर जिसे स्थूल शरीर भी कहा जाता है; दूसरा स्वरूप चैतन्यमय, जो शिष्य की दीक्षा के समय अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अपने शिष्य के शरीर के अंदर रोम-रोम में विराजमान हो जाता है। गुरु तत्त्व तो वही चैतन्यमय तत्त्व है जो सर्वत्र व्याप्त है। गुरु का दूसरा स्वरूप तो ब्रह्ममय हो गया है। यही गुरु तत्त्व शिष्य के शरीर के अंदर भी योग के अभ्यास के समय मार्गदर्शन करता है। शिष्य के स्नायुमंडल में व्याप्त होकर गुरु सदैव शिष्य के साथ रहता है, चाहे शिष्य गुरु के स्थूल शरीर से जितनी भी दूरी पर हो। इसलिए गुरु सदैव शिष्य का मार्गदर्शन करते रहते हैं क्योंकि गुरु तो शिष्य के प्राणों में व्याप्त होकर शरीर को शुद्ध करता रहता है तथा सुषुप्त अवस्था में स्थित स्नायुमंडल को जाग्रत करके क्रियाशील करता रहता है। एक न एक दिन गुरु अपने शिष्य को प्रकाश में गमन करा ही देता है। फिर अपने में लीन कर लेता है। इसलिए कहते हैं– गुरु और शिष्य का नाता जन्म-जन्मांतर का है। ब्रह्म स्वरूप गुरु ज्ञानी होता है और शिष्य अज्ञानी होता है, जबकि गुरु और शिष्य का मूल स्त्रोत एक ही है। गुरु ने अपने-आपको पहचान लिया है, शिष्य इस माया से युक्त अज्ञान रूपी अंधकार में भटक रहा है। गुरु अपने शिष्य को योग का मार्गदर्शन करता है, मार्ग में आयी परेशानियों को दूर करता है। इसीलिए कहा गया है– 'गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता' और ज्ञान के बिना साधक को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कुछ साधकों का सोचना है कि उनके गुरु सदैव उनकी निगरानी करते हैं, शिष्यों द्वारा किये गए कार्यों की गुरु जानकारी करते हैं; ऐसा नहीं है क्योंकि एक गुरु के बहुत से शिष्य होते हैं, कुछ शिष्य गुरु के स्थूल शरीर से दूर भी रहते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि गुरु चौबीसों घंटे बैठा अपने सभी शिष्यों की निगरानी करे। एक गुरु सैकड़ों शिष्यों के स्थूल क्रिया-कलापों की जानकारी नहीं रख सकता है। उसे अपने भी तो आवश्यक कार्य करने होते हैं। ऐसा समझो कि जब गुरुदेव स्थूल क्रिया कर रहे होते हैं, तब वह साधारण व्यक्ति के समान होते हैं। इतना अवश्य है कि सांसारिक व्यक्तियों की तरह उनके अंदर स्थूल पदार्थों में आसक्ति नहीं होती क्योंकि उन्होंने स्थूल संसार को पहचान लिया होता है। इसलिए उन्हें सारी वस्तुएँ क्षणभंगुर दिखायी पड़ती हैं। इसका मतलब यह भी नहीं हुआ कि गुरु अपने शिष्यों की जानकारी नहीं रखता। सद्गुरु ध्यानावस्था में अपने शिष्य के सारे क्रिया-कलापों को जान सकते हैं। यदि शिष्य की भी उच्चावस्था है तो गुरु द्वारा दिये गए निर्देश अवश्य ग्रहण कर लेगा। यदि शिष्य सूक्ष्म संकेतों को समझ

सकता है तो गुरु स्थूल रूप से दूर रहकर भी मार्गदर्शन कर सकते हैं। जिस शिष्य में अभी सूक्ष्म संकेतों को ग्रहण करने की योग्यता नहीं आयी है तो गुरु प्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन कर सकते हैं।

शिष्य को हमेशा अपनी साधना संबंधी समस्या स्थूल रूप से व्यक्त कर देनी चाहिए ताकि गुरुदेव का ध्यान आपकी समस्या की ओर जाए। शिष्य को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि हमारे गुरु तो अंतर्यामी हैं, त्रिकालदर्शी हैं, समस्या अपने-आप हल कर देंगे। गुरु की ढेरों व्यस्तताएँ होती हैं। शिष्य की साधना जब उच्चावस्था में होती है तो गुरु द्वारा किया गया शक्तिपात, ध्यानावस्था में गुरु का स्वरूप धारण करके हमेशा मार्गदर्शन करेगा। ऐसा समझना चाहिए कि गुरु द्वारा किया गया शक्तिपात ही गुरु तत्त्व है, वह शिष्य के शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर शरीर को सात्विक बनाता है। मगर शिष्य इस स्वरूप को तभी पहचान पायेगा, जब उसकी उच्चावस्था होगी। इसीलिए सद्गुरु शिष्य से अभिन्न होकर रहते हैं। जिन साधकों को ध्यानावस्था में सद्गुरु मार्गदर्शन करते हैं अथवा दिखायी देते हैं, वह गुरु तत्त्व ही है जो गुरु का स्वरूप धारण कर आपको दर्शन दे रहा है अथवा मार्गदर्शन कर रहा है। यह बात गुरु को मालूम नहीं होती कि उनका चैतन्यमय तत्त्व इस समय क्या कर रहा है। आम धारणा होती है कि आज हमारे गुरुदेव ध्यान में आए। सच तो यह है कि गुरुदेव तो आपके शरीर में दीक्षा के समय से ही व्याप्त हो गये थे।

गुरु ने अपने निजस्वरूप को पहचान लिया है। अपने आपको योगाग्नि के द्वारा परम पवित्र कर लिया है। इन्द्रियों को उसके मूल स्त्रोत में विलीन कर दिया है। इसलिए किसी प्रकार के भय व चिंता से मुक्त होकर आनन्द में स्थित रहते हैं। प्रकृति के सारे नियमों को जान लिया है। वह प्रकृति के नियमों के अनुसार चलते हैं। इसलिए उनका जीवन अवरोधों से रहित है। निरंतर अखण्ड रूप से अपने निजस्वरूप का चिंतन करते रहते हैं। इस सम्पूर्ण जगत को भली-भाँति पहचान लिया है। इसीलिए ईश्वर ऐसे सुपात्र को अपना माध्यम बनाते हैं। गुरु ही अज्ञानी, इस परिवर्तनशील संसार को अपना समझने वाले, इन्द्रियों के वशीभूत अपने शिष्य को छुटकारा दिला सकते हैं। किसी-किसी स्थान पर गुरु को कुम्हार की उपाधि दी गयी है। कुम्हार घड़ा बनाते समय घड़े को बाहर से बेरहमी से ठोकता है ताकि घड़ा अच्छा बने। मगर वही कुम्हार घड़े के अंदर एक हाथ लगाये रहता है कि घड़ा खराब न हो जाए या टूट न जाए। फिर कुम्हार घड़े को पकाने के लिए आवा भी लगाता है। जब घड़ा आवा से निकलता है तो घड़ा अत्यन्त मजबूत होता है।

फिर घड़े को विभिन्न प्रकार के उपयोगों में लाया जाता है। यदि घड़ा आवे में चटक जाता है तो वह बेकार समझकर तोड़कर फेंक दिया जाता है।

इसी प्रकार जो शिष्य सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर नहीं चलते हैं, वे इस भवसागर में पड़े रहते हैं। फिर बारम्बार जन्म-मृत्यु का दुःख उठाते रहते हैं। जो सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर चलता है, वह साधक धन्य हो जाता है, उसे जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा मिल जाता है। जब किसी कारणवश साधक की साधना नहीं होती है, तो साधकों को शिकायत होती है कि शायद अभी हमारे ऊपर गुरुकृपा नहीं हुई है। ऐसे साधकों को मैं समझा दूँ कि इस प्रकार का सोचना साधकों के लिए अच्छा नहीं है। क्योंकि जिस गुरु को एक व्यक्ति समझ रहे हो, वह व्यक्ति नहीं है। गुरु एक ऐसा चेतन तत्त्व है जो सर्वत्र व्याप्त है व जो अखण्ड रूप से व्याप्त है, उसके लिए यदि कहा जाए कि उसकी कृपा मुझ पर कम है और अन्य पर अधिक है तो यह उचित नहीं है। फिर गुरु का चेतन तत्त्व तो आपके शरीर के अंदर रोम-रोम में व्याप्त है, स्वयं साधक को परिश्रम करके उसे पहचानना है। उस चेतन तत्त्व का लाभ लेना होगा क्योंकि योग तो स्वयं साधक को करना होगा। वह तत्त्व तो सभी साधकों में समान रूप से व्याप्त है। गुरु के लिए सभी साधक समान है। इसीलिए उस पर इस प्रकार का आरोप लगाना गलत है।

शक्तिपात

शक्तिपात का अर्थ है शक्ति गिराना। अधिक शक्तिमान पुरुष कम शक्ति वाले पुरुष पर शक्तिपात करता है, अपनी शक्ति दूसरे पुरुष के शरीर के अंदर प्रवाहित करता है। यह क्रिया आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों के ऊपर की जाती है। गुरु शक्तिपात कर शिष्य के शरीर में सूक्ष्म रूप से नाड़ियों में अपनी शक्ति प्रवेश कराता है, जिससे शरीर के अंदर स्थित स्नायु मंडल प्रभावित होता है तथा सूक्ष्म रूप से जो कोशिकाएँ स्नायु मंडल में सुषुप्त पड़ी होती हैं, उन्हें जाग्रत कर क्रियाशील करने का प्रयास किया जाता है। शक्तिपात से साधक का सूक्ष्म शरीर भी प्रभावित होता है। जब सूक्ष्म शरीर प्रभावित होगा तो उसका स्थूल शरीर भी प्रभावित होगा। फिर साधक के शरीर में सूक्ष्म आध्यात्मिक विकास होता रहता है। इसीलिए गुरु पद के लिए हर व्यक्ति उपयुक्त नहीं हो सकता है। इस पद पर आसीन होने का वही अधिकारी है, जिसके अंदर शक्तिपात करने की क्षमता हो। शिष्य के साधनाकाल में आध्यात्मिक अवरोध आते हैं, उस समय गुरु शक्तिपात कर अवरोध दूर कर देता है, जिससे योग का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। गुरु शिष्य की योग में उचित अवस्था आने पर शक्तिपात कर उसकी कुण्डलिनी भी उठा देता है। कुण्डलिनी मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में रहती है।

शक्तिपात सिर्फ आध्यात्मिक मार्ग पर ही नहीं, बल्कि उसका प्रयोग स्थूल जगत में भी किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य का रोग दूर करना। मगर योग्य साधक अपनी कठिन साधना की कमाई स्थूल कार्यों में नहीं लगाता है, वह सिर्फ आध्यात्मिक कार्यों के लिए काम करता है। ज्यादातर देखा गया है शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है: (1) स्पर्श से, (2) संकल्प से और (3) दृष्टि से। जब शिष्य गुरु के प्रत्यक्ष होता है तो वह शिष्य पर स्पर्श करके शक्तिपात करता है। उस समय गुरु अपने हाथ के अंगूठे को स्पर्श करके भृकुटि पर शक्तिपात करता है। अंगूठे से निकली शक्ति शिष्य के शरीर में व्याप्त होकर सूक्ष्म रूप से कार्य करने लगती है। प्रकृति का नियम है मनुष्य की शक्ति हाथों व पैरों की उंगलियों के अग्र भाग से अधिक मात्रा में निकला करती है। इसलिए शक्तिपात करते समय उंगलियों का स्पर्श करते हैं। मगर हाथों के अंगूठे के अग्रभाग से शक्ति ज्यादा मात्रा में निकालने की क्षमता होती है, इसी कारण अंगूठे का प्रयोग किया जाता है। पैर के अंगूठे से भी शक्तिपात किया जा सकता है। शक्तिपात करते समय इच्छाशक्ति सबसे ज्यादा कार्य करती है। आप यह भी कह सकते हैं कि जब सभी मनुष्यों की उंगलियों से शक्ति निकलती रहती है, तो सभी मनुष्य क्यों नहीं एक-दूसरे पर शक्तिपात कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि

साधारण मनुष्यों के अंदर आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती और न ही उचित मात्रा में नाड़ी शुद्धि होती है, तथा अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं होता, इच्छा-शक्ति बहुत कम अथवा संकुचित होती है, तथा उनमें इन्द्रियाँ निग्रह न होकर, वे इन्द्रियों के वशीभूत होते हैं। साधारण मनुष्यों के शरीर से शक्ति निकलती तो है, मगर वह अशुद्ध व बहुत कम मात्रा में। इस प्रकार की शक्ति से दूसरे पर बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ सकता है। शक्तिपात करने के लिए इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य, नाड़ी-शुद्धि तथा आध्यात्मिक विकास का होना आवश्यक है। यदि साधक में योग सामर्थ्य उच्च स्तर पर है, तो उसके सारे शरीर से शक्ति निकलती रहती है। उसका शरीर परम पवित्र होता है। यदि कोई पुरुष ऐसे महापुरुष के शरीर से धोखे में ही स्पर्श हो जाए तो शक्तिपात हो जाता है। यदि ऐसा महापुरुष निकट भी खड़ा हो जाए तो उसके शरीर में शक्तिपात होने लगता है। कुछ समय के लिए नजदीक खड़े साधारण पुरुष के अंदर विचारों में परिवर्तन होने लगेगा। यह विचार उस महापुरुष से शक्तिपात के कारण उठते हैं। महापुरुषों के शरीर का वलय अत्यन्त शुद्ध व शक्तिशाली होता है। इसलिए कहते हैं कि संत पुरुषों की संगत से बुरा मनुष्य भी अच्छा बनने लगता है। इसका कारण यही है कि संत या योगी के शरीर से निकलने वाली तेजस्वी किरणें गंदे विचार व कर्म करने वाले मनुष्यों को भी शुद्ध करने लगती हैं। हमारे कहने का मतलब यह है कि शक्तिपात स्पर्श द्वारा किया जाता है।

शक्तिपात नेत्रों के द्वारा भी किया जाता है। नेत्रों के द्वारा शक्तिपात ज्यादातर तब करते हैं, जब साधक गुरु से दूरी पर बैठा हो अथवा गुरु की स्वयं इच्छा हो नेत्रों द्वारा शक्तिपात करने की। वैसे नेत्रों से शक्तिपात करना साधारण बात नहीं है। नेत्रों से शक्तिपात सभी के बस की बात नहीं है। नेत्रों से शक्तिपात करने के लिए अभ्यास होना जरूरी है, इस प्रकार के शक्तिपात के लिए योगबल भी बहुत होना आवश्यक है। नेत्रों के मध्य में बाहरी ओर जो काला सा बिन्दु होता है, उसी से अत्यन्त तेजस्वी नीले रंग की किरणें निकलती हैं। जिस पर शक्तिपात किया जाता है, उसके शरीर के अंदर ये किरणें प्रवेश कर जाती हैं। नेत्रों के द्वारा जब शक्तिपात किया जाता है, तो शक्तिपात करने वाले की दृष्टि उस व्यक्ति के मस्तक पर होती है अथवा जिस स्थान पर शक्तिपात करना है। आँखों से आँखें मिलाकर (दृष्टि मिलाकर) भी शक्तिपात करते हैं। आँखों से शक्तिपात करने वाले को त्राटक का अभ्यास बहुत अधिक होना चाहिए, तभी शक्तिपात का प्रभाव सही प्रकार से होगा। नेत्रों द्वारा शक्तिपात करने वाले को एक आराम रहता है। यदि उसके सामने ढेरों शिष्य बैठे हैं और ध्यान कर रहे हैं, तो गुरु अपने स्थान पर बैठे ही किसी भी शिष्य पर शक्तिपात कर

सकता है। यदि शक्तिपात करने वाला अधिक शक्तिशाली है, तो वह अपने से बहुत दूरी तक के मनुष्य पर शक्तिपात कर सकता है, बशर्ते शक्तिपात-कर्ता को मनुष्य दिखायी पड़ रहा हो। कुछ गुरु अपने शिष्यों पर शक्तिपात सदैव नेत्रों द्वारा ही करते हैं। ऐसे गुरु निश्चय ही शक्तिशाली होते हैं।

जो मनुष्य नेत्रों द्वारा शक्तिपात करने का सामर्थ्य रखता है, वह मनुष्य बड़े आराम से दूसरे मनुष्य को अपनी ओर प्रभावित कर सकता है अथवा अपनी इच्छानुसार उससे कार्य करवा सकता है। ऐसा शक्तिपात-कर्ता विशाल मनुष्य समुदाय को प्रभावित कर सकता है। उसकी दृष्टि जहाँ तक जाएगी, मनुष्य उसकी ओर आकर्षित होने लगेगा। इसीलिए बड़े-बड़े योगियों की ओर भीड़ की भीड़ आकर्षित होती देखी गयी है। स्वामी विवेकानंद के नाम से सभी लोग परिचित होंगे। उन्होंने जब पहली बार अमेंरिका में एक सम्मेलन में बोलना शुरू किया, तो सभी उनका प्रवचन सुनते रह गये। वहाँ उपस्थित सभी मनुष्य उनकी ओर इतने आकर्षित हुए कि उनकी प्रशंसा करने लगे। कभी-कभी यह कहते सुना गया कि उस योगी में बहुत आकर्षण है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि ऐसे महात्मा या योगी अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शक्तिपात करते था। ऐसे योगियों में आध्यात्मिक शक्ति बहुत अधिक होती है, अन्तःकरण भी शुद्ध होता है, योग के कारण चेहरे व नेत्रों में तेज अधिक होता है। आँखें तेजस्वी होने के कारण तेजस रूप में शक्ति निकलती रहती है, जिसके कारण मनुष्य प्रभावित होते हैं। सम्मोहन करने वाले या जादू दिखाने वाले भी आँखों से शक्तिपात करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अध्यात्म से कुछ लेना-देना नहीं है। वह सिर्फ अपना प्रभाव दिखाने के लिए, अपनी बात मनवाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इस क्षमता को प्राप्त करने के लिए त्राटक का अच्छा अभ्यास करते हैं। लेकिन योगी या गुरु आध्यात्मिक कल्याण हेतु अपने शिष्यों पर शक्तिपात करते हैं।

संकल्प द्वारा भी शक्तिपात किया जाता है। शक्तिपात कर्ता मन में संकल्प करता है। यही संकल्प उस व्यक्ति को प्रभावित करता है, जिस पर शक्तिपात किया जाता है। जो महापुरुष संकल्प द्वारा शक्तिपात करते हैं, उनकी इच्छाशक्ति बहुत ही शक्तिशाली होती है। ऐसे महापुरुष को नियम-संयम भी बहुत अधिक रखना पड़ता है। इसके अलावा उनका अन्तःकरण बिल्कुल शुद्ध होता है, वाणी भी शुद्ध होती है। इसके लिए उन्हें मौन व्रत रखना पड़ता है। बिना मतलब किसी से बातचीत नहीं करते हैं। इन्द्रियों पर भी उनका अधिकार होता है। उनका अन्तर्मन सदा ईश्वर में लगा रहता है, तथा सदैव सत्य वचन बोलने वाले होते हैं।

संकल्पशक्ति बहुत शक्तिशाली होती है। यदि किसी पर संकल्प द्वारा शक्तिपात करना है तो अत्यन्त दूरी पर स्थित व्यक्ति पर भी शक्तिपात किया जा सकता है। पृथ्वी के किसी भी कोने पर स्थित व्यक्ति पर शक्तिपात करना संभव है, क्योंकि मन की गति अबाध है। जहाँ तक मन पहुँच जाएगा, वहाँ तक शक्तिपात करना संभव है। संकल्प के द्वारा गुरु अथवा मार्गदर्शक अपने शिष्य पर दूर से ही शक्तिपात कर देता है। साफ जाहिर है कि ऐसे गुरु अधिक शक्ति संपन्न होते हैं। संकल्प का असर साधक पर उतना ही पड़ता है जितना शक्तिपातकर्ता का संकल्प होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किया गया संकल्प पूरी तरह से कार्य नहीं करता है। इसके दो कारण होते हैं: (1) संकल्पकर्ता का संकल्प कमजोर रहा अथवा शक्तिपात करने के लिए उसकी संकल्पशक्ति कमजोर पड़ती है; (2) साधक या शिष्य की अभी ऐसी अवस्था नहीं आयी होती है कि संकल्प द्वारा शक्तिपात का उचित लाभ ले सके। ऐसा तब होता है जब साधक साधना की शुरुआत करता है, तब उसका शरीर पूरी तरह से अशुद्ध रहता है, जबकि संकल्पकर्ता की संकल्प शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म होती है। संकल्पकर्ता इस अत्यन्त सूक्ष्म एवं अत्यधिक शक्तिशाली शक्ति को जैसे ही संकल्प द्वारा भेजता है, तो यह शक्ति उसी क्षण उस साधक को प्रभावित करती है जिस पर शक्तिपात किया जाता है। शक्ति से साधक का सूक्ष्म शरीर प्रभावित होता है। यदि साधक में जड़त्व की मात्रा अधिक है तो उसे यह शक्ति कम प्रभावित कर पाती है। यदि साधक में उचित योग्यता है तो उसका शरीर शुद्ध होगा, तब सूक्ष्म शरीर अधिक सक्रिय होगा। साधक की शुद्धता के कारण सूक्ष्म शरीर के थोड़े से सक्रिय होने में ही संकल्पशक्ति अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देती है। गुरु द्वारा किया गया शक्तिपात हर एक साधक पर एक-सा प्रभाव करता है। मगर जिस साधक का शरीर अशुद्ध होता है उसे शक्तिपात महसूस नहीं होता है, क्योंकि शक्ति अशुद्धता में लीन हो जाती है अथवा अशुद्धता कम कर देती है। इसलिए देखा गया है किसी साधक पर शक्तिपात का प्रभाव अधिक होता है एवं किसी साधक पर शक्तिपात का प्रभाव कम होता है।

साधकों पर कम-ज्यादा शक्तिपात के प्रभाव से यह अर्थ नहीं है कि गुरु द्वारा किया गया संकल्प उस कार्य को नहीं करेगा। जिसके लिए गुरु ने संकल्प किया है, कार्य अवश्य होगा। जब गुरु को मालूम होगा साधारण संकल्प का प्रभाव कम पड़ रहा है तो वह साधक का अभीष्ट कार्य करने के लिए जोरदार संकल्प करेगा। ज्यादा जोरदार संकल्प करने से शक्ति उत्सर्जन ज्यादा होगा। साधक के अंदर ज्यादा शक्ति प्रवेश करने से कार्य सफल हो जाएगा, जिसके लिए उसने शक्तिपात किया है। इसी प्रकार नेत्रों द्वारा और

स्पर्श से शक्तिपात करते हैं। शक्तिपात-कर्ता स्वयं अच्छी तरह समझ लेता है कि उसे कितना शक्तिपात करना है। अभी यह लिखा गया कि शक्तिपात कितने तरह से करते हैं। शक्तिपात कैसे करना चाहिए इस पर थोड़ा-सा लिख रहा हूँ।

शक्तिपात सिर्फ उन्हें करना चाहिए जो इस मार्ग में परिपक्व हों। इसलिए गुरु द्वारा भली प्रकार से इस मार्ग की जानकारी हासिल कर लेनी चाहिए। स्वयं आपके गुरुदेव बता देंगे कि आप अब परिपक्व हो गये है और अब दूसरों का मार्गदर्शन कर सकते हैं। एक गुरु के सभी शिष्य योग मार्ग में पूर्ण योग्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि योग में सभी पूर्णता हासिल नहीं कर पाते हैं। योग मार्ग में परिपक्व साधक मार्गदर्शन करने में सही रूप से सक्षम होते हैं। साधकों में भी आध्यात्मिक शक्ति कम-ज्यादा हो सकती है। कुछ साधकों की साधना बड़ी उग्र होती है। ऐसे साधकों के अंदर शक्ति ज्यादा निहित होती है। ऐसे साधक ज्यादा शक्तिपात करने में सक्षम होते हैं। साधक को मार्गदर्शन करने से पहले योग की बारीकियों को समझ लेना चाहिए। फिर अपनी संतुष्टि गुरु के सामने ही भली-भाँति कर लेनी चाहिए, ताकि उसे स्वयं मालूम हो जाए कि वह मार्गदर्शन के योग्य है। फिर मार्गदर्शन के लिए अपने गुरु से आज्ञा ले लें तो और अच्छा है, क्योंकि आपके बारे में आपके गुरु ज्यादा अच्छा बता सकते हैं कि आप मार्गदर्शन के योग्य हैं अथवा नहीं हैं। यदि आपको योग के विषय में बारीकी से अनुभव नहीं है तो फिर आप मार्गदर्शन के योग्य नहीं हैं। ऐसी अवस्था में आप किसी साधक के मार्गदर्शन की जिम्मेदारी न लें अथवा जरूरत पड़ने पर सिर्फ उतना ही मार्गदर्शन करें जितनी आपको जानकारी हो। किसी पर शक्तिपात तुरंत न करें। जब बहुत आवश्यकता हो, तभी शक्तिपात करें। शक्तिपात करते समय आपको अपने अंदर पूरा विश्वास होना चाहिए कि यह कार्य अवश्य हो जाएगा। आपकी इच्छाशक्ति अत्यन्त शक्तिशाली होनी चाहिए।

यदि आपका अभीष्ट कार्य एक बार के शक्तिपात से नहीं हो पाया हो तो आप चिंतित न हों। एक से अधिक बार आप शक्तिपात कीजिये, फिर कार्य अवश्य होगा। योग कोई ऐसी क्रिया नहीं है कि आपके द्वारा किया गया शक्तिपात का फल तुरंत सामने आ जाएगा। आपका संकल्प साधक के अंदर धीरे-धीरे फलित होगा। इसका असर भविष्य में समझ में आयेगा। जब ध्यान संबंधी अवरोध दूर किया जाता है, तो उसका प्रभाव शीघ्र समझ में आने लगता है। ध्यानावस्था में साधक को अगर उल्टी-सीधी क्रियाएँ हो रहीं हों तो शक्तिपात करके रोक देनी चाहिए तथा उचित नियम समझा देने चाहिए, ताकि दोबारा उल्टी-सीधी

क्रियाएँ न हों। गलत क्रियाएँ होने से साधक के शरीर को परेशानी होती है तथा मन भी एकाग्र नहीं होता है। यह साधना में अवरोध है।

शक्तिपात के द्वारा जो काम करना हो उसके लिए मन में पहले संकल्प करें, फिर शक्तिपात करें। ऐसे कार्यों के लिए शक्तिपात बिल्कुल न करें जो अनुचित हों। शक्तिपात करते समय आपके अंदर से तेजी से शक्ति निकलती है। यह वह शक्ति है जो आपने ढेरों कष्ट सहकर साधना द्वारा प्राप्त की है, इसलिए आप इसे संभाल कर रखिये। आध्यात्मिक कार्य हेतु सिर्फ सुपात्र पर ही आप अपनी कठोर परिश्रम की कमाई खर्च कीजिये। ऐसे साधकों को दूसरों पर शक्तिपात बिल्कुल नहीं करना चाहिए जिनका अभी साधनाकाल है, जो अभी अपरिपक्व हैं (पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है) क्योंकि ऐसे साधकों को अभी और साधना करनी है। यदि ऐसे साधक शक्तिपात करेंगे तो उनकी शक्ति ह्रास होगी, जिससे साधना में रुकावट आ जाएगी। शक्तिपात करते समय शक्तिपात कर्ता के मन में किसी प्रकार की चिंता या व्यस्तता नहीं होनी चाहिए। उसे उस समय बिल्कुल शांत होना चाहिए। जिस साधक पर आप शक्तिपात कर रहे हैं, उस साधक के मन में आपके प्रति श्रद्धा होनी चाहिए अन्यथा आपका शक्तिपात उस पर उतना असर नहीं करेगा जितना करना चाहिए। आप उतना ही शक्तिपात करें जितना उचित हो क्योंकि बार-बार और ज्यादा शक्तिपात करने से आपकी शक्ति धीरे-धीरे कम पड़ जाएगी। नहीं तो एक ऐसा समय आयेगा कि साधकों पर शक्तिपात का असर नहीं होगा, इसलिए सीमित शक्तिपात करें। साथ ही आप भी ध्यान करते रहें, जिससे आपकी शक्ति ध्यान के द्वारा फिर पूरी हो जाएगी। आप ध्यान करना बन्द न करें।

यदि आप अपने अंदर शक्तिपात की क्षमता बढ़ाना चाहते हैं, पहले जैसी अवस्था बरकरार रखना चाहते हैं तो आवश्यक है कि ध्यान के साथ-साथ नियम-संयम का पालन करें। जैसे भोजन बिल्कुल सात्विक करें, कम मात्रा या उचित मात्रा में भोजन करें, प्राणायाम पाँच बार करें, ब्रह्मचर्य का निश्चित रूप से पालन करें, इन्द्रियों को संयमित रखें, मन में गलत विचार न आने दें, सदैव कल्याण की भावना रखें, ब्रह्मनिष्ठ और गुरुनिष्ठ बनें, अखण्ड रूप से ईश्वर का चिन्तन करें, मौन व्रत का पालन करें, बातचीत कम करें, सत्य वचन बोलें तथा आपकी इच्छाशक्ति बहुत शक्तिशाली होनी चाहिए। शक्तिपात करने से पूर्व आप ईश्वर से प्रार्थना करें कि अमुक कार्य आपकी कृपा से मेरे द्वारा हो। पूर्णरूप से ईश्वर पर और अपने पर विश्वास रखकर शक्तिपात करें। आपका कार्य अवश्य सफल होगा। हमने यह भी अनुभव किया है कि कुछ

गुरुओं के शिष्यों की संख्या बहुत होने पर शक्तिपात की क्षमता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है अथवा बिल्कुल कम पड़ जाती है, जिससे मार्गदर्शन या शक्तिपात में परेशानी अनुभव होने लगती है। ऐसे गुरुओं से मैं यही कहूँगा कि सिर्फ उतने ही शिष्य बनाएँ जितनों का आप मार्गदर्शन कर सकते हैं। अथवा योग के माध्यम से आप इतनी शक्ति प्राप्त कीजियेगा कि कभी भी योगबल की कमी महसूस न हो। प्रिय योगियों व गुरुओं! एक ऐसी विधि है जिससे कुछ क्षणों में ही असीमित शक्ति प्राप्त की जा सकती है। उसका तरीका मैं इस स्थान पर नहीं लिख रहा हूँ ताकि कोई तामसिक साधक या तामसिक योगी इस विधि का प्रयोग न कर सके। यह अत्यन्त गुप्त है। यह विधि हमें स्वयं माता कुण्डलिनी ने बतायी थी क्योंकि वही शक्ति का स्वरूप है। यदि आप कुण्डलिनी से बात कर सकते हैं तो आप भी जानकारी हासिल कीजियेगा। यह विधि अत्यन्त उच्चावस्था के योगी को ही उपलब्ध हो सकती है, जो कर्मों से रहित है या कुछ समय बाद कर्मों से रहित हो जाएगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि शक्तिपात कैसे करें। सबसे पहले आप छोटे-छोटे प्रयोगों में शक्तिपात करें ताकि आपको अभ्यास हो जाए कि शक्तिपात कैसे किया जाता है। आप छोटा सा स्थूल प्रयोग भी करके देख सकते हैं। यदि किसी साधक को बुखार आ गया तो आप शक्तिपात करके उसका बुखार उतार सकते हैं। पहले आप फर्श पर चटाई या कंबल बिछा लीजिये। साधक को इसी पर लिटा दीजिये। साधक को शवासन मुद्रा में लिटाना चाहिए। फिर आप अपने हाथ की हथेली को अपने आँखों के सामने लाएँ। हथेली की उगलियाँ आपस में सीधी व चिपकी होनी चाहिए। अब आप हथेली व उंगलियों को गौर से देखें। अपनी इच्छाशक्ति से हथेली व उंगलियों की कोशिकाओं को संदेश भेजें– "हे कोशिकाओं, आप अपने द्वारा शुद्ध प्राणवायु को बाहर निकालो, ताकि इस साधक के शरीर में शुद्ध प्राणवायु प्रवेश करे, जिसके द्वारा बुखार उतर जाए।" आप अपना कार्य जिम्मेदारी पूर्वक कीजिये। इस प्रकार आप अपने मन में संकल्प कीजिये। फिर आप साधक की ओर देखिये और बुखार से प्रार्थना कीजिये– "आप में ब्रह्म की शक्ति निहित है, आप शक्तिशाली हैं, आप इस साधक पर कृपा कीजिये, आप इसे मुक्त कर दें।" फिर आप कुम्भक प्राणायाम कीजिये। अपनी हथेलियों को लेटे हुए साधक के मुँह के सामने ले जाइये। अपनी हथेली साधक के शरीर से 3-4 इंच की दूरी रखते हुए मुँह के ऊपर से पैरों की ओर धीरे-धीरे ले जाएँ। इस बीच आप श्वास न लें। पैरों (साधक के) के अंतिम सिरे तक (पंजों तक) ले जाकर एक ओर हाथ को झटक दें। इसी प्रकार बार-बार क्रिया करें। मुँह से पैरों तक अपनी हथेली साधक के उपर से ले जाएँ और

फिर एक ओर झटक दें। फिर आप श्वास ले लें। कुछ समय बाद आप देखेगें कि साधक का बुखार उतर गया है। बुखार इस प्रकार उतरता है– आपकी हथेली व उंगलियों से योगबल रूपी शुद्ध प्राणवायु निकलती है, वह प्राणवायु रोगी साधक के अंदर प्रवेश कर जाती है। शुद्ध प्राणवायु मिलते ही रोगी साधक का शरीर स्वस्थ होने लगता है। उस समय श्वास इसलिए नहीं लेना चाहिए क्योंकि श्वास के द्वारा रोगी के बुखार का प्रभाव आपके अंदर न चला जाए। हाथ झटक देने का अर्थ है रोगी साधक की अशुद्ध प्राणवायु एक ओर फेंक दी। बाद में आप श्वास ले लीजियेगा। एक अन्य तरीका यह भी है, रोगी साधक को आप लिटा लें या बैठा लें। अपने दाहिने हाथ के अंगूठे को भृकुटि पर स्पर्श करें। स्पर्श कुंभक की अवस्था में करें तथा संकल्प करें– **"कृपया आप चले जाइये। आप ब्रह्म की शक्ति से सम्पन्न हैं, इस रोगी पर कृपा करें।"** फिर आप ज़ोर से ओंकार कीजिये। तीन बार ओंकार करके आप ईश्वर से भी प्रार्थना करें। बुखार चला जाएगा। अगर तुरंत नहीं उतरा है तो कुछ समय की चूँकि प्रतीक्षा अवश्य कर लें, बुखार चला जाएगा।

इसी प्रकार अन्य रोग भी दूर किये जा सकते हैं। यदि कोई रोग पुराना है अथवा महीनों तक चलने वाला है तो फिर यह क्रिया नियमित रूप से करनी पड़ेगी। इस प्रकार वात (हड्डी से संबन्धित रोग) का रोग ठीक किया जा सकता है क्योंकि वात के रोग से हड्डियों में दर्द होता है। वैसे यह रोग ठीक करना कठिन है, मगर नामुमकिन नहीं है। वातरोगी को प्राणायाम करना चाहिए। इससे आराम मिलेगा अथवा रोग ही चला जाएगा। वात का रोग ठीक करते समय उस स्थान पर हाथ से स्पर्श करना चाहिए। किसी नये साधक को यदि साधना में अतृप्त जीवात्मा परेशान कर रही हो अथवा उससे प्रभावित हो तो उसे आप शक्तिपात करके निकाल सकते हैं। यदि किसी शक्तिशाली तामसिक शक्ति से प्रभावित है तो आप उसे अपने सामने बैठाकर अपनी दिव्य दृष्टि से देखें तो अवश्य सबकुछ मालूम हो जाएगा। फिर साधक की भृकुटी पर शक्तिपात करें अथवा साधक के दोनों हाथों की कलाइयाँ पकड़कर नाड़ियों में शक्तिपात करें और प्रार्थना करें कि आप इस साधक को छोड़कर चले जाएँ। आपको तामसिक शक्ति से प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। यदि वह कुछ इच्छा व्यक्त करती है तो पूरी कर दीजिये ताकि वह तृप्त हो सके और कहें– "कृपया आप अब कभी न आएँ" आप एक ईश्वर भक्त हैं, आप को कल्याण का भाव रखना चाहिए। इसलिए अतृप्त जीवात्मा से क्रोध न करें, बल्कि प्रेमपूर्वक उसके साथ सलूक करें। आप तांत्रिकों की भाँति जबरदस्ती न करें। आपके अंदर नम्रता होनी चाहिए।

आपने देखा होगा एक निश्चित अवस्था में साधक को ध्यानावस्था में क्रियाएँ होने लगती हैं। इन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से ध्यान में अवरोध आता है। मन एकाग्र होने के बजाय चंचल हो उठता है तथा क्रियाओं के कारण साधक के स्थूल शरीर को कष्ट भी होता है। इन क्रियाओं को शक्तिपात करके रोक देना चाहिए। क्रियाओं का कारण नाड़ी शुद्धि का न होना है या अन्य कारणों से क्रियाएँ हो सकती हैं। इसलिए साधक को प्राणायाम ज्यादा करना चाहिए। योग के नियमों का पालन भी करना चाहिए। फिर क्रियाएँ नहीं होंगी। ये क्रियाएँ अनुचित हैं। मगर योग में कुछ मुद्राएँ भी हुआ करती हैं। वह मुद्राएँ अनुचित नहीं हैं बल्कि सही हैं। यदि क्रियाएँ पूर्णरूप से बन्द नहीं हुई हैं, तो आप दूसरे दिन शक्तिपात करके क्रियाएँ बन्द कर दीजिये। फिर साधक शांत होकर बैठ जाएगा। यदि आपको वाचा सिद्धि प्राप्त है तो आप सिद्धि का प्रयोग करके भी क्रियाएँ रोक सकते हैं।

योग में एक महत्वपूर्ण बात है– कुण्डलिनी उठाना (जाग्रत करना, ऊर्ध्व करना)। वैसे साधक की कुण्डलिनी कभी भी उठायी जा सकती है। उठाने का अर्थ है जाग्रत करके ऊर्ध्व करना। कुछ गुरु अपने शिष्य की कुण्डलिनी शुरुआत में ही जाग्रत कर देते हैं। कुछ गुरु अपने शिष्यों की कुण्डलिनी साधना की परिपक्व अवस्था में जाग्रत करते हैं। हमारा सोचना है यदि साधना की परिपक्व अवस्था में कुण्डलिनी उठायी जाए तो साधकों को कुण्डलिनी से ज्यादा लाभ मिलेगा क्योंकि साधना के कारण उसका शरीर अधिकांश मात्रा में शुद्ध हो जाता है, जिससे कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने में आसानी रहती है या शीघ्र ऊर्ध्व हो जाती है। जिन साधकों की कुण्डलिनी शुरुआत में जबरदस्ती उठायी जाती है, उनको उतना लाभ तुरंत नहीं मिलता है जितना मिलना चाहिए क्योंकि उस (साधक) की स्वयं की साधना कुछ भी नहीं होती है। नये साधक को कुण्डलिनी उठने का लाभ तभी मिलेगा जब वह दिन भर में चार-पाँच घंटे साधना पर बैठे। उनकी कुण्डलिनी फिर सुषुप्त अवस्था में नहीं जाती है। यदि साधना की कमी हुई तो कुछ दिनों पश्चात् कुण्डलिनी सुषुप्त अवस्था में चली जाएगी। गुरु को फिर दोबारा जाग्रत करनी पड़ेगी। मेरा अनुभव यह है कि जो साधक पूरी तरह से योग में उतर पड़े हैं, जिन्हें सिर्फ योग करना है तो शुरुआत में यदि कुण्डलिनी जाग्रत कर दी गयी है तो बुरा नहीं है। मगर जिन साधकों को थोड़ा योग करना है, बेहतर है उनकी कुण्डलिनी तुरंत न उठायी जाए। जिन साधकों को सदैव गुरु के सामने योग करना है, उनकी कुण्डलिनी उठाने या जाग्रत करने में ही लाभ है क्योंकि गुरु के सामने ध्यान करने के बाद कुण्डलिनी सुषुप्त अवस्था में नहीं जाएगी। कुछ साधक ऐसे होते हैं, जिनकी कुण्डलिनी स्वयमेव जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगती है। ऐसे

साधक की साधना निश्चित रूप से उग्र होती है। ऐसे साधकों में शक्तिपात करने की क्षमता जबरदस्त होती है। योग की दृष्टि में ऐसा साधक बहुत शक्तिशाली होता है। ऐसे साधक ही निश्चित रूप से गुरु पद के योग्य होते हैं। मार्गदर्शन करने में सक्षम होते हैं, क्योंकि ऐसे साधक पिछले कई जन्मों से योग करते चले आ रहे होते हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिये योगबल अधिक मात्रा में होना चाहिए तथा योग के विषय में अच्छा ज्ञान होना चाहिए। यदि योग में उसे पूरी तरह से अनुभव नहीं है और योगबल भी पर्याप्त नहीं है तो यह कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि कुण्डलिनी एक महान शक्ति है। इससे सभी परिचित हैं। योग के विषय में अधूरे ज्ञान वाला साधक यदि कुण्डलिनी उठाने का प्रयास करेगा तो हो सकता है कुण्डलिनी जाग्रत न हो अथवा कुण्डलिनी उठने के बाद (जाग्रत होने के बाद) भस्त्रिका भी चल सकती है अथवा अन्य क्रियाएँ भी हो सकती हैं। इन सबको नियंत्रित करने के लिए सामर्थ्य होना चाहिए। परिपक्व साधक की कुण्डलिनी बड़े आराम से उठ जाती है, ज्यादा शक्तिपात भी नहीं करना पड़ता। मगर नये साधक की कुण्डलिनी उठाने के लिए योगबल अधिक खर्च करना पड़ता है। कुछ योगियों से नये साधक की कुण्डलिनी नहीं उठ सकती है। जरूरी नहीं सभी योगियों में योगबल की अधिकता हो।

कुण्डलिनी उठाने (जाग्रत) करने के लिए साधक को अपने सामने ध्यान करने के लिए बैठाएं। फिर माँ कुण्डलिनी से प्रार्थना करें– "कृपया आप साधक के शरीर में जाग्रत होकर ऊर्ध्व हो जाइये, जिससे आपके द्वारा इसका कल्याण हो।" फिर साधक को ध्यान करने को कहें। आप साधक के सिर के ऊपर (सहस्त्रार के ऊपर) अपनी हथेली व उंगलियों से हल्का सा दबाव दें अथवा स्पर्श करें और जोरदार ओंकार करें। यह ओंकार तीन बार करें। ओंकार करते समय आप इच्छा कीजिए कि साधक के शरीर में हमारा योगबल व्याप्त हो रहा है। फिर यही योगबल मूलाधार चक्र में जाकर शिवलिंग में लिपटी कुण्डलिनी को जाग्रत कर रहा है। कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगी है। ओंकार करके आप ध्यान पर बैठ जाइए। ध्यान में बैठकर दिव्य दृष्टि द्वारा साधक की कुण्डलिनी देखिए कि वह ऊर्ध्व हुई है कि नहीं। यदि नहीं, तो आप फिर से शक्तिपात कीजिये। फिर दिव्य दृष्टि से देखिये तो दिखायी देगा कि शिवलिंग में लिपटा हुआ नाग अपनी आँखें खोल रहा है और बन्द कर रहा है जैसे नींद से जागा हो, वह आँखें खोलकर अपने मुँह से अपनी पूँछ उगलने लगा है, फिर अपनी सारी पूँछ उगलकर शिवलिंग के सहारे मुँह

उठाकर खड़ा होने का प्रयास कर रहा है और थोड़ा सा उठ भी गया है। हो सकता है आपको इससे मिलता-जुलता अनुभव आए। यदि आप दिव्य दृष्टि का प्रयोग करेंगे तो लगभग इसी प्रकार दिखेगा। एक कार्य और करें, अपने योगबल से साधक को भी कुण्डलिनी उठने का दृश्य दिखा दिया जाए तो अच्छा है। यदि एक बार में कुण्डलिनी न उठे तो कई बार शक्तिपात का प्रयोग करें, फिर अवश्य उठ जाएगी। परिपक्व साधक की कुण्डलिनी बड़ी आसानी से उठ जाती है क्योंकि उसकी कुण्डलिनी ध्यान के कारण पहले ही आँखें खोल चुकी होती है तथा अपने मुँह से पूँछ भी पहले उगल दी होती है। शक्तिपात करते ही कुण्डलिनी साधक की योग्यतानुसार ऊपर तक आ जाती है। किसी साधक की स्वाधिष्ठान चक्र या नाभि चक्र तक आ जाती है। एक और बात याद आयी, यदि आप अत्यन्त शक्तिशाली हैं तो साधक की भृकुटि पर जबरदस्त शक्तिपात कर उसकी दिव्य दृष्टि खोल दीजिये तो साधक को निश्चय ही अच्छे-अच्छे अनुभव आएँगे। फिर दिव्य दृष्टि दो-चार दिन में अपने आप बन्द हो जाएगी।

दिव्य दृष्टि का नाम सुनकर आप चौंकिये नहीं। कुण्डलिनी जागरण के समय दिव्य दृष्टि भी खोली जा सकती है। योगबल पर क्या-क्या कार्य नहीं हो सकते हैं। मैंने तीन बार प्रयोग किया कि कुण्डलिनी के साथ, तीसरी आँख भी खोल दी। इससे साधकों को अच्छे-अच्छे अनुभव हुए थे। कुण्डलिनी के कई स्वरूपों का दर्शन किया तथा और भी अच्छे-अच्छे अनुभव हुए। कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए सहस्त्रार पर शक्तिपात करना अच्छा होता है, क्योंकि आपकी शक्ति सारे शरीर के स्नायु मंडलों में शीघ्र फैल जाती है। वैसे भृकुटि पर शक्तिपात से भी कुण्डलिनी उठायी जाती है। कुछ योगी कुण्डलिनी को उठाने के लिए नाभि से नीचे स्पर्श करते हैं।

कुण्डलिनी नेत्रों के द्वारा शक्तिपात करके उठायी जा सकती है। नेत्रों से शक्तिपात करके कुण्डलिनी उठाने के लिए त्राटक का अच्छा अनुभव होना जरूरी है, तभी नेत्रों के द्वारा ढेर सारी शक्ति बाहर निकल पायेगी। नेत्रों से साधक के मस्तक पर शक्तिपात करना होता है, तब कुण्डलिनी उठती है। वैसे अन्य जगहों पर भी शक्तिपात करके कुण्डलिनी उठायी जा सकती है। यह क्रिया सभी योगियों या साधकों से होना असंभव है। इसी प्रकार संकल्प द्वारा भी शक्तिपात करके कुण्डलिनी उठायी जाती है। इस क्रिया से कुण्डलिनी उठाने के लिए साधक का प्रत्यक्ष होना जरूरी नहीं है। उनके गुरु किसी भी स्थान पर हों तो भी साधक की कुण्डलिनी मात्र संकल्प से उठा देते हैं।

साधकों! मैंने अपने शोध के समय कुण्डलिनी ज्ञान चक्र के द्वारा उठायी थी। हर एक मनुष्य का ज्ञान चक्र मस्तक पर अंदर की ओर होता है। नेत्रों से शक्तिपात करके ज्ञान चक्र को इतना तीव्र गति से घुमाया कि साधक पहली बार में ही गहरे ध्यान में डूब गया। फिर कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगी। मुझे बड़ी खुशी थी कि मैंने खोज करके इस नयी विधि से कुण्डलिनी उठायी है। मैंने अपने प्रयोगों में साधकों के चक्र शक्तिपात करके खोले हैं। चार चक्र पहले वाले तो आसानी से खुल जाते हैं। कण्ठ चक्र जैसा जटिल और अत्यन्त कठिन चक्र मात्र कुछ क्षणों में खोल दिया था। इसकी गवाह श्रीमाता जी की तीन शिष्याएँ हैं जो जलगाँव और पूना में रहती हैं। साधकों! सबसे पहले कठोर संयम करके योगबल एकत्र कीजिये। फिर आप जटिल से जटिल कार्य क्षण भर में कर सकते हैं। असीमित योगबल प्राप्त करने के लिए माता कुण्डलिनी का आशीर्वाद चाहिए।

हमारे सनातन धर्म में प्राण प्रतिष्ठा करने का रिवाज है। जब किसी मूर्ति की स्थापना की जाती है तो मूर्ति में प्राणों का संचार किया जाता है। इसी को प्राण प्रतिष्ठा कहते हैं। प्राण प्रतिष्ठा के बाद मूर्ति पूजा करने के योग्य हो जाती है। एक और ध्यान देने की बात है– आदिकाल में देवता मनुष्य को जीवन दान देते थे, ऐसा पुराणों में वर्णित है। मगर मनुष्य यहाँ पर देवताओं की मूर्तियों में प्राणों का संचार करते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य स्वयं अपने अंदर प्राणों का संचार आवश्यकता पड़ने पर नहीं कर पाते, बल्कि उस समय देवताओं से प्रार्थना करने लगते हैं। मनुष्य को इतना अपने ऊपर विश्वास है कि मूर्ति में प्राणों का संचार हो जाता है। किसी-किसी जगह पर मूर्ति हर वर्ष बदली जाती है और प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। अरे, ईश्वर तो कण-कण में व्याप्त है, फिर मूर्ति के अंदर क्यों नहीं होगा? हम प्राण प्रतिष्ठा के विरोधी नहीं हैं, बल्कि हमारा कहना है जो मनुष्य अपने प्राणों को अपने अधिकार में नहीं रख पाता है, वह मूर्ति के अंदर क्या संचार करेगा क्योंकि हर व्यक्ति शक्तिपात नहीं कर सकता है। शक्तिपात करने की योग्यता लाने के लिए आध्यात्मिक मार्ग का सहारा लेना पड़ेगा, तभी आपके अंदर शक्तिपात की योग्यता आ पाएगी।

योगियों में शक्तिपात करने की क्षमता होती है क्योंकि उन्होंने योग के द्वारा ईश्वरीय सत्ता को पहचान लिया है। ईश्वरीय सत्ता से अपना सम्बन्ध स्थापित कर रखा है। योगी बाहर से साधारण मनुष्यों के समान दिखता है, लेकिन अंदर से उसने ईश्वर से सम्बन्ध बना रखा है। ऐसे योगी या महापुरुष का ईश्वर से सम्बन्ध हो चुका है, प्रकृति के नियमों को पहचान लिया है, इसलिए वह शक्तिपात कर सकता है। योगी के

द्वारा की गयी प्राण प्रतिष्ठा से मूर्ति शक्तिशाली हो जाती है, वहाँ पर एक शक्ति का केंद्र बन जाता है, आसपास का वातावरण शुद्ध हो जाता है, जिससे उस स्थान पर पहुँचने वाले लोगों को लाभ मिलता है। यदि आप ध्यान दें तो पाएँगे कि इस प्रकार के स्थान पर पहुँचने वाले लोगों के विचार कुछ समय के लिए सात्विक हो जाते हैं। इसीलिए हमारे धार्मिक ग्रन्थों में शिक्षा मिलती है कि लोगों को तीर्थ स्थानों, मंदिरों, व पवित्र स्थानों पर भ्रमण करना चाहिए क्योंकि उस स्थान पर ईश्वर की शक्ति अदृश्य रूप से विद्यमान रहती है। इससे अवश्य लाभ मिलेगा, मगर लाभ तभी मिलेगा जब वह स्थान जाग्रत होगा। इसलिए जाग्रत स्थान में जाकर लोगों को अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

यदि मूर्ति पूजा में देखा जाए तो व्यक्ति को लाभ स्वयं अपनी भावनाओं के अनुसार ही मिलेगा। यदि उसकी भावनाएँ अच्छी और शुद्ध नहीं होंगी तो क्या लाभ मिलेगा? एक बात और कहना चाहूँगा। यदि आप संत पुरुषों व योगियों की समाधियों में जाकर प्रार्थना करें तो अवश्य लाभ मिलेगा। जिस स्थान पर महापुरुष या योगी की समाधि बनायी जाती है, उस स्थान से अन्तरिक्ष में स्थित महापुरुष का अदृश्य रूप में सम्बन्ध रहता है। इसी कारण वह स्थान पवित्र रहता है। मुझे मिरज में साधना करते हुए संत ज्ञानेश्वर जी के दर्शन नहीं हुए। जब मैं उनकी समाधि व तपोस्थल (सिद्ध पीठ, आलंदी) पर गया, तब उनके और उनके भाई-बहनों के दर्शन हुए थे। उस समय मैं दिव्य दृष्टि का प्रयोग करता था। इतने महान पुरुषों के दर्शन के लिए दिव्य दृष्टि का होना आवश्यक है अथवा वे स्वयं किसी पर कृपा करें तो दूसरी बात है। ज्ञानेश्वर जी की समाधि पूना के पास आलंदी में बनी है।

योगी और भक्त

आजकल अभी भी कुछ व्यक्ति यह नहीं समझ पाते हैं कि योगी और भक्त में क्या अंतर होता है। मैं दो शब्दों में बता दूँ। जो व्यक्ति इन्द्रियों का संयम करते हुए ध्यान किया करता है, अपने शरीर के अंदर स्थित आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयास करता है, अपने शरीर के अंदर ही अंतर्मुखी होकर खोज किया करता है, उसी को योगी कहते हैं। मगर भक्त का मार्ग अलग होता है। उसका लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति होता है। ईश्वर ब्रह्म का सगुण रूप है। भक्त ईश्वर का चिंतन करता है तथा पूजा-पाठ करता है। भक्त के लिए नवधा भक्ति करने का उल्लेख मिलता है और योगी को योग के लिए अष्टांग योग करने का उल्लेख मिलता है। योगी का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति है जबकि भक्त का लक्ष्य सगुण ब्रह्म अर्थात ईश्वर की प्राप्ति है। दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं। योगी अपने मस्तिष्क का विकास करके ज्ञान प्राप्त करके आत्मा या ब्रह्म से तादात्मय करता है। भक्त अपने हृदय में स्थित भावना को प्रधान मानकर ईश्वर से तादात्मय करता है। इसी तरह दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं: एक बुद्धि प्रधान, दूसरा भावना प्रधान। यह बता पाना कि इनमें कौन श्रेष्ठ है शायद मुश्किल होगा। इसलिए अपनी-अपनी जगह पर दोनों श्रेष्ठ हैं।

आजकल देखा गया है कि मंदिर के पुजारी को कभी-कभी योगी कहकर संबोधित करते हैं। जबकि योगी और भक्त का मार्ग अलग-अलग है। मेरा सोचना है कि योगी तो कोई भी बन सकता है, मगर भक्त बनना जरा मुश्किल सा है। योगी बनने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति की जरूरत है, क्योंकि योग में कठोर संयम को अपनाना पड़ता है। जिन पुरुषों की इच्छाशक्ति में दृढ़ता है, ऐसे पुरुषों में कठोर कार्य करने का साहस बहुत अधिक होता है तथा कष्ट सहने की शक्ति अधिक होती है। क्योंकि योगी बनने के लिए साधना करते समय साधक को शारीरिक यातनाएँ भी सहनी पड़ती हैं, इन्द्रिय-संयम कठोरता के साथ अपनाना पड़ता है, तभी सफलता प्राप्त करना संभव हो सकता है। जिन पुरुषों के अंदर इच्छाशक्ति कमजोर होती है, वे अपने आपको योग के अनुकूल संयमित नहीं कर पाते हैं तथा उनसे कठोर परिश्रम भी नहीं हो पाता। उनमें शारीरिक यातनाएँ सहने की शक्ति भी नहीं होती है। जब ऐसे पुरुष योग मार्ग में आ जाते हैं तो कुछ समय बाद वह डगमगा जाते हैं और साधना करना छोड़ देते हैं। अपनी असफलता का सेहरा अपने गुरु के ऊपर मढ़ देते हैं। कहते हैं कि हम पर गुरुकृपा नहीं हुई है अथवा ईश्वर की इच्छा ही नहीं है, इसलिए सफलता नहीं मिली। यदि आप पूर्वकाल का समय देखें तो मालूम हो जाएगा कि अहंकारी स्वभाव के पुरुषों को योग में बड़ी जल्दी सफलता मिलती रही है। कुछ पुरुष दुष्ट स्वभाव के होते हुए भी बड़े-बड़े

योगी हुए हैं। इसका कारण है कि इनके अंदर इच्छाशक्ति बहुत ही शक्तिशाली होती थी। जिस कार्य में लग जाते थे, उस कार्य में चाहे जितनी परेशानी व कठिनाई आए, कार्य करके ही छोड़ते थे। ऐसे पुरुषों को सिर्फ अपना लक्ष्य दिखाई देता है। जब किसी पुरुष का लक्ष्य एक होगा, तो वह कठोर परिश्रम व लगन से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में लग जाता है। इस अवस्था में मन एकाग्र रहता है। मन में जरा भी चंचलता नहीं आती है। इसी प्रकार योग में भी मन की एकाग्रता चाहिए। मन की एकाग्रता से चित्त में स्थिरता आएगी। चित्त की स्थिरता से योग में सफलता अवश्य मिलेगी। इस प्रकार के पुरुषों में योगबल की अधिकता रहती है तथा शक्तियाँ भी अधिक प्राप्त होती हैं। साफ जाहिर है, कठोर संयमी योगी अधिक शक्तिशाली होगा। उसके वचनों में शक्ति होती है। ऐसे शक्तिशाली योगी में श्राप और वरदान देने की शक्ति अधिक होती है क्योंकि उनके शब्दों में दृढ़ता होती है। उनके मुँह से निकले शब्द संयम और साधना के कारण शक्ति से ओत-प्रोत होते हैं, जो कि शरीर के अंदर चुभते चले जाते हैं तथा सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं। श्राप या वरदान के समय योगी का योगबल कार्य करता है। अक्सर देखा गया है योगी पुरुष स्वभाव से क्रोधी होते हैं। इसका कारण यह है कि उनका अहंभाव शीघ्र नहीं जाता है। जब अहम भाव चला जाएगा तब योगी भी बहुत सरल हो जाएगा। क्या आपको विश्वामित्र जी का क्रोध मालूम नहीं है! वशिष्ठ जी के सभी पुत्र श्राप देकर मार डाले; बाद में राक्षसों का संहार करने के लिए भगवान राम को लिवा लाए थे जबकि विश्वामित्र की इच्छा मात्र से राक्षस नष्ट हो जाते, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

हमारे कहने का मतलब यह है कि योगमार्ग पर चलने वाले साधक की इच्छाशक्ति दृढ़ या बलवान होनी चाहिए, तभी योग में सफलता मिलना संभव है। योग में भावुकता से काम नहीं चलता है। कुछ साधक यह भी कहते हैं कि जब गुरु कृपा होगी, तब हमारा योग शुरू हो जाएगा। ऐसे साधकों को कभी भी सफलता नहीं मिल सकती है, क्योंकि परिश्रम नहीं करना चाहते हैं। गुरु कृपा पर अपनी दृष्टि लगाए बैठे हैं। बिना परिश्रम के आज तक किसी को कुछ नहीं मिला है, न मिलेगा। यदि गुरु बिना परिश्रम के साधकों को कुछ दे सकता तो आज इस दुनिया में सभी योगी ही होते। क्योंकि योग करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, दीक्षा देते समय ही योगी बना देते। मैं लिख चुका हूँ कि गुरु योग का मार्गदर्शक है, चलना स्वयं आपको है। हमारे कहने का अर्थ यह भी नहीं है कि आप ईश्वर को भूल जायें। ईश्वर को तो सदैव याद रखना चाहिए। ईश्वर चिंतन से आपका अन्तःकरण शुद्ध होने लगेगा जिससे आत्म-साक्षात्कार में सहायता मिलती है।

भक्त का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है। भक्ति में भावना प्रधान है। इसलिए भक्त मानस पूजा के समय भावुक होकर प्रेम में रोने लगता है। भक्त के आँसू निकल आते है। यदि पूजा करते समय भक्त में प्रेमभाव जाग्रत नहीं हुआ तो ईश्वर कैसे प्राप्त होगा? जिस भक्त में ईश्वर के प्रति जितना अगाध प्रेम होता है, उसे उतनी ही जल्दी ईश्वर की प्राप्ति होती है। पूजा के समय आरती उतारना, घंटी बजाना मुख्य भूमिका नहीं निभाता है ईश्वर प्राप्ति में। बल्कि पूजा के समय विशुद्ध प्रेम ही ईश्वर से तादात्मय करने का सरल उपाय है। भक्त प्रेम में मग्न होकर ईश्वर की स्तुति करता है। इससे भक्त का अन्तःकरण शुद्ध होता है। जितनी शीघ्रता से अन्तःकरण शुद्ध होगा, ईश्वर उतनी शीघ्रता से प्राप्त होगा। भक्त के लिए भावुक होना अति आवश्यक है, तभी सफलता मिलेगी। मगर योगी को रूखा होना अति आवश्यक है, तब सफलता मिलेगी। जो योगी जितना रूखा होगा, उसे उतनी जल्दी सफलता मिलेगी। यदि ये दोनों गुण साधकों के बदल जाएँ, तो दोनों को अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में परेशानी होगी। भक्त हृदय में स्थित भावना को प्रधान मानकर हमेशा भक्ति में आनंदित रहता है तथा भावना व हृदय को संतुष्ट रखना चाहता है। योगी निर्गुण उपासक होने के कारण रूखा होता है, वह अपनी बुद्धि व मस्तिष्क को संतुष्ट करना चाहता है तथा शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर आनंदित रहता है। मैं भक्त को इसलिए श्रेष्ठ कहता हूँ क्योंकि उसके अंदर अहंकार नहीं होता है। योगी के अंदर अहंकार रहता है। बहुत समय बाद तमोगुणी अहंकार जा पाता है।

भक्त हर कार्य में ईश्वर की कृपा मानता है। चाहे उसे कष्ट मिले अथवा सुख, वह यही कहेगा कि ईश्वर की इच्छा से हुआ, इसलिए हमें कष्ट की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। वह कष्ट में भी सुख की अनुभूति करता है। योगी हर अच्छी-बुरी घटनाओं में अपने कर्म को जिम्मेदार मानता है। यदि कोई कष्ट मिला, तो यही कहेगा कि यह तो हमारा पूर्वकाल का कर्म था, उसका तो भोग करना ही पड़ेगा। वह इस स्थान पर ज्ञान का प्रयोग करता है, तथा कष्ट की अनुभूति न करके सुख की अनुभूति करता है क्योंकि उसका कर्म समाप्त हो रहा है। बात एक ही है, मगर दोनों की सोच में फर्क है। भक्त अपना सबकुछ ईश्वर को सौंप देता है, वह ईश्वर में शरणागत हो जाता है। योगी योग के द्वारा माया रूपी संसार से परे हो जाता है। प्रकृति फिर उसे बन्धन में नहीं बांध पाती है। योगी शक्तिशाली अधिक दिखाई पड़ता है क्योंकि उसने संयम के द्वारा शक्ति अर्जित की होती है। मगर भक्त की इच्छा की पूर्ति ईश्वर करता है क्योंकि उसने सबकुछ ईश्वर को सौंप दिया है।

रामचरितमानस में एक जगह पर लिखा है– भक्त हमारे लिए बालक के समान है। चूँकि बालक को चलने के लिए, खाना खिलाने के लिए माता की आवश्यकता होती है, इसलिए मैं भक्तों का सदैव ध्यान रखता हूँ क्योंकि भक्त मेरे सहारे है। योगी भी हमें प्रिय है, मगर वह प्रौढ़ (वयस्क) पुत्र के समान है। उसे माता चलने के लिए अपनी अँगुली नहीं पकड़वाती है क्योंकि वह स्वयं चल लेता है, स्वयं अपने सारे कार्य कर लेता है। अब माता से पूछा जाए कि तुम्हें कौन सा पुत्र प्रिय है तो वह यही कहेगी कि मुझे दोनों पुत्र प्रिय हैं। मगर वह अपने वयस्क (प्रौढ़) पुत्र की ओर सदैव ध्यान नहीं देती है क्योंकि बड़ा पुत्र स्वयं अपने आप में सक्षम है। मगर छोटे बालक की ओर सदैव ध्यान रखती है कि कहीं उसका हाथ आग में न चला जाए अथवा वह पानी में न गिर पड़े। इसी प्रकार योगी प्रकृति के नियमों को जानकर स्वतंत्र हो जाता है। भक्त अपना सबकुछ ईश्वर को सौंपकर स्वतंत्र हो जाता है। भक्त का लक्ष्य है ईश्वर के लोक में रहकर उसका स्मरण व चिंतन करे। योगी का लक्ष्य है ब्रह्म में लीन हो जाए।

साधकों, अब आप सोचते होंगे कि भक्त और योगी शरीर छोड़कर (स्थूल शरीर त्यागकर) कहाँ चले जाते हैं क्योंकि इसका वर्णन पुस्तकों में कम ही मिलता है। वैसे मैंने इसकी जानकारी ढेर सारी की है, मगर संक्षेप में लिखता हूँ क्योंकि प्रकृति भी अपने रहस्य छुपाए रखना चाहती है। योगी अपनी योग्यतानुसार इस गूढ़ रहस्य की जानकारी कर लेता है। हम सभी जानते हैं कि भूलोक के ऊपर क्रमशः भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक व ब्रह्मलोक है। भुवर्लोक व स्वर्गलोक से भक्त या योगी का कुछ लेना-देना नहीं है। योगी जब अपना शरीर छोड़ता है तो जनलोक या तपलोक में चला जाता है। यह उसकी योग्यता पर निर्भर है कि वह किस लोक में जाएगा। मगर जब भक्त अपना शरीर छोड़ता है, तो अपनी योग्यता अनुसार महर्लोक या जनलोक में पहुँचता है। अब आप जनलोक के विषय में जानना चाहेंगे। यह एक ऐसा लोक है जहाँ योगी और भक्त दोनों रहते हैं। ज्यादा विवरण लोकों के विषय में लेख में मिल जाएगा।

भगवान गौतम बुद्ध जी ब्रह्मलोक में साधना करते हैं। वे सदैव समाधिस्थ रहते हैं। मीराबाई गोलोक में हैं। हर योगी या भक्त का ऊपर के लोकों में कहीं न कहीं अस्तित्व है अथवा विराजमान हैं। मैं नहीं जानता हूँ कि आज तक किसे मुक्ति मिली है। यह बात अलग है कि जिन द्वारपालों को श्राप मिला था, वे पृथ्वी पर रहकर वापस अपने रूप में आ गए हैं, जैसे रावण, हिरण्यकश्यप आदि। इनका अस्तित्व

नहीं है क्योंकि ये जय और विजय थे। जब पृथ्वी पर योगियों या भक्तों की जरूरत पड़ती है, तब ऐसे योगी या भक्त योग प्रचार के लिए जन्म ग्रहण करते हैं।

संन्यासी

हमारे सनातन धर्म के अनुसार मनुष्य का जीवन चार आश्रमों में बँटा हुआ है। चौथा आश्रम ही संन्यास आश्रम है। संन्यास आश्रम को अपनाने वाला ही संन्यासी कहा जाता है। पूर्वकाल में संन्यास आश्रम अपनाना सभी के लिए अनिवार्य था, मगर अब ऐसा नहीं है। आजकल पहले के बनाए नियमों पर नहीं चलते हैं। संन्यासी वह है जिसने अपनी इन्द्रियों द्वारा अथवा स्थूल शरीर द्वारा सांसारिक कार्यों को त्याग दिया है, सिर्फ ईश्वर में आस्था रखता हो। इसी प्रकार संन्यासी की वेषभूषा भी विशेष प्रकार की होती है जिससे यह भाषित होता है कि वह परम पवित्र है और संसार की किसी वस्तु से लगाव नहीं रखता। संन्यासी भगवा वस्त्र इसलिए धारण करता है क्योंकि भगवा वस्त्र अग्नि के समान प्रतीत होता है। अग्नि परम पवित्र तत्त्व है। उसमें दाहिका शक्ति होती है। अग्नि में अधर्म या बुरे गुण वाले पदार्थ डाले जाएँ तो वह अपनी दाहिका शक्ति से सबकुछ जलाकर भस्म कर देती है। अग्नि सभी पदार्थों को भस्म करने के लिए समभाव रखती है। इसी प्रकार संन्यासी के वस्त्र उसका परिचय देते हैं। उसने अपने आपको योग या तपस्या से अग्नि के समान परम पवित्र बना लिया है। उसे अब स्थूल पदार्थ प्रभावित नहीं कर सकते हैं। वह अब सांसारिक पदार्थों में वासना से रहित है। बल्कि यदि कोई मनुष्य संन्यासी के संपर्क में आएगा तो वह अपने गुणों के अनुसार मनुष्य को भी पवित्र कर देगा, मनुष्य के अंदर की बुराइयों को जलाकर भस्म कर देगा। जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर के स्पर्श से सोना बन जाता है, लोहे के अंदर से लोहे का गुण दूर हो जाता है और सोने का गुण आ जाता है, उसी प्रकार संन्यासियों के संपर्क में बुरा मनुष्य भी अच्छे गुणों वाला होने लगता है। संन्यासी अपना सिर मुंडवाकर अपने आपको कुरूप बना लेता है, उसे अपने आपको सुन्दर दिखाने की कोई अभिलाषा नहीं होती। साधारण मनुष्य अपने आपको सुन्दर दिखायी पड़ने के लिए बालों को अच्छे ढंग से कटवाते हैं, बालों को संवारते हैं, इत्र का भी प्रयोग करते हैं। ऐसा इसलिए करते हैं ताकि अच्छे दिखें। मगर संन्यासी को इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि वह सुन्दर दिखाई दे। उसकी सुन्दरता उसकी तपस्या है व ईश्वर प्राप्ति है। सभी प्रकार के प्राणियों को ब्रह्ममय देखना, हर समय सभी के कल्याण में तत्पर रहना और अपना जीवन प्रभु-स्मरण व मानव सेवा में समर्पित करना आदि संन्यासी की सुन्दरता है।

संन्यासी हम सभी मनुष्यों की भाँति स्थूल जगत में कार्य करता है। हममें और उसमें फर्क यह होता है कि हम जिस कार्य को करते हैं, उसे अपना समझकर उसी में लिप्त हो जाते हैं। यही लिप्तता या वासना

हम सभी के लिए बन्धन का कारण है। मगर संन्यासी जिस कार्य को करता है, अपना कर्तव्य समझकर या ईश्वर का कार्य समझकर करता है। उसमें लिप्तता नहीं होती। वह संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। जिस प्रकार कमल कीचड़ में रहते हुए भी कीचड़ से परे रहता है, अर्थात कीचड़ का प्रभाव कमल पर नहीं पड़ता है, उसी प्रकार संन्यासी है। संन्यासी अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता है चाहे उसे जितनी स्थूल परेशानियों का सामना करना पड़े। इस समय हमें महान संत कबीरदास जी की ये पंक्तियाँ याद आ गयीं–

संत न छोड़े संतई कोटिक मिले असंत।

चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग॥

संन्यासी कैसे बदल सकता है! उसने तो क्षणभंगुर संसार को पहचान लिया है कि यह संसार नाशवान है। उसने ईश्वर के स्वरूप का दर्शन कर लिया है। उसने अपनी पहचान कर ली है कि मैं कौन हूँ। उसने अपने लक्ष्य को जान लिया है। उसने अपने कर्तव्य को पहचान लिया है। उसने मूल तत्त्व की जानकारी कर ली है, फिर यह संसार कैसे प्रभावित कर सकता है; अर्थात वह इस संसार में रहकर भी संसार से परे है। संन्यासी ने अपने सारे चिन्ह मिटा दिये हैं। न वह ब्राह्मण है, न वह क्षत्रिय है, न वह वैश्य है और न ही शूद्र है। आजकल संन्यासियों में लगभग दस संप्रदाय देखने को मिलते हैं।

संन्यासी बनने के लिए उसकी योग्यता होनी चाहिए कि उसने ईश्वर को जान लिया है। आजकल के संन्यासी ज्यादातर संन्यास धारण के पश्चात राजनीति में आ जाते हैं, न्यायालय में जाकर मुकदमेबाजी करते हैं, आश्रम बनवाकर उसका खर्च चलाने के लिए बड़े-बड़े सेठों से रुपये के लिए इच्छा व्यक्त करते हैं, अपना नाम कमाने के लिए ढेरों शिष्य बनाने शुरू कर देते हैं; बहुत से संन्यासी ऐसे देखने में आए जिनकी अपने शिष्यों से नहीं बनती, झगड़े होते हैं। कुछ संन्यासी अपना जीवन यापन करने के लिए संन्यास धारण करते हैं। कुछ मनुष्य अनैतिक कार्य करके कानून से बचने के लिए संन्यास धारण कर लेते हैं। हमारे समाज में कुछ ऐसे भी संन्यासी हैं जो अपनी इन्द्रियों को दमन करना तो दूर, व्यभिचार में लिप्त पाये गए। इस प्रकार के संन्यासियों ने तो संन्यास धर्म पर कलंक ही लगा दिया है। आज यह दशा है कि हमारे समाज में लोगों के संन्यासियों के प्रति पहले जैसे विचार नहीं रह गये क्योंकि कुछ संन्यासियों ने ऐसे कार्य किये हैं जो बड़े दुख की बात है। इसी कारण आज का समाज उन संन्यासियों की भी अवहेलना करता है जो वास्तव में संन्यासी हैं। ऐसे संन्यासियों की गिनती भारतभूमि में बहुत कम है। आजकल के

संन्यासी ज्यादातर भ्रष्ट हो गए हैं क्योंकि वह स्थूल संसार में ही लिप्त हैं। वह अपना यश और वैभव बढ़ाने के लिए सारे हथकंडे अपनाते हैं। अब पहले जैसे संन्यासी नहीं रहे। हमारे देश में एक से बढ़कर एक संन्यासी हो चुके हैं जिस पर हम सभी भारतवासी गर्व करते हैं, जैसे भगवान गौतमबुद्ध, भगवान महावीर, आदि गुरु शंकराचार्य जी, गुरु गोरखनाथ, संत ज्ञानेश्वर जी, समर्थ गुरु रामदास, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद जी आदि।

आजकल जो वास्तविक संन्यासी हैं, समाज उनकी पहचान नहीं कर पाता है। ये संन्यासी अत्यन्त साधारण रूप में रहते हैं, सिर्फ आध्यात्मिक कार्यों में ही लगे रहते हैं। आजकल के कुछ संन्यासी चमत्कार भी दिखाते हैं। कहते हैं कि यह चमत्कार भगवान की कृपा से हुआ है। भोली व अनभिज्ञ जनता सही रूप से समझ नहीं पाती है और चमत्कारी संन्यासियों के पीछे पड़ जाती है। अध्यात्म और ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग में चमत्कार कैसा! आजकल के नये-नये संन्यासी भी ढेरों शिष्य बनाते हैं। फिर शिष्यों से अपनी सेवा करवाते हैं। ऐसे शिष्यों के गुरु जब ईश्वर प्राप्त नहीं कर पाये, तो शिष्यों का उद्धार कैसे होगा? गुरु स्वयं अज्ञान रूपी अंधकार में पड़ा होता है, सांसारिक रागों में फंसा होता है, तो शिष्य को कैसे अज्ञान रूपी अंधकार से दूर करेगा? बल्कि शिष्य भी उसी अज्ञान रूपी अंधकार में गोते लगाता रहता है। किसी भी संन्यासी को शिष्य तब बनाना चाहिए, जब उसके अंदर सामर्थ्य आ गया हो कि वह अपने शिष्य को ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में मार्गदर्शन कर सकता है। मार्गदर्शन तभी कर पाएगा जब वह इस मार्ग से पूरी तरह से परिचित होगा। वह अपने शिष्य को तभी ईश्वरानुभूति करा पाएगा जब उसने स्वयं ईश्वरानुभूति की होगी। इसलिए साधक पहले साधना करके प्रकृति के नियमों को समझ ले, ईश्वर की अनुभूति कर ले, तब संन्यास धारण करे तो अच्छा है। फिर उसके पतन होने की संभावना नहीं रहती है क्योंकि उसने योग के द्वारा अपनी इन्द्रियों को निष्क्रिय कर दिया है। उस पर माया का भी प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसे योग्य संन्यासी ही समाज का कल्याण कर सकते हैं तथा सही पथप्रदर्शक हो सकते हैं। ज्यादातर आजकल के संन्यासी इन्द्रियों के वशीभूत हैं, फिर वह संसार का कल्याण कैसे कर सकते हैं!

हमारे देश के सभी संन्यासी यदि अपना स्तर ऊँचा उठाकर समाज का कल्याण करें, तो निश्चय ही समाज में बदलाव आना शुरू हो जाएगा। समाज को अपना उत्थान करने के लिए एक अच्छा अवसर मिल सकता है। यदि आज का संन्यासी समुदाय ही पतन की ओर जाएगा तो इस समाज का पतन होना

निश्चित-सा है। पूर्वकाल में हमारे ऋषि-मुनि, तपस्वी आदि सनातन धर्म में रीढ़ की हड्डी के समान अपना दायित्व निभाते थे तथा समाज उनके बताए मार्ग पर चलता था। संन्यासियों का कर्तव्य है कि समाज के उत्थान हेतु मनुष्यों में जागरूकता लाए तथा मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाएँ ताकि समाज सही मार्ग पर चल सके।

एक घटना याद आ गयी। जब मुझे प॰पू॰ श्रीमाता जी ने जुलाई 1991 में आश्रम में रुकने को कहा, उस समय माता जी ने कहा था– "आप यहीं आश्रम में रहकर साधना कीजिये ताकि आपकी साधना अच्छी हो। मैं आपको संन्यास की दीक्षा दिलवाऊँगी, आप संन्यासी बनिये। पहले आप संन्यासी की योग्यता प्राप्त कीजिये।" उस समय मैंने निश्चय किया कि मैं संन्यासी बनूँगा। हमने कठोर साधना करनी शुरू कर दी। जब सितंबर के प्रथम सप्ताह में सन् 1992 में हमारा ब्रह्मरंध्र खुला तो मैंने अपना अनुभव श्रीमाता जी को सुनाया। वे प्रसन्न हुईं और बोलीं कि अब आप में संन्यासी बनने की योग्यता आ गयी है। आपने ब्रह्म का दर्शन किया है, ईश्वर की अनुभूति की है। आप साधना कीजिये, समय आने पर स्वामी चिदानंद जी से संन्यास की दीक्षा दिलवा दूँगी। कुछ समय पश्चात हमने निश्चय किया कि अभी संन्यासी नहीं बनूँगा क्योंकि हमारा मन अभी संन्यास की दीक्षा लेने के लिए गवाही नहीं देता था। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद भी संन्यासी बनने की इच्छा नहीं हुई।

वैराग्य

आजकल देखा गया है कि जब कोई मनुष्य गृहस्थ आश्रम को छोड़कर संन्यासी बन जाता है तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति को वैराग्य इतना हो गया है कि वह संन्यासी बन गया। संन्यासी बनकर बहुत से राजनीति से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। बड़ी-बड़ी संस्थाएँ चलाते हैं, फिर उस संस्था के पद के लिए झगड़ते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी अदालत तक पहुँच जाते हैं और मुकदमा भी लड़ते हैं। हमारा ऐसे व्यक्तियों के लिए कहना है कि कैसा वैराग्य हुआ अथवा किस वस्तु से वैराग्य हुआ। इससे अच्छा था कि गृहस्थ आश्रम में रहकर परोपकार कर सकते थे अथवा आध्यात्मिक मार्ग पकड़े रह सकते थे। वैराग्य का यह अर्थ तो नहीं है कि स्थूल रूप से किसी वस्तु का त्याग कर दिया मगर सूक्ष्म रूप से किसी न किसी वस्तु से जुड़े रहे। इसे उस वस्तु से कैसा त्याग कहा जा सकता है?

किसी स्थूल वस्तु से अरुचि हो जाने से, किसी वस्तु के प्राप्त न होने से अथवा किसी के कहने पर अमुक वस्तु का त्याग कर देने आदि से, इस प्रकार इन वस्तुओं को त्यागने को त्याग नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार से त्यागने पर स्थूल रूप से तो सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, परंतु सूक्ष्म रूप से तृष्णा उसके अन्तःकरण में बनी रहती है। सिर्फ किसी वस्तु का त्याग करने से उस वस्तु का त्याग नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान के द्वारा विषयों को दुखरूप और बन्धन का कारण समझकर उससे पूर्ण रूप से सर्वथा अलग हो जाने को वैराग्य कहा जाता है। अब यह कहा जा सकता है कि क्या किसी भी वस्तु को अचानक अथवा किसी के कहने पर स्थूल या सूक्ष्म रूप से त्यागा जा सकता है, जिसका वह जन्म-जन्मांतरों से भोग करता चला आ रहा है? यह सत्य है कि ऐसे वस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि सूक्ष्म रूप से उस वस्तु के प्रति वासना या तृष्णा बनी रहेगी। जिस वस्तु का सर्वथा त्याग करना है पहले उसके विषय में पूर्ण रूप से जानकारी कर लेनी चाहिए। आप पाएँगे कि अभी भी उस वस्तु के प्रति सूक्ष्म वासना व तृष्णा विद्यमान है। यह जो वासना और तृष्णा है, इसे योग के अभ्यास व ज्ञान के द्वारा दूर किया जा सकता है।

साधारण मनुष्य की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी रहती हैं जो सांसारिक भोगों में लिप्त रहती हैं। योगाभ्यास के द्वारा बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होनी शुरू हो जाती हैं। जब अभ्यास के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध

होना शुरू हो जाएगा, तब उस वस्तु के प्रति वैराग्य शुरू हो जाएगा। उस समय वैराग्य द्वारा वासना और तृष्णा का प्रभाव कम होने लगेगा। उसी समय अभ्यास के द्वारा तमोगुण व रजोगुण कम होना शुरू हो जाएगा। तमोगुण धीरे-धीरे धुलेगा, साथ में रजोगुण भी क्षीण होगा। रजोगुण के क्षीण होने से वासना व तृष्णा कमजोर पड़नी शुरू हो जाएगी। अभ्यास के द्वारा योगी जब उच्चतम स्थिति को प्राप्त करता है, तब वह तृष्णा रहित हो जाता है। उस समय उसे वास्तविक वैराग्य की प्राप्ति होती है क्योंकि वैरागी वही है जो विषयों के प्रति तृष्णा रहित हो। अब आप यह भी कह सकते हैं कि चूँकि यह स्थिति तो बहुत समय बाद आती है, इसलिए क्या योग करने से पूर्व अथवा योग की प्रारम्भिक अवस्था में वैराग्य धारण न कर लिया जाए! मैं कहूँगा अवश्य किया जाए। यदि साधक को शीघ्र सफलता चाहिए तो अवश्य वैराग्य धारण कर लेना चाहिए क्योंकि स्थूल विषयों में दोष देखकर स्थूल रूप से विरक्त हो जाएगा। फिर योग का कठोर अभ्यास करेगा। इससे चित्त में स्थित उस विषय की तृष्णा धीरे-धीरे क्षीण हो जाएगी। दृढ़ता के कारण एक-न-एक समय तृष्णा से अवश्य छुटकारा मिल जाएगा क्योंकि अभ्यास के द्वारा चित्त निर्मल होता है। योग की चरम अवस्था में वास्तविक वैराग्य की प्राप्ति होती है। वास्तविक वैराग्य होने पर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है क्योंकि इस अवस्था में रजोगुण व तमोगुण नाममात्र को रह जाते हैं। कहने का अर्थ यह है, अगर वास्तव में योग के लिए वैराग्य धारण किया है तो ठीक है क्योंकि इस अवस्था में साधक को परेशानियों के बावजूद कठोर योग करना होता है। यदि कोई कहे कि हमें बिना योग के वैराग्य हो गया इस संसार से, तो शायद वह अपने आप को धोखा दे रहा है। यदि मान लें कि आपको वैराग्य हो गया है तो क्या आप हमें बता सकते हैं कि आप के चित्त से तृष्णा आदि की समाप्ति हो गयी है। अगर ऐसा है तो फिर वैराग्य के बाद आप बड़ी-बड़ी इच्छाएँ क्यों व्यक्त करते हैं?

साधारण व्यक्तियों का कहना है कि अमुक व्यक्ति को वैराग्य हो गया है, इसलिए घर-गृहस्थी छोड़कर जंगल अथवा आश्रम में चला गया है। यदि उसे इतना ज्ञान या वैराग्य हो गया होता कि वह स्थूल जगत से ही विरक्त हो गया है, तो हमारा कहना है कि उसे गृहस्थ छोड़कर बाहर जाने की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि उसे तो स्थूल जगत से अलग होते ही ईश्वर प्राप्ति अथवा निजस्वरूप में अवस्थिति की अवस्था प्राप्त हो जाती। फिर उसे योग या भक्ति की क्या आवश्यकता रहेगी? योग अथवा भक्ति से चित्त में स्थित सभी वृत्तियों से मुक्ति पाना है। जब तक चित्त में एक भी वृत्ति उपस्थित रहेगी, तब तक वह किसी न किसी रूप में स्थूल जगत से संबन्धित होगा। यह भी सच है गृहस्थ आश्रम में मनुष्य

कभी-कभी स्वयमेव विरक्त हो जाता है। मगर ऐसा मनुष्य लाखों में एक होगा। कुछ ही समय में उसे योग में अच्छी सफलता मिलने लगती है। इसका कारण पूर्व जन्म के संस्कार हैं। ऐसा मनुष्य संस्कारों के प्रभाव से अपने आप विरक्त हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि वह तो पूर्वजन्म से वैरागी अथवा योगी था। यह सच भी है।

प्रिय साधकों! जब आपका मन ध्येय वस्तु पर स्थिर होने लगे तो समझना चाहिए वैराग्य का अंकुर निकलने लगा। इसका मतलब यह है कि मन तभी ध्येय वस्तु पर स्थिर होगा, जब मन में अन्य विषयों के प्रति राग कम होने लगेगा। जब तक मन में बाह्य विषयों के प्रति राग रहेगा, तब तक स्थिर नहीं होगा। उन्हीं विषयों की ओर भागेगा जिनसे राग होगा। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि वैराग्य दो प्रकार के होते हैं। एक वास्तविक वैराग्य, दूसरा अवास्तविक वैराग्य। बिना अवास्तविक वैराग्य के वास्तविक वैराग्य प्राप्त नहीं हो सकता है। अवास्तविक वैराग्य प्रथम सीढ़ी है। बिना प्रथम सीढ़ी के द्वितीय सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

यदि वास्तविक संन्यासी या वैरागी की आप संगत करेंगे तो अवश्य लाभ होगा। ऐसे महापुरुष अत्यन्त शुद्ध व पवित्र होते हैं। जिस स्थान पर ये रहते हैं, वहाँ का वातावरण भी शुद्ध हो जाता है। यदि आपको इनके पास कुछ दिन रहने का अवसर मिले तो आपके अंदर भी शुद्धता आने लगेगी। ऐसे महापुरुष सदैव ईश्वर या योग से सम्बन्धित बातचीत करते हैं, उसका असर आपके अंतःकरण में पड़ेगा। इससे आपके अंदर बदलाव आना शुरू हो जाएगा, आपका झुकाव ईश्वर की ओर होने लगेगा, आप भी ईश्वर चिंतन में रुचि लेने लगेंगे। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य को अच्छी संगत करनी चाहिए जिससे मनुष्य अच्छे मार्ग पर चल सके।

रामचरितमानस में एक कथा है– काकभुशुण्डि जी जिस स्थान पर रहते थे, वहाँ से काफी दूर तक चारों ओर की जगह अत्यन्त पवित्र हो गयी। यदि कोई व्यक्ति उस क्षेत्र में आ जाए तो उसे माया व्याप्त नहीं होती थी, स्वयमेव राम नाम का उच्चारण करने लगता था क्योंकि वह राम भक्त थे; उनके तप के प्रभाव से वह स्थान इतना पवित्र हो गया था। जिस जगह पर सिद्ध पुरुष रहते हों और सत्संग किया जाता हो, वह जगह पवित्र होती है। सिद्ध पुरुषों का वलय अत्यन्त शुद्ध व विशाल होता है। यदि इनके वलय के पास साधारण रोग वाला रोगी आ जाए तो रोग अपने आप ठीक होने लगेगा। योगी के शक्तिशाली व तेजस्वी

वलय से रोगी के शरीर में शुद्धता आने लगेगी। हो सकता है रोगी रोग-मुक्त हो जाए। आजकल भी यह प्रथा है कि सिद्ध पुरुष, संन्यासी व वैरागी के दर्शनों के लिए मनुष्य बहुत दूर-दूर से आते हैं तथा दर्शन करने का लाभ उठाते हैं। इस युग में ऐसे ही महापुरुषों के बल पर अभी धर्म की उपस्थिति है। अधर्म का साम्राज्य नहीं हो पाया है।

मृत्यु और मृत्यु के बाद

मृत्यु एक ऐसी घटना है जिससे मनुष्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। इस भूलोक का नियम है कि जिसने जन्म लिया उसकी मृत्यु अवश्य होनी है। यह प्रकृति की ओर से निश्चित किया गया है। यदि प्रकृति का ऐसा नियम न होता तो आज सृष्टि का क्या हाल हुआ होता! इसीलिए सृष्टिकर्ता ने ऐसा नियम बनाया है। मृत्यु के नाम से शायद मनुष्य भयभीत हो जाते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद उनका सबकुछ यहीं छूट जाएगा। यह भय सिर्फ उन्हीं मनुष्यों के लिए है जो इस संसार को अपना समझते हैं। सांसारिक पदार्थों से उनका लगाव होता है। इसी लगाव के कारण भय उत्पन्न होता है। जबकि मनुष्य जानता है कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है, फिर भी अज्ञान से उत्पन्न डर महसूस होता है। सच तो यह है कि मृत्यु से किसी को घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि मृत्यु के बाद ही मोक्ष सम्भव है। ईश्वर के लोक में रहने के लिए मनुष्य को इस स्थूल शरीर को छोड़ना ही पड़ेगा। मनुष्य को दुखों से सिर्फ मृत्यु ही छुटकारा दिला सकती है। मृत्यु के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार आगे बढ़ता है। जन्म इस लोक में आने के लिए मजबूर करता है। मृत्यु इस लोक से छुटकारा दे देती है।

साधारण मनुष्य अज्ञानता के कारण मृत्यु की इच्छा नहीं करता है। मगर ज्ञानीजन मृत्यु से नहीं डरते हैं क्योंकि उन्हें मालूम है कि परमात्मा के पास जाने के लिए मृत्यु के बाद ही मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य का शरीर जब अत्यन्त वृद्ध होता है तो उसके शरीर के अंदर की कार्यप्रणाली भी कमज़ोर पड़ जाती है अथवा कुछ अवयव कार्य करना बन्द कर देते हैं। जिससे उसका स्थूल शरीर पूरी तरह ठीक से कार्य करने में सक्षम नहीं होता है। शरीर के अंदर की नाड़ियाँ ठीक प्रकार से क्रियाशील नहीं हो पाती हैं, कुछ तो बेकार सी हो जाती हैं। माँसपेशियाँ भी रक्त संचार ठीक न हो पाने के कारण क्षीण होने लगती हैं। प्राणवायु का सही तरह से संचार नहीं हो पाता है, इसीलिए शरीर की ऊपरी त्वचा सिकुड़ जाती है। मनुष्य वृद्ध दिखने लगता है। जब वृद्धावस्था ज्यादा हो जाती है तो स्थूल शरीर भी कार्य करना बन्द कर देता है। मनुष्य इस अवस्था में घोर कष्ट उठाता है क्योंकि स्वयं कुछ नहीं कर सकता। फिर भी मनुष्य मरना नहीं चाहता, जबकि स्थूल रूप से कष्ट भोग रहा होता है। इसे अज्ञानता नहीं तो और क्या कहेंगे! जब सूक्ष्म शरीर अपना अस्तित्व अपने अंदर समेट लेता है, फिर स्थूल शरीर का त्याग कर देता है। इसी स्थूल शरीर का त्याग करने को मृत्यु कहते हैं। जब स्थूल शरीर बेकार हो गया तो त्याग करना जरूरी हो जाता है। हर मनुष्य अपने वस्त्रों को पुराने होने पर त्याग कर देता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर त्याग कर

देता है। मगर ऐसा भी देखने को मिलता है कि वृद्धावस्था से पूर्व भी मृत्यु हो जाती है, जैसे शिशु अवस्था से लेकर वृद्धावस्था तक किसी भी अवस्था में। इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है, तभी मृत्यु होती है, जैसे– किसी रोग से, शरीर के अंदर के अवयव कार्य न करने से, दुर्घटना से, प्राकृतिक आपदा से आदि। मनुष्य के जीवन में मृत्यु कब आ जाएगी, ऐसा कुछ कहा नहीं जा सकता। सभी मनुष्यों की मृत्यु अलग-अलग समय होती है। मृत्यु का समय निश्चित नहीं है कि मृत्यु कब आ जाएगी। इसका कारण स्वयं मनुष्य का अपना कर्म है। कर्मानुसार ही मृत्यु होती है। कहते हैं– मृत्यु पहले से निश्चित होती है कि मृत्यु कब होगी। मृत्यु के समय मनुष्य को घोर कष्ट होता है, शायद इतना कष्ट उसे पहले कभी नहीं होता। इस कष्ट के विषय में स्वयं मरने वाला महसूस करता है। इसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य की मृत्यु के समय उसके शरीर में स्थित समस्त प्राणवायु का खिंचाव होता है। प्राणवायु के खिंचाव से उसे असहनीय कष्ट झेलना पड़ता है। कष्ट के कारण उसके गले से आवाज नहीं निकलती है। प्राणों के खिंचाव से उसके स्वर रज्जु सही प्रकार से कार्य नहीं कर पाते। वह बोलना चाहता है मगर बोल नहीं पाता है। उसे आँखों से दिखायी देना भी बन्द हो जाता है। सर्वत्र अंधकार दिखायी पड़ता है। उसकी स्थूल आँखें भले ही खुली हों, फिर भी नहीं दिखायी पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वास्तव में यह आँखें सिर्फ देखने का स्थान हैं। देखने का कार्य तो उसके अंदर स्थित सूक्ष्म प्रणाली करती है। यह सूक्ष्म प्रणाली सूक्ष्म शरीर के अंदर होती है, अथवा ऐसे समझो– सूक्ष्म इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म शरीर के अंदर स्थित हैं। यही सूक्ष्म इन्द्रियाँ शरीर के स्थूल इन्द्रियों में व्याप्त रहती हैं। इसीलिए स्थूल इन्द्रियों का कार्य सूक्ष्म इन्द्रियों की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर व्याप्त रहता है। सारा कार्य सूक्ष्म शरीर ही नियंत्रित करता है। अब आप जान गये होंगे कि स्थूल शरीर यंत्र मात्र है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा स्थूल शरीर नियंत्रित किया जाता है। जब सूक्ष्म शरीर अपने अंदर सूक्ष्म तत्त्वों को समेटता है, तब आँखों से दिखायी देना बन्द हो जाता है क्योंकि सूक्ष्म इन्द्रियों का सम्बन्ध स्थूल इन्द्रियों से कटने लगता है। स्थूल इन्द्रियाँ (जैसे आँखें) तो खुली रहती हैं, मगर सूक्ष्म इन्द्रियों से सम्बन्ध कटने के कारण दिखायी नहीं देता। इसीलिए मृत्यु के समय उसे घोर अंधकार दिखता है। लगता है मैं घोर अंधकार में खड़ा हूँ। कानों से सुनाई देना भी बन्द होने लगता है। जो ग्रन्थियाँ सुनने का कार्य करती थीं, सूक्ष्म सम्बन्ध कटने के कारण सुनाई देना बन्द होने लगता है या बन्द हो जाता है, इसलिए वह किसी भी आवाज को ग्रहण नहीं कर पाता। उस समय सूक्ष्म शरीर के द्वारा अपने अस्तित्व को स्थूल से समेटने के कारण नाड़ियों में

खिंचाव होता है क्योंकि प्राणवायु नाड़ियों में भरी होती है। खिंचाव के कारण नाड़ियों में दर्द महसूस होता है। लगता है कोई नसों को खींच रहा है। कुछ समय बाद यह क्रिया धीमी पड़ जाती है जिससे मनुष्य को थोड़ा होश सा आने लगता है। गले से हल्की आवाज़ भी निकलने लगती है। आँखें भी धुंधला-धुंधला देखने लगती हैं। अब अपने सगे-सम्बन्धियों को पहचानने लगता है। उस समय वह बहुत थका-थका सा लगता है। मगर जैसे ही प्राणों के खिंचाव का वेग फिर बढ़ता है तो पहले जैसी ही असहनीय अवस्था आ जाती है, अपने आपको गहन अंधकार में महसूस करता है। प्राणों के खिंचाव के कारण उसे लगता है कि बहुत जोर से आंधी चल रही है। धीरे-धीरे आंधी तूफान का रूप धारण कर लेती है। वह उसी तूफान में उड़ रहा है। घोर अंधकार में तेज वायु के बीच उल्टा-सीधा होता हुआ उड़ता है। उस समय घबराहट के कारण वेदना महसूस करता है। यह वेदना सिर्फ मरने वाला ही महसूस करता है, शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। फिर यह क्रिया धीमी पड़ने लगती है। मनुष्य को होश आने लगता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एक या दो बार में प्राण पूरी तरह से स्थूल शरीर से सम्बन्ध अलग नहीं कर पाता है। इसलिए खिंचाव होता है तथा फिर रुक जाता है। जब रुक जाता है तो होश आने लगता है। जब अपने परिवारजनों को देखता है, तब तृष्णा के कारण मरना नहीं चाहता। मगर उसे मालूम है कि अब मेरी मृत्यु हो जाएगी, तब और कष्ट महसूस करता है। कुछ समय बाद फिर प्राणों का खिंचाव होता है, तब कष्ट के कारण बेहोश हो जाता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म रूप से जब अपने आप को स्थूल शरीर से समेट कर अलग कर लेता है, फिर वह स्थूल शरीर से निकलकर अलग खड़ा हो जाता है। स्थूल शरीर सदैव के लिए निष्क्रिय हो जाता है।

स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद को मृत्यु कहते हैं क्योंकि पंचतत्वों से युक्त स्थूल शरीर अब उपयोगी नहीं रह गया। उसी समय नजदीक खड़ा सूक्ष्म शरीर अपने सगे-सम्बन्धियों और मित्रों को स्थूल शरीर के पास दुःख प्रकट करते देखता है। अपने शुभचिंतकों को दुखी देखकर वह भी दुखी होता है। उस अवस्था में अपने स्वजनों से बात नहीं कर सकता क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर में होता है। स्थूल मनुष्य सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि घोर कष्ट सहने के बाद भी मरने की इच्छा नहीं करते क्योंकि मृत्यु के समय कभी उन्हें होश आता है तो कभी कष्टों के कारण बेहोश हो जाते हैं। होश आने पर जीने की इच्छा करते हैं जबकि उनका शरीर बिल्कुल वृद्ध हो चुका होता है। स्थूल जीवन में उन्हें शरीर कमजोर होने के कारण कष्ट उठाना पड़ता है। अपना एक अनुभव

लिख रहा हूँ– जब मैं मिरज आश्रम में साधना करता था उस समय का यह अनुभव है। शायद यह बात सन् 1992 की होगी। हमारे परिवार में एक महिला (रिश्ते में थोड़ी दूर की) बिल्कुल वृद्ध हो गयी थी। शरीर अत्यन्त कमजोर सिर्फ हड्डियों का ढाँचा था। मृत्यु के समय दो बार बच गयी। थोड़ा सा मृत्यु का कष्ट हुआ। मगर उसे जीने की बड़ी इच्छा थी। वह दृढ़ इच्छा शक्ति के कारण कुछ समय के लिए बच गयी। कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गयी। यह सब मैं मिरज (महाराष्ट्र) से दिव्य दृष्टि के द्वारा देख रहा था। हमने अपने घर (कानपुर, उत्तर प्रदेश) पत्र भेजकर जानकारी हासिल की, तो मालूम हुआ बात सही थी। फिर मैंने अपने योगबल पर मृत्यु को प्राप्त होते हुए मनुष्यों को देखना शुरू किया कि मृत्यु के समय कैसी अनुभूति होती है तो पाया कि मृत्यु अत्यन्त डरावनी व कष्टदायक होती है।

मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसके निकट सम्बन्धी ही उसके स्थूल शरीर को शीघ्र से शीघ्र शमशान भूमि पर ले जाने की तैयारी में जुट जाते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है– जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन परिवार के भरण-पोषण में व्यतीत कर दिया, अब मृत्यु के पश्चात् उसे देखना पसन्द नहीं करते हैं। कारण साफ है, उसकी मृत्यु हो गयी है। इस प्रकार की घटना सभी व्यक्तियों के साथ घटती है। मृत्यु के बाद कोई किसी का नहीं होता है। फिर भी सारा जीवन मनुष्य अज्ञानतावश अपने परिवार के लिए और अपने लिए, हर तरह के कर्म करने में झिझकता नहीं है। हमारे कहने का मतलब हर आदमी जानता है कि इस संसार में कोई अपना नहीं है, सिर्फ कर्म ही उसका साथ देगा। फिर भी जान-बूझकर परिवार वालों के प्रति सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिए उल्टे-सीधे कार्यों में लगे रहते हैं। मृतक के कई शुभचिन्तक या निकट सम्बन्धी श्मशान भूमि पर जाकर उसकी चिता लगाकर अग्नि देते हैं। उस समय सभी उपस्थित व्यक्तियों के अन्दर वैराग्य आ जाता है कि संसार में कोई अपना नहीं है, मगर फिर घर आकर पहले जैसे हो जाते हैं। सभी मनुष्यों को शिक्षा लेनी चाहिए कि यह संसार कैसा है! इस प्रकार की मृत्यु साधारण व्यक्तियों की होती है।

जिन बच्चों की मृत्यु एकदम अल्पायु में हो जाती है, उन्हें यह जगत स्वप्न सा प्रतीत होता है। क्योंकि अभी उनके अन्दर अपने-पराये आदि का भाव ही नहीं आ पाया था। जिन व्यक्तियों की मृत्यु एकदम शीघ्र हो जाती है – जैसे दुर्घटना, आत्महत्या या प्राकृतिक आपदा से – उन्हें इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती। रोगी को भी इस प्रकार की अनुभूति हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है। यह

तो उसके रोग से निश्चित होगा क्योंकि कुछ रोगी मृत्यु के समय काफी देर तक तड़पते हैं, कुछ शीघ्र मर जाते हैं, जैसे हृदय गति रूक जाने से शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

योगियों को मृत्यु के समय दुख नहीं उठाना पड़ता है तथा उनके अन्दर यह भी क्षमता होती है कि मृत्यु को कुछ समय के लिए टाल दें। यदि योगी अत्यन्त उच्च स्थिति को प्राप्त कर चुका है तो फिर उसे मृत्यु साधारण सी घटना दिखायी देती है क्योंकि उसे यह ज्ञान होता है कि उसे उच्च लोक में जाना है, वह इस मृत्यु लोक में और क्यों जीवन व्यतीत करे। साधारण मनुष्यों को मृत्यु के समय प्राण के खिंचाव के कारण असहनीय कष्ट महसूस होता है। मगर योगी का तो यह रोज का अभ्यास है। वह अपनी प्राणवायु को एक जगह पर स्थिर करता है, फिर उस प्राण को ब्रह्मरंध्र के अन्दर प्रवेश करा लेता है। इस प्रकार सारे शरीर का प्राण ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो जाता है। यह अभ्यास वह कई वर्षों तक समाधि अवस्था में करता है। मृत्यु के समय योगी अपना सूक्ष्म शरीर ब्रह्मरंध्र के द्वारा बाहर निकालता है, जिससे वह ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है। मगर साधारण मनुष्य का सूक्ष्म शरीर अधोगति से बाहर निकलता है। फिर उसके कर्म निश्चित करते हैं कि अब उसे कहाँ जाना है। योगी पुरुष की मृत्यु किस प्रकार होती है, यह अभी मुझे ठीक से मालूम नहीं है। यह तो मालूम है कि ब्रह्मरंध्र में प्राण स्थिर करके फिर शरीर का त्याग करते हैं। वैसे योगी समाधि अवस्था में बाहर निकलता है, मगर उस समय वह पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकलता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से सूक्ष्म रूप से तारतम्य बना रहता है। मृत्यु के समय शरीर से पूर्ण रूप से बाहर निकल जाता है। मुझे याद आ रहा है कि मिरज में एक अनुभव हुआ था। वह अनुभव ब्रह्मरंध्र का था। मैं एक ऐसे स्थान को देख रहा था जो काँच के समान पारदर्शी था। उसी समय मैं कहता हूँ– योगी अपना शरीर छोड़ते समय इसी स्थान से बाहर निकल जाते हैं।

योगी और साधारण मनुष्य अपना स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अपने-अपने अलग-अलग मार्ग से जाते हैं क्योंकि दोनों का अलग-अलग गन्तव्य होता है। योगी पुरुष अपना सूक्ष्म शरीर छोड़ने के बाद अपनी योग्यतानुसार ऊपर के लोकों में जाता है। साधारण परुषों की मृत्यु के पश्चात् भी तृष्णा और अज्ञानता के कारण, उनकी इच्छाएँ अब भी अपने परिवार व स्वजनों के प्रति बनी रहती हैं। इन इच्छाओं को वासना भी कहते हैं। इन वासनाओं के कारण ऐसी जीवात्माओं को कष्ट महसूस होता है। इसलिए ये वासना देह में चली जाती हैं। वासना देह में ये जीवात्माएँ अतृप्त रूप से पृथ्वी की परिधि में भटकती रहती

हैं। सूक्ष्म शरीर के ऊपर वासना देह की एक बहुत पतली पारदर्शी झिल्ली-सी चढ़ जाती है। इस देह को प्राप्त करने वाली जीवात्माएँ कष्ट भोगती रहती हैं क्योंकि इनकी अब भी इच्छाएँ चलती रहती हैं। जब तक इच्छा की पूर्ति नहीं होती, तब तक भटकती रहती हैं। वैसे ये जीवात्माएँ अपना सम्बन्ध घरवालों से बनाने का प्रयास करती हैं, मगर सूक्ष्म शरीर में होने के कारण स्थूल शरीर धारी से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। साधारण लोगों की योग्यता नहीं होती कि वे सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध महसूस कर सकें। ये अतृप्त जीवात्माएँ ज्यादातर भोजन व पानी की इच्छा व्यक्त करती हैं। किसी योग्य साधक के पास जाकर अपनी इच्छा जाहिर करती हैं। साधक के अन्दर योग्यता होती है कि वह सूक्ष्म शरीर वाली जीवात्माओं का संकेत समझ सकें अथवा उनसे बात कर सकें। यदि किसी साधक या योगी ने उन्हें तृप्त कर दिया तो इच्छापूर्ति होते ही उनकी वासना समाप्त हो जाती है और वे ऊर्ध्व लोक में अपना कर्म भोगने के लिए चली जाती हैं। अथवा योगी चाहे तो अपने योगबल से इन जीवात्माओं को ऊर्ध्व कर सकता है। यदि एक बार आपने यह कार्य कर दिया तो आपके पास ढेरों अतृप्त जीवात्माएँ आकर कतार लगाएंगी और ऊर्ध्व करने की इच्छा व्यक्त करेंगी। फिर आप इसी कार्य में व्यस्त हो जाएँगे, आपके योग मार्ग में अवरोध आ जाएगा। इससे अच्छा है कि आप इस कार्य में न लगें। उन्हें प्यार से समझा दें तो फिर जीवात्माएँ वापस चली जाएँगी। उन्हें अपना कर्म भोगने दें, ऐसी जीवात्माओं का यह अपना कर्म होता है। जिन जीवात्माओं की बहुत दिनों तक इच्छापूर्ति नहीं होती, फिर वे निराश हो जाती हैं। इनकी इच्छा चलनी बन्द हो जाती है। वे स्वयं फिर ऊर्ध्व हो जाती हैं। इस वासना देह की उम्र थोड़ी भी होती है और बहुत ज्यादा भी होती है। मैंने अपने जीवन में ढेरों जीवात्माओं से सम्बन्ध किया तथा बातचीत की तो पाया कि सौ वर्ष से भी ज्यादा समय से अतृप्त रूप से भटक रही हैं। सभी जीवात्माएँ अपनी जीवन कहानी बताती थीं। मैंने योगबल पर कई जीवात्माओं को ऊर्ध्व भी किया है।

ये अतृप्त जीवात्माएँ अपनी इच्छा से कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकतीं, जब तक इन्हें योग्य साधक द्वारा दिया न जाए। छोटे बच्चे मरने के बाद इस वासना देह में नहीं जाते हैं, क्योंकि उनके अन्दर अभी तृष्णा नहीं जाग्रत हुई है। कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जो मात्र कुछ दिनों या महीनों के लिए इस देह में जाते हैं। जो सात्विक विचार के होते हैं, उनमें से कुछ तो वासना देह में चले जाते हैं और कुछ मात्र कुछ समय के लिए जाते हैं। जिनकी अकाल मृत्यु होती है, आत्महत्या कर लेते हैं अथवा प्रकृति के प्रकोप से मरते हैं, वे अवश्य वासनादेह में जाते हैं क्योंकि इनकी उम्र अभी पूरी नहीं हुई होती है। ये वासना देहधारी पृथ्वी की

परिधि में रहते हैं, ऊर्ध्व नहीं हो सकते हैं। इन जीवात्माओं की इच्छाएँ तो चलती हैं, मगर इच्छाओं के भोग के लिए स्थूल शरीर चाहिए। चूँकि, यह शरीर उनके पास नहीं होता, इस कारण इन्हें केवल मानसिक कष्ट होता है। यह कष्ट स्थूल अवस्था के कष्ट से ज्यादा होता है।

कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि कुछ अतृप्त जीवात्माएँ अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं, लेकिन उस व्यक्ति को मालूम नहीं पड़ता। कभी-कभी मालूम पड़ता है तो उसे अपने शरीर में कष्ट महसूस होता है। ऐसी जीवात्माएँ उन्हीं व्यक्तियों के शरीर में प्रवेश करेंगी जो नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं, इच्छाशक्ति कमजोर होती है, अधिक आलस्य रहता है, अपवित्र रहते हैं तथा जिनके शरीर में जड़ता अधिक होती है। प्रवेश करने के बाद ये अपनी इच्छाएँ उस व्यक्ति के शरीर द्वारा भोगकर तृप्त करती हैं, फिर उस व्यक्ति के शरीर से निकल जाती हैं। मैंने अपने अनुभव में लिखा है कि ऐसी ही एक अतृप्त जीवात्मा एक साधिका के शरीर से निकाली थी। पहले जब इस जीवात्मा ने हमसे बदतमीजी की, उस समय मैं कुछ न बोला। फिर उस साधिका को हमारे पास रहने का अवसर मिला। हमने कई लोगों के सामने जबरदस्ती उस अतृप्त जीवात्मा को बाहर कर दिया। चलते समय हमने पूछा– "आपको क्या चाहिए, शायद मैं आपकी इच्छा पूर्ति कर दूँ?" मगर उसने हमसे व साधिका से हाथ जोड़कर माफी माँगी, अपनी गलती महसूस की और हमेशा के लिए चली गयी।

कुछ समझदार जीवात्माओं को समझ आ जाता है कि हमारी मुक्ति योगी कर सकता है। तब ये जीवात्माएँ योगी या साधक से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करती हैं। फिर अपनी बात योगी अथवा साधक से कहती हैं। अब यह योगी या साधक के ऊपर है कि वह ऊर्ध्व करे अथवा न करे। आप सोचते होंगे कि ये जीवात्माएँ कैसे जान जाती हैं कि अमुक व्यक्ति योगी या साधक है। ये जीवात्माएँ ज्ञान के द्वारा जान लेती हैं अथवा योगी का वलय देखकर जान जाती हैं कि यह योगी है। योगी का वलय अत्यन्त तेजस्वी व शक्तिशाली होता है। ये जीवात्माएँ इच्छा करते ही पृथ्वी के किसी भी स्थान पर क्षण भर में पहुँच जाती हैं। ऐसी जीवात्माएँ पृथ्वी तथा अंतरिक्ष में एक निश्चित ऊँचाई तक इच्छानुसार विचरण कर सकती हैं। कभी-कभी अंतरिक्ष की एक निश्चित ऊँचाई तक इच्छानुसार विचरण करती हैं। ऐसी जीवात्माएँ ज्यादातर उस स्थान पर रहती हैं जहाँ उनकी मृत्यु होती है। कभी-कभी ऐसी जीवात्माएँ एक झुण्ड बनाकर भी रहती हैं। इनका आपस में मेल भी रहता है। ऐसी जीवात्माएँ उच्चकोटि के योगियों से सम्बन्ध स्थापित

नहीं करती हैं क्योंकि योगी का वलय अत्यन्त तेज होता है और शरीर के अन्दर शुद्धता भी अधिक होती है। उच्चावस्था के कारण योगी का सम्बन्ध कारण जगत से रहता है। सूक्ष्म जगत से परे कारण जगत है। इसी कारण ऐसी जीवात्माएँ योगी से सम्बन्ध नहीं बना पातीं। यदि कोई साधक ऐसी जीवात्माओं से कार्य ले तो वह अपनी योग्यतानुसार कार्य भी कर देती हैं, मगर साधक को ऐसा नहीं करना चाहिए।

मैंने अपनी जानकारी से पाया कि ऐसी जीवात्माएँ कभी-कभी आपस में झगड़ा भी करती हैं। झगड़ा करने से इनके पुण्य क्षीण होते हैं और इनकी अवधि वासना देह में और बढ़ जाती हैं। कुछ जीवात्माएँ बिल्कुल चुपचाप रहती हैं। जब मैंने कुछ जीवात्माओं से कहा– "आपके पास कोई कार्य नहीं होता है तथा परेशानी भी महसूस करती हैं। अतः आप ईश्वर का नाम लीजिए तथा आप मंत्र जाप कीजिए, आपका उद्धार होगा।" उन्होंने बताया– "ईश्वर का नाम लेने के लिए हमारी इच्छा नहीं होती।" मैं बोला– "यदि आप कुछ समय तक 'ॐ नमः शिवाय' का जाप करें तो मैं आपको ऊर्ध्व कर दूँगा।" एक जीवात्मा बोली– "मैं ईश्वर का नाम नहीं लूँगी, चाहे आप ऊर्ध्व करें अथवा न करें। हम अपनी इच्छा के वश में हैं, इसलिए नाम नहीं ले सकते। यदि नाम ले लेते तो आपके पास क्यों आते। कृपया आप ऐसी शर्त न रखें, आप योगी हैं।" मैंने अपने बचपन के एक दोस्त को ऊर्ध्व किया था, उसने किसी कारण से आत्महत्या कर ली थी। तथा एक लड़की को भी ऊर्ध्व किया था, वह हमारे गाँव की थी, 18-20 वर्ष की थी। घरवालों ने उसकी हत्या कर दी थी। पहले मैंने अपने मित्र को ऊर्ध्व किया। ऊर्ध्व करने का दिन निश्चित कर दिया था। पहले मैंने उन्हें अच्छा भोजन कराया। फिर अपने योगबल पर भुवर्लोक भेज दिया था। जाते समय देखा कि वह बड़ी तीव्रता से ऊपर जाने लगे क्योंकि मैंने ढेर सारा योगबल लगा दिया था। ऊपर जाते समय काले रंग के घने बादल मिले। उन्हीं बादलों के अंदर से प्रवेश करके भुवर्लोक के द्वार पर पहुँचे। द्वार खुल गया, फिर अन्दर गए। आगे चलकर फिर द्वार मिला, उसके अन्दर चले गये। द्वार अपने आप खुल जाता था और बन्द हो जाता था। फिर अन्दर जाकर एक स्थान पर बैठ गये। मैं बोला– "मित्र, आगे बढ़ो।" उसी समय प्रकृति देवी प्रकट हो गयीं और बोलीं– "योगी, अब यह जीवात्मा आगे नहीं जा सकती।" फिर देवी अदृश्य हो गयीं। यही घटना उस लड़की के साथ भी घटी। यह दृश्य दिव्य दृष्टि द्वारा देखा गया। रास्ते में जो घने काले बादल मिले, वह पृथ्वी और भुवर्लोक की सीमा है। अतृप्त जीवात्माएँ इस सीमा को पार नहीं कर सकतीं।

अतृप्त जीवात्माएँ पृथ्वी की परिधि में जब भटक-भटककर परेशान हो जाती हैं तो अपने आप उनकी समझ में आ जाता है कि ऊर्ध्व होकर अपना कर्म भोग लें, तभी जन्म सम्भव है। इसलिए ऊर्ध्व होने की इच्छा करती हैं। शायद मैं अतृप्त जीवात्माओं पर ज्यादा लिख गया, अब थोड़ा आगे लिखूँगा। जब जीवात्मा ऊर्ध्व होकर ऊपर जाती है तो भुवर्लोक में पहुँचती है। भुवर्लोक में एक ऐसा स्थान है जहाँ कर्मों का निर्णय होता है। कर्मों के अनुसार फिर निश्चित अवधि तक विभिन्न प्रकार के नरकों में कष्ट भोगते हैं। ये कष्ट बहुत ही भयंकर होते हैं, इनका मैं वर्णन नहीं करना चाहता हूँ। जब जीवात्मा निश्चित मात्रा में अपने कर्म भोग लेती है, उसके बाद फिर यदि उसके अन्दर पुण्य कर्मों के कर्माशय हैं, तो वह जीवात्मा पितर लोक भेज दी जाती है अथवा चली जाती है। पितर लोक सुख का स्थान है। यदि जीवात्मा के पुण्य कर्म भोगने वाले कर्माशय नहीं हैं तो जन्म लेने के लिए पृथ्वी पर भेज दी जाती है। जन्म कहाँ लेना है, यह स्वयं जीवात्मा जान लेती है। नरक में कर्म निश्चित मात्रा में भोगे जाते हैं ताकि कर्माशय शेष भी रहें। यदि सभी कर्म वहाँ नष्ट कर दिये जाएँगे तो जन्म लेना मुश्किल हो जाएगा। कर्म भोगने के बाद निश्चित होता है कि अब जीवात्मा को किस योनि में जन्म लेना है। यदि मनुष्य योनि में जन्म लेना है तो अपने मूल रूप में (सूक्ष्म शरीर) बना रहेगा। यदि अन्य योनि में जन्म लेना है तो भुवर्लोक से अपने आप पतन हो जाएगा। बुद्धि भी अत्यन्त जड़ हो जाएगी। अपना सब कुछ भूल जाएगी। फिर पृथ्वी पर जन्म लेने के स्थान पर स्वयमेव आ जाएगी। भुवर्लोक से जो जीवात्माएँ सीधे मृत्युलोक (पृथ्वी) पर जन्म लेने के लिए आती हैं, उनके कार्य निश्चय ही पाप से युक्त होते हैं। ऐसी जीवात्माओं के अन्तःकरण पर पाप कर्मों के कारण मलिनता व अंधकार का आवरण अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, जिससे उन्हें मनुष्य शरीर धारण करने के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता है। अपने अन्तःकरण पर स्थित पाप कर्मों को कम करने के लिए मनुष्य से निम्न जाति के शरीर में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, जैसे पशु, पक्षी, रेंगने वाले प्राणी व जलीय प्राणी, कीड़े मकोड़े तथा पेड़-पौधे आदि। सबसे अधिक निम्नकोटि के कर्म वाले जीवात्मा को पेड़-पौधों के रूप में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ये सभी भोग योनियाँ है। इसमें सिर्फ तमोगुणी कर्म भोग कर नष्ट करना होता है। ऐसी जीवात्माओं को अपने जीवनकाल में कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है। अपना नया कर्म नहीं बना सकती है। इस प्रकार की जीवात्माएँ किसी भी प्रकार से अपना उद्धार करने के लिए अच्छा कर्म नहीं कर सकतीं। इसीलिए इन्हें निम्नकोटि की जीवात्माएँ कहा जाता है। सिर्फ अपने कर्माशयों को भोगकर नष्ट कर सकती हैं। जन्म लेने के लिए जब भुवर्लोक से भूलोक के लिए आना होता है, वहाँ स्वयं पहुँच जाती हैं।

ऐसा कर्माशयों के द्वारा होता है। उनका अन्तःकरण पाप कर्मों से आच्छादित होने के कारण मूढ़ावस्था को प्राप्त हो जाता है। इसलिए इस अवस्था में बुद्धि की सोचने-समझने की क्षमता लुप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में चाहे सुअर, कुत्ता, बैल, भैंस, शेर, सियार, पक्षी, पेड़ आदि शरीर धारण करना पड़े तो उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उसे ऐसा शरीर क्यों मिला, यह भी उनके सोचने का विषय नहीं होता है।

जो जीवात्मा पुण्य भोगने के लिए पितर लोक चली जाती हैं, उन्हें सुख ही सुख मिलता है। पितर लोक सुख का स्थान है। जीवात्माएँ स्वतन्त्र विचरण करती हैं। वहाँ भूख है न प्यास, न किसी प्रकार की चिंताएँ हैं। अपने पुण्य के अनुसार जीवात्माएँ यहाँ पर सुख भोगा करती हैं। इस लोक में कितने समय तक रुकना है, यह निर्णय स्वयं जीवात्मा का कर्म करता है। जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तब जीवात्मा के जन्म का समय आ जाता है। पितर लोक से पतन हो जाता है, मृत्युलोक पर जन्म के लिए आ जाती है। यह पितर लोक स्वर्ग के समकक्ष है। मगर ये जीवात्माएँ स्वर्गलोक में प्रवेश नहीं कर सकतीं क्योंकि इनका पुण्य इतना नहीं होता कि स्वर्गलोक जा सकें। स्वर्गलोक और पितर लोक एक ही स्थान के दो भाग हैं। स्वर्ग में देवता आदि रहते हैं। पितर लोक में स्वच्छ सफेद रंग का प्रकाश रहता है। यदि पृथ्वी लोक से श्राद्ध के द्वारा किसी जीवात्मा के वंशज कुछ भेजते हैं, तो जीवात्मा को लाभ होता है तथा वह जीवात्मा कुछ दिन और उस लोक में रुकी रहती है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि सभी श्राद्ध पितरों को (पितर लोक वासी) नहीं मिलता है। सिर्फ वही श्राद्ध मिलता है, जिस श्राद्ध को आध्यात्मिक शक्ति-सप्पन्न पुरुष भेजते हैं, क्योंकि उन्हीं के अन्दर यह सामर्थ्य होता है कि श्राद्ध का सूक्ष्म भाग पितर लोक तक भेज सकें। जैसा कि आजकल प्रचलित है, श्राद्ध के समय ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। क्या वे ब्राह्मण आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न होते हैं? यदि हैं तो आपका श्राद्ध कराना सफल हो जाता है। यदि सिर्फ नाम के या जाति के ब्राह्मण हैं तो श्राद्ध कराने का क्या लाभ? वे कैसे पहुँचाएँगे पितर लोक में आपके पितरों को भोजन? आजकल ज्यादातर ब्राह्मण सिर्फ जाति से हैं, कर्म से नहीं। इससे अच्छा है कि यदि आप किसी भी आध्यात्मिक शक्तिशाली पुरुष को भोजन कराएं तो वह आपका श्राद्ध पितर लोक तक पहुँचा देगा।

जब पितर लोक की जीवात्मा और भुवर्लोक की जीवात्मा पृथ्वी पर जन्म लेने को आती है, तो अपने निश्चित स्थान पर स्वयमेव आ जाती है। यह स्थान प्रकृति देवी जीवात्मा के कर्मानुसार निश्चित

करती है। जीवात्माओं को कर्मानुसार ही माता-पिता मिलते हैं। जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश से पहले, माता से आज्ञा मांगती है कि मैं आपके गर्भ से जन्म लेना चाहता हूँ। माता का सूक्ष्म शरीर आज्ञा दे देता है, तभी जीवात्मा गर्भ में प्रवेश करती है। आज्ञा के बिना जीवात्मा गर्भ में प्रवेश नहीं कर सकती। स्थूल रूप से माताओं को मालूम नहीं होता कि उनसे किसी ने गर्भ प्रवेश में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी थी। यदि माता साधिका है और उसकी इतनी योग्यता है कि सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध कर सके, तो माता को अवश्य मालूम हो जाएगा कि हमसे जीवात्मा ने आज्ञा माँगी है। इस अवस्था में माता जीवात्मा से ज्यादा बात कर सकती है। यदि माता अध्यात्म में अत्यन्त उच्च अवस्था रखती है, तो अपने गर्भ स्थित शिशु से भी सम्पर्क करके बात कर सकती है। हाँ, यह तर्क अब प्रस्तुत किया जा सकता है कि क्या अत्यन्त उच्चकोटि की साधिका माता बनना पसन्द करेगी। इसका जवाब मैं नहीं दे सकता, सिर्फ साधिका ही दे सकती है। इस अवस्था में यह भी निश्चित है कि माता द्वारा जन्मा शिशु योगी बनेगा क्योंकि वही जीवात्मा गर्भ में आएगी जो जीवात्मा पहले से ही योगी होगी।

जैसे ही जीवात्मा गर्भ में प्रवेश करती है, उसी समय अपना सबकुछ भूल जाती है। उस पर माया का प्रभाव हो जाता है, जीवात्मा सुषुप्तावस्था में चली जाती है। वह अवस्था उसकी निद्रा जैसी होती है। कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा को माता-पिता मिलते हैं। पैदा होने के बाद शिशु अपने माता-पिता की परिस्थितियों के अनुसार सुख-दुख का अनुभव करता है। कुछ जीवात्माएँ गर्भावस्था में भी स्वप्न देखती हैं। ऐसी जीवात्माओं में रजोगुण अधिक होता है। कुछ जीवात्माएँ बिल्कुल स्वप्न नहीं देखती हैं। निद्रा जैसी अवस्था में पड़ी रहती हैं। ऐसी जीवात्माओं में तमोगुण अधिक होता है तथा पाप युक्त कर्म भी ज्यादा होते हैं। यह सब कुछ मैंने अपने योग के अनुभवों के आधार पर अति संक्षेप में लिखा है। हो सकता है किसी योगी या साधक को कुछ अन्य तरह के अनुभव आयें तथा शास्त्रों में कुछ अन्य तरह का वर्णन किया गया होगा।

अब मैं अपने अनुभव के आधार पर योगियों के विषय में थोड़ा लिखता हूँ। योगियों के विषय में लिखना थोड़ा मुश्किल काम है। कारण यह है कि योगी अपनी योग्यतानुसार अलग-अलग लोकों में अलग-अलग स्तर पर पहुँचता है। पहले साधकों के विषय में, जो साधक सिर्फ थोड़ी सी साधना करके मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, उन्हें योगबल पर कोई खास स्थान नहीं मिलता, और इस विषय में हमारा विशेष

अनुभव भी नहीं है। हमारे एक गुरु-भाई थे। उनकी साधना ज्यादा नहीं थी। वह बुजुर्ग थे। उनकी जब मृत्यु हुई तो उन्हें भुवर्लोक जाना पड़ा था। कुछ समय तक भुवर्लोक रहे फिर पितरलोक में आ गये। हमारा सम्बन्ध उनसे पितरलोक से हुआ था। उस समय उन्होंने स्वयं बताया कि मैं भुवर्लोक में रह चुका हूँ, जबकि इनकी कुण्डलिनी नाभि तक जाग्रत होकर आ गयी थी। जिन साधकों के कण्ठ चक्र खुल जाते हैं और सविकल्प समाधि लगाते हैं, उन्हें जनलोक की प्राप्ति हो जाती है। फिर वहीं पर समाधि लगाते हैं और एक निश्चित समय तक रहते हैं। जैसे ही कर्मों के कारण जन्म का समय आ जाता है, तब उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ता है। जन्म के बाद एक निश्चित अवस्था में वह योग का अभ्यास करना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार के योगियों को भुवर्लोक होकर ऊपर जाना पड़ता है क्योंकि भुवर्लोक में इनके कर्मों का लेखा-जोखा होता है। इस प्रकार के योगियों को दण्ड भी हल्का-सा मिलता है। पापयुक्त कर्म इनके चित्त में कुछ मात्रा में रहते हैं। जो योगी निर्विकल्प समाधि का अभ्यास काफी समय तक कर लेते हैं, उनके कर्माशय भी कम रह जाते हैं। मृत्यु के पश्चात् भुवर्लोक होते हुए तपलोक चले जाते हैं। भुवर्लोक जाने को ऐसे योगियों के लिए कर्म बाध्य नहीं करता है। मगर प्रकृति के नियमों के अनुसार जाना पड़ेगा; वैसे भी भुवर्लोक मार्ग में पड़ता है। ऐसे योगी दंडित नहीं होते हैं क्योंकि शेष कर्माशय बिल्कुल कम रह जाता हैं, तथा योगियों की अवस्था भी उच्च होती है। इन्हीं शेष कर्माशयों के कारण योगियों को जन्म लेना पड़ता है। प्रकृति की इच्छा रहती है, युग के अनुसार पृथ्वी पर योगियों को जन्म लेना आवश्यक है। इस प्रकार के योगियों की समाधि तपलोक में काफी समय तक लगी रहती है अथवा योगी अपनी इच्छानुसार कहीं भी विचरण कर सकते हैं। मगर विचरण करते समय योगियों का योगबल थोड़ा सा क्षीण होता है क्योंकि योगबल पर ही विचरण करते हैं। यदि इस प्रकार के योगी ब्रह्मलोक में जाएँगे, तो इनका योगबल ज्यादा मात्रा में क्षीण होगा। इनके सूक्ष्म शरीर का औसत घनत्व बहुत कम होता है। तपलोक की अपेक्षा से इन्हें अपने शरीर का भी घनत्व बदलना पड़ेगा, तभी उस लोक में जा सकते हैं। जब अपने शरीर का घनत्व बदलकर ऊपर के लोक में विचरण करेंगे, तो निश्चय ही ज्यादा मात्रा में योगबल क्षीण होगा। इससे पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए अपने निश्चित समय से पहले आना पड़ेगा। वैसे इस लोक में इच्छाएँ बहुत कम चलती हैं, सिर्फ अध्यात्म से सम्बन्धित इच्छाएँ चलती हैं। सारा कार्य अपनी दिव्य दृष्टि से कर लेते हैं तथा समाधि में लगे रहते हैं। तपलोक के मध्य स्तर पर योगियों की योग्यता काफी ज्यादा होती है। इस लोक के उच्च स्तर पर स्थित योगी अत्यन्त उच्च श्रेणी के होते हैं। इस लोक के रहने वाले योगियों को कभी न कभी जन्म लेना

पड़ेगा। कुछ योगी ब्रह्मलोक में भी रहते हैं। ब्रह्मलोक में योगियों के रहने के लिए सिर्फ निचला स्तर है, अर्थात मध्य से नीचे। मध्य से ऊपर योगियों के लिए स्थान नहीं है और न योगी जाएगा। ऊपरी स्तर पर भगवान ब्रह्मा, गंधर्व व किन्नर आदि रहते हैं। वहाँ पर विशेष प्रकार की जगह है। कभी-कभी ब्रह्मलोक के योगी तपलोक में आ जाते हैं क्योंकि ब्रह्मलोक की ध्वनि उनकी समाधि में बाधा का कार्य करती है। समाधि के लिए तपलोक सबसे अच्छा लोक है। मैंने अभी स्तर शब्द का प्रयोग किया। स्तर का अर्थ है, हर लोक में लोक के शुरुआत से अन्त तक घनत्व बदलता रहता है। यदि घनत्व न बदले तो सारे लोक एक समान रहेंगे। घनत्व बदलते रहने पर एक निश्चित सीमा पर कम घनत्व होने पर दूसरा लोक शुरू हो जाता है। इसलिए एक ही लोक में थोडी-थोड़ी दूरी पर घनत्व बदलने लगता है। जैसे-जैसे लोक में आगे बढ़ेंगे घनत्व कम होने लगेगा। इसी घनत्व के बदलने को स्तर कहते हैं। योगी की अवस्था के अनुसार उसके सूक्ष्म शरीर का जो घनत्व होता है, उसके सूक्ष्म शरीर के घनत्व के अनुसार ही उसे लोक में स्तर मिलता है। सूक्ष्म शरीर का घनत्व व लोक में जिस जगह पर उसके घनत्व से मेल करता है, योगी को वही पर जगह मिलती है।

कुछ योगी क्षीरसागर (वैकुण्ठ) व शिवलोक में भी रहते हैं। ये योगी अत्यन्त उच्च अवस्था के होते हैं। इनके चित्त में किसी प्रकार के कर्माशय नहीं रहते हैं। इनका शरीर आकाश तत्त्व की प्रधानता से बना होता है क्योंकि ये लोक महाकारण जगत में आते हैं। ऐसे योगियों के शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं तथा देखने पर पारदर्शी दिखते हैं। योग के माध्यम से ये शीघ्र नहीं दिखायी देते। जब तक ये योगी स्वयं इच्छा न करें, कोई इन्हें देख नहीं सकता। आदि काल के योगी इसी लोक और इसी अवस्था में रहते हैं। ऐसे योगी कभी भी जन्म धारण नहीं करते हैं। अनन्त काल तक समाधि में लीन रहते हैं क्योंकि ये योगी ब्रह्मज्ञानी होते हैं। यदि आप मेरे अनुभवों को पढ़ें तो एक अनुभव मैंने लिखा हुआ है, वह अनुभव शिवलोक का है। मैं हिम शिखर पर पहुँचा। वहाँ पर सप्तऋषि मिले थे। मैं सप्तऋषियों के सामने बैठा था। सप्तऋषियों में माता अरूंधती भी थी। मेरे साथ उस समय माता कुण्डलिनी भी थीं। उन ऋषियों के शरीर पारदर्शी थे। योगियों के लिए सबसे उच्च स्थान शिवलोक ही है। शास्त्रों के अनुसार इससे ऊपर के लोक को गोलोक कहते हैं। गोलोक भगवान श्रीकृष्ण व ब्रह्माण्ड जननी माता राधा का लोक है तथा अन्य गोप व गोपियाँ वहीं पर रहते हैं। ये तीनों लोक पराप्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। इन लोकों में सिर्फ तत्त्वज्ञान से युक्त योगी रहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि तपलोक में भी योगी समाधि लगाये रहते हैं। पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए कैसे जान जाते हैं कि उन्हें अब पृथ्वी पर जन्म लेना है। एक– उन्हें समाधि अवस्था में ज्ञान के द्वारा मालूम हो जाता है। दो– समाधि अवस्था में उनके अन्तःकरण में ध्वनि सुनाई देती है अथवा कभी-कभी स्वयं प्रकृति देवी उन्हें समाधि अवस्था में बता देती है कि उसके जन्म लेने का समय आ गया है, क्योंकि उच्च श्रेणी के योगियों की विशेष प्रकार की व्यवस्था प्रकृति देवी पहले से ही कर देती है। पृथ्वी पर कितने योगियों की आवश्यकता है तथा पृथ्वी पर धर्म-अधर्म का कितना अनुपात होना चाहिए, इसका निर्णय भगवान धर्मराज जी करते हैं। भगवान धर्मराज ब्रह्मा जी को इशारा करते हैं। ब्रह्मा जी के द्वारा प्रकृति देवी को मालूम होता है, फिर वे व्यवस्था करती हैं। जिन्हें जन्म लेना होता है, वही योगी पृथ्वी पर भेजे जाते हैं। ऐसा योगी धर्म का प्रचार करता है जिससे पृथ्वी पर धर्म बढ़ता है। जब अधर्म की मात्रा ज्यादा बढ़ जाती है, तब तत्त्वज्ञानी योगी पराप्रकृति से जन्म ग्रहण करने आ जाता है, ऐसे जन्म ग्रहण करने वाले योगी को अवतार कहा जाता है। फिर वह अधर्म का विनाश करके धर्म की स्थापना करता है।

योगी साधारण मनुष्यों की भाँति जन्म नहीं लेता है। योगियों की व्यवस्था स्वयं प्रकृति देवी करती है। अगर योगी चाहे तो स्वयं अपनी इच्छानुसार पृथ्वी पर अपनी माता का चुनाव कर सकता है कि उसे किस के गर्भ से जन्म लेना है। वह तपलोक से ही पृथ्वी का सारा हाल जान लेता है। प्रकृति देवी के कहने पर अथवा स्वयं अपने निर्णय से जन्म ग्रहण करने के लिए अपनी इच्छानुसार गर्भ का निर्णय करता है। ज्यादातर योगी ऐसी माता का चुनाव करते हैं कि बचपन में किसी कारण या परेशानी से योग मार्ग में आ जाएँ ताकि योग का अभ्यास शीघ्र शुरू हो जाए। कुछ योगी सम्पन्न परिवार में भी जन्म लेते हैं। फिर अपने संस्कार के बल पर मोक्ष मार्ग पर आ जाते हैं तथा स्थूल सम्पन्नता का त्याग कर देते हैं। यदि मैं अपने विषय में लिखूँ तो यह सत्य है कि मैंने भी अपने माता-पिता का चुनाव प्रकृति देवी की सहायता से किया था, क्योंकि हमारे शेष कर्माशयों की समाप्ति हमारे पिताश्री ही कर सकते थे। इसीलिए पूर्व में हमारी हर तरह की दुर्गति हो रही थी, जिसके कारण समाज हम पर हँसता था। मगर मैं मन के अन्दर प्रसन्न होता था क्योंकि मेरे कर्माशय समाप्त हो रहे थे। काफी दिनों बाद मेरे कर्माशय शून्य पर आ गए। इन शेष कर्माशयों को भोग कर ही समाप्त किया जाता है, योगबल पर नष्ट नहीं किया जा सकता। यह प्रकृति का नियम है। ये कर्माशय अत्यन्त क्लेश व कष्ट वाले होते हैं। इन्हीं कर्माशयों के साथ-साथ तमोगुणी अहंकार भी क्षीण हुआ करता है। फिर सत्त्वगुणी अहंकार शेष रह जाता है और चित्त अत्यंत शुद्ध हो जाता है।

दूसरा अध्याय

अष्टांग योग

बहुत से मनुष्य ध्यान करने और समाधि लगाने की चेष्टा किया करते हैं, परन्तु उन्हें काफी समय बाद भी सफलता नहीं मिलती है। इसका कारण यह है कि समाधि तक पहुँचने के लिए यम-नियमों का पालन करना चाहिए। बिना यम-नियमों के पालन के द्वारा समाधि तक पहुँचना मुश्किल-सा है। समाधि, बिना चित्त के एकाग्र हुए लग नहीं सकती है। चित्त को एकाग्र करने के लिए, इसे पवित्र करना जरूरी है। यम-नियमों से चित्त में पवित्रता आती है। योग के आठ अंग बताये गये हैं: (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान और (8) समाधि।

यम

शरीर, वचन और मन के संयम को यम कहते हैं। यम के पाँच भाग हैं: (1) सत्य, (2) अहिंसा, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह।

नियम

नियम के पाँच भाग हैं: (1) शौच, (2) संतोष, (3) तप, (4) स्वाध्याय और (5) ईश्वर प्रणिधान।

आसन

चित्त को एकाग्र रखने के लिए मन के साथ-साथ शरीर पर भी नियन्त्रण रखना अति आवश्यक है। इससे शरीर निरोग व सबल बनता हैं। शरीर को नियंत्रित रखने के लिए आसन करते हैं। आसन अनेक प्रकार के हैं। अपनी इच्छानुसार आसन का प्रयोग करना चाहिए।

प्राणायाम

स्थिर आसन पर बैठकर श्वास तथा प्रश्वास की गति को नियंत्रित करने को प्राणायाम कहते हैं। इसके तीन अंग हैं: पूरक, कुम्भक और रेचक।

प्रत्याहार

इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अपने अन्दर केंद्रित करना, सांसारिक वस्तुओं के रहते हुए भी उनका कोई प्रभाव न पड़ना, प्रत्याहार है। इस अवस्था पर पहुँचने के लिए दृढ़ संकल्प व इन्द्रिय-संयम की साधना करनी पड़ती है।

धारणा

मन को किसी वस्तु पर स्थिर कर देना, धारणा कहलाती है। धारणा को सिद्ध करने के बाद समाधि की अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

ध्यान

जब ध्येय वस्तु पर प्रवाह के रूप में मन लग जाए, उसे ध्यान कहते हैं। इसमें ध्येय का निरन्तर मनन किया जाता है। इसके द्वारा विषय का स्पष्ट ज्ञान होता है।

समाधि

जब ध्यान ही ध्येय वस्तु के रूप में प्रतीत हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे, तब वही समाधि है। ध्यान और ध्याता का भाव नहीं रहता है, केवल ध्येय रहता है। चित्त की वृत्ति ध्येय के आकार को धारण कर लेती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय एक हो जाते हैं।

यम

यम योग का आधार है, जो मन की शुद्धता प्राप्त करने में सहायक है। यम के विभिन्न भागों का वर्णन निम्नलिखित है।

1) **सत्य** – साधक के लिए सत्य का अनुसरण करना बहुत ही महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में अगर गौर करें तो पाएँगे कि ज्यादातर असत्य का ही व्यापार चल रहा है। मनुष्य जाति ने स्वार्थ के कारण अपना इतना पतन कर लिया है कि व्यक्ति सत्य बोलने की सामर्थ्य नहीं जुटा पाता है। जब भी कुछ स्वार्थ वाला कार्य आया तो लोग असत्य बोलने में जरा भी नहीं हिचकते हैं। कुछ लोगों की ऐसी आदत पड़ चुकी है कि असत्य बोलना अपनी शान समझते हैं। ऐसे लोगों के परिवार के भी सदस्य सत्य का अनुसरण नहीं करते हैं। जहाँ देखो, जिस क्षेत्र में देखो, असत्य का ही प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग तो खुलेआम असत्य शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं, इसका असर निश्चय ही आने वाली पीढ़ी पर भी पड़ता है। असत्य बोलने वाले निश्चय ही मानसिक रूप से कमजोर होते हैं। उनके चित्त में धीरे-धीरे इतनी मलिनता विद्यमान हो जाती है जिससे वे अधर्म की ओर उन्मुख भी होने लगते हैं अथवा हो जाते हैं।

   योग मार्ग में सत्य का महत्व बहुत ही अधिक है क्योंकि सत्य को अपनाने वाले का चित्त निर्मल होने लगता है तथा चित्त पर स्थित मलिनता का नाश होता है। योग के अभ्यास के लिए चित्त निर्मल होना अति आवश्यक है। असत्य का अनुसरण करने वाला साधक कभी भी योग मार्ग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है, सदैव असफल होता रहेगा। सत्य को अपनाने से साधक के अन्दर धैर्य, सन्तोष, शान्ति आदि गुण आने लगते हैं, मन की चंचलता कम होती है तथा वाणी शुद्ध होती है। साधक की वाणी शुद्ध होना अत्यन्त जरूरी है। ऐसा साधक ही आगे चलकर गुरुपद पर बैठने के योग्य समझा जा सकता है। सत्यनिष्ठ साधक अपनी संकल्प शक्ति से कठिन से कठिन आध्यात्मिक कार्य करने में सफल होता है। असत्य का भाषी साधक किसी भी हालत में मार्गदर्शक बनने के योग्य नहीं होता है क्योंकि उसका चित्त मलिन होने के कारण उसके द्वारा किया गया संकल्प पूर्ण नहीं होगा।

   कभी भी ऐसा सत्य न बोलें जो दूसरों को कष्ट देने वाला हो। अगर ऐसा सत्य बोलना पड़े तो अवश्य बोलो, मगर नम्रता व शिष्टाचार के साथ, अर्थात कटुता का प्रयोग न किया जाए तो

अच्छा है क्योंकि ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ भ्रम से युक्त होने के कारण असत्य है। इसका कारण है– समस्त अपरा-प्रकृति परिणाम स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ की हर क्षण अवस्था बदलती ही रहती है, इस कारण कोई भी पदार्थ सदैव अपनी वर्तमान अवस्था नहीं बनाये रख सकता। इसी कारण कहा जाता है कि समस्त संसार असत्य है, सिर्फ एक ब्रह्म ही सत्य है। इसलिए सदैव सत्यनिष्ठ बनो।

साधकों! सदैव व्यवहार के समय प्रत्यक्ष प्रमाण से, अनुमान प्रमाण से तथा शब्द प्रमाण से (गुरु, सन्त आदि पुरुषों से सुना) जिन-जिन बातों का जिस-जिस प्रकार से निश्चय किया हुआ हो, उन-उन बातों को उस-उस निश्चय के अनुसार ऐसा बोलें जिससे सुनने वाले को किसी प्रकार की द्वेष की भावना उत्पन्न न हो। आपकी बात दूसरों को प्रिय लगने वाली हो, परिणाम में हित करने वाली हो, कपट और भ्रांति से रहित हो, ऐसे वचनों का सदैव प्रयोग करना चाहिए। फिर एक बार बता दूँ– ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को सत्य न मानना एवं उसी ब्रह्म को लक्ष्य करके उसके सत्य को जानना ही सत्य है। ऐसी सत्य निष्ठा होने पर जब सदैव इसी का पालन किया जाता है, तब अभ्यासी की वाणी और भी फलदायी हो जाती है।

सत्य बोलना या सत्य का अनुसरण करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि दूसरे के सत्य को स्वीकार करना परम आवश्यक है। अगर दूसरे व्यक्ति में श्रेष्ठता है, आप में वह श्रेष्ठता नहीं है तो उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कीजिए, उससे द्वेष न कीजिए और न ही निन्दा कीजिए। यदि निन्दा या द्वेष करेंगे तो आप का ही चित्त मलिन होगा, उस व्यक्ति का कुछ भी नहीं जाएगा। इसी प्रकार स्वयं में अगर कुछ कमियाँ है अथवा आपके परिवार के सदस्यों में अगर वास्तव में कमियाँ हैं और आपको बताया जा रहा है, तो उन कमियों को स्वीकार कीजिए, न कि कहने वाले का ही दोष निकालने लगें अथवा उसी की निन्दा करने लगें। सत्य स्वीकार करने की आदत डालिये।

2) **अहिंसा** – हर एक मनुष्य को अहिंसा का पालन करना चाहिए। इसीलिए कहते हैं अहिंसा ही परम धर्म है। जो मनुष्य अहिंसा-व्रत का पालन करते हैं, उनकी मानसिक शक्ति अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है। किसी प्राणी की हत्या न करना, शारीरिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों को अहिंसा का पालन करना अति आवश्यक है। ऐसे मनुष्य के अंदर सत्त्वगुण की अधिकता आ जाती है; भय, मोह, राग और द्वेष आदि का प्रभाव जाता

रहता है। क्योंकि जो मनुष्य हिंसक हो जाते हैं, उनमें देखा गया है कि वे भय, मोह, राग और द्वेष आदि से ग्रसित हो जाते हैं। उसके अन्तःकरण में तमोगुण आच्छादित रहता है। हिंसक कार्यों के करने के कारण चित्त में सदैव हिंसक वृत्तियाँ ही उठती हैं, वे पाप और असत्य में डूबे रहते हैं। मगर जो मनुष्य अहिंसा का पालन करता है, वह सदैव पुण्य वाले कार्य और सत्य में विश्वास रखता है। जो मनुष्य जितना ज्यादा अहिंसा का पालन करता है, वह उतना ही अधिक निडर हो जाता है। साथ ही जब कोई हिंसक मनुष्य या हिंसक प्राणी अहिंसा वाले मनुष्य के पास जाता है, तो अहिंसा के प्रभाव से हिंसक प्राणी के भी मन से उस समय हिंसा जाती रहती है जब तक वह अहिंसक व्यक्ति के पास रहता है। इस जगह पर भगवान गौतम बुद्ध का उदाहरण उपयुक्त रहेगा। भगवान गौतम बुद्ध जब क्रूर डाकू अंगुलिमाल से मिलते हैं तो अंगुलिमाल के हृदय में उस समय हिंसा की भावना ठहर जाती है। अंत में वह भगवान गौतम बुद्ध का शिष्य बन जाता है। अहिंसा का यह प्रभाव होता है।

साधक को अहिंसा का पालन करना अनिवार्य है। अहिंसा के पालन से साधक के चित्त में सत्त्वगुण के संस्कार बनने शुरू हो जाएँगे तथा अन्तःकरण शुद्ध व निर्मल होने लगेगा। हिंसा करने वाले के चित्त में तमोगुण वाले क्लेशात्मक संस्कार बनेंगे। किसी मनुष्य को पापयुक्त गलत मार्ग बताना भी हिंसा के अंदर आता है, क्योंकि ऐसे मार्ग में जो भी मनुष्य चलेगा, उसका तो पतन हो जाएगा, यह तो बहुत बड़ी हिंसा है। ऐसे मनुष्य का अन्तःकरण भी पापयुक्त हो जाता है। जो मनुष्य किसी से बदला लेने की भावना रखता है, वह भी हिंसा के अंतर्गत आता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो देखने में हिंसा जैसे लगते हैं, मगर वे कार्य किसी हिंसक को सुधारने के लिए किए जा रहे हों तो वे हिंसा की सीमा में नहीं आते हैं। मगर ऐसे कार्यों में यह ध्यान रखना है कि इनमें किसी प्रकार की बदले की भावना न हो तथा तमोगुणी इच्छाएँ मिश्रित न हों। शास्त्रों में वर्णन है कि देश की रक्षा के लिए, धर्म की स्थापना के लिए युद्ध करना क्षत्रियों का कर्तव्य है। यह हिंसा में नहीं आता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन को धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं– "तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी क्योंकि यहाँ पर धर्म और अधर्म का युद्ध हो रहा है।" यह भी हिंसा नहीं हो सकती है। हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने जीवन में किसी को दु:ख न पहुँचाएँ। सदैव कल्याणकारी भावना होनी चाहिए।

साधकों! वैसे अहिंसा का पालन करना आजकल बड़ा मुश्किल है क्योंकि पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करना असंभव है। इसलिए साधक को जितना ज्यादा-से-ज्यादा अहिंसा का पालन हो सके, करना चाहिए। अहिंसा के बल पर हिंसक पशुओं को भी बदला जा सकता है। अहिंसा में बहुत शक्ति होती है।

3) **अस्तेय** – आजकल समाज में खूब देखने को मिलता है कि लोग एक-दूसरे के साथ छीना-झपटी करते रहते हैं, एक-दूसरे का अधिकार बलपूर्वक छीन लेते हैं। जब घरों में बटवारे होते हैं तो एक भाई दूसरे भाई का सामान आदि छीन लेता है। पड़ोसी दूसरे पड़ोसी का बलपूर्वक जगह, सामान या अन्य पदार्थ आदि छीन लेता है तथा दबाने का प्रयास करता है। एक देश दूसरे देश पर अतिक्रमण करके सीमाओं पर भूमि छीनने का प्रयास करता है। गाँवों से लेकर बड़े-बड़े शहरों तक देखने, पढ़ने और सुनने में आता है कि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से रुपए, सामान आदि छीन लिए। जिधर देखो उधर लोग छीना-झपटी करते रहते हैं। ज्यादातर मनुष्यों का इसी प्रकार का स्वभाव सा बन गया है। जंगल में रहने वाले पशु मनुष्य से ज्यादा मिलजुल कर रहते होंगे। वे इतनी छीना-झपटी नहीं करते हैं। हज़ारों पशु एक झुण्ड बनाकर रहते हैं जबकि मनुष्य बौद्धिक विकास स्तर पर पशुओं से श्रेष्ठ है। ऐसी श्रेष्ठता का प्रयोग मनुष्य परस्पर व्यवहार में क्यों नहीं करते हैं!

   गलत रीति के द्वारा दूसरों के पदार्थ को ग्रहण न करना, अर्थात किसी भी पदार्थ के स्वामी की अनुमति के बिना न लेना, चाहे उसका मूल्य कुछ भी हो, और सांसारिक विषय और पदार्थ का सेवन न करना तथा किसी पदार्थ या विषय की इच्छा न रखना अस्तेय है। इसके सिद्ध हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ स्वयमेव हाथ के मैल के समान हो जाते हैं।

4) **ब्रह्मचर्य** – ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म का आचरण करना या अनुसरण करना। साधकों! ब्रह्मचर्य की परिभाषा अत्यन्त कठिन है। पूरी तरह से कोई भी मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकता है। अब हम शाब्दिक अर्थ पर आएँ। आमतौर पर ब्रह्मचर्य का अर्थ 'वीर्य को स्खलित न होने दिया जाए' से लगाते हैं। इतने से अर्थ पूरा नहीं हो सकता है, बल्कि सभी प्रकार की वासनाओं को त्यागना जरूरी है, ये वासनाएँ चाहे जिस प्रकार की हों। इतना ही नहीं, लौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के स्वार्थों को त्यागना जरूरी है। ब्रह्मचर्य हर मनुष्य के लिए एक निश्चित अवधि के लिए अति आवश्यक है क्योंकि ब्रह्मचर्य ही हमारा जीवन है। ब्रह्मचर्य का हमारे स्थूल

जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जो मनुष्य इसका ठीक प्रकार से पालन नहीं करते हैं, उनकी आयु भी कुछ न कुछ कम हो जाती है, स्वभाव भी चिड़चिड़ा-सा होने लगता है, कई प्रकार के रोगों से ग्रसित होने का भय रहता है, बहुत-से हो भी जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को क्रोध भी अधिक आता है, महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय जल्दबाजी करते हैं, इस कारण उसका निर्णय सही नहीं हो पाता है, मन की गंभीरता पर भी असर पड़ता है।

विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मचर्य अति आवश्यक है क्योंकि इसका पालन करने से मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है, मस्तिष्क की स्मरणशक्ति बढ़ती है तथा टिकाऊ रहती है, जो कि किसी भी विद्यार्थी के लिए अति आवश्यक है। साधक के लिए यह अति आवश्यक है कि इसका पालन करे। साधक को अपना वीर्य हर हालत में रोकना चाहिए ताकि वीर्य स्थूल रूप से बनना बन्द हो जाए। इसके बाद वह सूक्ष्म होकर ओजस रूप में परिवर्तित होकर ऊर्ध्व होने लगता है। यह क्रिया जिस साधक में होती है, उसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं। ऊर्ध्वरेता बनना साधक के लिए अति आवश्यक है। इससे चेहरे पर तेज बढ़ता है, आँखें भी चमकीली होने लगती हैं जिससे दृष्टि तेज भी हो जाती है, सारा शरीर कांतिवान होने लगता है। ऊर्ध्वरेता साधक की आयु भी अधिक होती है। किसी प्रकार का रोग उसके पास फटक नहीं पाता है, निरोगी होकर रहता है। ऊर्ध्वरेता साधक ही दूसरे पर शक्तिपात कर सकता है। जो साधक ब्रह्मचर्य का पालन नियमपूर्वक नहीं करते, वे साधक दूसरों पर शक्तिपात नहीं कर पाते हैं अथवा उनका शक्तिपात बहुत हल्का होता है। शक्तिपात और मार्गदर्शन कर पाना उसके लिए संभव नहीं हो पाता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि गुरु पद के लिए ऐसे साधक योग्य नहीं होते हैं। इसलिए साधक को ऊर्ध्वरेता बनना बहुत जरूरी है, ताकि वह भविष्य में साधकों का कल्याण कर सके।

ऊर्ध्वरेता साधक का ओज रूप में बदला हुआ वीर्य मस्तिष्क की सभी सूक्ष्म कोशिकाओं में व्याप्त हो जाता है और उन कोशिकाओं को क्रियाशील कर देता है। वैसे अधिकांश मात्रा में कोशिकाएँ सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं। यही ओज शरीर की मांसपेशियों में व्याप्त हो जाता है, जिसके कारण साधक को समय से पहले वृद्धावस्था नहीं आती। वैसे तो ऊर्ध्वरेता साधक की वासना क्षीण हो जाती है, फिर भी साधक को हमेशा सतर्क रहना चाहिए ताकि सुषुप्त पड़ी इन्द्रियाँ क्रियाशील न हो जाएँ। योग में चरमसीमा पर पहुँचने का मतलब यह नहीं है कि इन्द्रियों पर सदैव

के लिए विजय प्राप्त कर ली है। शिखर पर पहुँचकर कहीं लुढ़क न जाए, इसलिए साधक को संयमित रहना अति आवश्यक है।

साधक को सम्पूर्ण साधनाकाल में ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है। सम्पूर्ण साधनाकाल का अर्थ साधना की शुरुआत से लेकर कुण्डलिनी स्थिर तक के समय के लिए है, क्योंकि साधना तो सम्पूर्ण जीवन भर करनी पड़ती है जब तक स्थूल शरीर है। जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होती है, उस समय ब्रह्मचर्य का पालन करना अति आवश्यक है। कुण्डलिनी के ऊर्ध्व होने में ब्रह्मचर्य सहायता देता है। इसका पालन करने पर कुण्डलिनी उग्र रूप धारण करती है और मस्तिष्क में जाकर तेज को बिखेर देती है, आलस्य और जड़ता को दूर कर देती है, साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में जल्दी सफलता मिलती है।

स्थूल रूप से इन्द्रिय के क्रियाशील न होने का अर्थ पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य नहीं है, बल्कि साधक के मन में भी वासना का विकार नहीं आना चाहिए। मन के द्वारा किसी प्रकार की वासना का चिंतन न करना भी जरूरी है क्योंकि ऐसे विकार पतन के कारण हो सकते हैं। चिंतन करने से उसका मन मलिन हो जाता है, जिससे स्वप्नवस्था में स्वप्नदोष का भय रहता है, जिससे उसकी साधना पर सीधा असर पड़ता है। कुण्डलिनी का एक स्वरूप स्त्री का भी है। इसलिए ध्यानावस्था में भी किसी-किसी साधक को अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में दर्शन होता है। सुन्दर स्त्री के साथ उसका हाव-भाव ऐसा होता है कि साधक के अंदर पड़ी सूक्ष्म वासना जाग्रत हो जाती है, जिसके कारण इन्द्रिय क्रियाशील हो जाती है। ध्यानावस्था में इससे बचने का एक उपाय है–त्रिपुर सुन्दरी कुण्डलिनी जैसे ही सुन्दर स्त्री रूप में दिखाई दे, साधक में कुण्डलिनी के प्रति माँ का भाव आना चाहिए। वैसे भी वह हम सभी की वास्तविक माँ है। 'माँ' का भाव आने पर साधक के अंदर वासना का विकार नहीं आएगा। साधक को बिना विचलित हुए उसका अवलोकन करना चाहिए। कुण्डलिनी को प्रणाम कीजिये। प्रार्थना कीजिये– "माँ! आप हमें इस स्वरूप में दर्शन न दें।" ऐसा करने से फिर इस स्वरूप में दर्शन नहीं होंगे। इस तरह के अनुभव ज्यादातर तब होते हैं, जब साधक की कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान चक्र व नाभि चक्र के पास आती है। वैसे इस प्रकार के अनुभव साधनाकाल में कभी भी आ सकते हैं। जब साधना अत्यन्त उच्चावस्था में होती है, तब ऐसे अनुभव नहीं आते। जब साधक की कुण्डलिनी कण्ठ चक्र पार कर गयी हो, तब कण्ठ चक्र से

ऊपर चढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अखण्ड रूप से करें। कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र का रास्ता थोड़ा सा दिखाई देता है, मगर इतना सफर तय करने में बड़ी कठिनाई होती है व बहुत समय लगता है। यदि साधक नियम-संयम से नहीं चलता है तो उसे इतना थोड़ा मार्ग तय करने में बहुत समय लग जाएगा।

अब यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि जो गृहस्थी हैं, उनसे अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन कैसे होगा? सहज ध्यान योग एक ऐसा मार्ग है जो गृहस्थ धर्म वाले आसानी से कर सकते हैं। यह भी सत्य है कि गृहस्थ धर्म वाले ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकते। यदि दंपत्ति विवेक और दृढ़ता से काम लें, तो समस्या हल हो जाएगी। यदि ब्रह्मचर्य को अपनी वंश-परंपरा बढ़ाने के लिए तोड़ना पड़े तो दोषपूर्ण नहीं है क्योंकि गृहस्थियों को अपनी वंश-परंपरा तो बढ़ानी ही होगी। और यह सृष्टि का भी कार्य है, फिर दोष कैसा? हाँ, गृहस्थ-धर्म का पालन समझकर इन्द्रिय सुख के लिए लिप्त नहीं होना चाहिए। ऐसे दंपत्ति जो दोनों साधक-साधिका हैं या एक साधक है, समझ-बूझकर निर्णय लेना चाहिए ताकि गृहस्थ और योग दोनों का समन्वय बना रहे। इससे साधना में अवरोध नहीं आएगा। हाँ, थोड़ा आगे चलकर नियम का पालन कर लें तो अच्छा है। उस अवस्था तक वासनाएँ भी सूक्ष्म हो जाती हैं। यह कहना बिल्कुल गलत है कि गृहस्थ वाला व्यक्ति योगी नहीं बन सकता। आदिकाल से लेकर आजतक ढेरों ऐसे उदाहरण हैं जो गृहस्थाश्रम में रहकर महान योगी हुए। क्या उनकी वंश-परंपरा आगे नहीं बढ़ी? अवश्य बढ़ी। जिन मनुष्यों का यह सोचना है कि गृहस्थ में रहकर योग नहीं हो सकता, यह उनकी अज्ञानता है। शायद उन्हें योग और गृहस्थ के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं है। ब्रह्मचर्य से मनोबल तथा धैर्य बढ़ता है। इससे साधक की संकल्प शक्ति भी बढ़ती है।

एक बात याद आ गयी। यदि कुण्डलिनी के ऊर्ध्व होने के समय वीर्य स्खलित हो जाए तो इसका सीधा प्रभाव कुण्डलिनी पर पड़ता है। फिर दो-तीन दिन ध्यानावस्था में कुण्डलिनी का ऊर्ध्व होना रुक जाता है तथा मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाओं पर काफी दिनों तक प्रभाव रहता है। साधकों! यह हमारे अनुभव की बात है। यह अनुभव हमने अनुभवों में भी नहीं लिखा है क्योंकि उचित नहीं समझा था।

5) **अपरिग्रह** – सभी मनुष्यों का स्वभाव बन गया संग्रह करने का। सांसारिक पदार्थों का संग्रह करने के लिए प्रत्येक मनुष्य रात-दिन लगा रहता है। हर किसी की सोच होती है कि ज्यादा से ज्यादा धन संग्रह कर लिया जाए, इससे हमारा जीवन अंत तक तथा बच्चों का सारा जीवन आराम से व्यतीत होगा। हमारे परिवार वालों को किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर धन आदि के अभाव के कारण किसी से याचना न करनी पड़े। सुख-सुविधा की समस्त चीज़ें उपलब्ध करने का प्रयास करता रहता है। अच्छा घर बन जाए, धन ढेर सारा हो जाए, फैक्ट्री भी खोल दूँगा, इससे पुत्र का जीवन आराम से व्यतीत हो जाएगा आदि। गृहस्थ में रहने वाला सदैव यही सोचता रहता है क्योंकि इसी सांसारिक जीवन को ही सब कुछ समझे बैठा है।

सच तो यह है कि गृहस्थियों के लिये तो ये सब बातें फिर भी समझ में आती हैं। आजकल देखने को मिलेगा कि आध्यात्मिक केन्द्रों अर्थात आश्रमों, बड़े-बड़े मंदिरों आदि में भी यही हो रहा है। ढेर मात्रा में धन का संग्रह किया जा रहा है। आश्रमों और मंदिरो में स्थित संन्यासियों ने इसलिए संन्यास धारण किया होता है कि संसार को त्याग कर सिर्फ ईश्वर की प्राप्ति करेंगे, ऐसे पुरुष भी धन संग्रह में लग जाते हैं क्या! शायद वे ईश्वर प्राप्ति का मूल उद्देश्य भूल जाते हैं, सिर्फ़ धन प्राप्ति ही याद रह जाती है।

पाँचों तत्त्वों से युक्त किसी भी प्रकार के पदार्थ का संग्रह करके, उसकी रक्षा करना या उसके साथ व्यवहार करने से आसक्ति उत्पन्न होती है। इससे चित्त में विक्षेप, मूढ़ता, आलस्य, प्रमाद तथा संशय उत्पन्न होता है। इसलिए अभ्यासी को किसी प्रकार के पदार्थों को आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करना चाहिए। सिर्फ उतना ही संग्रह करे जितने में जीवन व्यतीत होता रहे। अपरिग्रह का पालन करना आवश्यक है। किसी भी प्रकार की भोग सामग्री या पदार्थ का आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना ही 'अपरिग्रह' है।

नियम

नियमों के पालन से साधक का मन योग की उच्चतर अवस्थाओं के लिए तैयार होता है। पाँच नियमों का वर्णन निम्नलिखित है।

1) **शौच –** शौच का अर्थ होता है पवित्रता। पवित्रता दो प्रकार की होती है। एक – बाह्य पवित्रता, दूसरी – आंतरिक पवित्रता। जल और मिट्टी के द्वारा बाह्य शरीर को स्वच्छ रखना, अच्छे आचरण का पालन करना, न्याय से अर्जित किया हुआ सात्विक पदार्थों का पवित्रतापूर्वक सेवन करना आदि बाहरी पवित्रता है। अहम्, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोध आदि दुर्गुणों का त्याग भीतरी पवित्रता है।

   अभ्यासी को सदैव साफ-सुथरे स्वच्छ कपड़े पहनना चाहिए, मैले कुचैले कपड़ों को धारण न करें। इसीलिए कहा जाता है– ध्यान करते समय साधक को स्वच्छ व सफेद कपड़े पहनना चाहिए। स्वच्छता व कपड़े के रंग का अभ्यासी के मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। किसी व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय सदैव याद रखना चाहिए कि उसमें अंश मात्र भी स्वार्थ न हो। वैसे समाज में ज्यादातर ऐसा ही होता है कि अगर किसी व्यक्ति से कोई काम आ गया, तो उसका बड़े प्यार से सम्मान करने लगते हैं, उसका गुणगान करने लगते हैं, ऐसा लगता है मानो इस समाज में सबसे अच्छा व्यक्ति वही है अथवा कहते हैं– "मैंने उसे बेवकूफ बना के अपना काम निकाल लिया, अब हमें उससे क्या मतलब है।" कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो व्यक्ति उसके काम आया था, जब उसे कोई काम आ गया तो उसके काम के लिए उसने इन्कार कर दिया आदि।

   परिश्रम के द्वारा कमाये हुआ धन अथवा पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। जो पदार्थ अन्याय या अधर्म से युक्त हों, उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए, अर्थात् अन्याय या अधर्म के द्वारा किसी भी पदार्थ (धन आदि) को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। ऐसे पदार्थों का प्रयोग करने वाला अधर्मी होता है तथा उसका चित्त मलिन हो जाने के कारण बुद्धि भी मलिन हो जाती है। बुद्धि में मलिनता आने पर उसके निर्णय भी अन्याय से युक्त होने लगते हैं। उसके परिवार में जो ऐसे पदार्थों का प्रयोग करते हैं, जो अधर्म से प्राप्त किये गए हों, उनकी बुद्धि भी भ्रष्ट होने लगती है तथा पाप कर्म करने में उन्मुख हो जाती है। उनकी सोच भी अन्याय से युक्त तथा झूठ में प्रवृत्त हो

जाती है। सदैव पवित्र सात्विक भोजन ही करना चाहिए, इससे प्राण व मन दूषित नहीं होता है। ये बाहर की पवित्रता है।

अभ्यासी को सदैव अहम् का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि देखा गया है कि अपने अहम् में लोग अपनी श्रेष्ठता का बखान करते रहते हैं, जैसे मैंने यह किया, वो किया, यह कर सकता हूँ, वो कर सकता हूँ आदि। कहते हैं ममता बहुत अच्छी चीज है क्योंकि सभी को अपनों के प्रति ममता होती है। लेकिन जिसके प्रति ममता होती है, ममता के कारण उस व्यक्ति से संबंधित सुख-दुख की अनुभूति भी होती है। इसलिए, ममता से थोड़ा दूर रहिये क्योंकि जिसके प्रति ममता का भाव है, वह आपका नहीं है, भले ही आपके अति नजदीक रिश्ते वाले हो। क्योंकि सभी जीवों को अपना कर्म भोगने के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जन्म को धारण करने पर रिश्ते बन जाते हैं, अपनापन व ममता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। मगर एक बात ध्यान रखने वाली है – जिस जीवात्मा ने जन्म ग्रहण किया है, उसके पूर्व जन्मों के कर्माशय भी उसके चित्त में स्थित होते हैं, उन कर्माशयों को उसे भोगना होता है; यह जरूरी नहीं उसके संस्कार परिवार वालों से मेल करते हों, यह कटु सत्य है – प्रत्येक जीव अपना अपना कर्म भोगने के लिये मजबूर है। ऐसे में किसी जीवात्मा के प्रति ममता आदि से चित्त में मलिनता आती है। इसलिए ममता से रहित होना चाहिए।

राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि के भावों से चित्त में मलिनता आती है, इसलिए इस प्रकार के भावों को चित्त में न आने दें। सदैव निडर रहें, भय को चित्त में न आने दें, भय किसी भी व्यक्ति को मानसिक रूप से कमजोर बना देता है। निर्भयता से मन बलवान होता है। इससे लक्ष्य प्राप्त करने में सहयोग मिलता है। मनुष्य जाति की सबसे बड़ी कमजोरी होती है कामवासना। यह एक ऐसा रोग है जो यदि मनुष्य को लग जाय तो उसे पशु बना देती है। आजकल समाज में यह रोग बहुत फैला हुआ है। कहीं भी सुनने को मिल जाएगा, अमुक शहर में एक दिन में इतने बलात्कार हुए। इसको रोक पाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि इस प्रकार की गंदगी मनुष्य के चित्त में भरी होती है जो कब प्रकट हो जाए, कहा नहीं जा सकता। जिस तरह से मनुष्य जाति कर रही है, ऐसा तो पशु भी नहीं करते। इसलिए अभ्यासी को इससे सर्वथा दूर रहना चाहिए। मनुष्य की एक और कमजोरी होती है– क्रोध का आना। क्रोध आने पर चित्त में मलिनता के कारण बुद्धि भी मलिन हो जाती है, इस

कारण वह आवेश में गलत निर्णय ले लेता है और दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करने के लिए तैयार हो जाता है। ये सभी अन्दर की अपवित्रता है।

2) **सन्तोष** – साधक के लिए अपने आप में सन्तुष्ट रहना परम आवश्यक है। मनुष्य सदैव किसी न किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता है। जिसके अंदर सन्तोष नहीं; ऐसा मनुष्य सदैव सुख-दु:ख की अनुभूति करता रहता है। जब उसके मन के अनुसार किसी पदार्थ की प्राप्ति हो गयी, तब सुख की अनुभूति करने लगता है; परन्तु इसके विपरीत जब उसे वांछित पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती, तब वह दु:ख की अनुभूति करने लगता है। अगर व्यापार में हानि हो गयी हो तो दुखी हो जाता है, लेकिन यदि लाभ हो गया हो तो प्रसन्न हो जाता है। मनुष्य ने इच्छाएँ इतनी बढ़ा ली हैं कि जीवन भर उन्हीं की पूर्ति करने में लगा रहता है। सारी उम्र समाप्त हो जाती है, मगर उसके मन में संतोष नहीं होता कि हमारे पास पर्याप्त धन हो गया है। इससे हमारा व परिवार का जीवनयापन हो जाएगा, अब ईश्वर-प्राप्ति के लिए भी समय निकाल लें। मगर ऐसा नहीं करता क्योंकि वह अंतिम समय तक धन प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहता है।

मनुष्य तब बहुत ही प्रसन्न होता है जब कोई उसकी तारीफ कर दे। अगर कोई तारीफ के पुल बाँध दे तो फिर मनुष्य को ऐसा लगता है मानो कोई बहुत बड़ा पद मिल गया है अथवा लॉटरी निकल आयी है। अगर किसी ने जरा सी बुराई कर दी अथवा उसकी वास्तविक कमी कह दी तो बहुत दुखी अथवा नाराज हो जाएगा क्योंकि उसे यश-अपयश में समान रूप से रहने की आदत नहीं है, सिर्फ अपना यश ही चाहता है। अगर परिस्थितियाँ अनुकूल हो गयीं तो बहुत अच्छी बात है, खुशी का ठिकाना नहीं रहता; अगर परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गयीं तो उसका चित्त दु:ख में डूब जाता है। आजकल खूब देखने को मिलता है कि लोग जरा-जरा सी बातों में झगड़े करने लगते हैं, जैसे पड़ोसी से थोड़ी जगह के पीछे अथवा मित्र से मात्र थोड़े से धन के पीछे; भाई-भाई बँटवारे के समय एक दूसरे का हिस्सा हथिया लेते हैं।

सबसे बड़ा उदाहरण तब देखने को मिलता है जब आश्रम में स्थित संन्यासी पदों को लेकर झगड़ा करते हैं और न्यायालय तक चले जाते हैं, लम्बी और जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने बहुमूल्य जीवन का समय बर्बाद करते रहते हैं और अपने ही साथी की निन्दा करते रहते हैं एवं दु:ख की अनुभूति करते रहते हैं। सीमा बढ़ाने के लिये एक देश दूसरे देश पर हमला कर देता

है। ऐसी अवस्था में ढेरों सैनिकों की दोनों तरफ से मृत्यु हो जाती है, सिर्फ थोड़े से भू-भाग के लिए ऐसा किया जाता है। हमने तो साधकों और बड़े-बड़े बाबाओं को देखा है जो एक-दूसरे की निन्दा करते रहते हैं। इन सबका कारण उनके अंदर संतोष नाम की कोई चीज नहीं है। यदि मनुष्य के अन्दर संतोष हो तो उसे सदैव प्रसन्नता की अनुभूति होगी तथा उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद वह तृप्त एवं शान्त होगा। अच्छा साधक बनने के लिए संतोष का होना इसीलिए बहुत जरूरी है।

सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा संतुष्ट, प्रसन्न चित्त रहने का नाम 'सन्तोष' है।

3) **तप** – तप का अर्थ है– 'अपने आप को तपा देना'। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है तपस्या। आदिकाल के विषय में पढ़ने को मिलता है कि अमुक मनुष्य ने बहुत ही कठोर तपस्या की। तपस्या करते समय ग्रीष्म ऋतु की गर्मी और शरद ऋतु की ठंड सहते हुए, भूख-प्यास का कष्ट उठाते हुए, संयमित होकर मंत्र जाप किया और इष्ट को प्रसन्न किया व वरदान प्राप्त किया। पूर्व काल में वानप्रस्थ के समय सभी पुरुष कठोर संयम करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा इसलिए करते थे ताकि उन्होंने अपने जीवन में जो भी अधर्म से युक्त पाप कर्म किए हों, उनको नष्ट कर सकें। जब गर्मी और सर्दी ऋतुओं की उष्णता और शीतलता सहते हुए, इन्द्रियों का संयम करते हुए तपस्या करते थे, तब चित्त पर स्थित पाप कर्म नष्ट होने लगते थे तथा चित्त पर स्थित मलिनता भी नष्ट होने लगती थी। इससे चित्त शुद्ध व सात्विक होता था तथा पाप कर्म के नष्ट होने से चित्त पर सत्त्वगुण की अधिकता होती थी। इससे प्रत्येक मनुष्य का अंत समय में, चित्त निर्मल व सत्त्वगुण से युक्त होता था। अगला जन्म सत्त्वगुण की अधिकता से प्रभावित रहता था। आजकल ऐसी परम्परा नहीं है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का चित्त पाप कर्म और मलिनता से युक्त होता है, इसके फलस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्ति अधर्म में ज्यादा रहती है। अधर्म के कारण ही उसका चित्त खींचातानी, लड़ाई-झगड़े, वैमनस्यता, असन्तोष, दुख, ईर्ष्या आदि से युक्त होता है। जिस मनुष्य ने अपने जीवन में तप को शामिल कर लिया है, उसके चित्त में उपरोक्त विकार नहीं आते।

शीतोष्ण, सुख-दुख आदि द्वंद्व को सहन करते हुए नियमित और संयमित होकर जीवन व्यतीत करना और यज्ञ, मंत्र जाप, उपासना द्वारा अशुद्धि का नाश करना भी तप है। स्वधर्म पालन

के लिए तीव्र कष्ट सहन करना भी तप ही है। इस प्रकार की तपस्या करने वाले को धीरे-धीरे अशुद्धता नष्ट होने पर शरीर तथा इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्ति होती है।

4) **स्वाध्याय** – साधक सदैव तो ध्यान में बैठा नहीं रहेगा। जब उसके पास खाली समय हो तो उसे योग की, ज्ञान की एवं शिक्षा-संबंधी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए, आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। इससे साधक का कुछ-न-कुछ ज्ञान बढ़ेगा। यदि वह खाली समय में चुपचाप बैठा रहेगा तो कुछ-न-कुछ अवश्य सोचेगा। एक कहावत है, खाली दिमाग शैतान का घर होता है। अर्थात वह खाली समय में उल्टा-सीधा कुछ-न-कुछ सोचेगा। इसलिए खाली समय में आध्यात्मिक शिक्षाप्रद पुस्तकों का अध्ययन करना लाभदायक रहेगा। साधक जिस प्रकार की पुस्तक पढ़ेगा, उसका असर अवश्य अंतःकरण पर पड़ेगा। फिर कभी न कभी अवश्य संकल्प-विकल्प द्वारा उन शिक्षाओं की याद आएगी, फिर वैसे ही विचार बनेंगे। पुस्तक को सिर्फ मनोरंजन के तौर पर या समय व्यतीत करने के उद्देश्य से पढ़कर एक तरफ नहीं रख देनी चाहिए, बल्कि सावधानीपूर्वक उसके अर्थ या गूढ़ अर्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए। फिर उन शिक्षाओं को अपने स्थूल और आध्यात्मिक जीवन में अमल करने का प्रयास करना चाहिए। इन्हीं पुस्तकों द्वारा हम सभी को योगियों, तपस्वियों व संतों के जीवन चरित्र की जानकारी मिलती है। उस समय की जानकारी से मालूम पड़ता है कि वे कितना कष्ट सहकर तपस्या या योग किया करते थे।

जब साधक आध्यात्मिक व योग पर आधारित पुस्तकों का अध्ययन करता है तो उसके अंदर कुछ न कुछ अवश्य बदलाव आता है। बाइबिल, रामायण, गीता आदि ग्रंथ मानव जाति के लिए बहुत उपयोगी हैं। अपने यहाँ धार्मिक पुस्तकों में अच्छी तरह पढ़ने को मिलता है कि यदि मनुष्य ईश्वर की लीलाओं व गुणगानों का नियमित पाठ करे, तो वह मनुष्य पाप से मुक्त हो कर सद्गति को प्राप्त होता है। आजकल भी मैंने उत्तर भारत में देखा है कि अधिकांश घरों में नियमित रूप से रामचरितमानस का पाठ होता है। इन ग्रंथों को पढ़ने से ईश्वर की स्तुति हो जाती है, इन्द्रियों को शिक्षा मिलती है, मन की संकीर्णता दूर होती है और उसमें व्यापकता आती है। ऐसे शिक्षाप्रद उपयोगी ग्रंथों के अध्ययन से साधक को साधना करने में सहायता मिलती है। इसलिए साधक को गीता व उपनिषदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। उपनिषद ऐसे ग्रंथ हैं जो संपूर्ण मानव जाति के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं क्योंकि ये ग्रंथ तत्त्वज्ञान से भरे पड़े हैं। ये ग्रंथ किसी जाति या धर्म से

सम्बन्ध नहीं रखते। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने योग और कर्म के रहस्य को विस्तारपूर्वक समझाया है। साधक को कभी भी गंदी व अश्लील पुस्तकों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। ऐसी पुस्तकें साधक क्या, अन्य मनुष्यों को भी पथभ्रष्ट कर देती हैं। इन्हें पढ़कर कभी भी किसी का चरित्र उज्जवल नहीं हो सकता। ऐसी पुस्तकों को पढ़कर मनुष्य के अंदर बुरे विचारों को बढ़ावा मिलता है। मनुष्य को अपनी कर्णेन्द्रिय को विकसित करना चाहिए जिससे वह प्रभु का गुणगान ही सुन सके। जिस स्थान पर अनुचित वार्तालाप हो रहा हो, वह स्थान उसी समय छोड़ देना चाहिए ताकि उन शब्दों के कारण उस पर गलत प्रभाव न पड़े। जो मनुष्य ऐसे वार्तालाप व शब्दों में रुचि रखता है, धीरे-धीरे वैसी ही रुचि के कारण उसके जीवन में वैसे ही कार्य होने लगते हैं और वह अपने मार्ग से भटक जाता है। यदि कोई मनुष्य ईश्वर के गुणगान को एकाग्र होकर सुने तो अवश्य ही उसे लाभ पहुँचेगा। इसीलिए संतों व महापुरुषों के प्रवचनों से समाज को सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है।

5) **ईश्वर-प्रणिधान** – सभी प्रकार के कर्म और कर्मों का फल ईश्वर को अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान होता है। शारीरिक और मानसिक जो भी व्यापार हो रहा है, वह सब का सब ईश्वर को अर्पित कर देना अर्थात समर्पण भाव होना, अनन्य भक्ति भाव से युक्त हो जाना तथा धारणा के द्वारा ईश्वर के स्वरूप को वृत्ति के द्वारा धारण करके समाधिस्थ हो जाना ईश्वर-प्रणिधान होता है।

साधक को चाहिए सदैव ईश्वर का स्मरण करता रहे, इससे दो प्रकार के लाभ होते हैं। एक – मन जब खाली होता हैं तो अकारण ही व्यर्थ की बातें सोचता है, क्योंकि सदैव सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहा है तो संसार की ओर ही सोचता रहता है। इसके फल स्वरूप सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा चलती रहती है तथा भूतकाल का सोचकर सुख-दु:ख की अनुभूति करता रहता है अथवा नयी-नयी योजनाएँ बनाता रहता है। जब ईश्वर का स्मरण करेगा तब सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करने का अवसर नहीं मिलेगा तथा ईश्वराभिमुख होने की आदत पड़ने लगेगी। दूसरा– सांसारिक पदार्थों के चिन्तन से चंचलता बढ़ती है। इससे साधक को मन एकाग्र करने में अवरोध आता है। ईश्वर का चिन्तन करने से चंचलता नष्ट होने लगती है, चित्त में स्थिरता आती है तथा चित्त की मलिनता नष्ट होने लगती है व शुद्धता बढ़ती है। शुद्धता (सत्त्वगुण) बढ़ने के कारण समाधि की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

जो साधक ईश्वर को नहीं मानते अथवा ईश्वर का चिन्तन नहीं करते हैं, उन्हें सफलता देर से मिलती है। ईश्वर-प्रणिधान से चित्त पर स्थित मलिनता दूर होने लगती है। कभी-कभी आध्यात्मिक मार्ग में आए अवरोध भी नष्ट हो जाते हैं अथवा कमजोर पड़ने लगते हैं। मैं सभी साधकों से कहना चाहता हूँ कि किसी न किसी रूप में ईश्वर का नाम अवश्य लें, वही हमारा परम पिता है। मैं स्वयं इस अवस्था में भी ईश्वर-चिन्तन करना नहीं भूलता, जबकि मैं योगी हूँ। मैं अपने अभ्यास की अनुभूति के अनुसार कहता हूँ – ईश्वर चिन्तन ही श्रेष्ठ है। ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण रूप हैं, वही कर्माध्यक्ष हैं, उन्हीं के बनाए नियम के अनुसार प्रकृति व्यवस्था पूर्वक अपना कार्य सम्पन्न कर रही है। वही सृष्टि के नियंता हैं।

आसन

आसन योग का महत्त्वपूर्ण अंग है। साधक को आसन अवश्य करना चाहिए। आसन करने से साधक को ढेरों लाभ होते हैं। शरीर की मांसपेशियों में लोच आता है, शरीर को सुगठित बनाता है, अनावश्यक माँस व चर्बी के बढ़ने से रोकता है। जब शरीर की मांसपेशियों में लोच आ जाता है, तब स्नायु मण्डल भी प्रभावित होता है, स्नायु मण्डलों में चैतन्यता की मात्रा बढ़ती है, जिससे निरोगी रहने में सहायता मिलती है। चेहरे पर तेज आता है, बुद्धि तीव्र होती है, मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े आदि अंग पुष्ट होते हैं, जिससे साधक को (आसन करने वाले को) बुढ़ापा देर से आता है, आयु बढ़ती है। यह जरूरी नहीं कि आसनों का अभ्यास सिर्फ साधक ही करे। आसन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। विद्यार्थियों को तो अवश्य करना चाहिए क्योंकि आसनों के करने से मस्तिष्क अधिक सक्रिय हो जाता है, इससे स्मरण शक्ति तेज होती है। आसन करने से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है। वीर्य ऊर्ध्वगामी होने लगता है, जो कि किसी भी साधक के लिए जरूरी है। कुछ आसन ऐसे होते हैं जो कुण्डलिनी जाग्रत करने में सहायक होते हैं। रीढ़ की हड्डी में भी आसनों के सहारे लोच लाया जा सकता है।

आसन के प्रकार बहुत हैं। उन सभी आसनों के अपने अलग-अलग फायदे हैं। हम सिर्फ उन्हीं थोड़े आसनों का विवरण दे रहे हैं जो साधकों को साधना में लाभकारी होंगे। ये आसन साधक को प्रातःकाल करने चाहिए। आसन करते समय उसे ढीले कपड़े पहनने चाहिए जो आसन के लिए उपयुक्त हों। शरीर पर कसे हुए कपड़े नहीं होने चाहिए। आसन खुले, स्वच्छ वातावरण में करने चाहिए। ऐसी जगह न हो जहाँ घुटन-सी हो। आसन फर्श पर करें तो अच्छा है, फर्श बिल्कुल समतल होना चाहिए। अथवा लकड़ी के बने तख्त पर भी कर सकते हैं। आसन करने से पूर्व कम्बल बिछा लें। यदि उसके ऊपर सफेद कपड़ा भी बिछा लें, तो अच्छा है। आसन करने से पूर्व कुछ भी न खाएँ, खाली पेट आसन करें। खाली पेट आसन करने से सुविधा रहती है। आसन करने के कुछ समय बाद, तरल पौष्टिक आहार ले लें तो अच्छा है, जैसे दूध, जूस आदि। आसन करते समय किसी प्रकार का तनाव मस्तिष्क में नहीं होना चाहिए, तनावमुक्त होकर आसन करना चाहिए। यदि सामूहिक रूप से आसन कर रहे हों, तो आसन करते समय किसी अन्य प्रकार की बात न करें। बिल्कुल चुपचाप रहना चाहिए। अच्छा तो यह है यदि किसी गुरु के निर्देशन में आसन करें, इससे आपको सुविधा अधिक रहेगी। यदि आप आसन पुस्तक पढ़कर कर रहे हैं

तो पहले पुस्तक को अच्छी तरह से पढ़ लें। जब सारी बातें समझ में आ जाएँ, तब आसन करें। आसन करते समय सतर्कता बरतें ताकि आपको किसी प्रकार की शारीरिक परेशानी न हो।

हमने देखा है कि कुछ व्यक्ति सिर्फ आसन करके ही कुण्डलिनी जाग्रत करना चाहते हैं अथवा ऐसे आसन ज्यादा करते हैं जिनसे कुण्डलिनी जाग्रत हो जाए। मैं ऐसे व्यक्तियों से कहना चाहूँगा कि आप ध्यान के माध्यम से कुण्डलिनी जाग्रत करने का प्रयास कीजिए। आसनों के द्वारा सिर्फ आप अपने शरीर को साधना के योग्य बनाइये। क्योंकि कुछ आसन ऐसे हैं जिनके करने से शरीर के अन्दर प्रभाव पड़ता है। तथा ध्यान करने के लिए आसन का सिद्ध होना जरूरी है, तभी आप एक आसन पर काफी समय तक बैठ सकते हैं।

पद्मासन – इस आसन को करने के लिए पहले भूमि पर बिछे हुए कम्बल पर बैठ जाइए। दोनों पैरों को सामने की ओर सीधा करें। दोनों पैर आपस में मिले होने चाहिए। फिर दाहिने पैर को मोड़कर हाथों का सहारा देकर पंजा व एड़ी को बाएँ पैर के जाँघ पर रखें। इसी प्रकार बाएं पैर को मोड़कर एड़ी व पंजे को हाथों का सहारा देकर दाहिने पैर की जाँघ पर रखें। दोनों पैरों की एड़ियाँ नाभि के दोनों ओर पेट से सटी होनी चाहिएं। दोनों पैरों के घुटने भूमि से स्पर्श होने चाहिए। शरीर को सीधा रखें। रीढ़ की हड्डी सीधी रहनी चाहिए। दोनों बाजुओं को सीधा रखते हुए, हाथ पैरों के घुटनों पर होने चाहिए। उस समय हाथों की उंगलियाँ व हथेली ज्ञान मुद्रा में होनी चाहिए। आँखों को बन्द कीजिए। मन को भृकुटी या हृदय में एकाग्र करने का प्रयास कीजिए। इस आसन पर बैठकर आप प्राणायाम भी कर सकते हैं। यदि आप ध्यान के लिए इसी आसन का प्रयोग करते हैं, तो आप अपने हाथों की उंगलियों को आपस में फँसाकर गोद में रख सकते हैं। यदि आप सिर्फ आसन ही कर रहे हैं तो मन को आप भृकुटी या हृदय में एकाग्र कर 10-15 मिनट बैठिए। इससे आपको बहुत लाभ मिलेगा। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को यह आसन सहायक सिद्ध होगा। मन की चंचलता कम होगी। मानसिक कार्य करने वालों के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है।

शीर्षासन – शीर्षासन श्रेष्ठ आसनों में से एक है। सबसे पहले आप कपड़े की एक गद्दी सी बना लें, ताकि उस पर सिर रखने पर आराम मिले। यह आसन शुरूआत में जब सीखें तो अपनी सहायता के लिए एक व्यक्ति का सहारा ले सकते हैं क्योंकि आसनकर्ता को सिर के बल खड़ा होना पड़ता है। शुरुआत में सिर के बल खड़ा होना असम्भव सा होता है, तब दूसरे व्यक्ति की सहायता से अपने पैरों को ऊपर

करके खड़े होने का अभ्यास डालें। कुछ समय बाद स्वयं अकेले अभ्यास करें। अथवा शुरुआत में दीवार का सहारा ले लें और अभ्यास करें। फिर कुछ समय बाद दीवार का सहारा न लें।

आसन करते समय कपड़े की गद्दी फर्श पर रख लें। फिर घुटनों के बल आगे झुकते हुए बैठ जाएँ। हाथों की हथेलियाँ फर्श पर होनी चाहिए। अब अपना सिर कपड़े की गद्दी पर रखें। हथेलियों को कानों की बगल में उचित दूरी बनाकर फर्श पर रखे। हथेलियों को सिर से इतनी दूरी पर रखें कि पैर उठाते समय शरीर का संतुलन बना रहे। अब पैरों को ऊपर उठाने का प्रयास करना चाहिए। पैरों को धीरे-धीरे उठाने का प्रयास करें। पैर ऊपर उठ जाने पर शरीर को सीधा रखना चाहिए। एड़ियाँ मिली होनी चाहिए। पंजे ऊपर की ओर करें। शुरुआत में पैर ऊपर उठाते समय परेशानी-सी महसूस होती है। इसी समय दूसरे व्यक्ति का सहारा ले लें। दूसरा व्यक्ति पैर ऊपर की ओर उठा दे, फिर आप दीवार का सहारा ले लीजिए। आपका सहायक व्यक्ति कुछ समय तक आप के पैरों के संतुलन पर निगाह रखे, ताकि आप एक ओर गिर न जाएँ। फिर आप स्वयं अकेले अभ्यास करें। आसन करते समय गर्दन को कड़ा रखें, ताकि आपकी गर्दन शरीर का भार आसानी से सह सके। गर्दन ढीली रखने पर आपको परेशानी हो सकती है। शरीर को स्थिर रखें, हिलने-डुलने न दें। आँखों को बन्द रखें, शान्त होने का प्रयास करें। शुरुआत में आसन एक-दो मिनट ही करें। फिर धीरे-धीरे इसकी अवधि बढ़ाते जायें। यह आसन करते समय आप के शरीर का रक्त का दबाव सिर की ओर होता है। इसलिए आसन के बाद कुछ देर तक शवासन मुद्रा में शांत होकर लेट जाएँ अथवा चुपचाप खड़े रहें ताकि सम्पूर्ण शरीर में रक्त का दबाव सही हो जाए।

इस आसन से ढेर सारे लाभ हैं– पाचन क्रिया तेज होती है, भूख खुलकर लगती है, आँखों की ज्योति तेज होती है, चेहरा तेजस्वी होता है, चेहरे पर जल्दी झुर्रियाँ नहीं पड़ती हैं, बुढ़ापा देर से आता है। वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने के लिए सबसे उपयोगी आसन है। ब्रह्मचारियों को यह आसन अवश्य करना चाहिए। मस्तिष्क की कोशिकाएँ पुष्ट होती हैं, सिर में चक्कर आना बन्द हो जाता है, याददाश्त बढ़ जाती है, मस्तिष्क सम्बन्धी रोग नहीं लगता है, हृदय मजबूत होता है, धमनियाँ और शिराएँ सही रूप से कार्य करती हैं, शीर्षासन के समय ऊर्ध्व पद्मासन कर सकते हैं। जब शीर्षासन का अभ्यास बढ़ जाए, तो इसी अवस्था में पैरों को मोड़कर पद्मासन लगा सकते हैं। फिर पैरों को खोलकर धीरे-धीरे ऊपर करें। ऐसा करने से पैरों और पिंडलियों में रोग नहीं लगते।

सर्वांगासन – आप सीधे लेट जाइए। हाथ भी सीधे करके कमर के दोनों ओर सटाते हुए जमीन पर चिपके रहने दें। अब दोनों पैरों को सीधा किये हुए ऊपर की ओर 90 अंश का कोण बनाते हुए उठाएँ। पैरों की एड़ियाँ और पंजे आपस में मिले रहें। अब अपने अन्दर श्वास खींचिए और कुम्भक कीजिए। फिर पेट और कमर को ऊपर उठाने का प्रयास कीजिए। उसी समय हथेलियों का दबाव फर्श पर दीजिए। इससे आपको शरीर ऊपर उठाने में सहायता मिलेगी। जब कमर थोड़ी ऊपर उठ जाए तो कमर के दोनों तरफ हाथ का सहारा दीजिए और दोनों हाथों से शरीर (कमर) ऊपर उठाने का प्रयास कीजिए। अब आपके शरीर को ऊपर जाने में आसानी होगी। हाथों के सहारे अब ज्यादा से ज्यादा कमर को ऊपर उठाएँ उस समय आपका पेट भी थोड़ा ऊपर हो जाएगा। कमर और पैर सीधा रखने का प्रयास कीजिए। अब आपके शरीर का भार कन्धों और गर्दन पर होगा। अपनी गर्दन को कड़ा रखें ताकि गर्दन पर अनावश्यक दबाव न पड़े। अब आपकी दृष्टि पैरों के अंगूठों पर होनी चाहिए। पैरों के पंजों का खिंचाव ऊपर (आकाश की ओर) होना चाहिए। शुरू में जितना हो सके उतनी देर तक इस मुद्रा में रहिए। फिर धीरे-धीरे अभ्यास के अनुसार समय बढ़ा दीजिए। इस आसन की अवधि 10 से 15 मिनट तक ले जाइए। जब आपको अच्छा अभ्यास हो जाए, तब शरीर को ज्यादा से ज्यादा ऊपर की ओर उठाइए। पैर सीधे ऊपर की ओर होने चाहिए। आसन करते समय धीरे-धीरे श्वास लीजिए व छोड़िए। फिर मन को गर्दन की ओर केंद्रित करिए। गर्दन में एक ग्रन्थि है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह ग्रन्थि पुष्ट होती है। फिर धीरे-धीरे खुलने में सहायता मिलती है। जिसकी साधना कण्ठ चक्र में हो, वे साधक यह आसन अवश्य करें। इस आसन के और बहुत फायदे हैं। रीढ़ की हड्डी लोचदार होती है। वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है। जिससे ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है। मस्तिष्क अधिक क्रियाशील होता है। जो लोग मस्तिष्क सम्बन्धी कार्य करते हैं, उन्हें ये आसन अवश्य करना चाहिए। पाचन शक्ति तेज होती है, हृदय सम्बन्धी रोग नहीं रहते हैं, और चेहरा तेजस्वी हो जाता है।

जब यह आसन किया जाता है तो गर्दन और कंधे जमीन पर टिके रहते हैं। रीढ़ की हड्डी घुमावदार बन जाती है जिससे रीढ़ की हड्डी लोचदार होने के कारण, रीढ़ में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ तेजी से सक्रिय होकर काम करने लग जाती हैं। इससे युवावस्था ज्यादा दिन स्थिर रहती है। आसन सिद्ध हो जाने पर आसन करते समय कमर से हाथ छोड़े जा सकते हैं, सिर्फ कन्धों के सहारे शरीर को शीर्षासन के समान रख सकते हैं। विभिन्न आसनों में यह आसन बहुत महत्वपूर्ण है।

भुजंगासन – इसे सर्पासन भी कहते हैं। सबसे पहले आप जमीन पर पेट के बल लेट जाइए। दोनों पैरों की एड़ियाँ आपस में मिली होनी चाहिए। अपनी हथेलियों को सीने के दोनों ओर फर्श पर सटाइए। अब आप अपना सिर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाइए। जब सिर पूर्ण रूप से ऊपर की ओर हो जाए, हथेलियों द्वारा फर्श पर जोर लगाइए और अपने सीने को ऊपर की ओर उठाइए जितना उठा सकते हैं। मगर याद रखिए, नाभि से निचला हिस्सा जमीन पर चिपका रहे। अब आपके शरीर की आकृति फन उठाये हुए सर्प की भाँति होगी। हाथ बिल्कुल सीधे होकर जमीन पर हथेलियाँ चिपकी होंगी। उस समय आपके कमर के पास की रीढ़ में हल्के दर्द की अनुभूति होगी, क्योंकि हड्डी वहीं से ऊपर की ओर मुड़ी होगी। आप ऊपर की ओर उतना ही मुड़ें जितना आसानी से मुड़ सकते हों, ताकि कमर के पास रीढ़ की हड्डी पर ज्यादा दबाव न पड़े। जैसे-जैसे आपका अभ्यास बढ़ता जाए, अपने सीने को ऊपर उठाकर पीछे की ओर झुकाने का प्रयत्न करें ताकि आपका सीना ज्यादा से ज्यादा ऊपर उठ सके। यह आसन कुण्डलिनी जागरण में सहायता देता है। इस आसन को करते समय थोड़ा प्राणायाम भी कीजिए।

पहले आप थोड़ा सा सीधा हो जाइए ताकि अन्दर श्वास खींचने में आसानी रहे। थोड़ा सीधे होकर आप जोर से श्वास अन्दर खींचे और महसूस करें आपके द्वारा खींची गयी प्राणवायु मूलाधार में एकत्र हो रही है। जब श्वास अन्दर खींच लें, फिर अपने सीने को पूरी तरह ऊपर उठाएँ और कुम्भक करें, और सोचें कि आपके द्वारा खींची गयी प्राणवायु मूलाधार में भरी है। जब आप कुम्भक समाप्त करें, तब आप अपना शरीर थोड़ा सीधा कर लें और धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल दें। फिर श्वास अन्दर खींचे और पूर्ववत हो जाएँ। इसी तरह प्राणायाम इस आसन पर करें। शुरू में प्राणवायु के विषय में कुछ भी समझ में नहीं आएगा। कुछ दिनों बाद लगेगा कि आपके द्वारा खींची गयी प्राणवायु मूलाधार में जा रही है। कुम्भक करने पर प्राणवायु मूलाधार में महसूस होगी। इसी प्राणवायु को मूलाधार में ज्यादा से ज्यादा देर तक रोकने का प्रयास करें। कुछ दिनों बाद यह प्राणवायु कुम्भक करने पर दर्द पैदा करेगी क्योंकि जब मूलाधार में प्राणवायु का दबाव होगा तो प्राण कुण्डलिनी को धक्के मारना शुरू कर देगा। यह अभ्यास नियमित करें। इस अभ्यास से रीढ़ सम्बन्धी रोग दूर होते हैं। पीठ, सीना व पेट में रोग नहीं लगते हैं और वायु विकार नहीं होता है। आसन समाप्त करते समय धीरे-धीरे सीना जमीन पर टिकाइए, फिर सिर रखिए। कुछ समय तक इसी अवस्था में शान्त लेटे रहिए, फिर उठें।

नाड़ी-शुद्ध आसन – आप सीधे बैठ जाइए। दोनों पैर आगे की और सीधे कीजिए। सीधे बैठे हुए ही दोनों पैरों को चौड़ा कीजिए। बायाँ पैर बायीं ओर और दाहिना पैर दाहिनी ओर कीजिए। दोनों पैरों की एड़ियों में आपस में ज्यादा से ज्यादा दूरी कीजिए। पंजों का खिंचाव सामने की ओर होना चाहिए। अब दाहिने हाथ से बायें पैर का अंगूठा स्पर्श करने का प्रयास कीजिए। अपना सिर बायें पैर के घुटने को स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए। यदि आपका शरीर अभी ज्यादा नहीं झुक पाता है तो निराश मत होइए। अब पहले की तरह सीधे हो जाइए। फिर बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को स्पर्श करने का प्रयास कीजिए। अपना सिर दाहिने पैर के घुटने को स्पर्श करने का प्रयास कीजिए। फिर आप पूर्ववत हो जाइए। यही क्रिया क्रमश: बार-बार कीजिए। दाहिने हाथ से बायें पैर का अंगूठा, बायें हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए तथा सिर भी घुटनों से स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए। कुछ दिनों बाद अभ्यास हो जाएगा। ऐसा करने से इड़ा, पिंगला नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। योग में इन नाड़ियों का बड़ा महत्त्व है। इनका शुद्ध होना अत्यन्त जरूरी है। इन नाड़ियों के शुद्ध होने पर सुषम्ना नाड़ी पर असर होता है। इड़ा, पिंगला नाड़ियाँ समान रूप से चलने में सहायता मिलती है। इन नाड़ियों के शुद्ध होने पर स्नायु मण्डल प्रभावित होता है। स्नायुमण्डल शुद्ध होकर क्रियाशील होने लगता है।

पश्चिमोत्तानासन – सीधे बैठ जाइए। अपने पैरों को सामने की ओर सीधा रखिए। पंजे और एड़ियाँ आपस में मिले रहने चाहिए। अब आप दोनों हाथ सीधे सामने की ओर बढ़ाइए। दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे और बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ने का प्रयास कीजिए। दोनों पैर के अंगूठे पकड़ने के बाद अपना सिर दोनों पैरों के घुटनों के बीच स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए। हो सकता है कि शुरुआत में पैरों के अंगूठे पकड़ में न आयें, लेकिन कुछ दिनों के बाद अभ्यास के द्वारा आप पैरों के अंगूठों को पकड़ लेंगे और सिर भी घुटनों के बीच स्पर्श होने लगेगा। इस आसन से कई लाभ हैं – इसके अभ्यास से पेट में चर्बी नहीं बढ़ती। यदि किसी की नाभि उखड़ गयी हो तो इस आसन के करने से नाभि अपने आप बैठ जाएगी। इस आसन से कुण्डलिनी जाग्रत करने में सहायता मिलती है। भुजंगासन की तरह प्राणायाम भी करना होता है। पहले सीधे होकर श्वास अन्दर खींचिए, फिर कुम्भक कीजिए और पैरों के अंगूठे को पकड़े हुए सिर घुटनों से स्पर्श कीजिए। कल्पना कीजिये कि आपकी प्राणवायु मूलाधार में जा रही है। फिर थोड़ा सीधा होकर वायु धीरे-धीरे निकालिए। फिर तेजी से श्वास अन्दर की ओर लीजिए। अब आप सोचिये कि आपकी प्राणवायु मूलाधार में जा रही है और कुम्भक कीजिए। आसन करते समय मन

मूलाधार में केंद्रित कीजिए। कुछ दिनों पश्चात् महसूस होगा कि प्राणवायु मूलाधार में जा रही है। कुम्भक होने पर जब आप सिर को घुटनों पर स्पर्श करा रहे होंगे, तब मूलाधार में हल्का-हल्का दर्द महसूस होगा। यह दर्द प्राणवायु के दबाव के कारण होता है। इसी प्रकार कुम्भक करते रहें। कुछ महीनों बाद आप की प्राणवायु कुण्डलिनी को धक्के मारना शुरू कर देगी। इससे कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलेगी। इस आसन का अभ्यास 10-15 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।

हलासन – सर्वप्रथम भूमि पर पीठ के बल लेट जाइए। हाथों को अपने शरीर से सटाते हुए भूमि पर रख लें। हथेलियाँ नीचे की ओर भूमि पर चिपकी होनी चाहिए। आपके पैरों की एड़ी व पंजे आपस में मिले होने चाहिए। अब आप अपने पैरों को एक साथ उठाते हुए ऊपर की ओर ले जाएँ। यह ध्यान रहे ऊपर उठाते समय पैर आपस में चिपके रहने चाहिए। हाथों से जमीन पर जोर लगाते हुए पैरों को सिर के पीछे की ओर ले जाइए। पैरों के पंजों को सिर से पीछे जमीन पर स्पर्श कराइए। हाथ जमीन पर सीधे चिपके रहें। उस समय आपकी कमर व पीठ जमीन से ऊपर की ओर उठी होगी। पैर सदैव सीधे रहने चाहिए, झुकने नहीं चाहिए। शुरुआत में पैरों के पंजों को सिर के पीछे जमीन पर स्पर्श कराने में तकलीफ महसूस होगी क्योंकि पीठ इतनी मुड़ नहीं पाती है। अभ्यास करने पर पीठ मुड़ने लगेगी फिर पंजे आसानी से जमीन पर स्पर्श कर लेते हैं। इस आसन से ढेरों लाभ हैं– पेट पर अनावश्यक चर्बी नहीं बढ़ती, पीठ व पेट का दर्द जाता रहता है, गले की ग्रन्थि पुष्ट बनती है।

वज्रासन – यह आसन साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस आसन को साधकों को अवश्य करना चाहिए। सर्वप्रथम भूमि पर सीधे बैठ जाएँ। दोनों पैरों को सामने की ओर सीधे फैला लें। अब बायाँ पैर मोड़ें। हाथों से पैर को पकड़कर पैर की एड़ी गुदाद्वार पर लगाएँ। गुदाद्वार को संकुचित कर एड़ी इस प्रकार लगाना चाहिए कि गुदाद्वार पूर्णरूप से बन्द हो जाए ताकि अपान वायु भी न निकल पाए। यदि आप ध्यान दें तो देखेंगे कि आपके इसी पैर के पंजे का ऊपरी भाग जमीन से स्पर्श कर रहा है। अब दाहिने पैर को अपनी ओर मोड़ें। पैर को हाथों से पकड़ कर एड़ी द्वारा लिंग द्वार को बन्द कर दें। फिर बिल्कुल सीधे होकर बैठ जायें। अब आपके शरीर का भार बायें पैर की एड़ी व पंजे पर होगा। यदि साधक इसी आसन पर बैठकर ध्यान करे तो निश्चय ही उसकी साधना में उन्नति होगी। यह आसन कुण्डलिनी जागरण में सहायक है। जब साधक के तीनों बन्ध (मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध,जालन्धर बन्ध) अपने

आप लगने लगें, तो साधक को इसी आसन पर बैठकर ध्यान करना चाहिए। इससे कुण्डलिनी शीघ्र उठ जाएगी। यदि साधक के ध्यान में तीनों बन्ध नहीं लगते, तो आसन करते समय यही तीनों बन्ध लगाकर बैठने का अभ्यास करना चाहिए। इससे ध्यान में भी तीनों बन्ध लगने लगेंगे। इसी आसन पर बैठकर प्राणायाम करना चाहिए। इन बन्धों का उल्लेख आगे करेंगे।

वीरासन – जमीन पर सीधे बैठ जाएँ। दोनों पैर आगे की ओर सीधे फैलाकर रखें। बायें पैर को बाहरी ओर से मोड़ते हुए हाथों का सहारा देकर पैर को पूरा मोड़ लें। फिर पैर के तलवे पर बायाँ नितम्ब रखें। इसी प्रकार दाहिने पैर को दाहिने ओर से होते हुए हाथों का सहारा देकर पूरा मोड़ लें। फिर इसी पैर के तलवे पर दाहिना नितम्ब रखिए। अब आपके दोनों नितम्ब पैरों के तलवे पर होंगे। अपने हाथ सीधे रखते हुए हथेलियों को पैरों के घुटनों पर रखिए। यह आसन साधक के लिए उस समय उपयोगी है, जब उसकी साधना पाँचवें चक्र में चल रही हो। इस चक्र में साधक की गर्दन पीछे जाने के कारण सारा शरीर पीछे की ओर झुकता है। अच्छी साधना होने पर साधक कभी-कभी पीछे की ओर गिर भी जाता है। उस समय इसी आसन पर बैठकर ध्यान करना चाहिए जिससे पीछे गिरने की सम्भावना भी कम हो जाएगी। यह आसन भगवान बजरंगबली के नाम से भी जाना जाता है। बहुत से भगवान बजरंगबली के उपासक इसी आसन पर बैठकर ध्यान करते हैं। इस आसन से सीना मजबूत होता है, शरीर निरोगी रहता है और नेत्र की ज्योति तेज होती है।

योगमुद्रासन – सर्वप्रथम सहजासन या पद्मासन लगाकर बैठ जाएँ। दोनों हाथों को पीठ के पीछे करें। अब बायें हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़ें। पकड़ी हुई कलाई मूलाधार के पास लगाएँ। दोनों हाथों में खिंचाव रखें। अब श्वास को जोर लगाकर निकाल दें। पेट में बिल्कुल वायु न रहे। फिर बाह्य कुम्भक करें और सिर को धीरे-धीरे आगे की ओर झुकाएं। जब सिर जमीन पर लग जाए तो इसे जमीन पर लगा रहने दें। फिर सीधे होकर श्वास लें, और पहले के समान सिर को धीरे-धीरे आगे की ओर झुकाकर जमीन पर लगा दें। यही क्रिया कई बार करें। इस क्रिया से कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलती है और मूलाधार में ऊपर की ओर खिंचाव होता है जिससे कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है, पेट में गैस सम्बन्धी रोग दूर होते हैं और मानसिक शक्ति बढ़ती है। यह आसन साधकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो, उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि कुण्डलिनी

ऊर्ध्व होने में यह आसन सहायक है। किसी-किसी साधक को यह आसन ध्यानावस्था में स्वयमेव लग जाता है, जब साधक का कण्ठ चक्र खुल गया हो। फिर जब कुण्डलिनी को कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र तक जाने में बहुत समय लग जाता है, उस समय यह आसन बहुत लाभकारी हो जाता है। जब साधक को ध्यानावस्था में यह क्रिया होने लगे, तो ज्यादा से ज्यादा गहरा और टिकाऊ कुम्भक करे। इसी स्थिति में रहने का प्रयास करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी में उग्रता आयेगी। मूलाधार में प्राण बिल्कुल न होने के कारण ऊपर की ओर जोर से खिंचाव होता है। ऐसा लगता है मानो मूलाधार टूटकर ब्रह्मरंध्र की ओर आ जाएगा। इससे कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने में तीव्रता आती है। जब तक साधक का ब्रह्मरंध्र न खुल जाए, तब तक यह अभ्यास करना चाहिए।

शवासन – यह आसन सभी व्यक्तियों के लिए लाभदायक है। उनके लिए यह आसन बहुत जरूरी है, जो स्थूल या मानसिक कार्य करने से थक जाते हैं। इस आसन को करने से थकान शीघ्रता से कम हो जाती है। फर्श पर बिछे हुए कम्बल पर सीधे लेट जाएँ। हाथ शरीर से सटाते हुए सीधे रखें। हथेलियाँ नीचे की ओर रखें। पैरों की एड़ियाँ आपस में मिली होनी चाहिए। अब शरीर को बिल्कुल ढीला करके छोड़ दें। अपने मन को दाहिने पैर के अंगूठे पर टिकायें। कुछ समय तक मन को अंगूठे पर एकाग्र रखें। फिर संकल्प करें कि आपके पैर के अंगूठे व उंगलियों की प्राणवायु सिर की ओर आ रही है, अंगूठा व उंगलियाँ प्राणवायु से रहित हो गयी हैं। फिर सोचें कि एड़ी व उसके जोड़ की प्राणवायु सिर की ओर आ रही है, वह जगह प्राणवायु से रहित हो गयी है। इसी प्रकार अब पिंडली, घुटना व जाँघ के लिए सोचें। जिस अंग के बारे में सोचें, मन वहीं केन्द्रित होना चाहिए। अब बायें पैर के अंगूठे पर मन एकाग्र करें। फिर क्रमश: पहले की भाँति पैर के अंगों के विषय सोचें, जब तक इस पैर के जाँघ तक न आ जाएँ। फिर कमर पर अपने मन को एकाग्र करें। सोचें कि प्राणवायु सिर की ओर आ रही है, वह जगह प्राणवायु से रहित हो गयी है। इसी प्रकार बायें हाथ की उंगलियों से लेकर कंधों तक सोचें। फिर सोचें कि कंधे और गले की प्राणवायु ब्रह्मरंध्र की ओर जा रही है। इसी प्रकार मुँह, नाक, आँखें, मस्तक आदि के विषय में सोचें। अब सोचो सिर्फ ब्रह्मरंध्र में ही प्राणवायु स्थित है। अब आँखें बन्द कर लेनी चाहिए। ब्रह्मरंध्र तक सोचने में गर्दन बिल्कुल ढीली हो जाएगी। इसलिए सिर एक तरफ लुढ़क जाएगा, अब शांत होकर लेटे रहिए। कम से कम 5 से 10 मिनट तक इसी अवस्था में रहिए। फिर यही क्रिया उल्टे ढंग से करनी है। ब्रह्मरंध्र से प्राणवायु मस्तक, आँखें, मुँह, नाक आदि में प्रवाहित होने लगी है, ऐसा सोचिए। फिर सोचिए गले, कंधे तक प्राणवायु

प्रवाहित होने लगी है। इसी प्रकार सीना, पेट और कमर तक सोचिए। कंधे से दाहिने हाथ की उंगलियों तक सोचें। इसी प्रकार बायें हाथ के लिए सोचें। फिर पैरों के सभी अंगों के लिए क्रमशः सोचें। जब आप सारे शरीर में प्राणवायु प्रवाहित करने की सोच लें, तो आप देखेंगे कि सभी अंगों में ताजगी सी आ गयी और लगेगा कि शरीर में स्फूर्ति भी आ गयी। कुछ क्षणों तक लेटे रहने के बाद उठें। जब आप शुरुआत में सोचेंगे तब आपको कुछ भी महसूस नहीं होगा। धीरे-धीरे जब आपका अभ्यास बढ़ जाएगा, तो आपको लगेगा कि सोचते ही प्राण वापस आने लगता है तथा महसूस भी होता है। अधिक अभ्यास होने पर सारी प्राणवायु ब्रह्मरंध्र में महसूस होगी। फिर उसी प्रकार क्रमश: हर अंग के लिए उल्टे ढंग से प्राणवायु प्रवाहित करने के लिए सोचना चाहिए जिससे सभी जगह प्राणवायु का संचार हो जाए। यह क्रिया इच्छाशक्ति पर निर्भर करती है। इस क्रिया में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। प्राणवायु को वापस प्रवाहित करने की क्रिया अवश्य सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। जल्दबाजी में आपके अंगों को परेशानी पहुँच सकती है। जब आपकी इच्छाशक्ति शक्तिशाली हो जाएगी, उस समय आपके कहने के अनुसार प्राणवायु ब्रह्मरंध्र में आ जाएगी और फिर वापिस प्रवाहित होने लगेगी। सारा शरीर शून्य-सा पड़ जाएगा। अगर प्राणवायु वापस प्रवाहित करते समय गड़बड़ी हो गयी तो लकवा जैसी भयंकर बीमारी होने का खतरा हो सकता है। यदि इस आसन को पूर्ण सिद्ध करना हो तो किसी मार्गदर्शक की देख-रेख में अभ्यास करें। शुरुआत में मार्गदर्शक की कोई खास आवश्यकता नहीं पड़ती। थोड़ा अभ्यास करके सभी लाभ उठा सकते हैं। इस आसन से ढेरों लाभ हैं।

सिद्ध पुरुष इस आसन को सिद्ध करके ढेरों काम करते हैं। यह बात योग में उच्चावस्था की है। इसके अभ्यास से सभी साधकों व आसनकर्ताओं की स्थूल व मानसिक थकान दूर हो जाती है। इस आसन का अभ्यास थोड़ा ज्यादा करने पर बुढ़ापा देर से आता है। जो साधक साधना के लिए 8-10 घंटे बैठते हैं, उनके लिए यह आसन बहुत जरूरी है, क्योंकि ध्यान पर ज्यादा बैठने के कारण पैरों में दर्द शुरू हो जाता है तथा पैरों की पिंडलियों की रक्त नलिकाओं में अवरोध सा आ जाता है। इस आसन के करने से यह परेशानी दूर हो जाती है। शवासन सिद्ध हो जाने पर कई प्रकार के कार्यों के लिए मार्ग खुल जाता है।

हम पहले लिख चुके हैं कि आसन कई प्रकार के होते हैं। जो आसन साधकों के लिए सहज ध्यान योग में सर्वाधिक उपयोगी हैं तथा ध्यान में जिन आसनों के अभ्यास से सहायता मिलती है, उन्हीं आसनों

के बारे में मैंने उल्लेख किया है। कुण्डलिनी जागरण के लिए ही आसन नहीं करने चाहिए। कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने का कार्य ध्यान के बिना असम्भव है; आसनों से सिर्फ सहायता मिल सकती है। जिनकी हड्डी टूटने के बाद जोड़ी गयी हो, उन्हें उस अंग का आसन नहीं करना चाहिए ताकि टूटी हुई हड्डी पर जोर न पड़े। चिकित्सकीय सलाह ले लें तो बेहतर है। वृद्ध पुरुषों को अपने आप कठिन आसन नहीं करने चाहिए, सिर्फ सरल आसन करने चाहिए। वैसे युवक भी तुरन्त कठिन आसन न करें, शुरुआत में सरल आसन करें। जब आसनों का अभ्यास बढ़ जाए तो कठिन आसनों को करने की शुरुआत करें। आसनों का अभ्यास निरंतर करना चाहिए; बीच में छोड़-छोड़ कर अभ्यास नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम

योग के आठों अंगों में प्राणायाम चौथा अंग है। योग में कुछ क्रियाएँ शारीरिक हैं और कुछ मानसिक हैं। मगर प्राणायाम शारीरिक व मानसिक दोनों है। योग में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। शरीर के अन्दर विभिन्न प्रकार की गन्दगी व दोष एकत्र हो जाते हैं, उन्हें साफ करने के लिए अन्य किसी उपचार या क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। अकेले प्राणायाम से ही सब कुछ ठीक हो सकता है। इससे शारीरिक क्षमता कायम रख सकते हैं तथा शरीर को तेजस्वी बना सकते हैं। मानसिक विकार दूर हो सकता है। प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है– प्राण + आयाम। प्राण का स्थूल और शाब्दिक अर्थ वायुमण्डल से ली गयी प्राणवायु का श्वास-प्रश्वास है। आयाम का अर्थ है फैलाना, उसे अपने वश में करके रोकना और चलाना। यहाँ पर एक बात बताना चाहूँगा, प्राण का अर्थ सिर्फ ऑक्सीजन का श्वास-प्रश्वास ही नहीं है, बल्कि प्राणवायु एक तत्त्व है जो आकाश तत्त्व से उत्पन्न हुआ है। पंचभूत तत्वों में से जो वायु तत्त्व है, यह प्राण उसी का स्वरूप है।

प्राणायाम को पहले पूरा समझने के लिए श्वास-प्रश्वास को समझना पड़ेगा। मनुष्य ही नहीं, सभी जीवधारियों को श्वास लेने की आवश्यकता पड़ती है। किसी भी जीवधारी का श्वास बन्द होने पर जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसलिए मनुष्य का जीवन भी श्वास-प्रश्वास पर निर्भर करता है। प्राणायाम करके इसी श्वास और प्रश्वास को अपने अनुसार रोककर और चलाकर संतुलित करते हैं। इसी श्वास-प्रश्वास के कारण हमारे शरीर के अंदर की क्रियाएँ हुआ करती हैं। यदि हम श्वास-प्रश्वास को प्राणायाम के द्वारा संतुलित और नियमित करने का अभ्यास कर लें, तो हम अपने शरीर के अंदर के अंगों को स्वयं अपनी इच्छानुसार संतुलित व नियमित करके अपने अनुसार कार्य ले सकते हैं। हम सभी जानते हैं यदि किसी यांत्रिक (मशीनरी) वस्तु की हम अच्छी तरह से रखरखाव रखेंगे व सन्तुलित रूप में कार्य लेंगे, तो वह काफी समय तक टिकाऊ व अच्छी हालत में रहेगी। इसी प्रकार जब हम अपने शरीर के अवयवों से संतुलित कार्य लेंगे, तो हमारा स्थूल शरीर भी पहले की अपेक्षा ज्यादा दिन तक स्वस्थ रहेगा। पहले की अपेक्षा का मतलब– प्राणायाम करने से पूर्व की स्थिति। इससे साफ जाहिर होता है कि प्राणायाम करने से श्वास-प्रश्वास पर अधिकार करके इच्छापूर्वक चलाने से उम्र बढ़ती है, युवावस्था ज्यादा टिकाऊ रहती है।

हमारे पृथ्वी के वायुमण्डल में ढेरों प्रकार की गैस हैं। मगर मनुष्य वायुमण्डल से जो गैस लेता है उसका नाम ऑक्सीजन है। यही ऑक्सीजन हमारे लिए जीवनदायिनी है। इसी ऑक्सीजन के सूक्ष्म रूप को प्राणवायु कहते हैं। जब हम सभी को वायुमण्डल से ऑक्सीजन श्वास के द्वारा शरीर के अंदर पहुँचती है तो प्राणवायु फेफड़े में भर जाती है। फेफड़े वायुमण्डल से आने वाली ऑक्सीजन में मिश्रित अत्यन्त छोटे-छोटे दूषित कणों को साफ करते हैं। शुद्ध ऑक्सीजन युक्त रक्त हृदय में भेजा जाता है। हृदय इसे धमनियों के द्वारा शरीर के सभी अंगों में पहुँचता है। अशुद्ध रक्त शिराओं के माध्यम से वापस हृदय में आता है। हृदय इसे फेफड़ों में पंप करता है, जहां इसे शुद्ध और ऑक्सीजनित किया जाता है। उसके बाद रक्त फिर से हृदय में आता है जिसे वह धमनियों के द्वारा शरीर के सभी अंगों तक पहुँचाने का कार्य करता है। हम जब श्वास को बाहर निकालते हैं, तो वायु में शरीर के अंदर स्थित गंदे सूक्ष्म कण प्रश्वास के द्वारा बाहर आ जाते हैं। बाहरनिकाली हुई वायु को कार्बन डाइऑक्साइड कहते हैं। इसी प्रकार हम सभी श्वास-प्रश्वास करते हैं क्योंकि सभी के शरीर के अंदर यही क्रिया होती है।

जो मनुष्य प्राणायाम नहीं करते, वे हल्की श्वास लेते हैं तथा श्वास-प्रश्वास भी जल्दी-जल्दी करते हैं। ऐसे मनुष्यों की उम्र जब थोड़ी ज्यादा होती है, तो उन्हें ढेरों प्रकार के रोग लगते हैं तथा बुढापा भी जल्दी आ जाता है। हल्की श्वास लेने पर फेफड़ा पूर्ण रूप से कार्य नहीं कर पाता है। उसका कुछ भाग निष्क्रिय सा रहता है तथा ठीक तरह से रक्त की शुद्धि नहीं हो पाती है। सूक्ष्म धमनियों में दबाव न होने के कारण बाह्य त्वचा में झुर्रियाँ सी पड़ जाती हैं। जब फेफड़े पूरी तरह से कार्य नहीं करेंगे तो मनुष्य को ढेरों बीमारियाँ लगनी शुरू हो जाती हैं। कभी-कभी कुछ भयानक रोग भी लग जाते हैं। इन सब रोगों से बचने के लिए हमें शुद्ध ऑक्सीजन लेना अति आवश्यक है। इससे शुद्ध रक्त संचार शरीर के अंदर होने लगता है। फेफड़ों को अधिक सक्रिय करने के लिए, फेफड़ों के प्रत्येक कोष्ठक को प्राणवायु पहुँचाने की अत्यन्त आवश्यकता है। उसके लिए सभी मनुष्यों को प्राणायाम करना आवश्यक है। प्राणायाम से मनुष्य को गहरी व धीमी गति से श्वास लेने की आदत पड़ती है जिससे फेफड़ों के सभी कोष्ठकों को प्राणवायु पहुँचने लगती है। साधारण मनुष्य के फेफड़ों का सिर्फ 1/2 भाग कार्य करता है, ऊपरी 1/4 भाग सदैव रिक्त रहता है और निचले 1/4 भाग में प्राणवायु सदैव भरी रहती है। निचले भाग के कोष्ठकों में वायुमण्डल से आए श्वास के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म कणों से अवरोध आ जाता है क्योंकि सूक्ष्म कणों के द्वारा कोष्ठक बन्द हो जाते हैं। यही भाग रोगों को जन्म देता है। श्वास हल्की लेने व छोड़ने से फेफड़ों के निचले भाग में दबाव नहीं पड़ता, इसलिए वायु

स्थिर रूप में भरी रहती है। दूषित वायु के कण धीरे-धीरे नीचे बैठ जाते हैं, जिनके कारण फेफड़ों के कोष्ठक बन्द से हो जाते हैं। जो मनुष्य प्राणायाम करता है, वह अंदर की ओर दीर्घ श्वास खींचता है जिससे फेफड़े पूर्ण रूप से भर जाते हैं। फिर वह प्रश्वास करते समय वायु पूरी तरह दबाव देकर निकाल देता है, जिससे फेफड़ों में स्थित सम्पूर्ण वायु बाहर आ जाती है। फेफड़ों का निचला चौथाई हिस्सा जो बहुत सालों से निष्क्रिय पड़ा होता है, वह भी कार्य करने लगता है तथा उनके कोष्ठकों पर जमी गंदगी की परत धीरे-धीरे वायु के दबाव के द्वारा साफ होने लगती है। इससे फेफड़ों के कोष्ठ खुलने लगते हैं। फिर फेफड़े सही रूप से कार्य करने लगते हैं।

मनुष्य के शरीर में फेफड़े थोड़े लम्बे आकार के होते हैं। फेफड़ों में स्पंज की भाँति असंख्य छोटे-छोटे कोष्ठकों (cells) का समूह होता है। ये कोष्ठक खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोष्ठक खुले होते हैं तो एक ओर से हृदय द्वारा भेजा गया अशुद्ध रक्त, दूसरी ओर से श्वास द्वारा ली गयी ऑक्सीजन द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। रक्त में मौजूद अशुद्धता प्रश्वास द्वारा वायु में मिलकर बाहर आ जाते हैं। इसी वायु को कार्बन डाइऑक्साइड कहते हैं। ऑक्सीजन सिर्फ रक्त की शुद्धि ही नहीं करती, बल्कि शरीर के अंदर जो सूक्ष्म कोशिकाएँ टूटती रहती हैं और नयी कोशिकाओं का निर्माण होता रहता है, इन टूटी हुई सूक्ष्म कोशिकाओं का मलबा कार्बन डाइऑक्साइड में मिलकर बाहर आ जाता है।

प्राणायाम के द्वारा शरीर के सभी अंगों से काम लिया जाता है। सभी अंगों द्वारा काम लेना आवश्यक है। हम जिस अंग से काम नहीं लेंगे, वह अंग निष्क्रिय-सा तथा सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। प्राणायाम से मनुष्य के शरीर के अंदर की सूक्ष्म कोशिकाएँ कार्य करने लगती हैं। प्राणायाम करने वाले साधक को अपने शरीर में सुषुप्तावस्था में पड़े अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्रों को जाग्रत करने में सहायता मिलती है। साधक जब कुम्भक करता है, तो उसकी प्राणवायु सुषुप्त कोशिकाओं में दबाव देती है, जिससे वे क्रियाशील होने लगती हैं। यही प्राण का दबाव जब मूलाधार चक्र में बढ़ता है तो वहाँ पर सूक्ष्म रूप में स्थित कुण्डलिनी जो सुषुप्तावस्था में होती है, उसमें धक्के लगने लगते हैं जिससे वह एक निश्चित समय में जाग्रत हो जाती है। प्राणवायु द्वारा नाड़ी शुद्ध होती है। इससे शरीर में स्थित चक्र खुलने में सहायता मिलती है। मनुष्य के मस्तिष्क में असंख्य सूक्ष्म कोशिकाएँ होती हैं। साधारण मनुष्य में ये सूक्ष्म कोशिकाएँ ज्यादा से ज्यादा मात्र 10 प्रतिशत से कम ही क्रियाशील हो पाती हैं, शेष कोशिकाएँ सुषुप्तावस्था में निष्क्रिय पड़ी

रहती हैं। मनुष्य अन्य कोशिकाओं को जाग्रत न कर पाने के कारण उनसे काम नहीं ले पाता है। मगर योगी ध्यान व प्राणायाम के द्वारा इन कोशिकाओं को जाग्रत कर मस्तिष्क में स्थित अद्भुत अपार शक्ति के भण्डार का स्वामी बनकर लाभ उठाता है। हम सभी जानते हैं कि मस्तिष्क दो भागों में बँटा हुआ है। एक को लघु मस्तिष्क कहते हैं, दूसरे को बड़ा मस्तिष्क कहते हैं। मनुष्य लघु मस्तिष्क से कार्य ज्यादा लेता है। यह मस्तिष्क ज्यादा सक्रिय रहता है। बड़ा मस्तिष्क ज्यादातर निष्क्रिय-सा पड़ा रहता है। इसके अंदर का भाग खोखला सा होता है। साधक की साधना जब कण्ठ चक्र खुलने के बाद चलती है तो लघु मस्तिष्क पहले खुलता है। जब लघु मस्तिष्क में कुण्डलिनी पहुँचती है तो वह लघु मस्तिष्क की कोशिकाओं को शीघ्र क्रियाशील कर देती है। कुण्डलिनी पहुँचने से पहले प्राणायाम द्वारा भी कोशिकाएँ खुलती हैं। जब कोशिकाएँ खुलती हैं तो इनमें दर्द महसूस होता है। कभी-कभी दर्द इतना होता है कि साधक को सहन करना मुश्किल होता है। अगर वह दर्द निवारक गोलियाँ खाए तो भी उसका खास प्रभाव नहीं पड़ता। साधक को यह दर्द सहना ही पड़ता है। जब भी नयी कोशिकाएँ जाग्रत होंगी, उनमें दर्द अवश्य होगा। इसी प्रकार जब बड़ा मस्तिष्क खुलने वाला होता है तो उसमें भी दर्द होता है। इस दर्द का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि हमारे अन्दर किसी प्रकार की कमी है, बल्कि प्राणवायु के दबाब के कारण कोशिकाएँ क्रियाशील होते समय दर्द महसूस होता है।

प्राणायाम के लिए याद रखें, कभी रात्रि के समय इसका अभ्यास न करें। क्योंकि रात्रि के समय वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा ज्यादा होती है। प्राणायाम करने का उपयुक्त समय प्रातःकाल है। वैसे दिन में कभी भी किया जा सकता है। प्रातःकाल सूर्य निकलने से पूर्व का वातावरण अच्छा होता है। प्राणायाम खुले वातावरण में, जहाँ शुद्ध वायु मिल सके, वहाँ करना चाहिए। साधक को ध्यान में उन्नति के लिए तीन बार प्राणायाम करना चाहिए। क्योंकि रोजाना भोजन करते हैं, उसमें (अन्न में) अशुद्धता भी होती है। यह अशुद्धता हमें अंदर से सूक्ष्म रूप से प्रभावित करती है। प्राणायाम करते समय सीधे बैठना चाहिए। सीधे बैठकर पूरक करने से फेफड़े में प्राणवायु ज्यादा भरती है, तथा सभी अंगों में रक्त संचार सही रूप से होता है। श्वास हमेशा गहरी लेनी चाहिए। प्राणायाम करते समय तीन तरह की क्रियाएँ होती हैं। पहली– श्वास लेना, दूसरी– ली गयी श्वास अंदर रोके रखना और तीसरी– श्वास को बाहर निकालना। इसी को क्रमश: पूरक, कुम्भक व रेचक कहते हैं।

पूरक – गहरी व दीर्घ श्वास लेते हुए प्राणवायु को अन्दर खींचना। एक बार में जितनी ज्यादा से ज्यादा श्वास खींच सकें, उतनी खींचना चाहिए। श्वास को अंदर खींचने को पूरक कहते हैं।

कुम्भक – अंदर ली गई श्वास को रोके रखना कुम्भक कहते हैं। हमें श्वास उतनी देर तक रोककर रखनी चाहिए कि शरीर के किसी अंग पर अनावश्यक दबाव न पड़े, जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। कुम्भक में थोड़ा हठ अवश्य करना पड़ता है, मगर उचित मात्रा में। अभ्यास बढ़ने पर कुम्भक की अवधि बढ़ानी चाहिए। कुम्भक जितनी ज्यादा देर का होगा, उतना ही साधक को लाभ होगा।

रेचक – कुम्भक द्वारा रोकी गयी प्राणवायु को बाहर निकालने को रेचक कहते है। रेचक करते समय प्राणवायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस समय जल्दबाजी न करें, संयम बरतें।

पहली बार प्राणायाम तब करें जब आप सुबह का ध्यान समाप्त करें। तब आसन व प्राणायाम करें। सुबह का प्राणायाम अच्छा होता है। यदि आप दिन में तीन बार प्राणायाम करते हैं तो दूसरी बार प्राणायाम दोपहर के भोजन करने से पहले खाली पेट में करें। तीसरी बार, अपनी सुविधानुसार सूर्य डूबने से पहले करें। तीन बार प्राणायाम से नाड़ी शुद्ध जल्दी होती है। साधना में नाड़ी शुद्धि का बड़ा महत्त्व है।

सूर्य नाड़ी चंद्र नाड़ी प्राणायाम – प्राणायाम करते समय भूमि पर कुछ बिछा लें। चादर या कम्बल बिछा सकते हैं। अब बिल्कुल सीधे होकर बैठ जाएँ। आप अपनी पसंद का कोई भी आसन जो आपको सिद्ध हो, वह लगाकर बैठ जायें। आप अपने अंदर की सारी वायु जोर लगाकर निकाल दें। फिर दाहिने हाथ के अंगूठे से नाक का दाहिना छिद्र दबाव देकर बन्द कर दें। मध्यमा और अनामिका अंगुली मिलाकर नाक का बायाँ छिद्र दबाव देकर बन्द कर दें। अन्य दोनों उंगलियों को सीधा रखें। अब बायें छिद्र से उंगलियों का दबाव हटाकर इसी बायें छिद्र से जोर से गहरी श्वास लें। श्वास इतनी गहरी लें कि आपके फेफड़े पूरी तरह से वायु द्वारा भर जाएँ। फिर मध्यमा और अनामिका उंगली के दबाब से बायाँ छिद्र बन्द कर दें और कुम्भक करें। ध्यान रहे कि जिस छिद्र से श्वास ले रहे हों, वायु सिर्फ उसी छिद्र से जाए। दूसरे छिद्र को पूर्ण रूप से बन्द रखना चाहिए। अब आपसे जितना कुम्भक हो सके, उतना ही कीजिए। ज्यादा जबरदस्ती दबाव नहीं देना चाहिए। जब आपको कुम्भक के कारण घबराहट सी होने लगे तो दाहिने छिद्र से अंगूठे को हटाकर धीरे-धीरे रेचक कर देना चाहिए। रेचक करते समय श्वास जल्दी से बाहर न निकालें। पूरी तरह से रेचक करने के बाद कुछ क्षण रुकें। फिर उसी दाहिने छिद्र से जोर से गहरी श्वास लेकर पूरक

करें। फिर दाहिने छिद्र को अंगूठे के दबाव से बन्द कर दें। फिर कुम्भक करें। कुम्भक करने के बाद बायें छिद्र से रेचक कर दें। फिर पहले की भाँति कुछ क्षण रुककर बायें छिद्र से पूरक करें। फिर अपनी क्षमतानुसार कुम्भक करके दायें छिद्र से निकाल दें। कहने का मतलब है कि जिस छिद्र से पूरक करते हैं तो रेचक दूसरे छिद्र से करें। जिससे रेचक करें, उसी से पूरक करें। इसी प्रकार एक छिद्र से छ: बार और दूसरे छिद्र से छ: बार, अर्थात कुल मिलाकर 12 बार प्राणायाम करें। इसको एक बार का प्राणायाम कहेंगे। इसको सूर्य नाड़ी चंद्र नाड़ी प्राणायाम कहते हैं। रीढ़ की हड्डी के बायीं ओर चंद्र नाड़ी होती है और दाहिनी ओर सूर्य नाड़ी होती है, इन्हें इड़ा और पिंगला नाड़ी भी कहते हैं। नाक के बायें छिद्र से जब श्वास लेते हैं, तो इससे चंद्र नाड़ी प्रभावित होती है। नाक के दाहिने छिद्र से जब श्वास लेते हैं, तो सूर्य नाड़ी प्रभावित होती है। जब इस प्राणायाम का अभ्यास अच्छा हो जाता है तो पूरक करते समय सोचते हैं कि प्राणवायु मूलाधार में एकत्र हो रही हैं। कुछ समय पश्चात् आपको महसूस होने लगेगा कि श्वास द्वारा खींची गयी प्राणवायु मूलाधार में जा रही है। कुम्भक करते समय जब प्राणवायु मूलाधार में दबाव बढ़ायेगी तब कुण्डलिनी पर धक्के लगने शुरू हो जाएँगे जिससे कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलेगी। इस प्राणायाम से नाड़ियाँ बहुत जल्दी शुद्ध होनी शुरू हो जाती हैं, पाचन क्रिया शीघ्र होने लगती है, चेहरे पर तेज आता है।

सूर्य नाड़ी प्राणायाम – आसन लगाकर सीधे बैठ जाए। दाहिने हाथ के अंगूठे से नाक का दायाँ छिद्र अर्थात सूर्य नाड़ी बन्द कर दें। मध्यमा और अनामिका से बायाँ छिद्र अर्थात चंद्र नाड़ी बन्द कर दें। इससे पूर्व आप अपने फेफड़ों से वायु पूरी तरह से निकाल दें। अब चंद्र नाड़ी को बन्द रखें। सूर्य नाड़ी से पूरक करें। गहरी श्वास लेते हुए आप अंगूठे से दबाव देकर दाहिना छिद्र बन्द कर दें और कुम्भक करें। जब रेचक करना हो तो सूर्य नाड़ी से ही करें। सारी वायु जोर लगाकर निकाल दें। कुछ क्षण रुककर फिर सूर्य नाड़ी से पूरक करें और कुम्भक करें। इस प्राणायाम में सूर्य नाड़ी से ही पूरक करेंगे और इसी से रेचक करेंगे। इस प्राणायाम को तब तक करते रहें, जब तक शरीर में गर्मी महसूस न होने लगे अथवा भीषण गर्मी न लगने लगे। चूँकि सूर्य नाड़ी गर्म होती है, इसके द्वारा किया गया प्राणायाम पेट में गर्मी बढ़ाता है, सर्दी से छुटकारा मिल जाता है।

भस्त्रिका प्राणायाम – सहजासन या पदमासन पर सीधे होकर बैठ जायें। नाक के दोनों छिद्रों से जोर से श्वास खींचे। फिर बिना कुम्भक किये जोर से श्वास निकाल दें। फिर दोनों छिद्रों से जोर से श्वास खींचें अर्थात पूरक करें। बिना कुम्भक किये रेचक जोर से कर दें। इस प्राणायाम में कुम्भक नहीं करते हैं, सिर्फ पूरक व रेचक करते हैं। रेचक करते समय जोर से वायु की आवाज आती है। ऐसा लगता है जैसे नाग फुफकार रहा हो। रेचक करते समय जोर से नाभि को पीछे की ओर धक्का देते हैं ताकि पेट में वायु न रह जाए। यह प्राणायाम अपनी शक्ति के अनुसार करें। शरीर थकने लगे तो बन्द कर दें। शुरुआत में पंद्रह से बीस बार प्राणायाम करें। यदि शरीर बहुत कमजोर हो तो इस प्राणायाम को न करें। इस प्राणायाम से फेफड़ों व हृदय में रक्त ले जाने वाली धमनियाँ और रक्त वापस ले आने वाली शिराएँ बड़ी तेजी से कार्य करती हैं। शरीर में गर्मी भी बढ़ती है, थकान भी महसूस होती है। इस प्राणायाम में नाड़ी शुद्ध बड़ी तेजी से होती है। यदि इस प्राणायाम को करते समय साधक जालन्धर बन्ध लगा ले तो प्राणवायु मूलाधार में सीधी टक्कर मारती है, इससे कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलती है। साधक को ऐसी अवस्था आती है कि भस्त्रिका प्राणायाम स्वयमेव होने लगता है। एक समय जब ध्यानावस्था में भस्त्रिका अपने आप चलने लगे तो समझ लेना चाहिए कि साधक की कुण्डलिनी जाग्रत हो गयी है। जाग्रत होने का अर्थ ऊर्ध्व होने से नहीं है, सिर्फ आँख खोल दी है क्योंकि आँख खुल जाने पर भी वह अपनी पहले जैसी अवस्था में बनी रहती है। ऊर्ध्व होने का अर्थ है ऊपर की ओर चढ़ना। जब साधना अच्छी हो जाती है और नाड़ी शुद्ध होने लगती है, तब स्वयमेव भस्त्रिका चलने से भी नाड़ी शुद्ध होती है। इस अवस्था में साधक को भस्त्रिका प्राणायाम अधिक से अधिक कई बार करना चाहिए। साधक की ध्यानावस्था में जब भस्त्रिका चलती है तो ऐसा लगता है मानो नाग फुफकार मार रहा है।

भ्रामरी प्राणायाम – सबसे पहले सहजासन पर सीधे होकर बैठ जाएँ। नाक के दोनों छिद्रों से जोर से श्वास अंदर की ओर खींचें और कुम्भक करें। सिर को पीठ की ओर झुकाएँ। सिर का पिछला हिस्सा पीठ से स्पर्श करायें। इससे आपकी गर्दन पीछे की ओर मुड़ जाएगी। फिर अपने गले के अंदर उंऽऽऽऽ, उंऽऽऽऽ की आवाज़ थोड़े तेज स्वर में उत्पन्न कीजिए। जब कुम्भक समाप्त हो जाए, फिर पूरक करके कुम्भक दुबारा कीजिए। फिर इसी प्रकार आवाज निकालिए, इसी प्रकार प्राणायाम कीजिए। यह प्राणायाम आप पाँच मिनट तक कीजिए। जब उंऽऽऽऽ, उंऽऽऽऽ की आवाज उत्पन्न करते हैं, तब ऐसा लगता है जैसे भौंरे की आवाज निकल रही है। इसीलिए इसको भ्रामरी (भौंरा) प्राणायाम कहते हैं। यह प्राणायाम उन

साधकों के लिए अति आवश्यक है जिनकी साधना कण्ठ चक्र में चल रही है। हम पहले लिख चुके हैं कि कण्ठ चक्र में साधकों को बहुत साल व्यतीत करना पड़ता है क्योंकि गले में एक ग्रन्थि होती है, वही प्राणों को अवरोध किए रहती है। जब साधक भ्रामरी प्राणायाम करता है तो उस ग्रन्थि में कम्पन होता है। इस प्रकार कम्पन पैदा करने से ग्रन्थि खुलने में सहायता मिलती है। साधक की ग्रन्थि जब तक पूर्णतया खुल न जाए, तब तक यह प्राणायाम करना चाहिए। जब यह ग्रन्थि खुल जाएगी, तब साधक कण्ठ चक्र को पार कर जाएगा; उसके बाद इस प्राणायाम को करने की आवश्यकता नहीं है। सिर्फ कण्ठ चक्र के लिए यह प्राणायाम किया जाता है। इस ग्रन्थि के खुलने में कुण्डलिनी भी सहायता करती है। वह अपने मुँह से धक्का मार-मारकर ग्रन्थि को खोलने का प्रयास करती है। इसी जगह को भ्रमर गुफा भी कहते हैं। जब साधक की साधना उग्र होती है तो ध्यानावस्था में स्वयमेव गर्दन पीछे चली जाती है और साधक के मुँह से उंऽऽऽऽ, उंऽऽऽऽ की आवाज़ निकलने लगती है।

सीत्कारी प्राणायाम – अपने किसी सिद्ध किये हुए आसन पर बैठ जाइए। फिर अपनी जीभ मुँह से बाहर निकालिए। जीभ के दोनों किनारों को ऊपर की ओर मोड़ते हुए आपस में मिलाइए। अब आपकी जीभ पोली नलकी की तरह हो जाएगी। कौवे के चोंच के समान बाहर निकालिए। जीभ की जो पोली जगह है, उसी से गहरी श्वास लेते हुए पूरक कीजिए। फिर उसे बिना कुम्भक किये नाक के दोनों छिद्रों से रेचक कर दीजिए। उसी जीभ के सहारे पूरक कीजिए। पूरक करते समय सीऽऽऽऽ, सीऽऽऽऽ की आवाज़ आनी चाहिए। इसीलिए इसको सीत्कारी प्राणायाम कहते हैं। फिर बिना कुम्भक किये नाक से रेचक कर दीजिए। यह प्राणायाम तब किया जाता है जब शरीर में अधिक गर्मी हो अथवा ग्रीष्म काल में करना चाहिए।

शीतली प्राणायाम – सीत्कारी और शीतली प्राणायाम में कोई विशेष अंतर नहीं होता है। अपनी इच्छानुसार किसी आसन पर बैठ जाइए और सीत्कारी प्राणायाम की भाँति जीभ को मुँह के बाहर गोलाकार करते हुए निकालें। अब जीभ के सहारे वायु को लम्बा गहरा खींचें और कुम्भक करें। जब मन घबराने लगे तो नाक के दोनों छिद्रों से रेचक कर दें। पूरक करने से जो जीभ के द्वारा ठंडी वायु अन्दर खींचते हैं, उससे सारे शरीर को ठण्डक मिलने लगती है, जिससे शरीर की गर्मी कम होती है। यह प्राणायाम ग्रीष्म काल में करना चाहिए। शरीर में ध्यान के कारण जब अधिक गर्मी हो गयी हो, तब भी यह

प्राणायाम बहुत उपयोगी है। साधक की कुण्डलिनी अगर उग्र है तो जाग्रत होने के कुछ समय पश्चात् पृथ्वी तत्त्व व जल तत्त्व को खाना शुरू कर देती है जिससे पेट के अन्दर स्थित आतों में पानी की मात्रा कम होने लगती है, जिसके कारण साधक को अत्यधिक शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता है। उस समय सीत्कारी और शीतली प्राणायाम दोनों करने चाहिए जिससे शरीर के अंदर ठण्डक मिलती है और राहत महसूस होती है।

त्रिबन्ध रेचक – सबसे पहले आप वज्रासन पर बैठ जाइए। पेट की सारी वायु बाहर निकाल दें। अब मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध तीनों बन्ध लगाकर बैठ जायें। फिर आखें बन्द कर लीजिए। कुछ दिन अभ्यास करने के बाद आपका पेट पीछे की ओर चिपकने लगेगा। मूलाधार में भी खिंचाव होना शुरू हो जाएगा। इस प्राणायाम में बाह्य कुम्भक ही किया जाता है। जब पूरक करना हो तो गर्दन सीधी करके पूरक कर लें, तुरंत रेचक कर दें और बन्ध लगा लें। इस प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलती है। जिन साधकों की कुण्डलिनी जाग्रत हो उन्हें यह प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। इससे कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है।

सर्वद्वार बन्द प्राणायाम – सर्वप्रथम अपने सिद्ध आसन पर बैठ जाइए। नाक के द्वारा गहरी लम्बी श्वास लीजिए। फिर दोनों हाथों के अंगूठों से दोनों कान बन्द कीजिए। दोनों तर्जनी उंगलियों से दोनों आँखें बन्द कीजिए। दोनों मध्यमा उंगलियों से नाक के दोनों छिद्र बन्द कीजिए। अन्य चारों उंगलियों से मुँह बन्द कर लीजिये। मूल बन्ध लगाकर मन भृकुटि में केंद्रित कीजिए। जब मन घबराने लगे तो नाक से रेचक कर दीजिए। फिर पूरक करके नाक के दोनों छिद्रों को बन्द कर दीजिए। धीरे-धीरे कुम्भक की अवधि बढ़ानी चाहिए। यह प्राणायाम उन साधकों को ज्यादा लाभकारी सिद्ध होगा जिनका कण्ठ चक्र खुल गया है। आज्ञा चक्र खुलने में यह प्राणायाम सहायक होता है। इस प्राणायाम के करने से मन एकाग्र होता है।

प्राणायाम करते समय सावधानियाँ बरतनी चाहिए। शुरू में जिस प्राणायाम को करने वाले हों, उसे अच्छी तरह से समझ लीजिए अथवा किसी अनुभवी व्यक्ति से पूछ लीजिए, फिर प्राणायाम करें। सर्दी की ऋतु में सीत्कारी, शीतली व चंद्रनाड़ी प्राणायाम नहीं करने चाहिए क्योंकि इन प्राणायामों से ठण्डक उत्पन्न होती है। यदि आपकी उग्र साधना के कारण कुण्डलिनी उग्र है और शरीर में गर्मी ज्यादा महसूस होती हो तो आप उचित मात्रा में ये प्राणायाम कर सकते हैं। जिन लोगों को वातदोष की शिकायत है, वे

भी यह प्राणायाम न करें। जिन्हें वातदोष की शिकायत रहती है, वे सूर्य नाड़ी चंद्र नाड़ी प्राणायाम, सूर्य नाड़ी प्राणायाम व भस्त्रिका प्राणायाम करें, जिससे वात की शिकायत धीरे-धीरे कम हो जाएगी।

प्राणायाम के समय कुम्भक जितना ज्यादा किया जाता है, मन को उतना ज्यादा स्थिर रहने की आदत पड़ती है। प्राणायाम साधक को ज्यादा-से-ज्यादा करना चाहिए। इससे नाड़ी शुद्ध होती है, रोग दूर होते हैं तथा कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता मिलती है। प्राणायाम का कुण्डलिनी से निकट का सम्बन्ध है। किसी-किसी स्थान पर प्राणायाम के लेखों में उल्लेख आता है कि प्राणायाम निश्चित अनुपात में करना चाहिए। मगर हमने कभी अनुपात का ध्यान नहीं दिया है। साधक अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुम्भक करे। कुम्भक करते समय अत्यन्त सूक्ष्म रूप से मंत्र का भी जाप किया जा सकता है। कुछ लोग कुम्भक की अवधि बढ़ाने के लिए कुम्भक करते समय गिनती भी करते हैं। यदि आप चाहें तो कुम्भक के समय कुछ न करें, सिर्फ शांत होकर बैठे रहें।

जब आप प्राणायाम का अभ्यास कर रहे हों, उस अवधि में आप सात्विक भोजन लिया करें क्योंकि भोजन का प्राण से निकट का सम्बन्ध है। भोजन के सूक्ष्म भाग से प्राण का निर्माण होता है। यदि भोजन तामसिक और अशुद्ध है, तो प्राण वैसा ही अशुद्ध होगा। प्राण मन को शक्ति देता है, इसलिए मन भी अशुद्ध व चंचल होगा। प्राणायाम के द्वारा प्राण का शुद्धिकरण होता है। इसलिए साधक को भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। वैसे प्राण भी स्वयं एक कोष (प्राणमय कोष) है। साधकों को अपनी साधना में उन्नति के लिए प्राणमय कोष को शुद्ध करना पड़ेगा। प्राणमय कोष तभी शुद्ध होगा, जब उसका अन्नमय कोष शुद्ध हो चुका होगा। अन्नमय कोष के अंतर्गत स्थूल शरीर आता है और प्राणमय कोष के अंतर्गत सूक्ष्म शरीर आता है। जिस साधक का प्राणमय कोष शुद्ध होता है, वह अपने सूक्ष्म शरीर पर अधिकार कर लेता है। सूक्ष्म शरीर की गति बहुत तेज होती है तथा पृथ्वी लोक से बाहर सूक्ष्म लोकों तक उसकी पहुँच होती है। क्योंकि सूक्ष्म लोकों का निर्माण सूक्ष्म पंच भूतों के द्वारा हुआ है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का निर्माण भी सूक्ष्म पंचभूतों द्वारा हुआ है। दोनों का निर्माण सूक्ष्म पंचभूतों द्वारा होने के कारण आपस में तारतम्य बना हुआ है। यह तारतम्य अति सूक्ष्म रूप से होता है। इसीलिए सूक्ष्म शरीर जब अभ्यास के द्वारा शुद्ध होने लगता है, तब सूक्ष्म शरीर की गति व व्यापकता सूक्ष्म जगत (सूक्ष्म लोकों) तक होने लगती है।

साधक अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा दूसरे लोकों का भी ज्ञान हासिल कर सकता है तथा साधक की अंतर्शक्ति भी बढ़ जाती है।

साधक की जब साधना उच्च स्थिति पर होती है, तब वह इन्हीं प्राणों की सहायता से दूसरों पर शक्तिपात कर सकता है। यही प्राणवायु जिस साधक पर शक्तिपात किया गया हो, उसके शरीर में सूक्ष्म रूप से प्रवेश करके कार्य करने लगती है। सद्गुरु अपने शिष्यों पर जो शक्तिपात करता है, वह यही सूक्ष्म रूप से प्राणवायु होती है।

बाह्य कुम्भक – जब आप रेचक करें तो पूरी तरह से वायु निकाल देनी चाहिए। फिर आप कुछ समय तक पूरक न करे। रेचक के बाद और पूरक से पहले की जो अवधि बिना प्राणवायु की रहती है, उसे बाह्य कुम्भक कहते है। शुरुआत में यह अवधि बिल्कुल कम होगी, क्योंकि वायु के बिना शरीर के अंदर घबराहट सी होती है। साधक को धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा बाह्य कुम्भक की अवधि बढ़ाना चाहिए। जिन साधकों की कुण्डलिनी ऊर्ध्व होती है, उन्हें बाह्य कुम्भक का अभ्यास ज्यादा से ज्यादा करना चाहिए। बाह्य कुम्भक के समय कुण्डलिनी उग्र होती है तथा ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है।

त्राटक

योग में त्राटक का महत्त्व बहुत बड़ा है। त्राटक का अर्थ है किसी एक ही वस्तु को बिना पलक झपकाये हुए देखते रहना। जब आप किसी वस्तु को टकटकी लगाए (बिना पलक झपकाए) देखते रहेंगे, तब आपका मन उस वस्तु पर केन्द्रित होने लगेगा। उस समय मन में चंचलता कम होने लगती है। जब साधक का मन ध्यानावस्था में अधिक चंचल होने लगे, तब उसे त्राटक के अभ्यास से स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए। नये साधक का मन साधना के शुरुआत में अधिक चंचल रहता है, क्योंकि उसे पहले कभी एक जगह ठहरने की आदत नहीं रही है। इसलिए त्राटक का अभ्यास हर साधक के लिए लाभकारी है। हर साधक को त्राटक का अभ्यास करना चाहिए, ताकि मन को स्थिर रहने की आदत पड़ सके। जब मन स्थिर होने लगेगा, तब उसकी चंचलता समाप्त होने लगेगी, फिर मन अंतर्मुखी होने लगेगा। इस प्रकार साधक का मन ध्यानावस्था में एकाग्र होने लगता है, फिर साधक की ध्यान में बैठने की अवधि बढ़ जाती है।

त्राटक करने के तरीके विभिन्न प्रकार के हैं। त्राटक आप किसी बिन्दु पर कर सकते हैं। किसी देवता के चित्र पर एक जगह केन्द्र बनाकर चुन लें। आप शीशे के सामने बैठकर अपनी भृकुटि पर भी त्राटक कर सकते हैं। किसी दीवार पर निशान लगाकर भी त्राटक कर सकते हैं। कुछ साधक दीपक की लौ पर भी त्राटक करते हैं। अब यह देखें त्राटक से होता क्या है। हमारी आँखों से वृत्तियाँ तेजस रूप में बाहर निकलती हैं, जिससे मन इधर-उधर के भोग्य पदार्थों पर भागता रहता है। जो वस्तु उसे अच्छी लगती है, उसी का सूक्ष्म रूप से भोग करता है। फिर स्थूल रूप से भोग करने के लिए अपनी इन्द्रियों को प्रेरित करता है। जो हमारी आँखों से वृत्तियाँ तेजस रूप में निकलती हैं, वह चारों ओर फैली रहती हैं। वह किसी को ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाती हैं। जैसे सूर्य की किरणें लेंस द्वारा एकत्र करके एक जगह पर डालते हैं, उस जगह पर एकत्र की गयी किरणें आग लगाने में सामर्थ्य रखती है। इसी प्रकार मन की किरणें एकत्र करके जब एक बिन्दु पर डाली जाए, वही किरणें अधिक शक्तिशाली ढंग से काम कर सकती हैं। इस अवस्था में मन की शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। वह जिस व्यक्ति के ऊपर अपनी नजर डालेगा, उस व्यक्ति से अपनी इच्छानुसार कार्य करा सकता है। क्योंकि जिस व्यक्ति पर नजर डाली जाएगी, उसका मन त्राटक करने वाले की अपेक्षा कमजोर होगा। त्राटक करने वाले का मन शक्तिशाली होने के कारण, मन तेजस रूप में दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है। फिर दूसरे का मन अपने वश में कर लेता है। त्राटक की

उच्चावस्था प्राप्त करने पर सम्मोहन करने का सामर्थ्य आ जाता है। कुछ व्यक्ति त्राटक का अभ्यास शुरू में ही दीपक की लौ पर करते हैं, मगर ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि दीपक के प्रकाश से आँखों में तीव्र जलन होने लगती है। शुरुआत में किसी चार्ट को ले लें। उसमें बिल्कुल छोटा सा नीला निशान लगा लें। बाजार में ॐ लिखे चार्ट भी मिलते हैं, जो सिर्फ त्राटक के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। उसे खरीद लें।

सबसे पहले त्राटक के लिए ऐसी जगह चुनें जहाँ बिल्कुल शांति हो, किसी प्रकार का कोलाहल न हो। जिस स्थान पर बच्चों, मोटरों, रेडियो आदि का शोर हो, वहाँ त्राटक नहीं करना चाहिए। त्राटक करते समय कानों में किसी प्रकार की आवाज़ सुनाई नहीं पड़नी चाहिए, नहीं तो मन एकाग्र नहीं होगा। त्राटक के लिए कोई समय निश्चित नहीं है। कभी भी किया जा सकता है। यदि जरूरत पड़े तो रात्रि के नौ-दस बजे अभ्यास कर सकते हैं। त्राटक करने के लिए आसन का प्रयोग करें। उसी आसन को बिछाकर बैठें। एक बिल्कुल साफ मुलायम कपड़ा ले लीजिए। आप रूमाल भी अपने पास रख सकते हैं यह आंसू पोंछने के काम आयेगा। त्राटक करने से पहले अपने पास रख लें। सामने दीवार पर चार्ट लगा लें चार्ट का रंग सफ़ेद हो, चार्ट के मध्य में नीले रंग का छोटा सा बिन्दु बना ले अथवा ॐ लिख लें। जिस जगह पर बिन्दु बना है या ॐ लिखा है, वह आपके आँखों के सीध पर रहे, ताकि आँखे न ज्यादा खोलनी पड़ें न कम खोलनी पड़ें। दृष्टि बिल्कुल सीधी पड़नी चाहिए, जिस पर त्राटक करना हो। जिस कमरे में आप त्राटक कर रहे हों उसमें प्रकाश न तेज रहे, और न प्रकाश इतना कम रहे कि आँखों पर जोर पड़े। मध्यम रोशनी हो तो अच्छा है। आप अपने आसन को बिछाकर बैठ जाइए। जिस बिन्दु पर आप त्राटक करने वाले हों वह बिन्दु और आपके आँखों की दूरी कम से कम एक मीटर की होनी चाहिए। त्राटक करते समय बिल्कुल सीधे बैठिए, ताकि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। अब आप चार्ट पर लगे बिन्दु को देखिए। ध्यान रहे आपको पलक बन्द नहीं करनी है। जब आप पलक बन्द नहीं करेंगे, तब आपकी आँखों में कुछ क्षणों बाद हल्की-हल्की थकान महसूस होगी। ऐसा मन में आयेगा कि पलक बन्द कर लूँ, मगर आप दृढ़ता के साथ खोले रहिए। आपको आँखें ज्यादा देर तक खोलने की आदत नहीं थी, इसलिए आँखों में जलन होने लगेगी। यदि जलन ज्यादा महसूस हो तो आँखें बन्द कर लीजिए।

आँखें बन्द करके तुरंत मत खोलिए; थोड़ी देर तक बन्द रखिए, ताकि आँखों को आराम मिल सके। जब आँखें बन्द कर लें, तब उन्हें खुजलाना नहीं चाहिए, सिर्फ बन्द किए रहना चाहिए। कुछ समय

बाद आपको आराम मिल जाएगा। आराम मिलने के बाद फिर पहले जैसा त्राटक कीजिए। त्राटक करते समय आपकी दृष्टि सिर्फ बिन्दु पर होनी चाहिए। इधर-उधर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। उस समय आप अपने मन में कुछ भी न सोचिए। यहाँ तक की उस समय मन के अंदर मंत्रोच्चारण भी नहीं करना चाहिए। मंत्रोच्चारण से मन केन्द्रित नहीं होगा। धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी जलन सहन करने की आदत डालिए। आपके आँखों से आंसू बराबर बहते जायेंगे। जब आँखों में ज्यादा थकान व जलन महसूस हो तब आँखें बन्द कर लीजिए। फिर अपने साफ कपड़े को कई परते (तह) लगाकर मोटा कर लें। मोटी तह लगी कपड़े से आंसू पोंछ लें। आंसू पोछते समय आँखें बन्द रखें। फिर कुछ समय तक बन्द रखकर आँखों को आराम करने दें। जब जलन बन्द हो जाए तो आँखों को खोल लें। अब त्राटक न करें। आराम से आप लेट जायें। एक बात का ध्यान रखें, आँखों के अंदर के आँसू व बहने वाले आँसू कभी भी उस समय हाथ से न पोंछे अथवा आँखों पर हथेलियाँ न रगड़ें, सिर्फ उसी मुलायम कपड़े का इस्तेमाल करें। क्योंकि त्राटक के कारण आँखों की बाह्य परत मुलायम हो जाती है। ऐसी अवस्था में हाथ रगड़ना हानिकारक हो सकता है। इसी प्रकार दिन में कई बार त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे त्राटक की अवधि बढ़ती जाएगी। जब आपके त्राटक की अवधि 10-15 मिनट हो जाए, तो आप त्राटक करने के बाद आँख बन्द करके उसी बिन्दु को देखने का प्रयास करें। कई बार प्रयत्न करने के बाद आँखें बन्द करने पर, आपको वही बिन्दु नजर आयेगा। वह स्थिर नहीं होगा बल्कि इधर-उधर, ऊपर नीचे धीमी गति करता नजर आयेगा। फिर लुप्त हो जाएगा। कुछ सप्ताहों बाद आपकी त्राटक की अवधि आधे घंटे हो जाएगी, उस समय आपका मन थोड़ा स्थिर होने लगेगा। आँखों में ज्यादा जलन नहीं होगी। जब आपका मन ज्यादा स्थिर होने लगेगा, तो आपको लगेगा कि आपकी आँखों से पीले रंग की किरणें निकल रही हैं और उस बिन्दु पर जा रहीं है। उस समय बिन्दु के आसपास हल्के पीले रंग का धब्बा नजर आयेगा; कभी दिखाई पड़ेगा, कभी लुप्त हो जाएगा। साधक को त्राटक की अवधि एक घंटे तक ले जाना चाहिए। पहले पीले रंग का धब्बा हिलता या अस्थिर नजर आयेगा, उस समय ऐसा भी लग सकता है कि आपकी आँखों से हल्के पीले रंग के गोल-गोल छल्ले निकलकर, बिन्दु पर पीले रंग का गोलाकार चमकीला धब्बा बना रहे हैं। आपकी आँखों से निकला यह पीले रंग का प्रकाश पृथ्वी तत्त्व को दर्शाता है। यह पीले रंग का प्रकाश आपके शरीर का पृथ्वी तत्त्व है। इस अवस्था में साधक का मन एकाग्र होने लगता है। यदि साधक त्राटक का अभ्यास और करे तो उसे साधना में जल्दी सफलता मिलती हैं। अब आप चार्ट को दो मीटर दूर भी कर सकते हैं।

जब आपको चार्ट पर पीला धब्बा स्थिर नजर आने लगे, तब आप आँखें बन्द करके देखिए। बन्द आँखों पर भी वही पीला धब्बा नजर आयेगा। कुछ समय बाद स्थिर होकर लुप्त हो जाएगा। साधक को त्राटक का अभ्यास करते-करते महीनों गुजर जाते हैं अथवा गिनती सालों में भी आ सकती है। यह साधक के अभ्यास के ऊपर है कि वह दिन में कितनी बार त्राटक करता है। वैसे दिन में दो-तीन बार त्राटक अवश्य करना चाहिए, फिर साधक की अपनी सुविधा। यदि साधक को त्राटक में माहिर होना है तो दिन में कई बार त्राटक का अभ्यास करे। जब उसका अभ्यास बढ़ जाएगा, तो पीले रंग के गोल धब्बे की जगह कभी हल्के लाल रंग का धब्बा नजर सा आने लगेगा अथवा पीले रंग के धब्बे के आसपास हल्का लाल रंग भी नजर आने लगेगा। हो सकता है लाल रंग से पूर्व हल्का-सा हरा रंग दिखाई पड़े। यदि हरा रंग दिखाई नहीं पड़ेगा तो लाल रंग नजर आयेगा। बीच में पीला रंग होगा। यह हरा रंग हमारे शरीर का जल तत्त्व है। लाल रंग का प्रकाश अग्नि तत्त्व है। जब साधक का अभ्यास बहुत ज्यादा हो जाता है तो यही धब्बा नीले रंग में परिवर्तित हो जाता है। अब आपको नीले रंग का चमकीला प्रकाश दिखने लगेगा। यह नीले रंग का धब्बा कुछ समय बाद लुप्त हो जाएगा, फिर उसी जगह पीले रंग का धब्बा नजर आयेगा। साधक का उद्देश्य यही नीले रंग का धब्बा है। यह हल्का नीले रंग का चमकदार दिखाई पड़ता है। यह आकाश तत्त्व का रंग है, कारण जगत से संबंधित है। ये नीले रंग की किरणें जो त्राटक के कारण आपकी आँखों से निकल रही होती हैं, ये किरणें अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। यदि साधक ध्यान दे तो याद होगा कि कारण शरीर का रंग भी हल्का नीला अत्यन्त चमकदार होता है। ये नीले रंग की किरणें इसी शरीर का अंश समझें। धीरे-धीरे साधक को यही नीले रंग का धब्बा स्थिर करना चाहिए। जब साधक नीले रंग के धब्बे को स्थिर कर लेता है तो समझो साधक का मन भी स्थिर हो जाता है। यह स्थिति साधक में सालों बाद आती है।

जब साधक को अपनी आँखों द्वारा नीली किरणें दिखाई पड़ने लगें, और किसी केंद्र पर स्थिर करने का अभ्यास हो जाए, तो साधक के अंदर असाधारण शक्ति आने लगती है। किसी व्यक्ति पर दृष्टिपात करके, उस व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार चला सकता है। जिस जगह भीड़ पर वह दृष्टि डालेगा और इच्छा करेगा तो वह भीड़ दृष्टिपात कर्त्ता की ओर आकर्षित हो जाएगी। क्योंकि उसके द्वारा निकली अत्यन्त शक्तिशाली किरणें भीड़ में सभी लोगों के शरीर के अंदर प्रवेश कर जायेंगी, और ये शक्तिशाली किरणें उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में प्रभावित करेंगी, जिससे सभी व्यक्ति उस दृष्टिपात कर्त्ता की ओर

प्रभावित हो जायेंगे। किसी भी साधारण व्यक्ति का मन निर्बल होता है। त्राटक के साधक का मन अत्यन्त सशक्त होता है। सशक्त मन होने के कारण निर्बल मन पर अधिकार कर लेता है।

त्राटक करने वाले की आँखें बहुत तेज हो जाती हैं। उन्हें आँखों का रोग नही लगता है। यदि कोई मनुष्य दृष्टि कमजोर होने के कारण चश्मा लगाता है तो त्राटक करने से उसका चश्मा लगाना बन्द हो जाएगा। बिना चश्मे के साफ दिखाई देने लगेगा। त्राटक करने वाले साधक को बुढ़ापे तक चश्मे की जरूरत नहीं पड़ती है। मगर त्राटक वही करे, जिसकी आँखों में किसी प्रकार का रोग नहीं हो। यदि किसी प्रकार का आँखों का रोग है, पहले चिकित्सक से रोग ठीक करवा ले, अथवा चिकित्सक से सलाह ले लें, तब त्राटक की शुरुआत करें। क्योंकि रोगी आँखों से त्राटक करने पर उसका रोग आँखों के अंदर जा सकता है। जब आँखों में किसी प्रकार का रोग न हो, तब त्राटक करें। फिर आँखें रोगी नहीं होंगी। साधक को यदि अपनी आँखें अत्यन्त तेजस्वी करनी हैं, तो उसे चार्ट के बिंदु का त्राटक छोड़कर मोमबत्ती की लौ पर त्राटक का अभ्यास क्रमश: आगे बढ़ाना चाहिए। इसलिए पहले चार्ट पर, फिर मोमबत्ती की लौ पर अभ्यास करना चाहिए। यदि दीपक के लौ पर अभ्यास करना है, तो घी के दीपक से अभ्यास करें तो अच्छा है, क्योंकि घी का दीपक जलाने पर कार्बन मोनोऑक्साइड नहीं निकलती है। जिस लौ (ज्योति) से कार्बन मोनोऑक्साइड न निकले, उस लौ (ज्योति) पर अभ्यास करना चाहिए। कार्बन मोनोऑक्साइड से साधक को हानि पहुँच सकती है। श्वास द्वारा यह गैस साधक के शरीर में प्रवेश करेगी तथा आँखों को भी नुकसान पहुँचा सकती है।

जब दीपक की लौ पर अभ्यास करें, तो कमरे में पूरी तरह से अंधकार होना चाहिए। कमरे का पंखा बन्द कर दें। बाहर से भी हवा का प्रभाव नहीं होना चाहिए। दीपक की लौ हिले नहीं, लौ स्थिर होनी चाहिए। जिस प्रकार पहले बिंदु पर त्राटक करते थे, उसी प्रकार दीपक की लौ के ऊपरी नोक पर पूर्ण अंधकार में व शांत वायु में त्राटक करना चाहिए। शुरुआत में दीपक की लौ और आपकी आँखों की दूरी एक मीटर होनी चाहिए। लौ पर त्राटक करने के कुछ समय पश्चात् आपकी आँखों में तीव्र जलन होगी। आंसू भी निकल आयेंगे। यदि आपका बिन्दु पर त्राटक का अभ्यास एक घंटे का होगा, तो लौ पर त्राटक करने पर 15-20 मिनट में आँखों में जलन व दर्द हो जाएगा। इसी प्रकार लौ पर त्राटक का अभ्यास 30-

40 मिनट तक किया जाना चाहिए। यदि एक घंटे का अभ्यास हो जाए तो और भी अच्छा है। इस अवस्था में साधक की आँखें बहुत तेजवान हो जाएगी।

जब साधक का लौ पर अभ्यास एक घंटे का हो जाए तो त्राटक का अभ्यास अब पेड़ पर करना चाहिए। साधक को यह अभ्यास गांव के बाहर या शहर के बाहर करना चाहिए। दूर एकांत में निकल जाए, अपने से दूर पेड़ के सबसे ऊपरी सिरे पर जो नोक के समान प्रतीत हो उस पर त्राटक करें। शांत बैठकर पेड़ के सबसे ऊँचे सिरे पर नुकीले भाग को देखे। इससे आपको दूर का त्राटक सिद्ध होगा। कुछ समय बाद जिस भाग पर आप त्राटक कर रहे हैं, उसके पीछे आकाश में आपको पीले रंग का धब्बा दिखने लगेगा। जब आपका अभ्यास ज्यादा हो जाएगा, तो आकाश में पीले धब्बे के स्थान पर नीले रंग का धब्बा नजर आयेगा। यह नीला धब्बा आपके आँखों द्वारा निकला हुआ तेज है। इसके बाद सूर्य का त्राटक करना चाहिए।

सूर्य त्राटक का बहुत बड़ा महत्त्व है। किसी भी साधक को सूर्य का त्राटक एकदम नहीं करना चाहिए। क्रमश: बिन्दु और दीपक पर त्राटक करने के बाद करें तो अच्छा है। क्योंकि सूर्य का प्रकाश बहुत तेज होता है। आँखें खराब भी हो सकती हैं। लेकिन जिसने लौ पर त्राटक कर लिया हो, उसकी आँखें खराब होने का डर नहीं होता है। सूर्य पर त्राटक करने के लिए पहले उगता हुआ सूर्य देखें, फिर सूर्यास्त के समय त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। शुरुआत में आधे घंटे का अभ्यास रुक रुक कर करना चाहिए, जिससे आँखों पर गलत प्रभाव न पड़े। फिर अपनी क्षमतानुसार अपना समय बढ़ा दें। जिस समय आप सूर्य पर त्राटक का अभ्यास कर रहे हों, उस समय यदि आप इधर-उधर किसी वस्तु पर दृष्टि डालेंगे, वह वस्तु आपको हल्के नीले रंग के तेज प्रकाश में दिखाई देगी। यदि आप अपनी दृष्टि किसी पुरुष पर डालेंगे तो वह आपको नीले रंग के प्रकाश में दिखाई पड़ेगा। यदि आप अपनी दृष्टि उसके सिर पर डालें और आप अपने मन में सोचें कि आप हमारे पास आइए तो वह व्यक्ति आपके पास आ जाएगा। हो सकता है, तुरंत न आये। आप कई बार यही संकेत उसके पास भेजिए, तो वह तुरंत आ जाएगा। वैसे यह सब हमें नहीं लिखना चाहिए। यह क्रिया सम्मोहन विद्या में आती है। लेकिन साधक को जानकारी हो जाए, इसलिए यहाँ पर उल्लेख किया। सम्मोहन विद्या से साधक का कुछ लेना-देना नहीं है। उसे आत्म-साक्षात्कार की ओर जाना है। सूर्य त्राटक करने वाले साधक की आँखें बहुत तेज हो जाती हैं। उसकी आँखों में विशेष

चमक आ जाती हैं। साधक को साधना में सहायता के लिए बिन्दु का त्राटक पर्याप्त है। यदि उसके पास समय हो तो त्राटक बिन्दु से आगे करना चाहिए। अभ्यास ज्यादा होने पर उपयोगी रहेगा।

साधक को भविष्य में यदि गुरु पद पर जाना है अथवा वह योग का मार्गदर्शक बनना चाहता है और मार्गदर्शन करने की सारी योग्यताएँ उसके पास है, तो मैं ऐसे साधकों से कहूँगा कि उन्हें त्राटक में अवश्य महारत हासिल करना चाहिए। इससे शक्तिपात करने की क्षमता बढ़ जाएगी। किसी भी दूर बैठे साधक पर आँखों द्वारा आप शक्तिपात कर सकते हैं। आप कुण्डलिनी भी आँखों के द्वारा शक्तिपात से उठा सकते हैं। ऐसा साधक शक्तिशाली हो जाता है। मगर साधकों, मैं अवश्य यह लिखना चाहूँगा कि यदि आपकी कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा कर चुकी है और यह स्थिर भी हो गयी है, तो भी आप बराबर समाधि का अभ्यास करते रहिए तथा सूर्य पर त्राटक भी करते रहिए। आपकी आँखों पर शरद ऋतु में सूर्य का दोपहर के समय किसी प्रकार का अवरोध नहीं होगा, बल्कि सूर्य आपको चन्द्रमा के समान हल्के प्रकाश वाला दिखाई देगा क्योंकि आपकी आँखों द्वारा निकली नीली रंग की किरणों से सूर्य का प्रकाश प्रभावहीन दिखाई देगा।

जहाँ तक मेरा त्राटक का अनुभव है, किसी समय हमने बहुत ज्यादा अभ्यास किया था। अपने साधना काल में तो त्राटक किया करता था, मगर साधना पूर्ण होने पर भी त्राटक का अभ्यास बहुत किया था। मैंने त्राटक में महारत कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद ही पायी थी। उस समय मैं मिरज आश्रम से घर आ गया था। पहले शाकम्भरी (सहारनपुर) के आश्रम में अभ्यास किया करता था। फिर शाकंभरी से घर वापस आ जाने पर अभ्यास करने लगा। घर पर ग्रीष्म काल में सूर्य पर त्राटक सूर्य निकलने से दस बजे तक किया करता था फिर सूर्यास्त से पूर्व किया करता था। सुबह कई घंटे सूर्य पर त्राटक करने से हमारी आँखें बहुत तेजस्वी हो गयी थी। ग्रीष्म काल में सुबह से ही सूर्य तेज चमकने लगता है। सूर्य पर त्राटक के समय सदैव आँखें खुली नहीं रहती थी। बीच में आँखें बन्द भी करनी पड़ती थीं क्योंकि आँखों में तीव्र जलन होती थी। उस समय हमारी आँखों से दूसरा पुरुष ज्यादा देर तक आँखें नहीं मिला सकता था क्योंकि हमारी आँखों से अत्यन्त तेजस्वी किरणें निकला करती थीं।

उस समय हमें सदैव अत्यन्त तेजस्वी नीले रंग का दूर सामने गोला दिखाई पड़ता था। मेरी आँखों से किरणें निकल रही हैं, यह भी हम प्रत्यक्ष देख सकते थे। क्योंकि उस समय हमारी साधना बहुत तीव्र

चल रही थी। प्राणायाम भी बहुत करता था। शरीर बिल्कुल शुद्ध हो गया था, मगर ज्यादा त्राटक के कारण हमें परेशानी होने लगी। जिस स्थान पर हमारी दृष्टि पड़ती थी उस स्थान पर नीले रंग का तेजस्वी गोलाकार धब्बा दिखाई पड़ता था। नीले रंग के धब्बे के कारण हमें स्थूल वस्तु उस स्थान की नहीं दिखाई पड़ती थी, क्योंकि नीला प्रकाश नजर आता था। यदि हमारे सामने कोई व्यक्ति आ रहा होता तो उसका चेहरा हम नहीं देख सकते थे, क्योंकि वही चमकीले नीले रंग का गोलाकार धब्बा दिखाई देता था। उस पुरुष का चेहरा ही नजर नहीं आता था। उस समय मैं किसी व्यक्ति को भी नहीं पहचान सकता था। यदि मैं अखबार पढ़ता, तो यहाँ भी अवरोध आता था। जिस जगह दृष्टि पड़ती थी उस स्थान पर नीले प्रकाश का धब्बा नजर आता था। शब्द दिखाई नहीं देते थे, अखबार पढ़ना बन्द हो गया था। मैं कुछ भी लिख नहीं सकता था। हाँ, त्राटक के कारण कभी-कभी हमें अपने शरीर के अंदर के अंग दिखाई पड़ने लगते थे। सच तो यह है कि यह अंग सूक्ष्म शरीर के अंदर विद्यमान रहते हैं, वह दृष्टिगोचर होते थे। मैं खुली आँखों से अपने मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाओं को देख लेता था। बस, कुछ सेकेंड दृष्टि स्थिर करनी पड़ती थी। जब मैं आकाश में देखता, तो आकाश में नीले रंग के धब्बे के केन्द्र में अत्यन्त तेजस्वी बिन्दु (रंगहीन) सुई की नोक के बराबर आकार का चमक जाता था और उसी समय लुप्त हो जाता था। इस अत्यन्त तेजस्वी रंगहीन बिन्दु के सामने सूर्य का प्रकाश नगण्य है। यह बिन्दु कारण जगत का था। आपको पढ़ने में आश्चर्य होगा मगर यह सत्य है उस समय हमारी दिव्य दृष्टि त्राटक के कारण खुली स्थूल आँखों से भी कार्य करती थीं।

एक बार मैं दोपहर के समय में सूर्य पर त्राटक करके कमरे में लेटा था। कुछ समय बाद हमें नीले रंग के कण कमरे में उड़ते दिखायी दिये। यही कण ज्यादा मात्रा में हो गये। ऐसा लगा कमरे में नीले रंग का हल्का प्रकाश भरा है। अब हमें अपने कमरे की छत व दीवारें दिखायी देनी बन्द हो गयीं। मेरी आँखें खुली थीं, मगर मैं स्थूल वस्तु नहीं देख सकता था। काफी समय तक ऐसा बना रहा। मुझे त्राटक के कारण स्थूल वस्तुएं न दिखने के कारण बड़ी परेशानी होने लगी। मैंने त्राटक बन्द कर दिया। सूर्य सदैव चंद्रमा की तरह दिखाई पड़ता था त्राटक के समय। साधकों, त्राटक के विषय में यह मेरा स्वयं का अनुभव है। उस अवस्था में मैं खुली आँखों से किसी भी व्यक्ति के विषय में जान सकता था। मगर आप सभी को इतना अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं हैं। मैं उस समय किसी वस्तु की खोज कर रहा था, इसलिए इतना त्राटक करना जरूरी था।

अशुद्धता

योग में शुद्धता का बड़ा महत्त्व होता है। अशुद्धता के कारण साधक को योग में अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत समय लगता है अथवा कई जन्म लग जाते हैं। अशुद्धता ही साधक के योग मार्ग में रुकावट है। अशुद्धता का अर्थ है तमोगुण। आज के युग में अशुद्धता की भरमार है। आप किसी भी क्षेत्र में देखिए तो पायेंगे कि अशुद्धता ही अशुद्धता है। और तो और स्वयं पृथ्वी के वायुमण्डल में अशुद्धता ही ज्यादा मात्रा में व्याप्त है। हर मनुष्य में अशुद्धता की मात्रा बहुत अधिक होती है। चित्त में जो कर्माशय होते हैं, उनमें ज्यादातर अशुद्धता भरी होती है। साधक जब साधना करना शुरू करता है तो यही अशुद्धता ही अवरोध डालती है। यह अवरोध सूक्ष्म नाड़ियों में भी भरा होता है। इसीलिए नाड़ियों को शुद्ध करने के लिए प्राणायाम किया जाता है। जो साधक जितना अधिक प्राणायाम करेगा, उसकी सूक्ष्म नाड़ियाँ उतनी अधिक शुद्ध होती हैं। चित्त में तमोगुण प्रधान कर्माशयों के कारण अशुद्धता की अधिकता सदैव बनी रहती है। जब तक तमोगुणी कर्माशय समाप्त नहीं हो जाते हैं, तब तक अशुद्धता बनी रहती है। जब तमोगुणी अहंकार पूर्ण रूप से अति सूक्ष्म हो जाता है, तब शरीर के अंदर से अशुद्धता चली जाती है। मगर प्रकृति के नियमों के अनुसार तथा पृथ्वी पर अशुद्धता व्याप्त होने के कारण शरीर में अशुद्धता कुछ मात्रा में सदैव बनी रहती है।

जब साधक ध्यान पर बैठता है तो उसके शरीर से अशुद्धता निकलती है तथा सत्त्वगुण की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती है। इसी अशुद्धता के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। इसलिए साधक को सदैव अशुद्धता से बचने का उपाय करना चाहिए। जितना बचाव हो सके उतना कीजिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ अपनी ही अशुद्धता अपने शरीर के अंदर रहती है, बल्कि दूसरों की अशुद्धता भी हमारे शरीर के अंदर आ जाती है। दूसरों की अशुद्धता अपने शरीर में कई प्रकार से आती है। खासतौर से साधक का शरीर अशुद्धता बहुत खींचता है। कारण यह है साधक के शरीर में सत्त्वगुण की अधिकता साधना के कारण हो जाती है। अशुद्धता की मात्रा कम होने लगती है। इस अवस्था में साधक स्वयं अपने वलय द्वारा दूसरों की अशुद्धता खींचने लगता है। इसीलिए साधक ज्यादातर एकांत व शुद्ध वातावरण में चले जाते हैं। एकांत व शुद्ध वातावरण में अशुद्धता की मात्रा कम रहती है। इससे साधना में शीघ्र उन्नति होने लगती है। मगर इस तरह तो सभी साधक एकांत में जा नहीं सकते हैं। क्योंकि

ज्यादातर साधक गृहस्थी वाले होते हैं, वह गृहस्थी छोड़कर तो जा नहीं सकते हैं। उनको गृहस्थ धर्म का पालन करना है। साधकों को गृहस्थ में रहकर भी ज्यादा से ज्यादा शुद्धता का पालन करना चाहिए।

भोजन के माध्यम से अशुद्धता की मात्रा अधिक आती है। ऐसा समझो भोजन के द्वारा भोजन बनाने वाले की इच्छाएँ भी आ जाती हैं। जब हम भोजन करते हैं तो भोजन बनाने वाले की इच्छाएँ व अशुद्धता ग्रहण करना होता है। इसलिए साधक के लिए अच्छा है कि भोजन स्वयं बनाए अथवा किसी अध्यात्मिक व पवित्र स्वभाव वाले से बनवाए। इस प्रकार का भोजन साधक के लिए लाभदायक होगा। बाजार की बनी हुई चीजें साधक को नहीं खानी चाहिए। सच तो यह है कि बाजार में बिकने वाले फल भी अशुद्धता का शिकार होते हैं। जो फल आप तक पहुंचे हैं वह बहुत से लोगों के हाथों से गुजरकर आते हैं। कई लोगों की निगाहें उन फलों पर पड़ती हैं। फल खरीदने के विचार से ग्राहक जब फलों को देखता है उस ग्राहक की अशुद्धता नेत्रों के द्वारा फल के अन्दर आ जाती है। क्योंकि मन तेजस रूप में नेत्रों के द्वारा निकलता है। ग्राहक की इच्छाएँ फलों में आ जाती हैं। इन्हीं इच्छाओं में उसकी अशुद्धता भी छुपी रहती है। इसलिए साधकों, बड़ा मुश्किल है शुद्धता से रहना क्योंकि आजकल सारा सामान बाजार से ही खरीदकर लाया जाता है। दूसरों की अशुद्धता ग्रहण करना हम सबकी मजबूरी है।

साधक जब अपने मित्रों से मिलता है, बाजार में जाता है अथवा किसी भी स्थान पर घूमने के लिए जाता है तो अपने अंदर अशुद्धता ही लाता है। हाँ, यह बात और है कि शुद्धता देकर भी आता है। जो व्यक्ति जितना ज्यादा अशुद्ध होता है, वह साधक को उतनी ज्यादा अशुद्धता दे देता है। सबसे ज्यादा अशुद्ध व्यक्ति हिंसक, दुष्ट स्वभाव वाले, नशा करने वाले, अत्यन्त आलसी आदि इस श्रेणी में आते हैं। इसलिए साधक को अनावश्यक नहीं घूमना चाहिए। व्यक्तियों से अनावश्यक ज्यादा मिलना-जुलना नहीं चाहिए। सिर्फ जरूरत भर ये कार्य करने चाहिए।

साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि साधारण व्यक्ति से ही अशुद्धता आती है। साधक के अंदर अन्य साधकों से भी अशुद्धता आती है। साधक बन जाने का अर्थ यह नहीं है कि अशुद्धता उसके भीतर नहीं रह गयी। हमने देखा है कुछ साधक तो सामान्य व्यक्तियों से भी अधिक अशुद्धता से युक्त होते हैं। साधक की अशुद्धता तो तभी कम होगी जब वह योग में उच्चावस्था को प्राप्त करता है। साधक जब सामूहिक रूप से ध्यान करते हैं, तो बड़ी तीव्रगति से एक साधक की अशुद्धता दूसरे साधक के अंदर आ

जाती है। ध्यानावस्था में शरीर के अंदर से अशुद्धता बड़ी तेजी से बाहर निकलती है। जो साधक उससे अधिक शुद्ध होता है, यह उसके शरीर में समा जाती है। एक साथ साधना करने पर अथवा सामूहिक रूप से साधना करने पर साधकों के वलय एक-दूसरे में समाये रहते हैं अथवा मिल जाते हैं। इस अवस्था में जिस साधक की शुद्धता ज्यादा होती है, वह ज्यादा अशुद्धता ग्रहण कर लेता है क्योंकि अशुद्धता रूपी अत्यन्त सूक्ष्म कण दूसरे साधक के वलय में समा जाते हैं। जो साधक जितना अशुद्ध होगा उसका वलय भी उतना ही ज्यादा अशुद्ध होगा। जो साधक जितना शुद्ध होगा उसका वलय भी उतना ज्यादा शुद्ध होगा। जब वलय मिलकर कुछ समय के लिए एक हो जाते हैं, तो अशुद्धता और शुद्धता आपस में मिल जाती है। निस्संदेह, हानि तो अधिक शुद्धता वाले साधक को ही उठानी पड़ेगी।

अब आप सोच रहे होंगे कि अशुद्धता आती कहाँ से है और जाती कहाँ है। अशुद्धता आने के विषय में ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है। क्योंकि सभी जगह अशुद्धता का ही साम्राज्य है। कुछ व्यक्तियों में कर्मानुसार ज्यादा अशुद्धता होती है तो कुछ में कम होती है। इसीलिए आजकल पूरी तरह से शुद्ध रहना बड़ा मुश्किल है। बल्कि अगर यह कहा जाए कि शुद्ध रहना असंभव है तो यह सत्य होगा। यदि शुद्ध रहना है तो जंगलों में जाना होगा क्योंकि पेड़-पौधे शुद्धता देते हैं व अशुद्धता ग्रहण कर लेते हैं। यदि आप जंगल में चले भी गये तो शुद्ध बनने में सहायता तो मिलेगी, मगर जब तक चित्त में रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ हैं तब तक तो साधक के अंदर अशुद्धता बनी ही रहेगी। जब तक चित्त में वृत्तियाँ व तमोगुणी अहंकार है, अशुद्धता अवश्य रहेगी। जब साधक का तमोगुणी अहंकार अतिसूक्ष्म हो जाएगा, उस समय वह अत्यन्त उच्च कोटि का योगी बन जाएगा। जन्म-मृत्यु का बन्धन उसे प्रभावित नहीं कर पाएगा।

जब साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होती है तो यही अशुद्धता उसके मार्ग में बाधक बनती है। कुण्डलिनी का स्वरूप चैतन्यमय है, इसलिए अशुद्धता को कुछ मात्रा में जला देती है तथा सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ा देती है क्योंकि जहाँ तक कुण्डलिनी चढ़ती है वहाँ तक पृथ्वी तत्त्व व जल तत्त्व को जला देती है और उस स्थान पर चैतन्यता बिखेरती जाती है। इस प्रकार कुण्डलिनी साधक की एक निश्चित मात्रा में अशुद्धता नष्ट करती जाती है।

हमने पहले लिखा है कि साधक सामान्य व्यक्ति से अधिक अशुद्धता ग्रहण करता है। फिर आप सोचते होंगे, साधक अशुद्धता का क्या करता है? साधक शुद्ध कैसे बनता है? साधक जब ध्यान करता है,

तब योगबल से अशुद्धता जल जाती है तथा कुछ मात्रा में बाहर फेंक दी जाती है। मगर सामान्य व्यक्ति दूसरे की अशुद्धता ग्रहण करता रहता है। यही अशुद्धता चित्त में निचली सतह पर जाकर संचित कर्मों में मिल जाती है। कुछ प्रारब्ध कर्मों में मिल जाती है यदि आप अक्सर सिगरेट पीने वालों के साथ रहते हैं तो आपकी भी इच्छा सिगरेट पीने की चलने लगेगी। मगर दृढ़ इच्छा शक्ति वालों पर इन सब क्रियाओं का असर नहीं पड़ता है। जब सिगरेट के धुएँ की अशुद्धता आपके अंदर समा गयी तो इसे निकाल नहीं पायेंगे।

सम्पूर्ण प्रकृति तीन गुणों से बनी है। इसलिए तमोगुण का रहना जरूरी है। तमोगुण के कारण अशुद्धता बनी रहेगी, मगर सभी को चाहिए जितना हो सके अशुद्धता से बचें तो अच्छा है। अशुद्धता के कारण अशुद्ध विचार उत्पन्न होंगे, जो व्यक्ति को पतन के मार्ग पर ले जायेंगे। शुद्धता से शुद्ध विचार बनेंगे, जो मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर ले जायेंगे।

जो व्यक्ति तांत्रिक व मांत्रिक होता है, वह भूत-प्रेत व तामसिक शक्तियों की पूजा करता है ऐसे व्यक्ति तमोगुणी कहलाते हैं। इनका भोजन भी तामसिक होता है। ऐसे व्यक्तियों में अशुद्धता कूट-कूटकर भरी होती है, अशुद्धता का अम्बार होता है। साधकों को ऐसे व्यक्तियों से बचना चाहिए। तामसिक शक्ति की सर्वोच्च देवियाँ चण्डी और काली हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सात्विक साधक इनकी (काली देवी व चण्डी देवी) पूजा न करे। यदि साधक की इच्छा हो तो पूजा कर सकता है। यह देवियाँ तामसिक होने के बावजूद आपको सात्विक शक्ति ही देंगी, क्योंकि आदिशक्ति स्वरूपा हैं।

साधकों को चाहिए कि वे रोजाना जो अशुद्धता ग्रहण करते हैं, उसे अपने योग बल से जला दें। उसे अपने शरीर में ज्यादा दिन तक न रोकें, नहीं तो साधकों का ही नुकसान होता है। अपनी निजी अशुद्धता पर भी मंत्रबल का प्रहार करते रहना चाहिए। भोजन करने से पूर्व भोजन की अशुद्धता दूर करने के लिए योगबल का प्रयोग करें, वरना अशुद्धता नहीं निकलेगी। अशुद्धता पर योगबल की मार लगाता रहे ताकि यह कमजोर पड़ती रहे। हाँ, आपका योगबल जरूर थोड़ा-सा नष्ट होगा। आप साधना के माध्यम से योगबल अर्जित करते रहिये। यदि आपके पास योगबल कम है, तो अपने गुरुदेव से मार्ग दर्शन लीजिए। तथा योगबल के विषय में जो थोड़ा लिखा है वह ध्यानपूर्वक पढ़िए, आपको अवश्य लाभ होगा।

मंत्र जाप

मंत्र जाप स्वयं अपने आपमें मंत्र योग है। साधकों को उत्कृष्ट साधना के लिए आवश्यक है, वह मंत्र योग की सहायता लें। मंत्र योग में मंत्र जाप करना होता है। मंत्र के जाप से शक्ति उत्पन्न होती है। इससे आसपास का क्षेत्र भी पवित्र होता है। साधक के अंदर शुद्धता भी बढ़ती है। मंत्र जाप जितना ज्यादा किया जाएगा, साधना में सफलता उतनी शीघ्र मिलेगी। मंत्र जाप करने से पहले मंत्र बोलने की विधि सीख लेनी चाहिए। मंत्र बोलते समय मंत्र का उच्चारण सही रूप से होना चाहिए। तथा मंत्र बोलने का भी विशेष तरह का तरीका होता है। यह तरीका किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखना चाहिए। क्योंकि मंत्र बोलने का एक विशेष प्रकार का उतार-चढ़ाव होता है। जब तक मंत्र विधिपूर्वक नहीं बोला जाएगा तो वह ज्यादा फलित नहीं होगा। इसलिए मंत्र का उच्चारण विधिपूर्वक व सही करना चाहिए। मंत्र का उच्चारण कभी गलत नहीं होना चाहिए। यदि मंत्र का उच्चारण गलत किया जाएगा तो मंत्र के द्वारा हानि भी पहुँच सकती है। मैंने कई जगह देखा है कि मंत्र बोलने का तरीका सही नहीं था। मंत्र सामूहिक रूप से बोला जा रहा था। मंत्र बोलने का अर्थ भी बहुत गलत निकल रहा था। मंत्र बोलने वालों को किसी प्रकार का लाभ नहीं मिल रहा था। मैंने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा मंत्र बोलने का लाभ तामसिक शक्तियाँ उठा रही थी। वहाँ पर स्थित सूक्ष्म रूप से तामसिक शक्तियाँ हवन की सामग्री खा लेती थी। तथा मंत्र गलत बोलने के कारण, मंत्र का मूल अर्थ से भिन्न अर्थ निकल रहा था। उस मंत्र से सात्विक शक्ति निकलने के बजाय तामसिक शक्ति निकल रही थी। वहाँ पर स्थित तामसिक शक्तियाँ उस तामसिक शक्ति को ग्रहण कर लेती थीं। मगर मंत्र बोलने वालों को इस विषय में मालूम नहीं था क्योंकि वे साधारण पुरुष थे।

मंत्र बोलने का ढंग कई प्रकार का होता है। एक, मंत्र का उच्चारण जोर-जोर से करना। दो, मंत्र का उच्चारण धीमी आवाज़ में करना। तीन, मंत्र का उच्चारण मन के अंदर करना। जोर-जोर से मंत्र उच्चारण करना मंत्र की पहली अवस्था है। इस प्रकार मंत्र जाप करने से साधक का मन एकाग्र होने लगता है, तथा आसपास के वातावरण में पवित्रता आने लगती है। मगर इसका फल कम मिलता है क्योकि इसमें मन ज्यादा एकाग्र नहीं हो पाता है। मंत्र की आवाज़ इतनी होनी चाहिए कि आपकी आवाज़ से किसी दूसरे को अवरोध न हो। हमारे द्वारा मंत्र जाप का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि अपने जाप के खातिर दूसरे को परेशानी पहुंचे। धीमी आवाज़ में मंत्रोच्चारण करना चाहिए। इसका फल मध्यम श्रेणी का होता है। इसमें सिर्फ ओठ हिलते हैं और मुँह से निकलने वाली आवाज़ मंत्रोच्चारण करने वाले को ही सुनाई देती है। इस

अवस्था में साधक का मन एकाग्र ज्यादा होता है। इसका फल भी पहली अवस्था से ज्यादा मिलता है। किसी दूसरे को कोई हानि भी नहीं पहुँचती है। मंत्र जाप करने का सबसे अच्छा तरीका है कि उसका मंत्र जाप अंतःकरण में चले। यह अवस्था साधक में सबसे बाद में आती है। साधक को यही अवस्था लानी चाहिए, इस अवस्था में मन बिल्कुल एकाग्र होता है। इसका फल भी पूरा मिलता है। साधक में किसी प्रकार की बाह्य हलचल नहीं होती है। साधक बिल्कुल शांत बैठा रहता है। साधक को क्रमश: इसी प्रकार का जाप करना चाहिए। यदि साधक शुरुआत से ही आँखें बन्द करके मंत्र जाप करने लगेगा, तो उसका मन तुरंत एकाग्र नहीं होगा क्योंकि मन तो चंचल है। इसलिए धीरे-धीरे अभ्यास करना चाहिए। मंत्र जाप करते समय आधार के लिए माला का प्रयोग किया जाता है। इससे साधक अपना एक लक्ष्य बना लेता हैं कि हमें इतनी मात्रा (गिनती) में जाप करना है। लेकिन मन के अंदर जाप करते समय माला से गिनती नहीं हो पाती है। अर्थात माला आगे खिसकाना रुक जाता है अथवा हाथ से छूट जाता है क्योंकि मन एकाग्र होने लगता है। जब मन एकाग्र होने लगता है तब माला की गुरिया आगे बढ़ाने की याद नहीं रह जाती है। जब तक माला चलती रहे तो यह समझ लो मन एकाग्र नहीं हुआ है। वैसे यह क्रिया धीमी आवाज़ में जाप करने पर भी हो जाती है। उसमें भी मन एकाग्र होने लगता है। मगर जो साधक जोर-जोर से मंत्रोच्चार कर रहा हो उसमें यह क्रिया नहीं होती है क्योंकि मन एकाग्र नहीं होता है। मगर मंत्र जाप का फल अवश्य मिलता है। हर एक मंत्र का अपना अलग अलग देवता होता है। मंत्र जाप करते समय साधक को बहुत जरूरी है कि उस मंत्र के देवता के स्वरूप का काल्पनिक रूप से अवलोकन करे। इससे मन एकाग्र होने में सहायता मिलेगी।

आजकल कुछ मनुष्यों का कहना है कि मंत्रों में कुछ भी शक्ति नहीं होती है; हमने हजारों-लाखों मंत्र जाप किये, मगर उसका फल नहीं मिला? मंत्र जाप करने का फल क्यों नहीं मिला अथवा मन क्यों स्थिर नहीं हुआ। यह कारण अगर वह ढूंढ़े तो जवाब अवश्य मिलेगा। कारण यह भी हो सकता है, मंत्र जाप करते समय आपका उच्चारण सही न हो। आपके अंदर का विश्वास भी कमजोर हो सकता है। मंत्र जाप करते समय अपने कार्य पर विश्वास पूर्ण रूप से होना चाहिए, फिर सफलता अवश्य मिलेगी। संदिग्ध बिल्कुल नहीं रहना चाहिए। आपके मन व शरीर में शुद्धता नहीं होगी। मन व शरीर में शुद्धता होनी अति आवश्यक है। जब तक शुद्धता नहीं आयेगी तो आपके द्वारा बोला गया मंत्र कितना प्रभावी होगा यह कहना मुश्किल है। यदि मंत्र का उचित फल लेना है तो साधक को शुद्ध रहना अति आवश्यक है। यही

कारण है कि आजकल के व्यक्ति स्वयं तो शुद्ध नहीं रहते हैं और मंत्र को दोष देते हैं कि अब इस मंत्र में शक्ति नहीं रह गयी। सच तो यह है मंत्र में इतनी शक्ति है कि आज भी मंत्रोच्चारण से उस मंत्र का देवता उपस्थित हो जाता है। मगर उस देवता के दर्शन करने के लिए दिव्य दृष्टि होना जरूरी है क्योंकि बिना दिव्य दृष्टि के देवता दिखाई नहीं पड़ेगा। उसके शरीर की संरचना अत्यन्त सूक्ष्म कणों द्वारा निर्मित है, इसलिए चर्म चक्षु नहीं देख सकते हैं। जो मंत्र बोला जाता है उस मंत्र के प्रभाव से वायु मण्डल में कम्पन होता है। जब मंत्र का प्रभाव अभ्यास के द्वारा सूक्ष्म होता है, तो वायु तत्त्व में कम्पन्न होने से वह कम्पन देवता तक पहुँचता है। जब मंत्र का प्रभाव उस देवता तक पहुँचता है तब वह देवता मजबूर होकर साधक के सामने उपस्थित हो जाता है। यह क्रिया उस समय होती है जब मंत्र सिद्ध हो जाता है।

आदिकाल के ऋषि-मुनि अपने द्वारा बोले गये मंत्र बल पर कुछ भी कार्य करने में सफल होते थे। क्योंकि स्वयं उनके अंदर अत्यन्त शुद्धता होती थी तथा दृढ़ निश्चय होकर मंत्रजाप करते थे, तभी ये मंत्र उन्हें सिद्ध होते थे। यदि सही ढंग से मंत्र बोला जाए तो अवश्य कभी न कभी आपको मंत्र सिद्ध हो जाएगा। मगर मंत्र सिद्ध करने के लिए नियम-संयम का पालन करना होगा तथा धैर्य से काम लेना होगा। जब आप मंत्र जाप करेंगे तो आपकी अशुद्धता कम होगी तथा निश्चित मात्रा में कर्म भी जलेंगे। मंत्र को प्रभावी होने में कई वर्ष लग सकते हैं। इस जगह आप कह सकते हैं कि हमारा मार्ग तो 'सहज ध्यान योग' है, फिर मंत्र जाप को इतना ज्यादा क्यों शामिल किया गया है। यह सच है कि हर योग में दूसरे योग मार्ग का सहारा लेना पड़ता है।

साधकों, अब थोड़ा मंत्र के विषय में और लिखूँ तो अच्छा रहेगा। क्योंकि अभी तक उन साधकों के विषय में लिखा है जो नये साधक हैं अथवा उच्च अवस्था प्राप्त नहीं हुई है। अब थोड़ा उच्च श्रेणी के साधकों को अथवा जिन्होंने कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा करके उसकी स्थिरता प्राप्त कर ली है। साधकों, मैं आज भी मंत्रों का जाप करता हूँ। मैंने साधना काल में बहुत मंत्रों का जाप किया है तथा कुण्डलिनी स्थिरता के बाद और अब भी मंत्रों का जाप करता हूँ। मैं एक बार अपनी चाहे समाधि का समय कम कर दूँ, मगर मंत्र जाप नहीं छोड़ता हूँ। सच तो यह है कि मंत्र में बहुत शक्ति होती है। हम समाधि के द्वारा जितना योगबल एक साल में प्राप्त कर पाते हैं, उतना योगबल मंत्र जाप के द्वारा मात्र कुछ देर में प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए मैं आज तक कभी भी योगबल के बारे में कमजोर नहीं पड़ा। मैं किसी का भी मार्गदर्शन

करते समय साधक से अपनी इच्छानुसार कार्य ले लेता हूँ। इस कार्य के लिए मैं ज्यादा मात्रा में योगबल का प्रयोग करता हूँ। यदि मैंने सोचा साधक के शरीर के अंदर यह क्रिया होनी चाहिए तो अवश्य होगी। हमारा कहने का अर्थ यह है कि मुझे योगबल की कमी नहीं है क्योंकि मुझे कुछ मंत्र पिछले जन्मों से सिद्ध हैं। उनका लाभ उठाता हूँ। योग के माध्यम से हमें मालूम पड़ गया था कि मुझे पूर्व जन्म में यह मंत्र सिद्ध थे। इस जन्म में भी सिद्ध किए हैं। साधकों, इन मंत्रों को सिद्ध करने के लिए मैंने बड़ा कष्ट सहा है, स्थूल शरीर की भी खूब दुर्गति हुई है। क्योंकि किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कठोरता के साथ नियम संयम का पालन करना पड़ता है।

आप कुण्डलिनी उग्र करने के लिए कुण्डलिनी मंत्र या शक्ति मंत्र का प्रयोग कीजिए। जब आपकी कुण्डलिनी कण्ठ चक्र तक आ गयी हो, तब इस मंत्र का प्रयोग अवश्य कीजिएगा। इससे कुण्डलिनी में उग्रता आयेगी। अशुद्धता भी कम होगी तथा कण्ठ चक्र खुलने में सहायता मिलेगी। कण्ठ चक्र खुलने के बाद से ब्रह्मरंध्र खुलने तक मंत्र का जाप अधिक लाभकारी होता है। जब आप शक्तिमंत्र का जाप करेंगे तो अवश्य ही कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने का प्रयास करेगी। ब्रह्मरंध्र खुलने में मंत्र अवश्य सहायता करेगा। आप जाप आधे घंटे से लेकर एक घंटे तक कीजिए। आप आसन पर बैठकर मंत्र को जोर से बोलें। इस समय मन के अंदर जाप नहीं करना चाहिए। कमरे को पूरी तरह से बन्द कर लीजिए ताकि आवाज़ बाहर न निकले। न किसी को आपके द्वारा बोले गये मंत्र से अवरोध होना चाहिए। बन्द कमरे के अंदर आवाज़ गूंजती रहेगी। इससे आपको ध्यान की अपेक्षा ज्यादा लाभ होगा। ध्यान के माध्यम से इतनी कुण्डलिनी ऊर्ध्व नहीं होगी जितनी मंत्र के प्रभाव से होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप ध्यान करना बन्द कर दें। ध्यान अपना पूर्व की भाँति करते रहें।

यदि आप की कुण्डलिनी स्थिर हो चुकी है तथा योगबल बढ़ाना चाहते हैं तो शक्ति मंत्र, का जाप कीजिए अथवा 'ॐ' मंत्र का जाप विधि के अनुसार कीजिए। एक बात का ध्यान रहे इस समय मंत्र का जाप उच्च स्वर में कीजिए। यदि बिल्कुल एकांत में, खेतों में या जंगल में यह विधि अपनायी जाए तो अच्छा है। आप सिर्फ एक मंत्र को अपनाइए, बदल-बदल कर नहीं बोलना चाहिए। यदि आपको मंत्र सिद्ध हो गया है तो आजीवन योगबल की कमी महसूस नहीं करेंगे। मंत्र जाप करते समय आप दिव्य दृष्टि या ज्ञान के द्वारा जानकारी अवश्य करते रहें। यदि किसी प्रकार की त्रुटि हो तो अपने ज्ञान द्वारा जानकारी

हासिल कर दूर कर लीजिए। शक्तिमंत्र अपने गुरु से पूछिए अथवा स्वयं कुण्डलिनी देवी से पूछ लीजिए। मैं किसी कारण उस मंत्र को लिख नहीं रहा हूँ। क्योंकि दुष्ट स्वभाव के साधक (तामसिक) इस मंत्र का गलत प्रयोग कर सकते हैं। इसलिए मैं उस विषय को लिखना उचित नहीं समझता हूँ।

वलय

प्रत्येक प्राणी के चारों ओर गोलाकार प्रकाश का चक्र जैसा घूमा करता है। इस गोलाकार प्रकाश को वलय कहते हैं। यह वलय स्थूल शरीर के चारों ओर थोड़ी दूरी पर घूमा करता है। वलय सूक्ष्म प्रकाश कणों द्वारा बना होता है, इसलिए इसे स्थूल नेत्रों के द्वारा नहीं देखा जा सकता है। यह वलय प्राणी की रक्षा करता है, इसलिए इसे रक्षा कवच भी कहते हैं। वलय बाहरी आघातों से (जो सूक्ष्म रूप के होते हैं) रक्षा करता है। यह वलय सिर्फ मनुष्यों, पशु-पक्षियों व कीड़े-मकोड़ों में ही नहीं, बल्कि सभी प्रकार के पेड़-पौधों व वनस्पतियों में भी होता है। हर एक प्राणी का वलय एक जैसा नहीं होता है, बल्कि गुण, स्वभाव व कर्म के आधार पर होता है। यदि प्राणी में सत्त्वगुण प्रधान है तो उसका वलय ज्यादा प्रकाशशील व आकार
में बड़ा होगा। यदि प्राणी तमोगुणी स्वभाव का है तो उसका वलय छोटे आकार का धुंधले प्रकाश वाला होगा।

मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों के वलय अपनी-अपनी जातियों में लगभग एक जैसा होते हैं क्योंकि वे जातियाँ भोग योनि हैं। जैसे शेरों में एक जैसा वलय पाया जाता है। थोड़ा सा फर्क भी हो सकता है। इसी प्रकार गाय, भैंस, पक्षियों में अपनी-अपनी जातियों में लगभग एक जैसा वलय पाया जाता है; बस, थोड़ा-सा फर्क हो सकता है। मगर मनुष्यों में एक जैसा वलय नहीं होता है। क्योंकि मनुष्य नया कर्म भी कर सकता है तथा प्रारब्ध को भोगता है। मनुष्य का वलय उसके कर्म के अनुसार छोटा या बड़ा, धुंधला व प्रकाशमान होता है। मनुष्य यदि क्रूर स्वभाव वाला, पापयुक्त तथा निम्न प्रकार का काम करने वाला होगा, तो उसका वलय छोटे आकार वाला व धुंधले प्रकाश वाला होगा। वलय का स्वभाव होता है गोलाकार चक्कर लगाना अर्थात गोलाकार गति करता रहता है। इस स्वभाव वाले मनुष्य का वलय अत्यन्त धीमी गति करता है। अगर मनुष्य अच्छे स्वभाव वाला, परोपकारी, सत्य, अहिंसा का पालन करने वाला होगा, तो ऐसे मनुष्य का वलय तेज प्रकाश वाला होता है। वलय का आकार भी बड़ा होता है तथा घूमने की गति भी अधिक तेज होती है। यदि मनुष्य भक्त या योगी है तो उसका वलय अधिक प्रकाश वाला तथा आकार में भी काफी बड़ा, घूमने की गति अत्यन्त तेज चक्र के समान दिखाई पड़ता है। ऐसा वलय अत्यन्त शक्तिशाली होता है।

मनुष्य जब रोगी होता है अथवा स्थूल शरीर पर किसी प्रकार का आघात होता है, अर्थात जब मनुष्य का स्थूल शरीर ज्यादा कष्ट महसूस करता है, तब उसका वलय प्रभावित होता है। किसी प्रकार से यदि वलय पर प्रहार किया जाता है तो मनुष्य का सूक्ष्म शरीर प्रभावित होता है। सूक्ष्म शरीर प्रभावित होने से स्थूल शरीर कष्ट भोगने लगता है। क्योंकि वलय सूक्ष्म रूप में होता है, वह सूक्ष्म शरीर की रक्षा करता है। इसलिए वलय और सूक्ष्म शरीर का सम्बंध सदैव रहता है। यदि वलय पर प्रहार करके छिन्न-भिन्न कर दिया जाए तो मनुष्य का सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का त्याग कर देगा जिससे मनुष्य की मृत्यु हो जाएगी। जैसे ही वलय पर किसी प्रकार का प्रहार होगा, उस समय मनुष्य का शरीर कष्ट महसूस करेगा।

आप यह सोचेंगे कि मनुष्य के स्थूल शरीर को क्षति किसी भी प्रकार से पहुँचाई जा सकती है मगर सूक्ष्म वलय को किस प्रकार से क्षति पहुँचाई जा सकती है। साफ जाहिर है, जिस प्रकार स्थूल शरीर को क्षति पहुँचाने के लिए स्थूल प्रहार आवश्यक है, इसी प्रकार सूक्ष्म वलय को भी क्षति सूक्ष्म शक्ति द्वारा ही पहुँचाई जा सकती है। यह कार्य वही कर सकता है जो सूक्ष्म शक्ति का मालिक होता है। सूक्ष्म शक्ति के मालिक तो भक्त, योगी, तांत्रिक, मांत्रिक आदि प्रकार के मनुष्य होते हैं। मगर किसी को हानि पहुँचाने का कार्य सिर्फ दृष्ट स्वभाव वाले ही कर सकते हैं। यह कार्य भक्त अथवा योगी नहीं करेगा क्योंकि ऐसे महापुरुष किसी को हानि नहीं पहुँचाते हैं। हाँ, कल्याण भले कर दें। यह कार्य तांत्रिक या मांत्रिक ही करते हैं क्योंकि यह तमोगुणी उपासक होते हैं। मैं सभी तांत्रिकों व मांत्रिकों को नहीं कह रहा हूँ। मगर अक्सर देखा गया है कि ऐसे तमोगुणी शक्ति वाले ही दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। कभी-कभी ऐसे पुरुष धन के लालच में भी कार्य कर देते हैं। जो मनुष्य ऐसा कार्य करते हैं उनका बहुत बुरा हाल होता है। मृत्यु के समय और मृत्यु के बाद भी कष्ट भोगना पड़ता है।

किसी मनुष्य को यदि सूक्ष्म रूप से क्षति पहुँचाई गई है, तो इस क्षति पूर्ति के लिए सूक्ष्म शक्ति का ही प्रयोग करना पड़ेगा। इसलिए कभी-कभी देखा गया है कि मनुष्य का बहुत इलाज किया जाता है, अच्छे-अच्छे डॉक्टर इलाज करके परेशान हो जाते हैं, मगर बीमारी ठीक नहीं होती है। परन्तु संत-महात्मा या झाड़-फूँक वाले इच्छा मात्र से अथवा अपनी सूक्ष्म शक्ति का प्रयोग करके बीमारी को ठीक कर देते हैं। इसका यही कारण है किसी न किसी प्रकार यह मनुष्य सूक्ष्म रूप से बीमार हुआ है। यदि वलय को क्षति पहुँचाई गयी है और अगर उसका वलय ठीक कर दिया जाए तो बीमारी या कष्ट ठीक हो जाएगा। यदि

मनुष्य सूक्ष्म रूप से बीमार था तो किसी तांत्रिक, मांत्रिक आदि ने क्षति पहुँचाई होगी। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि निम्न प्रकार की तमोगुणी शक्तियाँ अदृश्य रूप में वायु मण्डल में भ्रमण करती रहती हैं। उनका भी मनुष्य शिकार हो सकता है। ये शक्तियाँ दुष्ट स्वभाव वाली होती हैं। ऐसी शक्तियों को दूर भगाने के लिए शक्तिशाली (सूक्ष्म शक्ति का) पुरुष होना चाहिए, वरना शीघ्रता से इन शक्तियों का प्रभाव नहीं जाएगा। अगर मनुष्य किसी बड़ी दुष्ट शक्ति द्वारा सताया जा रहा है, तो किसी बड़े योगी, महात्माओं व तांत्रिकों द्वारा ही छुटकारा मिल पायेगा क्योंकि दोनों ओर से शक्तियों का प्रयोग किया जाएगा।

दुष्ट स्वभाव वाली अदृश्य शक्तियाँ मनुष्यों को क्यों हानि पहुँचाती हैं, इसके कुछ कारण होते हैं। एक– ऐसा हो सकता है कि ये शक्तियाँ किसी के द्वारा भेजी गयी हों। दो– कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि दुष्ट स्वभाव की अदृश्य शक्तियाँ अपनी इच्छा पूर्ति के लिए मनुष्यों को अपना लक्ष्य बनाती हैं। जिस वस्तु की इच्छा होती है वह वस्तु उस मनुष्य द्वारा ग्रहण करती हैं। ये तमोगुणी शक्तियाँ मनुष्य के वलय को प्रभावित करती हैं। जिससे उसका वलय छिन्न-भिन्न सा होने लगता है। इस अवस्था में मनुष्य बीमार हो जाता है अथवा कष्ट भोगता है। ये शक्तियाँ उस मनुष्य से लगातार सम्बन्ध बनाए रखती हैं। जब ऐसी तामसिक दुष्ट शक्तियों से छुटकारा दिलाया जाता है, तो दुष्ट शक्तियों की इच्छा पूर्ति कर दी जाती है अथवा पूर्ति न करके शक्ति का प्रहार करके इन्हें भगा दिया जाता है। जिस साधक में वलय देख लेने की शक्ति होती है, ऐसा साधक दूसरे का वलय देखकर ढेर सारी जानकारियाँ हासिल कर लेता है कि यह मनुष्य कैसे स्वभाव वाला है, यह कैसा कर्म करने वाला है तथा इसके अंदर कितनी आध्यात्मिक शक्ति है। यह वलय मनुष्य को लाभ तो देता ही है, क्योंकि वह जीवन रक्षा कवच है। कभी-कभी मनुष्य अकारण वलय के द्वारा दूसरों की अच्छाई व बुराई ग्रहण कर लेता है। यह प्रकृति का नियम है– जब अच्छा वलय वाला मनुष्य बुरे व गंदे वलय वाले मनुष्य के पास पहुँचता है अथवा किसी भी प्रकार से नजदीक आता है तो अच्छा वलय और बुरा वलय दोनों आपस में मिल जाते हैं। अच्छे वलय में बुरे वलय के प्रकाश कण चले जाते हैं। इसी प्रकार बुरे व गंदे वलय में अच्छे वलय के प्रकाश कण चले आते हैं। इस अवस्था में अच्छे वलय वाले मनुष्य को नुकसान उठाना पड़ता है क्योंकि उसके अंदर बुरे व गंदे तमोगुणी कण आ जाते हैं। तमोगुणी कण उसके शरीर को प्रभावित करते हैं। इससे उसके अंदर तमोगुणी विचार उठने लगते हैं। इसी प्रकार बुरे वलय वाले मनुष्य के वलय में, अच्छे सात्विक वलय कण आ जाते हैं। इन सात्विक कणों का प्रभाव उसके सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है, फिर कुछ समय के लिए अच्छे विचार आने लगते हैं।

मगर तमोगुण की अधिकता के कारण सात्विक कण अधिक प्रभावित नहीं कर पाते। ऐसी अवस्था में अच्छे वलय वाले मनुष्य को हानि होती है व बुरे वलय वाले व्यक्ति को लाभ होता है।

कहा जाता है अच्छे मनुष्यों का साथ करना चाहिए, बुरे मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिए। यदि अच्छे मनुष्य का साथ करोगे तो अच्छे बनोगे, यदि बुरे मनुष्य का साथ करोगे तो बुरे बनोगे। इसीलिए साधक को संगत अच्छी करनी चाहिए। अच्छे और बुरे मनुष्य की संगति से वलय मिलने के कारण विचारों में फर्क आने लगता है। यदि योगी पुरुष की संगति काफी दिनों तक की जाए, तो मनुष्य के अंदर अवश्य बदलाव आने लगेगा। योगी पुरुष का वलय बहुत ही तेजस्वी और विस्तृत आकार में होता है। ऐसे वलय का प्रभाव शीघ्र ही दूसरे पर पड़ता है। जिस स्थान पर योगी रहता है, वह स्थान अत्यन्त शुद्ध होता है। इसीलिए ऐसे स्थानों पर मन प्रसन्न हो जाता है। क्रूर और हिंसक स्वभाव वाले मनुष्य के यहाँ वातावरण गंदा होता है। ऐसे स्थान पर ठहरने की इच्छा नहीं होती है।

इस वलय का एक और स्वभाव है। वलय के कण पृथ्वी की सतह पर और वायुमण्डल में अत्यन्त कम मात्रा में बिखरते रहते हैं। चाहे वह दुष्ट स्वभाव वाले वलय कण हों अथवा योगी पुरुष के वलय कण हों। वलय के अंदर कम हुए कणों की पूर्ति स्वयं वलय कर लेता है। सूक्ष्म शरीर द्वारा कण प्रकट हो जाते हैं। इसलिए वलय कणों में कमी नहीं आती है। यह नये वलय कण वर्तमान कर्मों द्वारा बनते रहते हैं और बिखरते रहते हैं। दुष्ट स्वभाव वाले पुरुष को क्या फर्क पड़ेगा? वह फिर दुष्टता भरे कर्म करके वलय कण कमा लेगा। मगर योगी पुरुष के बिखरे कणों की पूर्ति करने के लिए योग पर बैठना होगा, तब उससे तेजस्वी कण उत्पन्न होंगे। इसीलिए योगी पुरुष ज्यादातर ध्यान पर बैठा रहता है। वलय के कण बिखरने के कारण उसकी शक्ति कम मात्रा में क्षीण हो जाती है। यह क्रिया सदैव चलती रहती है। योगी यह भी जानते होंगे, जब उनका साधना काल था तब वह बहुत शक्तिशाली थे। मगर कुण्डलिनी स्थिरता के बाद उनकी शक्ति पहले जैसी नहीं रहती है। क्योंकि वह अपने आपको पूर्ण समझने लगता है, फिर ध्यान पर बैठना बिल्कुल कम कर देते हैं अथवा बन्द कर देते हैं। इसलिए उनकी शक्ति पहले जैसी नहीं रहती है। ऊपर से प्रकृति के नियमों के कारण वलय कण बिखरते रहते हैं तथा अशुद्धता भी अपना अधिकार जमाने लगती है। इसलिए योगी को सदैव पहले की भाँति ध्यान करते रहना चाहिए। चाहे थोड़ा ध्यान करे, परन्तु ध्यान करना बन्द नहीं करना चाहिए।

पूर्वकाल में योगी इसीलिए एकांत में रहते थे, किसी के सम्पर्क में नहीं आते थे। रामचरितमानस में एक जगह काकभुसण्ड जी के आश्रम के विषय में वर्णन है। जो उनके आश्रम में जाता था, तो आश्रम के काफी दूर से ही मनुष्य राम-राम का नाम जप करने लगते थे। पहले के आश्रमों में शुद्धता का इतना ज्यादा प्रभाव था कि हिंसक पशु भी हिंसा करना भूल जाता था। योग के कारण वहाँ का प्रभाव तमोगुणी वृत्तियों पर इतना पड़ता था कि वह वृत्तियाँ ही दब जाती थी। सत्त्वगुण का अधिकार हो जाता था। इसलिए प्राणी कुछ समय के लिए सत्त्वगुणी बन जाता था। अब हमें एक घटना याद आ गयी जिससे भक्त के वलय और योगी के वलय के विषय में जानकारी मिली। यह घटना शायद नवम्बर-दिसम्बर सन् 1995 की थी। हमारा झगड़ा भुवर्लोक की अत्यन्त शक्तिशाली तमोगुणी शक्तियों से हो गया। मैं झगड़ा नहीं करना चाहता था, फिर भी दुष्ट शक्तियाँ झगड़ा करने के लिए अड़ गयीं। एक रात्रि को मैं ध्यानावस्था में बैठा था, उसी समय हम पर जबरदस्त हमला हुआ। मैं दर्द से कराह उठा। हमें लगा पसलियाँ टूट गयीं। उस समय रात्रि के तीन बजे थे। फिर मैं ध्यान करने के लिए बैठ गया, मेरे ऊपर फिर प्रहार हुआ। उस समय लगा कि हमारी जान ही निकल जाएगी। मुझे भयंकर क्रोध आ गया। मैं बोला– "कौन दुष्ट हम पर अकारण

प्रहार कर रहा है।" उसी समय प्रकृति देवी आ गयीं। बोलीं– "योगी पुत्र, शांत हो जाओ, ये भुवर्लोक की अत्यन्त शक्तिशाली शक्तियाँ हैं जो तुम पर प्रहार कर रही हैं। मैं उन्हें समझा दूँगी।" फिर मैं शांत हो गया ध्यान की गहराई में चला गया। सुबह मैं अपनी झोपड़ी में गया। झोपड़ी गांव के बाहर जंगल में बनी है। दिन में मैं झोपड़ी में रहता हूँ वहीं पर ध्यान करता हूँ। वहाँ पर कुछ कार्य कर रहा था। उसी समय कई तामसिक शक्तियाँ एक साथ प्रहार करने की सोचने लगीं। यह बात हमें ज्ञान के द्वारा मालूम हुई। मैं उसी समय ध्यान पर बैठ गया। ज्ञान के द्वारा सारा दृश्य देखा। पहले मैं हल्का-सा भयभीत हुआ। जैसे ही हमारा अहंकार

जागा, मैं समझ गया कि मेरा योगबल कम पड़ सकता है। क्योंकि तमोगुणी शक्तियाँ गिनती में कई थी। इसलिए कुण्डलिनी द्वारा दिये वरदान का प्रयोग करने की सोची। उसी समय हमें याद आया वह वरदान कल्याण हेतु दिया गया है; इसलिए विचार त्याग दिया। उसी समय 'ॐ' मंत्र का प्रयोग किया। यह मंत्र हमें सिद्ध है। एक ही प्रहार से तमोगुणी शक्तियों की हालत खराब होने लगी। तामसिक शक्तियाँ काली देवी और चण्डी देवी के बीज मंत्र का प्रयोग कर रही थी। मगर 'ॐ' मंत्र सिद्ध होने के कारण असीमित

शक्ति प्रकट कर रहा था। इतने में हमें आवाज सुनाई पड़ी– **"ठहर जाओ, योगी!"** उसी समय मैंने आँखें बन्द कीं, मैंने देखा यह आवाज़ ग्यारहवें रुद्र भगवान कालाग्नि की थी। क्रोध के कारण उनकी आँखों, कानों व मुँह से अग्नि निकल रही थी। मन में मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे बोले– **"योगी पुत्र, तुम शांत हो जाओ, मैं इन्हें दण्ड दूँगा"** इतने में भगवान कालाग्नि ने मुँह से आग फेंकी। वह आग गोलाकार चक्र की भाँति घूमती हुई भुवर्लोक में आ गयी और उन्हीं तामसिक दुष्ट शक्तियों की ओर बढ़ी। वह तामसिक शक्तियाँ

बीज मंत्र का जाप करती हुई भागीं। सामने चण्डी देवी प्रकट हो गयीं। देवी बहुत ही क्रोध में थी। उन्होंने अपना स्वरूप बढ़ाना शुरू कर दिया। कुछ क्षणों में स्वरूप विशाल आकार वाला हो गया फिर उन्होंने अपना मुँह खोला। उनका मुँह ऐसा लग रहा था मानों उनके मुँह में सारा ब्रह्माण्ड समा जाएगा। वह तामसिक शक्तियाँ देवी के अत्यंत विशाल आकार वाले मुँह के अन्दर समा गयी। फिर भगवान कालाग्नि के मुँह से फेंकी गयी गोलाकार अग्नि अदृश्य हो गयी। माता चण्डी बोलीं– "योगी पुत्र, तुम निर्भय हो जाओ, भविष्य में इस प्रकार की तामसिक शक्तियाँ तुम्हारी ओर नहीं देखेंगी, जरुरत पड़ने पर तुम मुझे स्मरण कर लेना।"

पाठकों, यह घटना ध्यान का अनुभव नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष थी। मैंने भगवान कालाग्नि से पूछा – "प्रभु, इन शक्तियों ने हम पर अकारण ऐसा व्यवहार क्यों किया?" भगवान कालाग्नि बोले – "पुत्र, योगी के वलय से पहचान हो जाती है कि वह कितना शक्तिशाली है। तुम्हारा वलय योगबल के कारण बहुत विस्तृत हो गया है, इसलिए इन दुष्टों को भ्रम था कि योगी में इतनी शक्ति नहीं हो सकती है। तुम्हारी शक्ति की पहचान की गयी थी। तुम्हें प्राप्त वरदानों के कारण तुम्हारा वलय बहुत बड़ा गोलाकार दिखता है"। पाठकों, अक्सर देखा गया है कि साधारण मनुष्यों का वलय 2-3 फीट की (अर्धव्यास) दूरी तक घूमा करता है। यदि मनुष्य आध्यात्मिक है, तो वलय योग्यतानुसार बढ़ता रहता है। योगियों का वलय काफी विस्तार में होता है। इसकी सही नाप मैं नहीं लिख सकता हूँ,क्योंकि योग्यतानुसार कम ज्यादा होता है। हमारा वलय उस घटना के समय 40 फीट का अर्धव्यास बनाता था। जिन योगियों का ब्रह्मरंध्र खुला है, उनके वलय का व्यास 6-10 फीट तक हो जाता है। ऐसे योगियों के वलय का रंग चमकीले नीले रंग के कणों का होता है। गंदे क्रूर स्वभाव वाले व्यक्ति का वलय काले रंग कें कणों से मिश्रित धुंधले प्रकाश का बना होता है। अच्छे स्वभाव वाला पुजारी, परोपकारी आदि का वलय उजले प्रकाश के रंग कें कणों का

बना होता है। भक्त आदि के वलय सुनहरे रंग के कणों द्वारा बना होता है। वलय का रंग योग्यतानुसार थोड़ा फर्क वाला हो सकता है। मेरा वलय इसलिए विस्तृत था क्योंकि मैं ध्यान भी बहुत करता था, संयमित भी बहुत रहता था और सबसे बड़ी बात है कि मैं प्राणायाम बहुत करता था। उदान वायु जो कण्ठ में रहती है, ऊर्ध्व करने का काम करती है, इसे जबरदस्ती नीचे की ओर ले आता हूँ। इस अवस्था में स्थूल शरीर अत्यन्त कष्ट भोगता है, मगर मैं इस पर ध्यान नहीं देता हूँ। उदान वायु को नीचे जाने पर मजबूर करता हूँ तथा निचले स्थानों पर रोकता हूँ। इससे नाड़ी शोधन तो होता ही है, सिद्धियों का दरवाजा भी खटखटाता हूँ, अर्थात् सिद्धियों के लिए प्राणों पर संयम होना बहुत जरूरी है।

जिस योगी का वलय जितने ज्यादा विस्तार में होगा, उसका वलय उतनी ही ज्यादा अशुद्धता अपनी ओर खींचेगा। ज्यादा विस्तृत होने के कारण उतना ही ज्यादा शक्तिशाली होगा। अधिक विस्तार और शक्तिशाली होने के कारण, वलय के कण उतने ही अधिक मात्रा में वायुमंडल व पृथ्वी की सतह पर बिखरते रहते हैं। वलय में एक प्रकार की चुम्बकीय शक्ति सी होती है। जिससे दूसरों के वलय के कण अपने में खींच लेता है। दूसरों के वलय कण ज्यादातर तमोगुणी व रजोगुणी होते हैं। इन कणों के कारण योगी के कर्म पर भी फर्क पड़ता है तथा चित्त पर कर्माशय बनते हैं जो योगी के नहीं होते हैं। वलय के कारण आ जाते हैं। इसलिए योगी को सतर्क रहना चाहिए। कुछ ही समय पूर्व आये कर्माशय दुर्बल होते हैं। इन कर्माशयों को योगबल के प्रभाव से बाहर फेंक देना चहिए अथवा योगबल के द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिए। उच्चावस्था के योगियों को यह क्रिया मालूम पड़ जाती है कि ऐसे कर्माशयों से कैसे छुटकारा पाया जाए। जो साधक इस क्रिया को नहीं जानते हैं, वे अपने गुरुदेव से पूछ लें।

मैं भी थोड़ा सा इस क्रिया के विषय में लिख रहा हूँ– पहले दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने कर्मों को देखो कि आपका कर्म कितना है। फिर यदि कर्मों में बढ़ोतरी जान पड़े, तो संकल्प करके ध्यान में बैठ जाइए। अपने योगबल से बाहर से आये हुए कर्मों को जला दीजिए अथवा सिद्ध मंत्र का प्रयोग कीजिए जिस मंत्र से शक्ति निकलती हो। आप देखेंगे कि बाहरी कर्म जल गए हैं अथवा चले गए हैं। आप इस प्रकार

भी संकल्प करके निकाल सकते हैं– जो कर्म बाहर से आये हैं, वह कर्म वापस वहीं चले जाए जहाँ से आये हैं। फिर ओंकार कीजिए। आप तीन-चार बार ओंकार कीजिए। वह कर्म चले जायेंगे। आप स्वयं

देखकर निर्णय कर लीजिए। यदि आप नहीं निकालेंगे तो समाधि अवस्था में अपने आप जलकर नष्ट हो जाएँगे।

इस प्रकार की अशुद्धता व कर्म योगी ही नहीं बल्कि हर मनुष्य ग्रहण करता है। मगर योगी ज्यादा ग्रहण करता है। हर मनुष्य के वलय के द्वारा कुछ न कुछ कर्म एक दूसरे के अन्दर चले जाते हैं। क्योंकि हर मनुष्य को एक दूसरे के सम्पर्क में आना पड़ता है। जैसे यात्रा के समय, किसी मित्र या रिश्तेदार के यहाँ जाने पर, अपने घर या पड़ोसियों के यहाँ, कार्यालय में, बाजार आदि में एक दूसरे के वलय आपस में एक दूसरे के अंदर समा जाते हैं। साधारण मनुष्यों के कर्म अकारण ही एक-दूसरे के शरीर में बने रहते हैं।

आपने देखा होगा, किसी भी सत्त्वगुणी पुरुष के पास जब तमोगुणी स्वभाव वाला पुरुष जाता है तो सत्त्वगुणी पुरुष बिना बाहरी जानकारी के ही बता देता है कि यह पुरुष अच्छे स्वभाव वाला नहीं है, इसका कारण वलय है। एक दूसरे के वलय सम्पर्क में आने पर सत्त्वगुणी पुरुष की चित्त वृत्तियाँ तुरंत सूचित कर देती हैं कि अमुक व्यक्ति कैसा है। सत्त्वगुणी पुरुष शुद्ध होता है। तमोगुणी पुरुष में अशुद्धता की भरमार होती है। शुद्धता में अशुद्धता के मिश्रण से तुरंत मालूम पड़ जाता है। जिस मनुष्य का वलय जितना शुद्ध व शक्तिशाली होगा, वह उतना अधिक दूसरों पर प्रभाव डाल सकता है क्योंकि सूक्ष्म शक्ति सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालती है। इसीलिए आपने देखा होगा, संत-महात्माओं, योगियों और आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न पुरुषों में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। कुछ दुष्ट स्वभाव वाले पुरुष संत-महात्माओं की बुराई करते हैं, अभद्रता देते हैं। इसका कारण है कि ऐसे मनुष्यों की चित्त वृत्तियाँ तमोगुणी होती हैं। सत्त्वगुण व तमोगुण आपस में विरोधी हैं।

किसी योगी के पास यदि रोगी व्यक्ति चुपचाप बैठा रहे, यह क्रिया कुछ दिन तक करे तो आप देखेंगे उसके रोग में अपने आप सुधार होना शुरू हो जाएगा। यदि आप बाइबल पढ़ें तो भगवान यीशु के विषय में पढ़ेंगे कि रोगी व्यक्ति का उनके पास जाने से या उनका वस्त्र छू लेने मात्र से रोग दूर हो जाता था। साधकों, आपने देखा होगा कि जब आप अपने गुरुदेव के सामने ध्यान करते हैं, तो आपका ध्यान अच्छा लगता होगा। इसका कारण आपके गुरुदेव का वलय है। गुरुदेव के वलय के प्रभाव से आपका ध्यान गहरा लगता है। आपका वलय अगर अधिक विस्तार में व शक्तिशाली है, तो साधारण श्रेणी की तमोगुणी शक्तियाँ आपकी ओर देखेंगी भी नहीं, सिर्फ वलय देखकर भाग जाएगी।

प्रिय साधकों, यदि आपको अपना वलय शक्तिशाली बनाना है तो आप मंत्र जाप का प्रयोग कीजिए। मंत्र तो कई हैं, मगर मैं 'ॐ' मंत्र का उल्लेख करता हूँ। आप स्थूल व सूक्ष्म रुप से संयम बरतिए और एक निश्चित शुद्ध जगह पर जाप कीजिए। मंत्र जाप की ध्वनि निकलनी चाहिए तथा मंत्र बोलने का तरीका सही होना चाहिए। ध्यान रहे 'ॐ' मंत्र को दीर्घ स्वर में बोलना चाहिए। शुरुआत में ज्यादा फर्क नजर नहीं आयेगा। मगर कुछ समय बाद आपका वलय तेज प्रकाश वाला तथा विस्तृत आकार में होने लगेगा। मंत्र के द्वारा शक्ति अधिक प्राप्त की जा सकती है। ध्यानावस्था में मंत्र की अपेक्षा योगबल कम प्राप्त होता है, ऐसा मेरा स्वयं का अनुभव है। मगर ध्यान अपनी जगह अलग महत्त्व रखता है। इस जगह पर मंत्र के द्वारा अन्य लक्ष्य प्राप्त करना है; दोनों के लक्ष्यों में फर्क है।

ज्ञान चक्र

ज्ञान चक्र प्रत्येक मनुष्य के अंदर होता है। इसका स्थान आज्ञा चक्र के पीछे अंदर की ओर होता है। वैसे दिव्य दृष्टि (तीसरी आँख) भी यहीं पर होती है। दिव्य दृष्टि आज्ञा चक्र में अंदर की ओर थोड़ा सा ऊपर होती है। ज्ञान चक्र दिव्य दृष्टि से थोड़ा अंदर की ओर होता है। देखने पर यह गोलाकार पहिये जैसा दिखता हैं। इसमें कई आरे लगे होते हैं। मगर मैं आरों की संख्या नहीं बता सकता हूँ। इसके मध्य में एक आर-पार छेद होता है। जैसे रथ के पहिये में आरे लगे होते हैं तथा मध्य में एक छेद (छिद्र) होता है जिसमें धुरी फंसी होती है, इसी प्रकार ज्ञान चक्र में होता है। दिव्य दृष्टि वाला योगी ज्ञान चक्र देख सकता है अथवा साधक भी अपनी साधना काल में ज्ञान चक्र देख सकता है।

योगी किसी का भी ज्ञान चक्र देखकर आध्यात्मिक योग्यता की जानकारी कर सकता है। मुझे ज्ञान चक्र के विषय में एक घटना याद आ गयी है – मैं त्रिकाल को योग की बारीकियाँ समझा रहा था, उसी समय ज्ञान चक्र की बात आ गयी। मैं ज्ञान चक्र के विषय में जानता तो था, मगर इसके विषय में ज्यादा जानकारी हासिल करने के लिए ध्यान नहीं दिया था। त्रिकाल ने प्रश्न किया– "ज्ञान चक्र के विषय में क्या आप पूरी तरह से हमें बताएँगे।" उस समय मैंने त्रिकाल को ज्ञान चक्र के विषय में थोड़ा समझा दिया क्योंकि मुझे ज्ञान चक्र का अनुभव हुआ था। मैं बोला– "तुम ज्ञान चक्र के विषय में स्वामी शिवानन्द जी से पूछ लो।" ये स्वामी शिवानन्द जी ऋषिकेश के थे। आज भी उनका आश्रम ऋषिकेश में स्वामी शिवानन्द जी आश्रम के नाम पर है। इन्होंने सन् 1963 में महासमाधि ले ली थी। अब तपलोक में रहते हैं। उस समय हमारा और स्वामी जी का सम्पर्क बराबर बना रहता था। मैंने जैसे ही त्रिकाल से कहा कि स्वामी शिवानन्द जी से ज्ञान चक्र के विषय में पूछ लो, उसी समय त्रिकाल की आँखें बन्द हो गयीं स्वामी शिवानन्द जी बोले– "अपने गुरु से कहो कि ज्ञान चक्र के विषय में स्वयं जानकारी हासिल करके तुम्हें बताएं, तथा मुझे भी बताएं कि क्या जानकारी मिली है।" त्रिकाल ने सारी बात जब बताई तो पहले मुझे हँसी आयी कि स्वामी जी हमसे मजाक कर रहे हैं, 'ज्ञान चक्र के विषय में बताओ'। कितना प्यार है इन शब्दों में! मगर स्वामी जी की आज्ञा समझकर मैं ध्यानस्थ हो गया। मैंने अपने ज्ञान से कहा– "देख मेरी परीक्षा का समय है, कहीं फेल न हो जाऊँ।" ज्ञान चक्र के विषय में कुछ क्षणों में जानकारी हो गयी। वह जानकारी मैंने स्वामी शिवानन्द जी को बताई। वे बोले– "त्रिकाल, तुम्हारे गुरु की जानकारी सही है।"

साधारण पुरुष जिसे अध्यात्म में रुचि नहीं है और बुद्धि का विकास भी अधिक नहीं हुआ है, ऐसे पुरुषों का ज्ञान चक्र स्थिर रहता है। तमोगुणी, नशा का सेवन करने वाले, हिंसक स्वभाव वालों का भी ज्ञान चक्र स्थिर रहता है। जो पुरुष अध्यात्म के मार्ग पर चलते हैं, सत्कर्म करने वाले हैं, उनका ज्ञान चक्र उनकी योग्यतानुसार अपनी जगह पर गोलाकार घूमता रहता है। साधना करने वालों का ज्ञान चक्र योग्यता के अनुसार धीमी अथवा तीव्र गति से घूमता रहता है। योगियों का ज्ञान चक्र अति तीव्र गति से अपनी जगह पर घूमता रहता है। अत्यधिक विकसित बुद्धि वाले पुरुष जैसे डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक बड़े-बड़े राजनेता और मस्तिष्क से अधिक कार्य लेने वालों के भी ज्ञान चक्र योग्यतानुसार धीमी गति से घूमता रहता है। मगर आध्यात्म मार्ग पर चलने वालों का ज्ञान चक्र अति तीव्र गति से घूमता रहता है।

अब मैं एक प्रयोग लिखता हूँ– हमारे एक मित्र की 14-15 वर्षीया बेटी है। उन्होंने हमेशा कहा कि मैं योग के विषय में थोड़ा उसे भी बता दूँ। मैंने अपने सामने उस लड़की को ध्यान पर बिठाया। पहले मैंने उसका ज्ञान चक्र देखा, ज्ञान चक्र बिल्कुल स्थिर था। वह लड़की हम से लगभग दो मीटर की दूरी पर बैठी हुई थी। मैंने अपनी आँखों से उसके ज्ञान चक्र पर शक्तिपात किया। जैसे ही हमारी आँखों से नीले रंग की किरणें निकलीं, उसके ज्ञान चक्र में समा गयीं। उसके ज्ञान चक्र में कंपन हुआ, झटका देकर धीमी गति से चल पड़ा। अब लड़की ध्यान की गहराई में डूब गयी। कुछ क्षणों बाद मैंने अपनी आँखों से शक्तिपात किया। मैंने ज्ञान चक्र की गति बढ़ा दी। लड़की ध्यान की गहराई में चली गई। हमारे द्वारा शक्तिपात से उसके शरीर में कंपन हुआ, लड़की की भस्त्रिका चलने लगी। मैं मुस्कुराया क्योंकि मैं यही चाहता था। मैं 15-20 मिनट तक उसके ज्ञान चक्र की गति बढ़ाता रहा, अब गति काफी तीव्र हो चुकी थी। कुण्डलिनी में प्राणवायु के धक्के लगने से, कुण्डलिनी ने आँखें खोल दी थीं। कुछ क्षणों के बाद पूँछ भी अपने मुँह से उगल दी, कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगी। इतने में हमें अंतरिक्ष से आवाज़ सुनाई दी– "इस लड़की पर अब ज्यादा शक्तिपात मत करना। इसके सूक्ष्म शरीर को परेशानी हो रही है।" मैं रुक गया और लड़की से ध्यान तोड़ने को कहा। मगर वह अत्यन्त गहराई में थी। फिर उसके पिताश्री ने उसका स्थूल शरीर हिलाकर ध्यान से उठाया। वह कुछ समय बाद सामान्य हो पायी। मैंने और भी कुछ साधकों पर इसी प्रकार का शक्तिपात किया। ऐसा मैं इसलिए करता था, ताकि प्रयोग करके जानकारी हासिल हो।

हमने ज्ञान चक्र के विषय में काफी जानकारी हासिल की थी। मगर सहज ध्यान योग में योगी उसका उपयोग ज्यादा नहीं करता। ज्ञान चक्र देखने में बहुत सुन्दर दिखता है। हमें कुछ ऐसी जानकारियाँ मिली कि इसका प्रयोग परकाया प्रवेश सिद्धि वाले और क्रिया योगी पुरुष आदि करते हैं। कुछ योगी अपना सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकाल कर, अंतरिक्ष में सूक्ष्म शरीर द्वारा विचरण करते हैं, फिर उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के अन्दर आ जाता है। स्थूल शरीर से निकलते समय ज्ञान चक्र के मध्य में जो छिद्र होता है अपने सूक्ष्म शरीर को इसी छिद्र में प्रवेश करा देते हैं, और छिद्र के उस पार निकल जाते हैं। उस पार निकलने पर योगी स्थूल शरीर से अलग हो जाता है। फिर योगी अपनी इच्छानुसार विचरण करके वापस आ जाता है। ऐसी अवस्था में स्थूल शरीर नष्ट न किया जाए तो स्वयं नष्ट नहीं होता है। योगी काफी अंतराल के बाद अपने स्थूल शरीर में वापस आ सकता है। सूक्ष्म शरीर बाहर निकालने की क्रिया शवासन मुद्रा में की जाती है। सूक्ष्म शरीर बाहर निकालने के बाद, स्थूल शरीर से एक सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है। इसी कारण स्थूल शरीर स्वयमेव नष्ट नहीं होता है। जब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में वापस आता है, तब उसी छिद्र से (ज्ञान चक्र के) वापस आता है। जिस प्रकार बाहर गया था, उसी प्रकार उलटी क्रिया करके वापस आता है। यह क्रिया ज्ञान के द्धारा बताये जाने के अनुसार लिखी है। स्वयं पूरी तरह से सिद्ध नहीं है। हाँ, हमने कुछ वर्षों पूर्व प्रयास अवश्य किया था, इसे संक्षेप में लिख रहा हूँ।

कुछ वर्षों पूर्व हमने निश्चय किया मैं भी परकाया प्रवेश सिद्धि प्राप्त करूँगा। इस सिद्धी का मार्गदर्शक हमें उपलब्ध नहीं था। मैं स्वयं अपने ज्ञान के सहारे आगे बढ़ रहा था, उसी समय हमें यह क्रिया हुई थी। यह क्रिया आप हमारे अनुभवों में भी पढ़ सकते हैं। मैं ध्यानावस्था में था, उसी समय हमें ज्ञान चक्र दिखाई दिया क्योंकि मैं ज्ञान चक्र का बार-बार संकल्प कर रहा था। ज्ञान चक्र हमारे सामने अति तीव्र गति से घूमता हुआ आ गया। मैं तटस्थ होकर ज्ञान चक्र देखने लगा। ज्ञान चक्र का आकार बड़ा होता गया। वह हमारे नजदीक आ गया। इच्छा करते ही मैं छिद्र के नजदीक पहुँच गया। ज्ञान चक्र अति तीव्र गति से घूम रहा था। मैं अपनी दृष्टि सिर्फ छिद्र पर केन्द्रित किये था। मैं उड़ता सा छिद्र के अंदर चला गया। मैं छिद्र में कुछ क्षणों तक अंदर चलता रहा, फिर लगा मानो मैं अत्यन्त विशाल अंतरिक्ष में आ गया हूँ। मैं आगे की ओर उड़ सा रहा था। उसी समय हमारा मार्ग आगे की ओर अवरुद्ध हो गया। हमारे सामने चतुर्भुजी रूप में भगवान विष्णु खड़े थे। वह मुस्करा रहे थे। मैं बोला– "प्रभु आप!", भगवान विष्णु बोले– "योगी, यह मार्ग तुम्हारा नहीं है। तुम्हें महान बनना है, सिर्फ अपने मार्ग पर आगे बढ़ो।" भगवान अदृश्य

हो गये। मैं वापस आने लगा, वापस आते समय उसी ज्ञान चक्र के मध्य वाले छिद्र में प्रवेश हो गया, अपने आप छिद्र से वापस आने लगा। कुछ क्षणों में मैंने अपने आपको ज्ञान चक्र से अलग पाया। ज्ञान चक्र हमसे दूर हटता चला गया। अंतरिक्ष में अदृश्य हो गया। तभी से परकाया प्रवेश के विषय में सोचना बन्द कर दिया।

जब गुरु अथवा मार्गदर्शक भ्रूमध्य पर शक्तिपात करता है, तो ज्ञान चक्र पर भी शक्तिपात का प्रभाव पड़ता है। ज्ञान चक्र पर प्रभाव पड़ने से सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। सम्मोहन कर्त्ता अपना प्रभाव डालने के लिए ज्ञान चक्र अथवा मस्तिष्क पर दृष्टि केंद्रित करता है, इससे स्थूल शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है।

हो सकता है कुछ साधकों को अपना ज्ञान चक्र दिखाई ही न दिया हो। यदि आपकी साधना उच्चावस्था में है, तो प्रयास कीजिए, आपको ज्ञान चक्र अवश्य दिखाई देगा। यदि फिर भी आप असफल रहें, तो आप दिव्य दृष्टि का प्रयोग कीजिए। तब आप देखेंगे कि यह ज्ञान चक्र बहुत सुन्दर दिखाई देता है। उस समय ज्ञान चक्र अपने स्थान पर तीव्र गति करता हुआ दिखाई देगा। वैसे कुण्डलिनी स्थिर होने से पहले आप इसके विषय में ज्यादा जानकारी हासिल कर सकते हैं। इसके बाद दिव्य दृष्टि से इस प्रकार के दृश्य कम दिखाई पड़ते हैं क्योंकि साधक की अवस्था उस समय कारण शरीर में होती है। उसका सम्बन्ध ज्यादातर कारण जगत से रहता है, इसलिए बेहतर है कि कण्ठ चक्र खुलने के बाद और ब्रह्मरंध्र खुलने से पहले इसके विषय में जानने का प्रयास करें।

दिव्य दृष्टि

दिव्य दृष्टि को तीसरी आँख भी कहते हैं। यह तीसरी आँख प्रत्येक मनुष्य के अंदर होती है। इस तीसरे नेत्र का स्थान आज्ञा चक्र से थोड़ा ऊपर की ओर होता है। साधारण मनुष्य में यह आँख सदैव बन्द रहती है। इसे सिर्फ योगी और भक्त या आध्यात्म मार्ग पर चलने वाला अभ्यासी ही खोल सकता है। साधक जब साधना के द्वारा इस नेत्र को खोल लेता है, तो सूक्ष्म पदार्थ व सूक्ष्म जगत से सम्बन्धित दृश्य अपनी योग्यतानुसार देख लेने में सामर्थ्यवान होता है। जैसे-जैसे समाधि में उसकी योग्यता बढ़ती है, उसी प्रकार दिव्य दृष्टि की शक्ति भी बढ़ती है। समाधि की चरम अवस्था पर (सविकल्प समाधि की) एक समय साधक को लगता है कि वह सारे ब्रह्माण्ड से सम्पर्क अपनी इच्छानुसार कर सकता है। यह अवस्था साधक के लिए अत्यन्त खुशी के समय का होता है। वह किसी का भी भूतकाल व भविष्यकाल देख लेने में सामर्थ्यवान होता है। दिव्य दृष्टि से किसी की भी गुप्त से गुप्त जानकारी हासिल कर लेने की शक्ति उसके अंदर निहित होती है। इस अवस्था में साधक को समाज के द्वारा काफी सम्मान मिलने लगता है। मगर दिव्य दृष्टि वाले योगी को चाहिए वह सदा दिव्य दृष्टि से आध्यात्मिक कार्य ले, स्थूल कार्य दिव्य दृष्टि से नहीं लेने चाहिए। दिव्य दृष्टि का प्रयोग करते समय योगी का कुछ न कुछ योगबल नष्ट होता रहता है। आपके योगबल के आधार पर व साधना की योग्यता पर ही दिव्य दृष्टि कार्य करती है। दिव्य दृष्टि का प्रयोग ऐसी जानकारी में नहीं लगाना चाहिए, जो जानकारी किसी की व्यक्तिगत या आपत्तिजनक हो। क्योंकि हर व्यक्ति अपना जीवन अपने ढंग से व्यतीत करता है। किसी की जानकारी लेकर अन्य को नहीं बताना चाहिए।

जब साधक का कण्ठ चक्र खुल जाता है, तब दिव्य दृष्टि खुलती है। उस समय प्राणवायु आज्ञा चक्र में होता है। तब साधक की दिव्य दृष्टि खुलने लगती है। कभी-कभी साधक की दिव्य दृष्टि तब खुलती है जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र में पहुँचती है। आज्ञा चक्र पूरी तरह खुलने से पहले ही दिव्य दृष्टि कार्य करना शुरू कर देती है। वैसे दिव्य दृष्टि (तीसरा नेत्र) शरीर के अंदर खड़े आकार में होती है, मगर कभी-कभी साधक को आड़ी भी दिखाई पड़ती है। यह आँख स्थूल आँखों से थोड़ी बड़ी व चमकदार दिखाई देती है। यह आँख देखने में बहुत सुन्दर लगती है। जब साधक को यह आँख दिखाई देती है तो ऐसा लगता है कि एक आँख खुली हुई है, वह साधक को देख रही है। कभी-कभी किसी साधक को दिखाई पड़ता है कि एक आँख धीरे-धीरे खुल रही है, उसके अंदर प्रकाश ही प्रकाश भरा है। उससे प्रकाश बाहर आ रहा

है। यह प्रकाश तीव्र और चमकीला होता है। इस के खुलने पर दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टि के साथ-साथ दूर-दृष्टि भी प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टि से सूक्ष्म से सूक्ष्मतम देखा जा सकता है। ब्रह्म का सगुण स्वरूप अर्थात ईश्वर को इसी दृष्टि से देख पाना सम्भव है। साधक ध्यानावस्था में जिस लोक का भ्रमण करता है, वहाँ का दृश्य अच्छी तरह देख सकने या समझ सकने में सामर्थ्यवान होता है। साधक अपने कार्यों के लिए भी दिव्य दृष्टि व दूर-दृष्टि का उपयुक्त लाभ उठा सकता है। दिव्य दृष्टि से साधक अपनी योग्यतानुसार पिछले कई जन्म भी देख सकता है। दूसरों के जन्म भी देख सकता है। इसी दिव्य दृष्टि के सहारे मैंने अपने पिछले ढेरों जन्म देखे हैं। उन जन्मों के विषय में आप हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं। दिव्य दृष्टि के द्वारा आप बड़े-बड़े योगियों से सम्पर्क भी स्थापित कर सकते हैं और उन योगियों से मार्गदर्शन ले सकते है। दिव्य दृष्टि के द्वारा मैंने अपने पिछले दो जन्मों के गुरुओं को ढूंढ लिया। वे अब भी तपलोक में समाधि लगाए हुए हैं।

अब तर्क यह भी किया जा सकता है कि दूसरों के विषय में जानकारी कैसे मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, उन कर्मों के कर्माशय संस्कार रूप में चित्त में एकत्र होते रहते हैं। यह संस्कार उसके चित्त में कई जन्मों के हो सकते हैं। दिव्य दृष्टि से अंतःकरण के संस्कारों को देखा जा सकता है। उन्हीं संस्कारों के माध्यम से पिछले जन्मों के दृश्य देखे जाते हैं। जिस साधक की दिव्य दृष्टि जितनी शक्तिशाली हो, उतना ही अधिक देख लेने में सामर्थ्यवान होती है। जिन साधकों की साधना अत्यन्त उग्र होती है तथा शरीर भी अधिक शुद्ध होता है, उनकी दिव्य दृष्टि अत्यन्त शक्तिशाली होती है। जिनकी साधना धीमी गति की होती है, उनकी दिव्य दृष्टि कम शक्तिशाली होती है अथवा ऐसे साधक अपनी इच्छानुसार दिव्य दृष्टि से ज्यादा कार्य नहीं ले सकते।

साधक की दिव्य दृष्टि उस समय अत्यधिक शक्तिशाली होती है, जब कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र खोलकर उलट पड़ती है, फिर ब्रह्मरंध्र द्वार से आज्ञा चक्र की ओर चल देती है। जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर वापस होकर आती है, उस समय दिव्य दृष्टि अपनी चरम सीमा पर होती है। फिर कुण्डलिनी स्थिर होने तक इसी अवस्था में बनी रहती है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद दिव्य दृष्टि पहले जैसा कार्य नहीं करती है। वैसे मंत्र जाप भी दिव्य दृष्टि खोलने में सहायक होता है। यदि आप मंत्र जाप अधिक करेंगे, तो दिव्य दृष्टि अपने निश्चित समय से थोड़ा जल्दी खुल सकती है।

योगी की कुण्डलिनी जब स्थिर होकर वायुरूप में विलीन हो जाती है, तो दिव्य दृष्टि का कार्य भी कम रह जाता है। फिर दिव्य दृष्टि से इच्छानुसार कार्य लेना असम्भव सा हो जाता है। अब आप यह शब्द सुनकर चक्कर में पड़ गये होंगे कि ऐसा कैसे हो सकता है। मगर हमारी बात सत्य है। हमने यह भी अनुभव किया कि योगी यह नहीं बताता है कि अब उसकी दिव्य दृष्टि कार्य नहीं कर रही है। इसका अर्थ यह नहीं कि योगी जब उच्चतम अवस्था में पहुँचता है, तो सूक्ष्म पदार्थ उसे दिखाई नहीं देते हैं। उच्चतम अवस्था वालों को ज्ञान के द्वारा सबकुछ दिखाई देता रहता है। जो ज्ञान के द्वारा दृश्य देखे जाते हैं, वह दिव्य दृष्टि की अपेक्षा थोड़ा कम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह अपनी योग्यता के अनुसार दिखाई पड़ता है। उस समय साधक कारण जगत से संबंधित रहता है। वहाँ पर दृश्य ज्यादा नहीं हैं। इस अवस्था में अनुभव भी बहुत कम आते हैं। वह भी ज्यादातर योग निद्रा में आते हैं।

कुछ योगी हमने ऐसे देखे हैं जिनकी दिव्य दृष्टि भी काम करना बन्द कर गयी और ज्ञान के द्वारा भी नहीं देख पाते हैं। इसका कारण है ऐसे योगी योग का अभ्यास करना बन्द कर देते हैं। स्थूल कार्यों में अथवा आश्रम की व्यवस्था आदि में सारा समय देते हैं। ऐसे योगी मार्गदर्शन के समय अपने अनुभव और अनुमान से शिष्यों का मार्गदर्शन करते हैं। मैं अपने अनुभवों के आधार पर लिखता हूँ– वर्तमान युग में योगी चाहे जितना योग कर ले, वह कभी पूर्ण रूप से त्रिकालदर्शी नहीं हो सकता है। यह सही है कि योगी पुरुष त्रिकालदर्शी होता है, मगर सारी घटनाएँ भविष्य की देख पाने में सामर्थ्यवान नहीं होता। इसका कारण है, प्रकृति देवी अपने रहस्य को पूरी तरह से किसी भी योगी को नहीं बताती है। वर्तमान योगी यदि आदिकाल के योगियों के जीवन चरित्र पर ध्यान दें तो पाएँगे कि वे भी विधि का विधान पूरी तरह से नहीं जानते थे। जब कोई योगी जानकारी हासिल करना चाहता है तो वह स्वयं अपने अंतःकरण से पूछ लेता है और उसको जवाब मिल जाता है क्योंकि योगी के चित्त में सत्त्वगुण प्रधान वृत्तियाँ होती हैं। सत्त्वगुणी वृत्तियों से सही-सही जवाब मिल जाता है। सत्त्वगुण वृत्तियों के द्वारा चित्र बन जाता है। ये सत्त्वगुणी वृत्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। संकल्प के अनुसार वृत्तियाँ स्वरूप धारण कर लेती हैं। यह क्रिया तभी संभव है जब चित्त में रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियाँ न के बराबर रह जाएँ। साधकों की दिव्य दृष्टि साधना काल में स्वयं खुल जाती है। यदि गुरु या मार्गदर्शक चाहे तो परिपक्व अवस्था के पूर्व भी खोली जा सकती है। मगर इस प्रकार खोली गयी दिव्य दृष्टि उतनी शक्तिशाली नहीं होती है, जितनी परिपक्व अवस्था में स्वयं खुलने वाली होती है।

मैंने अपने अनुभवों से ज्ञात किया है कि योगी की दिव्य दृष्टि स्वयं कार्य करना बन्द नहीं करती है। इसमें प्रकृति देवी की कृपा होती है। जिन योगियों की दिव्य दृष्टि काम करना बन्द कर गयी है, यदि ध्यानावस्था में ऐसे योगी की दिव्य दृष्टि देखी जाए तो दिव्य दृष्टि खुली रहती है, मगर देखने का कार्य नहीं करती है। वर्तमान युग में ऐसा ही होता है, क्या किया जाए! हमारी बात योगी पुरुष अच्छी तरह समझ सकता है। दूसरा कारण यह है दिव्य दृष्टि सूक्ष्म शरीर की खुली होती है, जबकि योगी के आगे की अवस्था कारण शरीर की होती है। सूक्ष्म शरीर व सूक्ष्म जगत के घनत्व से कारण शरीर व कारण जगत का घनत्व कम होता है। घनत्व कम होने से सूक्ष्म जगत से कारण जगत सूक्ष्मतर है। इसी कारण सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर व कारण जगत की गतिविधियाँ व दृश्य नहीं देख सकता। उच्चतम अवस्था वाला योगी आँख बन्द करते ही ध्यानावस्था में कारण शरीर में प्रवेश कर जाता है, सूक्ष्म शरीर में ठहरता ही नहीं है। आजकल के योगियों की कारण शरीर की दिव्य दृष्टि नहीं खुलती है। यदि कारण शरीर से दिव्य दृष्टि खुली हो तो इस ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कण देख लेने में सामर्थ्यवान हो जाते है।

आप सोच रहे होंगे कि यह कैसे हो सकता है कि कारण शरीर में दिव्य दृष्टि होती है। हर घनत्व के पदार्थ देखने के लिए यंत्र भी अलग-अलग होते हैं। उन यंत्रों की अपनी-अपनी एक निश्चित क्षमता होती है। इसीलिए स्थूल जगत देखने के लिए स्थूल नेत्र खुले होने जरूरी हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की दिव्य दृष्टि खुलने पर सूक्ष्म जगत तक देखने की शक्ति आ जाती है। सूक्ष्म जगत ब्रह्मलोक तक है। इसके ऊपर कारण जगत है। वहाँ का रंग हल्का नीला व चमकीला है। इसीलिए अक्सर दिव्य दृष्टि से सफेद उज्जवल प्रकाश तथा सुनहरा प्रकाश दिखाई देता है। साधना काल में नीले रंग के प्रकाश में कुछ दृश्य आते हैं। उस समय कारण जगत को ज्ञान के द्वारा अथवा दिव्य दृष्टि के द्वारा देखा जाता है।

सूक्ष्म शरीर अपने निश्चित घनत्व तक गति कर सकता है, फिर आगे नहीं जा पायेगा। उसके आगे कारण शरीर से गति करनी होगी। मैंने स्वयं देखा है कि हमारा सूक्ष्म शरीर एक जगह पर (अंतरिक्ष में) ठहर गया। फिर मैं सूक्ष्म शरीर से निकला और ऊपर अनंत अंतरिक्ष में चला गया। जब मैं वापस आया तो अंतरिक्ष में हमारा सूक्ष्म शरीर खड़ा था। मैं सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर गया। मैं वापस सूक्ष्म शरीर से आया तो हमारा स्थूल शरीर ध्यानावस्था में बैठा हुआ था। मैं अपने स्थूल शरीर में प्रवेश कर गया। इस अनुभव को आप हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं। यह अनुभव शायद जुलाई, 1989 में आया था। हमारे अनुभवों

में आप ऐसे ही अनुभव पढ़ेंगे। एक अनुभव में हमारा सूक्ष्म शरीर हिरण्यमय पुरुष लिए जा रहा है। मैं हिरण्यमय पुरुष से काफी ऊपर अंतरिक्ष में स्थिर हूँ और अपने शरीर को देखकर हँस रहा हूँ। यह अनुभव शायद मार्च-अप्रैल, 1998 का है।

साधकों, स्वर्गलोक के देवताओं के शरीर सूक्ष्म शरीर के अंतर्गत आते हैं। जब उन्हें भी कोई बात जाननी होती है तो वे अपनी आँख बन्द करते हैं, तब वे जान पाते हैं। सूक्ष्म शरीर में जितने योगी व तपस्वी हैं, उनकी दिव्य दृष्टि कारण शरीर से खुली होती है। वे ब्रह्माण्ड की कोई भी घटना देख लेने में सामर्थ्यवान होते हैं क्योंकि सारे ब्रह्माण्ड का निर्माण कारण जगत के अंतर्गत आता है। कारण शरीर की दिव्य दृष्टि सूक्ष्मतम पदार्थ को भी देख लेने में सामर्थ्यवान है क्योंकि कारण जगत की संरचना का निर्माण स्वयं सूक्ष्मतम कणों से हुआ है।

त्रिकाल की दिव्य दृष्टि (इसे मैंने योग सिखाया था) कारण शरीर से खुली थी, क्योंकि वह विशेष प्रकार का व्यक्ति था। वह स्थूल आँखों से तपलोक तक देख लेता था। तपलोक का दृश्य देखने के लिए उसे आँख बन्द नहीं करनी पड़ती थीं। सिर्फ क्षणभर के लिए स्थिर हो जाता था, तथा सूक्ष्म लोकों की आवाज़ साधारण अवस्था में (जाग्रत अवस्था में) सुन लेता था। स्थूल शरीर के अंदर हलचल, प्राणों की गति व कुण्डलिनी का चढ़ना, पानी के अंदर के कीटाणु, दही के जीवाणु आदि खुली स्थूल आँखों से देखता सकता था। पृथ्वी के अंदर छुपी वस्तु त्रिकाल की दिव्य दृष्टि से नहीं बच सकती थी। एक बार पानी पीते समय उसने गिलास फेंक दिया। वह बोला– "मैं पानी नहीं कीड़े पी रहा हूँ।" जब मैं उसे मिरज (महाराष्ट्र) माता जी के पास ले गया था, तो वहाँ के साधक आश्चर्य चकित थे। मैंने भी सीधे ईश्वर से प्रार्थना की थी कि आप मुझे त्रिकाल की भाँति दिव्य दृष्टि दीजिए, मगर ईश्वर ने मना कर दिया। वे बोले– "त्रिकाल विशेष व्यक्ति है, इसलिए उसे दिव्य दृष्टि कारण शरीर से प्राप्त है।" कुछ समय बाद मुझे और त्रिकाल को कुण्डलिनी देवी का श्राप मिला। त्रिकाल का योग बन्द हो गया। मेरी भी खूब दुर्गति हुई। मैंने डेढ़-दो साल में श्राप भोग लिया। इसी समय किसी कारण से मैंने भी त्रिकाल को श्राप दे दिया। अब वह अत्यन्त दुष्ट स्वभाव का हो गया है और पाप युक्त कार्य करता है। उस समय त्रिकाल की उम्र मात्र ग्यारह वर्ष थी। वह पूर्वकाल में असीमित योगबल व शक्तिशाली होने के कारण अहंकारी हो गया था। इसलिए इसकी यह दुर्गति हुई। त्रिकाल से मैंने बहुत सी जानकारियाँ भी प्राप्त की थीं।

साधकों, दिव्य दृष्टि अधिक शक्तिपात करके साधना की शुरुआत में खोली जा सकती है। मगर इस कार्य के लिए योगी अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिए। मैंने तीन साधकों पर प्रयोग किया। शुरू में दिव्य दृष्टि खोल दी, मगर कुछ दिनों में बन्द हो गयी। मैं ऐसे कार्य प्रयोग के तौर पर किया करता था। हालाँकि, मैंने अपने अनुभवों में दो साधकों के विषय में लिखा है जिनकी दिव्य दृष्टि प्रारम्भिक अवस्था में खोली थी। एक जलगांव की लड़की थी। दूसरा मेरठ (उत्तर प्रदेश) का साधक था। तीसरी मेरी छोटी बहन थी। मैं यह बात स्पष्ट कर दूँ कि हर एक साधक में दिव्य दृष्टि एक समान कार्य नहीं करती है। दिव्य दृष्टि का कार्य उसकी वर्तमान साधना पर निर्भर है कि अभ्यासी कितने संयम और वेग से साधना कर रहा है। तथा पूर्व जन्मों की साधना का भी दिव्य दृष्टि पर प्रभाव पड़ता है, पूर्व जन्मों में उसकी साधना कितनी कठोर रही है और साधना करते हुए अंतिम समय तक उसकी अवस्था कहाँ तक रही है, साधक का अन्तःकरण कितना शुद्ध व पवित्र है व तमोगुण की मात्रा किस प्रकार की है। इसी प्रकार विभिन्न कारण हो सकते है। दिव्य दृष्टि की देखने की क्षमता साधना की उग्रता व गुरुनिष्ठा आदि पर भी निर्भर करता है। गुरुनिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठा, संसार में उसका व्यवहार किस प्रकार का है तथा उसकी सोच कैसी है आदि से साधक का अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है। मैंने देखा है कि कुछ साधकों का ब्रह्मरंध्र तो खुल गया है, मगर उनकी दिव्य दृष्टि कुछ भी देख पाने में सामर्थ्यवान नहीं है। वहीं हमारे जैसे साधकों को कण्ठ चक्र खुलते ही दिव्य दृष्टि के द्वारा ढेर सारा देख लेने का सामर्थ्य रखते है। ऐसे साधक निश्चय गुरूपद के योग्य होते है। यदि साधक की कुण्डलिनी उग्र स्वभाव वाली है, तो ऐसे साधको की दिव्य दृष्टि अत्यंत तेजस्वी होती है। कुण्डलिनी की उग्रता दिव्य दृष्टि पर प्रभाव डालती है। दिव्य-दृष्टि जिन साधको की अत्यंत तेज हो, ऐसे साधकों को ही गुरूपद पर बैठने की इच्छा करनी चाहिए अर्थात ऐसे साधको को ही गुरु अथवा मार्गदर्शक बनना चाहिए, जिससे मार्गदर्शन करते समय साधकों के विषय में सही रूप से जान सकें तथा उचित मार्ग दर्शन कर सकें। आजकल ज्यादातर गुरु व मार्गदर्शकों की दिव्य दृष्टि बारीकी व स्पष्टता से देख पाने में असमर्थ होती है क्योंकि वे उग्र साधना करने का अभ्यास नहीं करते। बस ढेरों शिष्य बनाकर गुरूपद पर बैठ जाते हैं। तथा कुछ गुरुओं का दिव्य दृष्टि से कुछ लेना-देना नहीं होता है। ऐसे अयोग्य गुरुओं की आजकल भरमार है। कुछ मार्गदर्शक या गुरु ऐसे भी हैं, जिनकी दिव्य दृष्टि बहुत ही तीव्र गति से तथा स्पष्ट देखने का कार्य करती है, मगर ऐसे गुरु न के बराबर हैं तथा वे भीड़ नहीं जुटाते हैं।

सिद्धियाँ

साधक को साधना काल में सिद्धियाँ अवश्य मिलती हैं। इन सिद्धियों का स्थान एक निश्चित जगह अथवा निश्चित अवस्था में होता है। साधना के समय जब साधक सिद्धियों के स्थान पर पहुँच जाता है, तो सिद्धियाँ उसका स्वागत करने के लिए खड़ी रहती हैं। साधक को यह सिद्धियाँ अपने माया जाल में फँसाने का भरसक प्रयत्न करती हैं। अपनी शक्ति के अनुसार ये साधक का कार्य करने के लिए हर समय तैयार खड़ी रहती हैं। पलक झपकाते ही साधक का कार्य करने में समर्थ होती हैं। ये सिद्धियाँ साधक की आज्ञाकारी होती हैं। मगर वास्तव में ये सिद्धियाँ आपके साथ छलावा कर रही होती हैं, ताकि आप उनके जाल में फँस जायें, अपने लक्ष्य तक न पहुँच सकें, उसी स्थान पर रुके रहें। मगर साधक का लक्ष्य होता है वह अपना आत्म-साक्षात्कार करे, पूर्णता को प्राप्त करे, बार-बार के जन्म मृत्यु से छुटकारा पाए। इसलिए साधकों को इन धोखे में डालने वाली सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। जो सच्चा गुरु अथवा मार्गदर्शक होता है, वह अपने शिष्य को हमेशा सिद्धियों का प्रयोग करने या उनके चक्कर में पड़ने से रोक देता है, ताकि साधक पथभ्रष्ट न हो जाए। जो साधक इन सिद्धियों के चक्कर में पड़ जाता है, उसका योग में पतन हो जाता है। जब ये सिद्धियाँ कार्य करना बन्द कर देती हैं, उस समय उसके मन में पछतावा होता है। जो सिद्धि आपके लिए हमेशा सेवा करने को तैयार रहती थी, वह आपका साथ छोड़ कर चली जाती है। आप साधना में भी उस समय पतन के स्थान पर खड़े होते हैं। वास्तव में, ये सिद्धियाँ आपकी साधना के योगबल पर निर्भर रहती हैं। जब आप सिद्धि के चक्कर में पड़ जायेंगे, तब आपको समाज में कीर्ति मिलेगी। बहुत से लोग आपकी जी-हुजूरी में खड़े होंगे। उस समय आप साधना करना बन्द कर देंगे, अथवा आपके पास साधना करने के लिए समय ही नहीं रह जाएगा। एक समय ऐसा आयेगा कि आप जिस शिखर पर पहुंचे हैं, वहाँ से आपका पतन होना शुरू हो जाएगा, क्योंकि आपकी साधना क्षीण होती चली जाएगी। सिद्धियाँ जीवन पर्यन्त आपका साथ नहीं देती हैं। वह कुछ समय बाद निष्क्रिय पड़ने लगती हैं। जो व्यक्ति आपके आगे-पीछे घूमते थे, वे भी आपका साथ छोड़कर चले जायेंगे। फिर आप सोचेंगे कि आपकी मेंहनत की कमाई व्यर्थ चली गयी। इसलिए साधकों को सतर्क रहना चाहिए। इन सिद्धियों के चक्कर में कभी नहीं पड़ना चाहिए। जरूरी नहीं कि आपको लोग सिद्धि के कारण जानें। आप तो योग ईश्वरप्राप्ति या स्थितप्रज्ञ होने के लिए कर रहे हैं।

यह सच है कि आज के युग में लोग चमत्कार को नमस्कार करते हैं। मगर सच्चा साधक कभी भी चमत्कार नहीं दिखाता है। जिसने ईश्वर प्राप्त कर लिया अथवा स्थितप्रज्ञ हो गया है, वह कभी चमत्कार नहीं दिखायेगा। ऐसे साधकों को चमत्कार से क्या लेना-देना है? साधक को वैभव नहीं, बल्कि ईश्वरीय आनन्द चाहिए। साधक को मालूम है कि स्थूल सुख क्षणिक होता है। आजकल के कुछ लोग अज्ञानतावश चमत्कारियों कों ईश्वर का भक्त समझते हैं। वास्तविकता न जानने के कारण उनकी सोच होती है कि ये चमत्कार ईश्वर की कृपा से होते हैं। ऐसे चमत्कारी समाज में अज्ञानी व भोले लोगों को भ्रम में डाले रहते हैं। एक-दो सिद्धियाँ सिद्ध कर लीं, बस भोली-भाली जनता को ईश्वर के नाम पर ठगने लगे। ऐसे चमत्कारियों की बड़ी सेवा होती है। मगर जो वास्तविक भक्त या योगी होते हैं, समाज उनका अनादर करता है क्योंकि वह कुछ भी चमत्कार नहीं दिखाते हैं।

कुछ लोग सिर्फ नाम कमाने के लिए तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। बहुत-सी तामसिक सिद्धियाँ बिल्कुल निम्न प्रकार की प्राप्त करते हैं। ऐसी तामसिक सिद्धियों को सिद्ध करने वाले अक्सर असामाजिक कार्य ही करते हैं। कभी-कभी दूसरों को कष्ट भी देते हैं, क्योंकि ऐसे सिद्धों का स्वभाव तामसिक हो जाता है। ऐसे तामसिक सिद्धि वाले अक्सर पाप कर्मों में लिप्त रहते हैं। मृत्यु के बाद उन्हें पाप कर्मों का फल भोगना पड़ता है। भूत-प्रेत के साधक मृत्यु के पश्चात् भूत-प्रेत के लोक (भुवर्लोक) में चले जाते हैं, फिर इसी योनि को प्राप्त करते हैं। बहुत समय तक उनकी यही दुर्दशा होती रहती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– "जो लोग मुझे जिस रूप में भजते हैं, उन्हें मैं उसी रूप में मिलता हूँ।"

जिन पुरुषों के पास सिद्धियाँ होती हैं, जरूरी नहीं कि उनका सम्बंध आध्यात्म से ही हो। यह सही है योग में एक निश्चित स्थान पर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, लेकिन ये सिद्धियाँ सामान्य होती हैं। इनसे थोड़ा सा चमत्कार दिखाया जा सकता है। साथ ही परोपकार की दृष्टि से इन सिद्धियों का प्रयोग किया जा सकता है। इन सिद्धियों से आप जितना ज्यादा कार्य लेंगे, ये उतनी ही तीव्र गति से कार्य करेंगी। मतलब यह है आप सिद्धियों का प्रयोग जितना ज्यादा करेंगे, वे उतनी ही ज्यादा क्रियाशील होंगी। यदि आप इन सिद्धियों से कार्य न लें, तो ये शांत सी हो जाती हैं। यदि आप इन सिद्धियों का प्रयोग परोपकार के रूप में करेंगे, तो भी आपकी साधना पर असर पड़ेगा। क्योंकि आपके पास लोगों का आना-जाना बढ़ जाएगा, इससे साधना के लिए समय कम मिल पायेगा। इसलिए अच्छा है कि इनसे सर्वथा दूर रहें, अपना समय साधना में

ज्यादा-से-ज्यादा लगाएँ। जब ये सिद्धियाँ साधक को मिलती हैं, तो उस समय सिद्धियों का लाभ उसे अवश्य मिलता है। सिद्धि रूपी खुशबू छिपती नहीं है, बल्कि फैलती है। यही समय है कि साधक संयम से रहे तभी अच्छा है, क्योंकि समाज के स्वार्थी लोग आपकी स्तुति करेंगे।

कुछ मनुष्य सिर्फ सिद्धि प्राप्त करने के लिए ही विशेष प्रकार की साधना करते हैं। उनका ईश्वरप्राप्ति अथवा स्थितप्रज्ञ से कुछ लेना-देना नहीं है। सिर्फ वैभव और कीर्ति प्राप्त करने के लिए ही सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। कुछ निम्न प्रकार के मनुष्य कुछ सिद्धियाँ गलत कार्यो को करने के लिए ही प्राप्त करते हैं। कुछ तामसिक सिद्धियाँ बहुत ही शक्तिशाली होती हैं। ऐसे सिद्धियों से युक्त पुरुष जब सिद्धियों का प्रयोग करते हैं, तो लगता है कि यह साक्षात् भगवान ही है। मगर यह सब सिद्धि का ही कार्य होता है। उनका स्वयं का कुछ नहीं होता है। बल्कि सिद्धि पर अधिकार रखने के लिए ही विशेष तरह की साधना करते हैं।

जब साधक की साधना कण्ठ चक्र में होती है, तो यहाँ पर कुछ सिद्धियाँ मिलती हैं। साधकों को कण्ठ चक्र तक आने में देर नहीं लगती है, क्योंकि रीढ़ के सहारे प्राण शीघ्र ही ऊपर उठ जाता है, फिर कण्ठ चक्र में आ जाता है। मगर ये सिद्धियाँ तुरंत नहीं मिलती हैं। सभी साधक जानते हैं कण्ठ चक्र में कई साल गुजारने पड़ते हैं। जब साधक की साधना अच्छी होती है तो शरीर भी शुद्ध हो जाता है। इसी चक्र में (कण्ठ चक्र में) साधना करते समय साधकों की कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगती है। उस समय साधक को दूरदर्शन-दूरश्रवण सिद्धि मिलती है। जब साधक को यह सिद्धि मिलती है तो उसे दूर का दृश्य और उस दृश्य से सम्बंधित वहाँ की आवाज़ सुनाई पड़ती है। यह दृश्य इतने स्पष्ट होते हैं जैसे आप प्रत्यक्ष देख रहे हों। आवाज़ भी बिल्कुल साफ व तेज सुनाई पड़ती है। जिस स्थान की आप आवाज़ सुन रहे हों, उस स्थान पर भले ही आवाज़ धीमी हो, मगर आपको वही आवाज़ साफ और जोर से सुनाई पड़ेगी। इस सिद्धि के लिए कम या ज्यादा दूरी का कोई महत्त्व नहीं है। पलक बन्द करते ही आपको दिखाई व सुनाई पड़ता है। आप पृथ्वी के किसी भी जगह का दृश्य देख सकते हैं और वहीं की आवाज़ भी सुन सकते हैं। जैसे अगर आपकी इच्छा हो यह जानने की कि वह मित्र क्या कर रहा है, तो आँख बन्द करते ही वहाँ का दृश्य आ जाएगा। जिस स्थान पर आपका मित्र होगा वहाँ की आवाज़ भी सुनाई देगी। आप किसी की भी गुप्त-से-गुप्त जानकारी कभी भी ले सकते हैं। मगर साधक को ऐसी जानकारियाँ अपने तक सीमित रखनी चाहिए। इन जानकारियों का कभी भी गलत फायदा नहीं उठाना चाहिए। ये सिद्धियाँ अकारण इतनी पीछे

पड़ जाती हैं कि आपको ढेरों जानकारियाँ देती रहती हैं। ऐसी जानकारियाँ मिलने पर साधक का खिंचाव सिद्धियों की ओर ज्यादा हो जाता है। क्योंकि उसके अंदर उत्सुकता जाग्रत हो जाती है कि हमारे जान-पहचान वाले इस समय क्या कर रहे हैं, उस स्थान पर क्या हो रहा है आदि। पलक बन्द करते ही आपको जानकारी हासिल हो जाएगी। फिर साधक का ध्यान सिद्धि की ओर ज्यादा जाने लगता है। इसलिए उसे संयम से काम लेना चाहिए। अच्छा है कि इन सिद्धियों की ओर ज्यादा ध्यान न दिया जाए। अभी आपको योग में बहुत लम्बा मार्ग तय करना है।

यदि आपको इन सिद्धियों से पीछा छुड़ाना है तो आपको ध्यानावस्था में बार-बार संकल्प करना चाहिए। मगर फिर भी इन सिद्धियों से तुरंत पीछा छूटने वाला नहीं है, लेकिन धीरे-धीरे कम हो जाएंगी। इन सिद्धियों को अपनी ओर इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। जब आपकी साधना और आगे बढ़ेगी, तब इनका प्रभाव कम पड़ जाएगा। ये सिद्धियाँ हर एक साधक में एक जैसी शक्ति वाली नहीं होतीं। ये साधक की साधना पर निर्भर करती हैं। साधक की साधना अगर उग्र होगी तो ये सिद्धियाँ अत्यन्त शक्तिशाली ढंग से काम करेंगी। यदि साधक की साधना धीमी होगी, तो ये सिद्धियाँ उग्र साधना की अपेक्षा कम कार्य करेंगी।

हमें याद आ रहा है कि हमें इन सिद्धियों से बहुत जानकारी मिली। इन सिद्धियों ने हमें परेशान करके रख दिया था। जरूरत पड़ने पर मैंने इन सिद्धियों से काम भी लिया था। हमारी साधना उग्र होने के कारण वे सिद्धियाँ बहुत ही शक्तिशाली थीं। यहाँ पर एक अनुभव लिख रहा हूँ; ये जानकारी इन्हीं सिद्धियों से ली थी। एक दिन बिल्कुल सुबह अपने पिताजी को बताया कि अमेरिका और ईराक का युद्ध शुरू हो गया है। जिस समय मैंने युद्ध को देखा उस समय सुबह के साढ़े तीन अथवा पौने चार बजे थे। उस समय देखा ईराक के आकाश में तेज प्रकाश फैल गया। ईराक के कुछ शहर अन्तरिक्ष में कृतिम प्रकाश उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट दिखने लगे क्योंकि वहाँ उस समय रात्रि थी। इराक की गगनभेदी तोपों से आकाश गूंज गया। कुछ समय पश्चात् आकाश में अनगिनत लड़ाकू जहाज उड़ते दिखाई दिये। इन जहाजों से विस्फोटक सामग्री बहुत ज्यादा मात्रा में नीचे फेंकी जाने लगी। नीचे जमीन पर आग की ज्वालाएँ दिखाई दे रही थीं। मैं बड़े आराम से अपने घर में यह सब दृश्य देख रहा था। फिर एक-दो बार वहाँ के दृश्य और देखे क्योंकि वहाँ की लड़ाई के दृश्य हमें अच्छे लग रहे थे। मैंने कभी इस प्रकार की लड़ाई नहीं देखी थी। इसी प्रकार इस सिद्धि से मैंने विश्व की ढेरों घटनाएँ देखीं। वही घटनाएँ फिर हमें बी. बी. सी. लंदन से

(रेडियो पर) सुनने को मिलती थीं। इसी प्रकार इस्राइल और फिलिस्तीनियों की लड़ाई देखी। यह लड़ाई राइफलों से होती थी। वहाँ के पहाड़ियों के दृश्य हमें आज भी याद हैं। विश्व की कई घटनाओं के दृश्य देखने के बाद हमारा मन भर गया। फिर सिद्धियों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर दिया। अब ये सिद्धियाँ बेकार सी हो गयी हैं। इनके प्रयोग की कोई इच्छा नहीं होती।

इसके बाद साधक को यहीं पर वाचा सिद्धि मिलती है। यह सिद्धि तभी मिलती है जब साधक के मन और शरीर में शुद्धता आने लगती है। साधना भी कम-से-कम चार-पाँच घंटे की हो जाती है तथा प्राणायाम का अभ्यास भी साधक काफी करता है। साधक को साधना तथा ईश्वर में निष्ठा हो जाती है। साथ ही सत्यभाषी भी होना जरूरी है। साधक की साधना के अनुसार ही सिद्धि कार्य करती है। यदि साधक इस अवस्था में मौनव्रत का पालन करता है तो और अच्छा है, सिद्धि उतना अच्छा कार्य करेगी। साधक को जरूरत पड़ने पर ही बात करना चाहिए। क्योंकि बातें करने या बोलने पर शक्ति का क्षय होता है। इस शक्ति को बचाने के लिए कम से कम बोला जाए तो अच्छा है। यदि साधक की साधना में उग्रता है, तो वाचा सिद्धि से छोटे-छोटे कार्य किये जा सकते हैं। ऐसा साधक सिद्धि का प्रयोग करके भूत-प्रेत व अन्य बाधाएँ भी दूर कर सकता है। छोटे-छोटे रोग भी दूर कर सकता है। नये साधकों की साधना में सहायता भी पहुँचाई जा सकती है। मगर ये सब कार्य अत्यन्त प्रेम भाव से करने चाहिए। इस प्रकार के कार्य करते समय, विरोधाभास अथवा अहंकार नहीं होना चाहिए।

वैसे यह सिद्धि अधिक शक्तिशाली तब होती है, जब साधक को उच्चस्थिति प्राप्त होती है। उच्चस्थिति प्राप्त होने पर यह सिद्धि अत्यन्त शक्तिवान हो जाती है क्योंकि साधक की संकल्पशक्ति भी बढ़ जाती है। इस अवस्था में साधक वरदान या श्राप देने की भी शक्ति रखता है। वह चाहे तो दूसरों का कल्याण कर दे, वह चाहे तो दूसरों का विनाश कर देने का भी सामर्थ्य रखता है, मगर साधक को चाहिए कि वह जरूरत पड़ने पर दूसरों को आध्यात्मिक लाभ दे दे तो अच्छा है, मगर भूलकर भी भौतिक लाभ के चक्कर में नही पड़ना चाहिए, नहीं तो साधक की साधना का क्षय होता है। उच्चस्थिति के बाद भी अगर साधक में शुद्धता और साधना में गिरावट आती है तो यह सिद्धि कमजोर पड़ जाएगी। मैंने इस सिद्धि से दो-तीन बड़े कार्य किये थे। एक बार का प्रयोग मैंने अपने अनुभवों में लिखा है। यह प्रयोग उस समय किया था जब मैं मिरज आश्रम में साधना किया करता था।

साधक को इसी जगह (कण्ठ चक्र में) पर ऋद्धि-सिद्धि की भी कृपा होती है। ये सिद्धियाँ साधक को ध्यानावस्था में कभी-कभी भगवान गणेश जी के साथ अगल-बगल में खड़ी दिखाई देती हैं। कभी बिना भगवान श्री गणेश जी के भी दिखाई पड़ती हैं। इन सिद्धियों के द्वारा साधकों को वैभव आदि का लालच दिया जाता है। मगर साधक को सतर्क रहना जरूरी है। साधक को वैभव की नहीं बल्कि साधना की आवश्यकता है। ये ऋद्धि-सिद्धि साधक को ज्यादा दिन दिखाई नहीं देती है। कुछ समय बाद दिखाई देना बन्द हो जाता है।

योग में दिव्य दृष्टि का महत्त्व बहुत अधिक है। इस विषय में ज्यादा जानकारी के लिए दिव्य दृष्टि वाले पाठ को पढ़िए। दार्शनिकों का मत है दिव्य दृष्टि नाड़ियों की एक ग्रन्थि होती है। इस ग्रन्थि के कार्य करने से भूतकाल व भविष्यकाल की जानकारी होने लगती है। दूर की भी जानकारी होने लगती है। योग के अनुसार यह ग्रन्थि योगियों को आँख के रूप में दिखाई देती है। महाभारत काल में यह दिव्य दृष्टि दो व्यक्तियों को प्रदान की गयी थी– व्यासजी की कृपा से संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की गयी थी। दूसरे, अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की गयी थी, इन्हें भगवान श्री कृष्ण की कृपा से प्रदान की गयी थी। मगर इन दोनों व्यक्तियों ने अलग-अलग ढंग से प्रयोग किया था। अर्जुन ने दिव्य दृष्टि का प्रयोग भगवान के विराट स्वरूप को देखने के लिए किया था। उस समय भगवान का यह स्वरूप सिर्फ अर्जुन ही देख सके थे, अन्य योद्धा नहीं देख पाये थे। क्योंकि विराट स्वरूप की संरचना अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों द्वारा होती है। मगर संजय ने दूर-दृष्टि से काम लिया था। क्योंकि उन्हें रणभूमि का सारा हाल धृतराष्ट्र को बताना था। संजय स्थूल पदार्थों को देख रहे थे। अर्जुन ने सूक्ष्म पदार्थों की संरचना का अवलोकन किया; दोनों में बड़ा फर्क था। जब दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तो इसी दिव्य दृष्टि के साथ दूर-दृष्टि भी प्राप्त होती है। संजय ने दूर-दृष्टि का प्रयोग किया था। अब प्रश्न उठता है कि क्या दिव्य दृष्टि समय से पूर्व साधक की खोली जा सकती है। मैं अपने अनुभवों के आधार पर लिखूंगा– यदि योगी अत्यधिक योगबल का स्वामी है, तो दिव्य दृष्टि अवश्य खोली जा सकती है। यदि नये साधक की कुण्डलिनी उठाने से पूर्व दिव्य दृष्टि खोल दी जाए तो साधक कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने का दृश्य स्पष्ट देख सकता है तथा अच्छे-अच्छे अनुभव भी दिखाई देते हैं। मगर दिव्य दृष्टि दो-चार दिनों बाद अपने आप बन्द हो जाएगी। यह प्रयोग मैंने तीन नये साधकों पर किया था; उनको अच्छे-अच्छे अनुभव हुए थे।

आजकल कुछ लोग खुलेआम प्रदर्शन करते हैं। वह जमीन के अंदर कुछ घंटों अथवा कुछ दिनों तक बने रहते हैं। वास्तव में ऐसा प्रदर्शन करने वाले योगी ही नहीं होते हैं, मगर संसारी लोग ऐसे लोगों को योगी समझने की भूल करते हैं। ऐसे प्रदर्शन का योग से कुछ लेना देना नहीं होता। यह कार्य अत्यन्त कठिन व खतरनाक होता है। अगर कोई पुरुष सिर्फ तमाशा दिखाने के लिए कुछ घण्टों व कुछ दिनों के लिए भूमि अन्दर अपने आप को कर लेता है, तब ऐसी अवस्था में उस पुरुष का समाधि से कुछ लेना-देना नहीं होता। सिर्फ भोली-भाली जनता को वह बेवकूफ बना रहा होता है। इसकी वास्तविकता जनता समझ नहीं पाती। सच यह है कि ऐसे लोग पहले से निश्चित कर लेते है कि कितने घण्टे के लिए भूमि के अन्दर जाना है। उसी के अनुसार ही गड्ढा खोदा जाता है, जिससे उतनी मात्रा में गड्ढे के अन्दर आक्सीजन भर जाए क्योंकि वैज्ञानिक आधार है कोई भी मनुष्य एक घण्टे में कितने घन फुट ऑक्सीजन लेता है। उसी के अनुसार उतना ही बड़ा गड्ढा खोद कर उसके अन्दर प्रवेश कर जाता है। गड्ढे को सही ढंग से पाट दिया जाता है। गड्ढे के अंदर की ऑक्सीजन समाप्त होने से पहले ही वह मनुष्य बाहर निकाल लिया जाता है। ऐसी अवस्था में संयम की जरूरत होती है। इसका अभ्यास कई महीनों तक किया जाता है। परिपक्व होने पर फिर भीड़ को एकत्र करके तमाशा दिखाने लगते हैं। रुपए कमाने का यह तरीका गलत है। ऐसे मनुष्य का अध्यात्म से कुछ भी लेना देना नहीं होता है। पतंजलि योगसूत्र में आठ सिद्धियों का वर्णन मिलता हैं। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा आदि के विषय में हमें जानकारी नहीं है। लेखों में मिलता है कि ये सिद्धियाँ भगवान बजरंगबली को सिद्ध थीं। वैसे आजकल सबसे ज्यादा सिद्ध पुरुष हिमालय की ऊँचाई वाले भाग में पाए जाते हैं।

जून 1993 में मैंने निश्चय किया कि मैं भी परकाया प्रवेश के विषय में जानकारी करके रहूँगा। मैंने कठोर साधना करके थोड़ा ज्ञान हासिल कर लिया। आप हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं। ध्यानावस्था में मैं एक नाड़ी में प्रवेश कर जाता था। वह नाड़ी आगे बन्द थी। कई बार प्रवेश करने के बाद मैंने अपना मार्ग बदल दिया। मैं जानता था कि नाड़ी कभी न कभी हमें मार्ग दे देगी। मगर फिर मैं ज्ञान चक्र के द्वारा बाहर निकल गया, मगर मेरा मार्ग भगवान विष्णु ने रोक दिया और मुझे समझाया कि यह मार्ग आपका नहीं है। आकाश गमन सिद्धि के लिए आवश्यक है कि उदान वायु को संयमित करें– यह प्रारम्भिक अवस्था है। उदान वायु को कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके लिए हर कुम्भक कम से कम तीन मिनट का होना चाहिए। काफी समय बाद आपको वायु स्पर्श की अनुभूति होनी समाप्त हो

जाएगी। आपको लगेगा कि आप शरीर में नहीं हैं। इस अवस्था में आपके स्थूल शरीर की दुर्गति होती है। इन सिद्धियों के विषय में मैंने अपने अभ्यास के आधार पर लिखा है।

कुण्डलिनी

कुछ लोग कुण्डलिनी के विषय में पूर्णरूप से नहीं जानते हैं, इसलिए इसका महत्त्व नहीं समझ पाते हैं। कुछ लोगों का सोचना होता है कि संत-महात्माओं की कुण्डलिनी जाग्रत होती है। मैं यह बताना चाहूँगा कि जो आपको संत-महात्मा दिखाई पड़ते हैं, जरूरी नहीं कि उनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो। कुण्डलिनी सिर्फ उनकी जाग्रत होती है जो इस मार्ग पर चलते हैं अर्थात योगमार्ग पर। सच तो यह है कि योगमार्ग पर भी चलने वालों की साधना की परिपक्व अवस्था होने पर कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसलिए जाग्रत कुण्डलिनी वालों की संख्या बहुत ही कम है। कुछ व्यक्तियों का यह कहना होता है कि हमें कुण्डलिनी जाग्रत करने की क्या आवश्यकता है, मैं तो ईश्वर का भक्त हूँ। यदि कोई वास्तव में ईश्वर भक्त है तो अच्छी बात है, परंतु सिर्फ पूजा करने से या आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़ने से कोई भक्त नहीं हो जाता। समर्पण की भावना भी जरूरी है। कुछ अच्छे भक्तों की भी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, मगर ज्यादा ऊर्ध्व नहीं होती है।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि कुण्डलिनी बेकार की चीज है क्योंकि उसके जाग्रत होने पर साधक को परेशानियाँ बढ़ जाती हैं, शरीर का तापमान बढ़ जाता है, उसे बुखार आ जाता है जिससे डाक्टर से इलाज करवाना पड़ता है। पता नहीं क्या-क्या बेकार के शब्द बोलते रहते हैं। ये शब्द मैंने उनके मुँह से सुने जो योग का मार्गदर्शन करते हैं। योग के मार्गदर्शक बन गये और कुण्डलिनी के विषय में इस तरह की बातें करते हैं। ऐसे महापुरुषों से मैं यही कहूँगा कि पहले योग के विषय में पूरी जानकारी कर लें, योग की बारीकियों को समझ लें, तथा योग का अभ्यास स्वयं को होना अति आवश्यक है। जब कुण्डलिनी स्थिर हो जाए, तब मार्गदर्शन की ओर कदम बढ़ाइए। सिर्फ पुस्तकों को पढ़कर मार्गदर्शक मत बन जाइए, व्यायाम में महारथ हासिल करने को योग नहीं कहते। योग के नये साधकों को गलत शिक्षा देकर भ्रमित न करें। दरअसल, आपकी स्वयं की कुण्डलिनी जाग्रत नहीं है, इसलिए आपको उसका महत्त्व मालूम नहीं है।

हमें एक घटना याद आ गयी, यह बात सन् 1986 की है। उस समय मैं दिल्ली में नौकरी करता था। उस समय हमें एक पुस्तक योग सम्बंधी प्राप्त हो गयी। पुस्तक पढ़ने पर जानकारी हुई कि इनकी कई शाखाएं दिल्ली में हैं जहाँ योग की शिक्षा दी जाती है। मैं इस संस्था के व्यवस्थापक के पास गया। मैंने

अपना परिचय एक साधक के रूप में दिया तथा योग के कुछ अनुभव सुनाए। हमारे अनुभव सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर वह हमसे बोले– "आप कुण्डलिनी के चक्कर में मत पड़ना।" फिर ढेरों शब्द कुण्डलिनी के नाम पर उल्टे-सीधे कहे और बोले– "आप मेरी क्लास में शामिल हो जाइए।" मैं दुखी भाव से वापस लौट आया। सोचने लगा इतनी बड़ी संस्था है, ढेरों शाखाएँ हैं, यह क्या योग की शिक्षा देंगे जबकि स्वयं इन्हें योग के बारे में मालूम नहीं है। कुछ प्रतिष्ठित संन्यासियों को देखा है जिनका कहना है कि उनके शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हो चुका है, वह दूसरों को भी कुण्डलिनी शक्ति का दर्शन करा सकते हैं; मगर कुछ नहीं कर पाते हैं, सिर्फ जनता को धोखा देते हैं।

कुछ लेखक ऐसे हैं जिन्हें स्वयं को कुण्डलिनी की अनुभूति नहीं है क्योंकि अपनी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं कर पाये, मगर कुण्डलिनी के विषय में लम्बे-लम्बे लेख लिख डाले, उन्हें छपवाकर बाजार में बेचते हैं। मगर योग्य साधकों को इस बात की जानकारी हो जाती है कि लेखक योग का अभ्यासी नहीं है। ऐसे लेखक सिद्धियों के विषय में भी लिख डालते हैं, जबकि उन्हें वह सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। हम एक बार फिर लिखना चाहेंगे, जिन साधकों को अथवा जिज्ञासुओं के अंदर कुण्डलिनी के विषय में गलत धारणा हो गयी है, वह अपने अंदर से गलत धारणा निकाल दें। क्योंकि कुण्डलिनी साधारण शक्ति नहीं है बल्कि आदिशक्ति है। इसी के द्वारा साधक पूर्णता प्राप्त करता है। कुण्डलिनी ही समस्त ब्रह्माण्ड की जननी है, इसलिए यह हम सभी की वास्तविक 'माँ' है। माँ ही बेटे को पिता से मिलवा सकती है अथवा पहचान करा सकती है। हमारे परम पिता ब्रह्म हैं।

कुण्डलिनी आदिशक्ति का पर्यायवाची शब्द है, शक्ति का स्वरूप है और अखण्ड रूप से कण-कण में व्याप्त है। ब्रह्माण्ड के चौदहों लोकों में शक्ति रूप में व्याप्त है, इसीलिए भुवनेश्वरी कही गयी है। भगवान ब्रह्मा, भगवान शंकर, भगवान विष्णु, कुण्डलिनी की ही शक्ति से शक्तिमान हुए हैं। यही कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के पास गायत्री रूप में, विष्णुलोक में विष्णु के पास लक्ष्मी रूप में, कैलाश पर अम्बा या पार्वती रूप में और गोलोक में कृष्ण के साथ राधा रूप में रहती है।

प्रकृति की सृष्टि के अनुसार ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड और शरीर रूपी पिण्ड दोनों एक ही हैं। ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड बड़ा है, शरीर रूपी पिण्ड छोटा है। इन दोनों पिण्डों का आपस में तारतम्य बना रहता है, इसलिए जो ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड में दिव्य शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वही शक्तियाँ शरीर रूपी पिण्ड में

विद्यमान रहती हैं। ब्रह्माण्ड व्यापनी कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य के शरीर में मूलाधार चक्र में स्थित है। निर्गुण ब्रह्म का स्थान मनुष्य के शरीर में सहस्त्रार चक्र में माना गया है। मूलाधार चक्र में शिवलिंग पर कुण्डलाकार रूप में यह कुण्डलिनी साढ़े तीन चक्कर लगाये लिपटी रहती है। कुण्डलिनी अपनी पूँछ को मुँह के अंदर दबाये रहती है। क्योंकि मनुष्य के शरीर में यह शक्ति कुण्डलाकार रूप में विद्यमान रहती है, इस कारण इसका नाम कुण्डलिनी पड़ा है।

मनुष्य के शरीर में कुण्डलिनी सूक्ष्म रूप में सुषुप्तावस्था में रहती है। इसे योग के अभ्यास द्वारा जाग्रत किया जाता है। साधक की साधना जब परिपक्व अवस्था में होती है, तब गुरु या मार्गदर्शक शक्तिपात करके जाग्रत करके ऊर्ध्व कर देता है। साधारण मनुष्यों की कुण्डलिनी सदैव सोयी रहती है, इसलिए मनुष्य अपने जीवन में इस कुण्डलिनी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाता है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को हीरों का खजाना दे दिया जाए फिर बाहर से खजाने का दरवाजा बन्द कर दिया जाए, वह मनुष्य भिखारी के समान दूसरों से कहे मैं निर्धन हूँ इसलिए भीख माँगनी पड़ रही है, तब इसमें किसका दोष है। ठीक वैसा ही सांसारिक मनुष्य करता है। उसके शरीर के अंदर अक्षय खजाने का भण्डार भरा हुआ है फिर भी सारी जिन्दगी दीनता का हाथ फैलाये रहता है, मगर अपने शरीर के अंदर खजाने का दरवाजा खोलने का प्रयास नहीं करता है। वह संसार में दुखी होकर सुख के तलाश में भटकता रहता है। मगर इस स्थूल संसार में सुख नहीं मिलता है, फिर मृत्यु और जन्म चक्र में बराबर घूमता रहता है। इसलिए मनुष्य को अपने अंदर सोई शक्ति जाग्रत करनी चाहिए। यही शक्ति आपको योग का अभ्यास करने के बाद शाश्वत आनन्द की अनुभूति करायेगी तथा जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा भी दिलाएगी।

आदिशक्ति कुण्डलिनी सारे स्त्रोतों का स्त्रोत है, इसलिए हर मनुष्य को कुण्डलिनी का लाभ उठाना चाहिए। यह हर मनुष्य का अधिकार भी है। इसको जाग्रत करने के लिए योग के नियमों का पालन करना चाहिए तथा गुरु की देख-रेख में ध्यान करने की आवश्यकता है ताकि स्थूल शरीर शुद्ध हो सके। इसे जाग्रत करने के लिए नाड़ियों का शुद्ध होना अति आवश्यक है और कई साल साधना करनी पड़ती है। कभी-कभी साधक को कुण्डलिनी जागरण के लिए दूसरे जन्म का भी इंतजार करना पड़ता है। लेकिन जिनका अंतःकरण बिल्कुल शुद्ध होता है, ईश्वर प्राप्ति की लगन होती है, वर्तमान कर्म अच्छे होते हैं तथा योगनिष्ठ व गुरुनिष्ठ होते हैं, ऐसी साधना करने वाले साधकों की कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत हो जाती है। यह

नहीं बताया जा सकता है कि अमुक साधक की कुण्डलिनी कब जाग्रत होगी; यह साधक की योग्यतानुसार जाग्रत होती है।

साधक का मन ध्यानावस्था में जब एकाग्र होने लगता है, तब प्राण के धक्के कुण्डलिनी पर लगने लगते हैं। साधक को जब तीनों बन्ध लगने लगते हैं, तब प्राण का दबाव उस समय मूलाधार चक्र पर होता है। मूलाधार पर प्राण के दबाव के कारण प्राण के धक्के कुण्डलिनी पर लगते हैं, प्राण के धक्के लगने पर कुण्डलिनी अपनी आँखें खोलने लगती है, उस समय कुण्डलिनी आँख खोलती है और बन्द करती है। मगर बार-बार प्राण के धक्के लगने पर वह आँखें पूर्ण रूप से खोल लेती है। आँखें खुलने के बाद भी कुण्डलिनी पहले की भाँति चुपचाप मुँह में पूँछ दबाए हुए शांत बनी रहती है। साधक को ध्यानावस्था में यदि उड्डियान बन्ध अपने आप लगने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि कुण्डलिनी ने आँख खोल दी है। इस अवस्था में मूल बन्ध भी स्वयमेव लगने लगता है। जब साधक का धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता है तथा मन गहराई में जाता है, तब प्राणों का दबाव व धक्के कुण्डलिनी पर ज्यादा लगते हैं। उस अवस्था में कुण्डलिनी अपने मुँह से पूँछ उगलने लगती है। एक समय ऐसा आता है कि वह मुँह से पूँछ पूरी तरह से उगल देती है।

जब गुरु साधक को अभ्यास में परिपक्व अवस्था वाला समझता है अथवा कुण्डलिनी ऊर्ध्व करने का समय समझ लेता है, उस समय गुरु साधक पर शक्तिपात करके कुण्डलिनी ऊर्ध्व कर देता है। कुण्डलिनी शिवलिंग का थोड़ा सा चक्कर (लपेट) खोलकर फन उठाकर खड़ी हो जाती है। इस अवस्था में कुण्डलिनी जोर-जोर से फुफकारती है। जैसे किसी नागिन को सोते हुए अगर जगा दिया जाए तो वह नागिन क्रोध में होती है, इसी प्रकार कुण्डलिनी भी क्रोध में फुफकारती है। शुरुआत में कुण्डलिनी बिल्कुल थोडी सी ऊर्ध्व होती है, फिर साधक की साधना के अनुसार थोड़ा-थोड़ा ऊर्ध्व होती रहती है। कुण्डलिनी ऊर्ध्व करने का यह अर्थ नहीं होता है कि एक बार में ही यह कण्ठ तक आ जाएगी, बल्कि शुरू में शिवलिंग के बराबर फन उठाकर खड़ी हो जाती है। फिर योग के अभ्यास के अनुसार ऊर्ध्व होती रहती है।

मूलाधार चक्र के मध्य में त्रिकोण के बीच में शिवलिंग है, इसी शिवलिंग पर यह लिपटी रहती है। त्रिकोण के मध्य से सुषुम्ना नाड़ी मेंरुदण्ड के अंदर से होती हुई ऊपर की ओर चली जाती है। इसी सुषुम्ना

नाड़ी के बायीं ओर इड़ा नाड़ी है, यह भी त्रिकोण के बायीं ओर से निकलकर ऊपर की ओर चली जाती है। सुषुम्ना नाड़ी के दायीं ओर पिंगला नाड़ी है। यह नाड़ी त्रिकोण के दाहिनी ओर से निकलती है और ऊपर की ओर चली जाती है। इन इड़ा और पिंगला नाड़ियों में प्राणवायु का संचालन होता है। इसीलिए इन दोनों नाड़ियों को शक्तिवाहिनी कहा गया है। इन दोनों नाड़ी के बीच सुषुम्ना नाड़ी का साधारण अवस्था में मुँह बन्द रहता है। यह कुण्डलिनी शक्ति इसी सुषुम्ना के अंदर प्रवेश कर जाती है। इसी के अंदर से ऊर्ध्व होती है। कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय साधकों को अच्छे-अच्छे अनुभव आते हैं।

ध्यानावस्था में जब प्राण के धक्के कुण्डलिनी पर पड़ते हैं तब वह अपनी आँखें खोल देती है। उस समय साधक की भस्त्रिका अपने आप चलने लगती है। इस भस्त्रिका का चलने का कारण स्वयं कुण्डलिनी ही है। भस्त्रिका चलने से नाड़ी शुद्ध होती है। यह कार्य स्वयं कुण्डलिनी ध्यानावस्था में साधक से करवा लेती है। जब कुण्डलिनी ऊर्ध्व होती है, तब भी साधक की कुछ न कुछ ध्यानावस्था में भस्त्रिका चलती है। इस अवस्था में साधक को भस्त्रिका प्राणायाम ज्यादा से ज्यादा करना चाहिए।

जिस समय कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊपर की ओर चढ़ती है तब उसका स्वरूप ऐसा लगता है जैसे नागिन कुमकुम में लिपटी हुई हो। अपने मुँह से आग की लपटें निकालती हुई आगे को बढ़ती है। कुण्डलिनी जागते ही सबसे पहले पृथ्वी तत्त्व को खाना शुरू कर देती है। ऐसा लगता है जैसे किसी को बहुत अंतराल के बाद भोजन मिला हो तो वह भोजन पर बेसब्री से टूट पड़ता है; उस समय जो भी मिल जाए खा लेता है। ठीक इसी प्रकार बहुत समय के बाद जागी परमेंश्वरी कुण्डलिनी साधक के शरीर का पृथ्वी तत्त्व खाने में लग जाती है। इससे साधक के शरीर की जड़ता नष्ट होने लगती है। साधक के शरीर में आलस्य नहीं रहता है। साधक का शरीर फुर्तीला सा हो जाता है। किसी भी कार्य को पहले की अपेक्षा जल्दी से निपटा लेता है। जड़ता व आलस्य न रहने के कारण उसे निद्रा भी कम आती है। कुण्डलिनी जिस जिस स्थान की जड़ता खा लेती है अथवा नष्ट कर डालती है फिर उस स्थान पर चैतन्यता बिखेरती जाती है। क्योंकि कुण्डलिनी स्वयं चैतन्यस्वरूपा है इसकी जड़ता से सख्त दुश्मनी है। इसीलिए यह सर्वप्रथम जड़ता पर हमला कर देती है उसे खाती व नष्ट करती हुई आगे की ओर बढ़ती है तथा स्वभाव के अनुकूल चैतन्यता बिखेरती जाती है।

परमेश्वरी कुण्डलिनी जब पृथ्वी तत्त्व (जड़ता) को खा लेती है, फिर उसका भोजन जल तत्त्व होता है, साधक के जल तत्त्व को पीना शुरू कर देती है। जल तत्त्व की कमी के कारण शरीर में उष्णता बढ़नी शुरू हो जाती है। इस अवस्था में साधक की साधना भी बढ़ने लगती है, जिससे गर्मी उत्पन्न होती है। जब कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊपर की ओर चढ़ती हुई उग्र होती है, वैसे-वैसे जल तत्त्व को सोखती या पीती है। साधक का स्थूल शरीर दुबला पतला होने लगता है, मगर शरीर की कांति बढ़ती है और चेहरे का तेज बढ़ता है। पेट में स्थित आंतों का पानी कम होने लगता है। यदि साधक की कुण्डलिनी उग्र हुई तो पेट में उष्णता के कारण आंतों में जख्म होना शुरू हो जाता है। फिर शौच के समय कभी-कभी हल्का-सा रक्त निकल आता है। इससे साधक को अत्यधिक तकलीफ शुरू हो जाती है, उस समय साधक को अधिक से अधिक पानी पीना चाहिए, मगर शरीर में पानी अपने आप सूखता रहता है। उस समय साधक को उष्णता की तकलीफ तो सहनी पड़ती है। साधक का शरीर पतला हो जाता है। मगर साधक के शरीर के अंदर शक्ति की कमी नहीं रहती है, बल्कि पहले से ज्यादा स्फूर्ति आ जाती है। उष्णता अधिक हो जाने के कारण साधक को भूख भी कम लगती है। मगर यह स्थिति थोड़ी आगे चलकर आती है।

कुण्डलिनी जब जाग्रत हो कर ऊर्ध्व होती है तब मूलाधार में स्थित जड़ता को समाप्त करके उस चक्र में स्थित नाड़ियों और स्नायु मण्डल में चैतन्यता बिखेर देती है। इससे मूलाधार चक्र चैतन्मय हो जाता है। मूलाधार चक्र जड़ता प्रधान चक्र है। इस चक्र में जड़ता की मात्रा अधिकता में पायी जाती है। कुण्डलिनी जब चैतन्यता बिखेरने के बाद ऊपर की ओर बढ़ती है, तब स्वाधिष्ठान चक्र में पहुँचती है। स्वाधिष्ठान चक्र जननेन्द्रिय स्थान पर है। कुण्डलिनी जब इस स्थान पर आती है तब साधक की काम वासना अत्यन्त तीव्र हो जाती है। इस अवस्था में काम वासना इतनी तेज हो जाती है कि साधक की वासना पहले कभी इतनी तीव्र नहीं हुई होगी। कुछ साधक यह भी सोच सकते हैं कि हमें वासना-सम्बन्धी विकार पहले नहीं आया था, अब यह विकार इतना ज्यादा क्यों आ गया। साधकों, ऐसी अवस्था में घबराना नहीं चाहिए, धैर्य से काम लेना चाहिए। जो वासना उठी है, उसे कुण्डलिनी स्वयं जलाकर भस्म कर देगी। यहाँ पर साधकों को ऐसा समझना चाहिए कि आपकी साधना सम्बन्धी परीक्षा ली जा रही है। ध्यानावस्था में आपको अनुभव भी आ सकते हैं। यदि ध्यानावस्था में कामवासना सम्बन्धी अनुभव आये, उस समय साधक को तटस्थ होकर अवलोकन करना चाहिए। मन के अंदर विकार नहीं आना चाहिए। यदि मन के अंदर विकार आ गया, तो आपका ध्यानावस्था में पतन भी हो सकता है। इस पतन के

कारण कुछ दिनों की साधना की हानि भी उठानी पड़ सकती है। इस अवस्था में स्वयं कुण्डलिनी देवी सुन्दर स्त्री का स्वरूप धारण करके आपके सामने कामुक मुद्रा में प्रकट हो सकती है। इसलिए साधक को सतर्कता की जरूरत है। हर मनुष्य की कामवासना इसी चक्र से क्रियान्वित होती है। इसलिए जब कुण्डलिनी इस चक्र में पहुँचती है, तब वासना भी उग्र हो जाती है। मगर कुण्डलिनी वासनाओं को नष्ट करती हुई जल तत्त्व को पीना शुरू कर देती है। इस चक्र में जल तत्त्व की अधिकता रहती है। जब जल तत्त्व को सोख लेती है, तब इस चक्र में अपनी चैतन्यता बिखेर देती है, यह चक्र भी चैतन्यमय हो जाता है। फिर साधक की कामवासना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाती है। इसके आगे कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊर्ध्व होकर नाभि चक्र पर पहुँचती है।

जब कुण्डलिनी नाभि चक्र में पहुँचती है, उस समय साधक को अधिक उष्णता सहनी पड़ती है। कुण्डलिनी स्वयं आग की ज्वालाएँ उगलती है, तथा नाभि में ही जठराग्नि का स्थान है। यही जठराग्नि भोजन पचाने का कार्य करती है तथा सारे शरीर को गर्म रखती है। नाभि स्वयं नाड़ियों का सन्धिस्थान है। कुण्डलिनी इन नाड़ियों की जड़ता नष्ट करके चैतन्यता भर देती है तथा जठराग्नि को पूर्ण रूप से प्रज्जवलित कर देती है। इस कारण साधक के पेट में आग ही आग फैल जाती है। साधक का सारा शरीर गर्म रहने लगता है। इस समय साधक को भूख बहुत लगती है। उसे समझ में नहीं आता है कि वह जो भी खाता है, इतनी जल्दी हजम कैसे हो जाता है। शौच के लिए तो साधक दो-दो दिन तक नहीं जाएगा, सारा भोजन भस्म हो जाता है। इसी समय पेट की आँतों का पानी सूखने लगता है। यदि साधकों को पेट के आंतों में जख्म महसूस हो तो दूध में थोड़ा सा देसी घी डालकर पीना चाहिए इससे जख्मों को आराम मिलेगा। इस चक्र में अग्नि तत्त्व की अधिकता रहती है। ऊपर से कुण्डलिनी भी आग ही आग निकालती है तब साधक को अधिक उष्णता महसूस होना जरूरी है। नाभि चक्र में चैतन्यता बिखेरती हुई ऊपर की और अग्रसर होती है आगे चलकर वह हृदय चक्र में पहुँचती है।

जब कुण्डलिनी सुषम्ना के सहारे ऊपर चढ़ती हुई हृदय चक्र में पहुँचती है तब ऐसा लगता है मानो हृदय में जलन हो रही है। हृदय के चारों ओर आग ही आग फैल गयी है। कभी-कभी लगता है, हृदय पूरी तरह से जल जाएगा। अथवा उग्र कुण्डलिनी वाले साधक कभी-कभी ऐसा महसूस करते हैं कि कुण्डलिनी हृदय को नोचे जा रही है। हृदय नोचने की अनुभूति सभी साधकों को नहीं होती है, इसका कारण यह है

कुण्डलिनी का एक मार्ग नाभि चक्र से सीधे हृदय की ओर जाता है। इस मार्ग को चौथा मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग से कुण्डलिनी सीधे हृदय में पहुँच जाती है। वहाँ चित्त में स्थित कर्माशयों को भी थोड़ी मात्रा में जलाती है तथा हृदय स्थित वायु को भी सोखने लगती है। फिर वह नाभि चक्र में वापस आ जाती है और रीढ़ के सहारे हृदय चक्र में आ जाती है। फिर नाभि चक्र में वापस आकर सीधे हृदय में प्रवेश कर जाती है। यह क्रिया वह कुछ दिनों तक करती है। फिर सुषम्ना के सहारे हृदय चक्र से आगे बढ़ जाती है। जब हृदय चक्र से आगे बढ़ जाती है, फिर कुण्डलिनी नाभि चक्र से सीधे हृदय पर नहीं आती है। इस चौथे मार्ग पर कुण्डलिनी सभी साधकों की नहीं जाती है। जो पूर्वकाल से (पूर्वजन्मों) योगी हैं, उनकी कुण्डलिनी चौथे मार्ग पर जाती है। इस मार्ग पर जाने से साधक को काफी लाभ मिलता है क्योंकि कुछ मात्रा में संस्कार जल जाते हैं। बहुत से योगियों को भी मालूम नहीं होता है कि कुण्डलिनी का यह भी मार्ग है। इस विषय पर आगे लिखेंगे। जब साधक की कुण्डलिनी हृदय चक्र पर आती है तब अच्छे-अच्छे दिव्य अनुभव भी होतें हैं। कुण्डलिनी हृदय चक्र की अशुद्धता व जड़ता नष्ट करके चैतन्यता भरती हुई साधक की साधना के अनुसार आगे बढ़ती है और कुछ दिनों पश्चात् कण्ठ चक्र पर पहुँचती है।

कण्ठ चक्र एक ऐसा चक्र है जिसे खोलने में बहुत समय लग जाता है। कई साधक तो इस चक्र को खोल नहीं पाते हैं क्योंकि उनकी साधना इतनी उग्र नहीं होती है। वैसे यह चक्र खोलने में उग्र साधना करने वालों को भी कई वर्ष लग जाते हैं। कुण्डलिनी जब कण्ठ चक्र में पहुँचती है, तब वहाँ से आगे जाने का मार्ग नहीं मिलता है तथा यहाँ पर मार्ग भी बहुत सकरा है। इस मार्ग को एक ग्रन्थि अवरोध किये रहती है। यह ग्रन्थि नाड़ियों का एक गुच्छा है। जब तक यह ग्रन्थि खुल नहीं जाएगी, कुण्डलिनी आगे नहीं जा सकती है। इस अवस्था में साधक को बहुत शुद्ध रहना चाहिए। साधना भी ज्यादा से ज्यादा करनी चाहिए। इस ग्रन्थि को खोलने के लिए प्राणायाम का महत्त्व अधिक होता है, साधक को प्राणायाम भी खूब करना चाहिए। जिनकी कुण्डलिनी उग्र होती है, उन साधकों को अच्छी तरह महसूस होता है कि कुण्डलिनी हमारे गले में ठोकर मार रही है तथा ऊपर जाने का प्रयास कर रही है। जब साधक की साधना अच्छी होती है और शरीर में शुद्धता भी बढ़ जाती है, तब यह ग्रन्थि खुलने लगती है। खुलते समय ऐसा लगता है जैसे नसें टूट रही हों अथवा ग्रन्थि को कुण्डलिनी नोंच रही है। जब ग्रन्थि पूर्णरूप से खुलने वाली होती है, तब उस समय गर्दन दुखने लगती है। मगर जब कुछ दिनों बाद ग्रन्थि खुल जाती है, तब प्राण ऊपर की ओर चला जाता है। कुण्डलिनी तुरंत ऊपर नहीं जा पाती है क्योंकि मार्ग संकरा होता है, इसलिए ठोकर मार-

मार कर मार्ग चौड़ा कर देती है। कण्ठ चक्र का मार्ग इतना चौड़ा कर देती है ताकि कुण्डलिनी को ऊपर जाने के लिए सुविधा हो जाए। कण्ठ चक्र से कुण्डलिनी अत्यन्त धीमी गति से ऊपर चढ़ती है। अब ऊपर का मार्ग तय करने के लिए साधक को कठोर नियम-संयम का पालन करना होता है तथा साधना भी कठोर करनी पड़ती है। कण्ठ चक्र तक कुण्डलिनी बड़े आराम से सुषुम्ना के सहारे आ जाती है। मगर आगे का मार्ग अब स्वयं बनाना होगा।

कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र तक कुण्डलिनी को पहुँचने में बहुत समय लग जाता है। कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र जाने के लिए कुण्डलिनी को तीन मार्गों से होकर गुजरना पड़ता है। इसलिए कण्ठ चक्र से ऊपर कुण्डलिनी के तीन मार्ग कहे गये हैं: एक– पूर्व मार्ग, दो– पश्चिम मार्ग, तीन– सीधा मार्ग।

पूर्व मार्ग – कण्ठ चक्र से आगे की ओर से होकर आज्ञा चक्र पर आना, आज्ञा चक्र से थोड़ा ऊपर की ओर होते हुए गोलाई से पीछे की ओर जाकर ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँचना; क्योंकि यह मार्ग मुँह की ओर होता है, इसलिए पूर्व मार्ग कहा गया है।

पश्चिम मार्ग – यह मार्ग कण्ठ चक्र से सिर के पीछे लघु मस्तिष्क के बीच से होते हुए, लघु मस्तिष्क से थोड़ा ऊपर उठते हुए गोलाई में ब्रह्मरंध्र द्वारा तक आना, यह पश्चिम मार्ग कहा गया है। क्योंकि यह मार्ग सिर के पीछे की ओर से आता है।

सीधा मार्ग – कण्ठ चक्र से ऊपर की ओर सीधे चला जाता है। कण्ठ चक्र से सीधे ऊपर ब्रह्मरंध्र द्वार है। यह मार्ग कण्ठ चक्र से ऊपर की ओर तीर के समान जाता है। ये तीनों मार्ग ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँचते हैं। कुण्डलिनी इन तीनों मार्गों पर क्रमश: आती-जाती रहती है। कण्ठ चक्र खुलने के बाद प्राणवायु दो भागों में विभाजित हो जाती है। आधा प्राण पूर्व मार्ग से आज्ञा चक्र पर तुरंत आ जाता है, आधा प्राण कण्ठ चक्र से लघु मस्तिष्क अर्थात पश्चिम मार्ग में आ जाता है।

इस अवस्था में लघु मस्तिष्क के अंदर से जाने वाला मार्ग अभी बन्द रहता है, इसलिए प्राण इसी जगह पर रुका रहता है। कुण्डलिनी सबसे पहले इस मार्ग को अर्थात पश्चिम मार्ग को खोलने का प्रयास करने लगती है। लघु मस्तिष्क का स्वरूप फूल-गोभी के जैसा होता है। जब कुण्डलिनी लघु मस्तिष्क में अपना मार्ग बनाती है, तब उग्र कुण्डलिनी वाले साधक को परेशानी होती है क्योंकि लघु मस्तिष्क में वह

घुस जाती है। जब घुसती है, तब उस क्षेत्र की अशुद्धता को नष्ट करती हुई आगे की ओर गमन करती है। साधक को ऐसा लगता है मानो लघु मस्तिष्क के माँस को चीरती हुई चली जा रही है, तथा आसपास के माँस को भी जला रही है। सूक्ष्म लघु मस्तिष्क, स्थूल लघु मस्तिष्क में समाया हुआ है, इस कारण ऐसी अनुभूति होती है। लघु मस्तिष्क में मार्ग प्रशस्त करते समय वह पूर्व मार्ग पर भी तथा सीधे मार्ग पर भी जाती है, इसलिए तीनों मार्ग क्रमश: तय करती है। पहले लघु मस्तिष्क का मार्ग खोलती है फिर पूर्व मार्ग पर आ जाती है। फिर मस्तक पर स्थित आज्ञा चक्र खोलने में लग जाती है। जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर पहुँचती है, उस समय साधक की दिव्य दृष्टि खुल जाती है, अथवा पहले भी दिव्य दृष्टि खुल जाती है। जब कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर पहुँचती है, तब दिव्य दृष्टि अत्यन्त तेज हो जाती है। इस समय कुण्डलिनी के कारण अत्यन्त तेज हुई दिव्य दृष्टि की देखने की क्षमता बहुत ज्यादा हो जाती है।

जिस समय कुण्डलिनी आज्ञा चक्र पर आती है उस समय स्थूल नेत्र भी अत्यन्त तेजस्वी दिखाई देने लगते हैं तथा आँखों व पलकों में तीव्र जलन भी होती है। ऐसा लगता है जैसे पलकों में चीटियाँ काट रही हैं। आँखों में काफी जलन के कारण, तेज धूप में आँखें नहीं खुलती हैं अथवा आँखों में परेशानी होती है। ध्यानावस्था में आँखें अंदर की ओर खिंचती हैं, ऐसा लगता है आँखें टूटकर पीछे की ओर चली जायेंगी, तथा आँखों की पुतलियाँ घूमने लगती हैं। ऐसा लगता है आँखों की दृष्टि भी चली जाएगी, मगर ऐसा होता नहीं है। साधक को इस अवस्था में घबराहट बहुत होने लगती है। उग्र कुण्डलिनी वाले साधकों के अंदर इस अवस्था में बहुत ज्यादा शक्ति आ जाती है। साधक दूसरों को हानि भी पहुँचा सकता है। जब आज्ञा चक्र खुल जाता है तब कुण्डलिनी फिर सीधे मार्ग से होकर ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँच जाती है। जब लघु मस्तिष्क खुल जाता है तब आधा प्राणवायु पश्चिम मार्ग से ऊपर चढ़ता हुआ ब्रह्मरंध्र द्वार पर आ जाता है। आधा प्राणवायु आज्ञा चक्र से पूर्व मार्ग होता हुआ ब्रह्मरंध्र द्वार पर आ जाता है। दोनों बटे हुए प्राण आपस में फिर मिल जाते हैं। कुण्डलिनी लघु मस्तिष्क व आज्ञा चक्र पर जड़ता को नष्ट करके अपनी चैतन्यता बिखेरकर उस भाग को चैतन्यमय बना देती है।

जब कुण्डलिनी सीधा मार्ग खोल देती है तो उस समय ब्रह्मरंध्र से टपकने वाली अमृत रूपी बूंदें सीधे नाभि पर आकर गिरती हैं और नाभि पर स्थित जठराग्नि को शांत कर देती हैं। जब यह बूंदें गिरती हैं उस समय गले में इन बूंदों की अनुभूति होती है। इसका स्वाद बहुत ज्यादा मीठा होता है। ऐसा लगता है

कि शहद की बूँदें गिरी हों, इसका स्वाद एक-दो दिन तक बना रहता है। इसे योग की भाषा में अमृत की बूँदें कहते हैं। खेचरी मुद्रा लगाने वाले साधक जीभ की नोक पर इन बूंदों का स्वाद लिया करते हैं। इससे भूख प्यास पर विजय प्राप्त होती है। जब साधक का कण्ठ चक्र खुल जाता है, तब कुण्डलिनी तीनों मार्गों को खोलने में लग जाती है। उसी समय साधक को ध्यानावस्था में एक क्रिया होती है। उसका सिर नीचे की ओर शरीर पर दबाव देता है, उसी तरह कंधों से निचला भाग ऊपर की ओर दबाव देता है। दोनों ओर के दबाव से गर्दन बिल्कुल सिकुड़ जाती है क्योंकि (सिर का और शरीर का) दोनों ओर से दबाव गर्दन पर पड़ता है। सिर का निचला भाग कंधों पर लग जाता है। सिर का दबाव कभी-कभी इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि सिर में कम्पन होने लगता है। उसी समय उड्डियान बन्ध भी लगा होता है तथा मूल बन्ध भी जोर से लगा रहता है। इस क्रिया का कारण यह होता है सिर की वायु नीचे की ओर आती है और नीचे की वायु ऊपर सिर में जाती है, इसलिए यह क्रिया होती है। गर्दन में व सिर में उदानवायु का आदान-प्रदान चलता है, इसलिए उदानवायु कुछ मात्रा में नीचे आती है।

अब कुण्डलिनी सीधे मार्ग से होकर ब्रह्मरंध्र द्वार पर अपना मुँह स्पर्श किये रहती है। उसी समय प्राण भी ब्रह्मरंध्र पर रुका रहता है। ब्रह्मरंध्र द्वार को प्राणवायु खोल नहीं सकती है, क्योंकि ब्रह्मरंध्र द्वार की संरचना अन्य चक्रों के समान नहीं होती है। ब्रह्मरंध्र द्वार की संरचना विशेष तरह की परत द्वारा होती है। यह परत पतली मगर अत्यन्त सख्त होती है इसीलिए प्राण इस द्वार को नहीं खोल सकता है। साधक जब ध्यानावस्था में होता है, उस समय कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र द्वार पर अपने मुँह से ठोकर मारती है। कुण्डलिनी जितनी ज्यादा उग्र होती है ब्रह्मरंध्र पर ठोकर उतनी ज्यादा जोर से मारेगी। साधक को महसूस होता है कि ब्रह्मरंध्र द्वार पर गरम-गरम सूजा सा (सुआ) चुभ रहा है यह कुण्डलिनी ही होती है। इस अवस्था में ब्राह्य कुम्भक बहुत लगता है तथा कुम्भक दीर्घ भी लगता है। कभी-कभी बाह्य कुम्भक इतना ज्यादा दीर्घ हो जाता है कि साधक को घबराहट महसूस होने लगती है। लगता है कि अब श्वास वापस नहीं आयेगा। मगर फिर श्वास जब अंदर आता है तो अंतर्कुम्भक लगता है। यह कुम्भक इतने जोर से लगता है कि साधक अपनी श्वास बाहर नहीं निकाल पाता है। बस, यही बाह्य और अंतर्कुम्भक लगते हैं। इस अवस्था में साधक को बड़ी तकलीफ उठानी पडती है। यह क्रिया स्वयं कुण्डलिनी द्वारा होती है। इस क्रिया से कुण्डलिनी में उग्रता आती है तथा वह ब्रह्मरंध्र द्वार पर जोरदार प्रहार करती है।

जब कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र द्वार खोलने का प्रयास करती है उसी समय बादलों की गर्जना सुनाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि आकाश में बादलों की भयंकर गर्जना हो रही है, जैसे बरसात के समय बादलों में गर्जना होती है। इस प्रकार की गर्जना को मेघनाद भी कहते हैं। यह गर्जना दस प्रकार के नादों में दसवाँ नाद है। ऐसी गर्जना आकाश तत्त्व में वायु तत्त्व का आपस में घर्षण होने के कारण सुनाई देती है। यह क्रिया कुण्डलिनी द्वारा होती है। यह अवस्था तन्मात्राओं की आखरी सीमा है। ब्रह्मरंध्र द्वार खुलने के बाद साधक की अवस्था अहंकार के अंतर्गत आ जाती है। इसीलिए ब्रह्मरंध्र द्वार खुलते समय भयंकर मेघनाद की भयंकर गर्जना सुनाई देती है, फिर साधक को सात्विक अहंकार रूपी वृत्ति का भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शन होता है। ये वृत्तियाँ अत्यंत शक्तिशाली होती है, इसी कारण ब्रह्मरंध्र द्वार खुलने पर अभ्यासी को करोड़ो सूर्य के समान तेज प्रकाश दिखाई देता है। इसीलिए साधक को ब्रह्मरंध्र खुलने से पहले एक आग का गोला अथवा उगते हुए सूर्य के समान गोला दिखाई देता है।

जिन साधकों की कुण्डलिनी अत्यन्त उग्र होती है, इस अवस्था में वे साधक ध्यानावस्था में आगे की ओर झुकते हैं। उनका मस्तक आगे फर्श को स्पर्श करने लगता है क्योंकि कुण्डलिनी में इतना ज्यादा वेग होता है कि साधक का शरीर आगे की ओर झुक जाता है और आगे फर्श पर मस्तक दबाव देता है। मूलाधार वाला हिस्सा ऊपर की ओर उठने लगता है। यह सब क्रिया कुण्डलिनी के कारण होती है। साधकों, हमारी कुण्डलिनी अत्यन्त उग्र रही, इसलिए उग्र कुण्डलिनी के विषय में हमें ज्यादा जानकारी है। मैंने जिन अन्य साधकों का मार्गदर्शन किया, उनमें कुछ साधकों की कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो गयी है। अब मैं कुछ शब्द मध्यम और शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के विषय में लिखता हूँ। जिनकी कुण्डलिनी मध्यम श्रेणी में आती है ऐसे साधकों के ब्रह्मरंध्र खुलते समय वह पीछे की ओर गिर जाते हैं, अथवा पीछे की ओर झुक जाते हैं। शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधक चुपचाप सीधे बैठे रहते हैं, मगर इनका ब्रह्मरंध्र बहुत समय में खुल पाता है।

जब साधक का ब्रह्मरंध्र खुलता है तब उसे भयंकर मेंघों की गर्जना सुनाई देती है। ऐसा लगता है कि कान फटे जा रहे हों। उसी समय लगता है जैसे बादल फट गये हों। यह भी महसूस होता है मानो कुण्डलिनी ने ब्रह्मरंध्र द्वार पर छेद कर दिया हो। जो आग का गोला दिखाई पड़ता था, वह फट जाता है। ऐसा लगता है मानो करोड़ों सूर्य फट गये हों। चारों ओर ब्रह्माण्ड भर में तेज प्रकाश फैल गया। उसी तेज

प्रकाश में (जो चकाचौंध कर देने वाला है) साधक स्वयं अपने आपको पाता है। लगता है करोड़ों सूर्य एक साथ चमक उठे हों। उसी समय साधक को एक और क्रिया होती है। जब कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र खोल देती है, तब ब्रह्मरंध्र द्वार पर रुका प्राण ब्रह्मरंध्र के अंदर चला जाता है। प्राण अंदर जाते ही साधक कुछ समय के लिए चेतनाशून्य सा हो जाता है अर्थात उसे अपना होश नहीं रहता है और आसन पर ही एक ओर लुढ़क जाता है। मुझे अपना याद आ रहा है, मैं बहुत समय के लिए बेहोश हो गया था। इस विषय में आप हमारे अनुभवों को पढ़िए कि हमारा ब्रह्मरंध्र किस प्रकार खुला था।

जब ब्रह्मरंध्र खुल जाता है, तब ध्यानावस्था में प्राण ब्रह्मरंध्र के अंदर चला जाता है, उस समय साधक को सिर के ऊपरी भाग में गुदगुदी सी होती है। शुरुआत में प्राण ब्रह्मरंध्र में ज्यादा समय नहीं ठहरता है, कुछ समय बाद नीचे आ जाता है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, प्राण ब्रह्मरंध्र में ज्यादा ठहरने लगता है। जब साधक का प्राण ब्रह्मरंध्र में आता है, तब साधक की उस अवस्था में निर्विकल्प समाधि लगती है। कण्ठ चक्र खुलने के बाद और ब्रह्मरंध्र खुलने से पहले साधक की सविकल्प समाधि लगती है।

इस समय कुण्डलिनी सदैव सीधे मार्ग का प्रयोग करती है। कुण्डलिनी मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक सीधी खड़ी रहती है; यह ब्रह्मरंध्र के अंदर प्रवेश नहीं करती है, बल्कि ब्रह्मरंध्र द्वार खोलकर अपना मुँह थोड़ा सा ब्रह्मरंध्र के अंदर करती है। यह कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र द्वार पर ज्यादा समय तक नहीं ठहरती, वह अब ब्रह्मरंध्र द्वार से आज्ञा चक्र की ओर चल देती है। ब्रह्मरंध्र द्वार से पूर्व का मार्ग अपना लेती है। इसे योग की भाषा में कुण्डलिनी को उलटना कहते हैं। फिर दिव्य दृष्टि द्वारा होते हुए आज्ञा चक्र पर आ जाती है। जब कुण्डलिनी उलटकर आज्ञा चक्र पर आती है, उस समय ऐसा लगता है कि स्थूल आँखें जली जा रही हैं। कुण्डलिनी के कारण जलन होती है। पलकों में ऐसा लगता है कि इन्हें ब्लेड से चीरा जा रहा है। फिर आज्ञा चक्र से नीचे को मुँह करके आने लगती है। इस समय कुण्डलिनी पूर्व मार्ग का प्रयोग नहीं करती है बल्कि आज्ञा चक्र से नीचे की ओर अपना नया मार्ग बनाती हुई तालू को कुतरने लगती है। जब कुण्डलिनी तालू को कुतरती है, तो ध्यानावस्था में साधकों को महसूस होता है। तालू को काटकर कुण्डलिनी नीचे की ओर मुँह किये हृदय की ओर आने लगती है, फिर हदय में आकर वह हदय में स्थित वायु को सोखने लगती है। जब वायु को सोखती है तब साधक को ध्यानवस्था में थोड़ी सी घबराहट सी होती है तथा हृदय में तीव्र जलन भी होती है। मगर इस क्रिया से साधक को दूरगामी लाभ बहुत होता है।

जिस समय वह कुण्डलिनी वायु सोखती है, उस समय चित्त में वृत्तियों का उठना बन्द हो जाता है। जो तीव्र जलन होती है वह ढेर सारे संस्कारों को जलाकर राख कर देती है। जैसे-जैसे साधक का अभ्यास बढ़ता है, फिर कुण्डलिनी स्थिर होने लगती है। एक समय ऐसा आता है कि कुण्डलिनी स्थिर हो जाती है, फिर मूलाधार में वापस नहीं लौटती है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद अपना अग्नि तत्त्व का स्वरूप छोड़ देती है और साधक के शरीर में वायु तत्त्व में विलीन हो जाती है। साधक का शरीर कांतिवान व तेजस्वी हो जाता है, क्योंकि कुण्डलिनी साधक के शरीर में वायु रूप में व्याप्त रहती है।

कुछ साधकों ने पूछा कि हम कितनी साधना करें, अथवा हमारी कुण्डलिनी कितने दिनों में जाग्रत हो जाएगी। इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि कुण्डलिनी जाग्रत होने का कोई निश्चित समय नहीं होता है। यह तो साधक की साधना पर निर्भर होता है। साधक की साधना जब परिपक्व अवस्था में होगी तो आपके गुरुदेव स्वयं आपकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व कर देंगे। मगर इसके लिए साधक को कठोर साधना, प्राणायाम तथा नियम-संयम आवश्यक हैं। कुण्डलिनी साधक की ही नहीं, सारे ब्रह्माण्ड की माँ है। यही कुण्डलिनी माँ हमें हमारे वास्तविक परम पिता से मिला सकती है। बच्चे की माँ को ही मालूम होता है कि बच्चे का पिता कौन है। इसलिए कुण्डलिनी जब जाग्रत होती है, फिर ऊर्ध्व होकर निर्गुण ब्रह्म के स्थान सहस्त्रार चक्र में पिता परमेश्वर से मिला देती है। इस बात से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी के बिना हमें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है।

वैसे साधक को सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, मगर कुण्डलिनी जागृत होने में ब्रह्मचर्य का बहुत महत्त्व है। ब्रह्मचर्य का पालन न करने से कुण्डलिनी को ऊर्ध्व करने में अवरोध आयेगा, तथा ब्रह्मचारी का मन अशांत भी रहता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ सिर्फ शारीरिक वासना से नहीं होता, बल्कि मन और वाणी को भी संयमित रखना होता है। ब्रह्मचर्य का पालन ही साधक के लिए महत्त्वपूर्ण व कठिन है। साधक को साधना काल में भोजन पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। सात्विक भोजन अति आवश्यक है क्योंकि भोजन के द्वारा साधक के अंदर अशुद्धता बहुत जाती है। यह अशुद्धता कुण्डलिनी के लिए अवरोध का काम करती है। सात्विक भोजन के साथ पौष्टिक होना जरूरी है ताकि साधक का स्थूल शरीर कमजोर न हो। साधक को मौनव्रत का भी पालन करना चाहिए।

साधक की कुण्डलिनी जब जाग्रत होने वाली होती है अथवा जाग्रत होती है, तब साधक को ध्यानावस्था में तीनों बन्ध लगने लगते हैं। तीनों बन्ध लगने से कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने अथवा जाग्रत होने में सहायता मिलती है। कुण्डलिनी जाग्रत होने के समय साधक को विभिन्न प्रकार के अलग-अलग अनुभव होते हैं। यदि साधक को कुण्डलिनी जाग्रत होते समय अनुभव न हुए हों, तो ऊर्ध्व होते समय अनुभव होते हैं। कुछ इस प्रकार के अनुभव हम लिख रहे हैं।

1. शिवलिंग पर साढ़े तीन चक्कर लपेटे हुए सर्प दिखाई देता है, यह सर्प काला या पीला भी हो सकता है। कभी-कभी सुर्ख लाल रंग का सर्प दिखाई देता है। कभी-कभी शिवलिंग धुंधले प्रकाश में दिखाई देता है। कभी-कभी यही शिवलिंग अंतरिक्ष में दिखाई देता है। कभी-कभी शिवलिंग में सर्प लिपटा हुआ अपनी पूँछ अपने मुँह में दाबे हुए दिखाई देता है।

2. ध्यान में दिखाई देगा, एक पीला नाग (मगर सामान्य नाग से मोटा) । हमारी ओर फन उठाये हुए कुण्डली मारे हमें देख रहा है। पीले नाग का फन आपके बिल्कुल नजदीक अथवा दूर भी हो सकता है। यह नाग आपको सामान्य नागों से सुन्दर लगेगा। कभी-कभी यह नाग फुफकार मारता हुआ भी दिखाई देता है।

3. आपको आकाश में बिजली चमकती हुई दिखाई देगी, जो तुरंत अदृश्य हो जाएगी, जिस तरह से बरसात में बादलों के बीच बिजली चमकती है और गायब हो जाती है। मगर यह आकाश बिल्कुल स्वच्छ होता है नीले रंग का। आकाश में न बादल होते हैं, न सूर्य और न चन्द्रमा होता है, तारे भी नहीं होते हैं। इस प्रकार के आकाश को साधक ने पहले देखा नहीं होगा, बहुत ही आकर्षक होता है।

4. कुण्डलिनी आदिशक्ति है, इसलिए यह साधकों को सुन्दर स्त्री के रूप में भी दिखाई देती है। लाल रंग की साड़ी पहने होती है। इस साड़ी में चमकदार सितारे लगे होते हैं। सिर पर सुन्दर मुकुट धारण किये होती है। मुकुट में मणियाँ भी लगी होती हैं, सारे शरीर पर सुन्दर आभूषण पहने होती है। यह स्त्री इतनी सुन्दर होती है कि साधक तुरंत कहेगा कि इतनी सुन्दर स्त्रियाँ पृथ्वी पर नहीं होतीं। कभी-कभी यह साधारण स्त्री की भाँति दिखाई देती है, फिर भी बहुत सुन्दर दिखती है। दाँत मोतियों के समान चमकदार होते हैं। कभी-कभी यह अंतरिक्ष में खड़ी दिखाई देती है, तो कभी-कभी प्रकाश के वलय के अंदर दिखाई देती है। साधकों, एक-दो बार यह हमें हरी साड़ी में भी दिखाई दी थी।

5. काला अथवा पीला नाग फन उठाये कुण्डली मारे आपकी ओर देख रहा होगा। इसके फन के ऊपर एक मणि लगी होगी, वह मणि अत्यन्त प्रकाशवान होती है। मणि के द्वारा प्रकाश फैला होता है।

6. जब कुण्डलिनी जागती है तो किसी-किसी साधक को कभी-कभी छोटी सी बालिका के रूप में दिखाई देती है। ऐसा लगता है जैसे 8-10 वर्ष की सुन्दर बालिका ब्लाउज-घाघरा पहने अंतरिक्ष में खड़ी मुस्करा रही है अथवा हँस रही है। उसके चारों ओर तेज प्रकाश फैला होगा, कभी-कभी यह प्रकाश नहीं होता है। यह भूताकाश नहीं होता है बल्कि चित्ताकाश होता है। इसीलिए उसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे आदि नहीं दिखाई देते हैं।

7. जब साधक का अपना ही स्वरूप आपके सामने स्त्री रूप में खड़ा हो, उस समय स्त्री वाला शरीर लाल या हरे रंग की चमकीले सितारोंदार साड़ी और आभूषण आदि पहने हो, सिर पर मुकुट हो, वह शरीर सुन्दर युवती के समान हो, आपको आशीर्वाद दे रही हो, हँस रही अथवा मुस्कुरा रही हो, तब आप यह समझिए कि आपकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगी है। उस समय आपको आश्चर्य होगा, आप खड़े होंगे, आपके ही सामने आपका एक और सुन्दर शरीर स्त्री रूप में खड़ा होगा। स्त्री का स्वरूप अद्वितीय सुन्दर व तेजस्वी होगा। वह आपके शरीर की शक्ति ही आपका स्वरूप धारण किये हुए दिखाई दे रही है।

8. जब किसी जलाशय या स्थिर पानी के ऊपर नाग कुण्डली मारे फन ऊपर उठाये हुए अगर दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए आपकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगी है अथवा शीघ्र ऊर्ध्व हो जाएगी। कभी-कभी यह नाग पानी में फुफकार मारता हुआ दिखाई देता है।

9. जब कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने का समय आ जाता है, तो मूलाधार में तीव्र जलन होनी शुरू हो जाती है। कुछ समय बाद चींटियाँ-सी काटती समझ में आती हैं। अथवा कुण्डलिनी जहाँ तक ऊर्ध्व होती है तब ऊर्ध्व होते समय ऐसा लगता है कि चींटियाँ ऊपर की ओर काटती चली जा रही हैं। चींटियाँ-सी काटने का अनुभव अशुद्धता के कारण होता है। कुण्डलिनी अशुद्धता को जलाती हुई आगे को बढ़ती है, इसलिए साधक को स्थूल शरीर में चींटियाँ-सी काटती हुई महसूस होती हैं।

10. जिन साधकों का स्थूल शरीर शुद्ध होता है तथा कुण्डलिनी भी उग्र स्वभाव की होती है, उन्हें ऊर्ध्व होते समय ऐसा लगता है कि गर्म लोहे की छड़ ऊपर की ओर माँस फाड़ती व जलाती हुई चली जा

रही है। ऐसी कुण्डलिनी से साधकों का स्थूल शरीर अत्यन्त कष्ट महसूस करता है। क्योंकि जिस स्थान तक कुण्डलिनी ऊर्ध्व होती है, वहाँ तक की नाड़ियों में आग-सी भर देती है और लगता है कि नसों को ब्लेड से काटा जा रहा है। ऐसी कुण्डलिनी ध्यानावस्था के बाद साधारण अवस्था में भी ऊर्ध्व होने लगती है, फिर वापस मूलाधार में आ जाती है। जिन साधकों की कुण्डलिनी इस तरह की होती है, वह नि:संदेह अत्यन्त शक्तिशाली (योग में) होते हैं। ऐसे साधकों को गुरु पद पर बिठाया जाए तो अच्छा है।

11. कभी-कभी साधक को ध्यानावस्था में कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते हुए दिखाई देती है, चढ़ते समय यह विद्युत रेखा की भाँति एक पतली रेखा सी ऊपर की ओर जाती नजर आती है। कभी-कभी ऐसा दिखाई देता है कि एक सर्प चक्करदार ढंग से ऊपर की ओर अति तीव्र गति से चढ़ रहा है। यह अनुभव साधकों को कम आता है।

12. साधकों, अंतरिक्ष में कभी-कभी बहुत बड़ा सोने का बना हुआ दरवाजा दिखाई देता है। यह दरवाजा अत्यन्त विशाल होता है तथा हल्का सा प्रकाश दरवाजे से निकलता है। दरवाजे में डिजाइन बहुत सुन्दर बना होता है। कभी-कभी अंतरिक्ष में सुन्दर सिंहासन दिखाई देता है। यह पूरी तरह से सोने का बना होता है। आप सिंहासन देखकर समझ जायेंगे कि यह सिंहासन अवश्य दिव्यलोक का है। कभी-कभी सोने से निर्मित सुन्दर महल अंतरिक्ष में दिखाई देगा, सम्पूर्ण महल सोने व अत्यन्त चमकीली धातु से बना दिखाई देता है। इस महल के ऊपर अथवा दरवाजे पर लाल साड़ी पहने सुन्दर स्त्री आपको दिखाई देगी, कभी-कभी यह स्त्री आपको बुलाएगी। हो सकता है आप महल के अंदर भी चले जायें, अथवा इसी समय आपका अनुभव समाप्त हो जाएगा। यदि आप महल के अंदर चले गये तो अति उत्तम है, आपको भविष्य में निश्चय ही कुण्डलिनी की विशेष कृपा प्राप्त होगी। सिर्फ सिंहासन अथवा दरवाजा दिखना कुण्डलिनी जागरण से सम्बंधित है। कभी-कभी सिंहासन के ऊपर सुन्दर स्त्री अथवा सुनहरी या पीली नागिन बैठी दिखाई देगी। इसी तरह दरवाजे के चौखट पर सुन्दर स्त्री लाल रंग की साड़ी पहने हुए खड़ी या बैठी दिखाई देगी अथवा चौखट पर सुनहली अथवा पीली नागिन दिखाई देगी। साधकों, ये सारे दृश्य बहुत सुन्दर होते हैं। महल के अंदर का दृश्य अति सुन्दर देखने को मिलेगा। यह महल साधारण नहीं है, सारा ब्रह्माण्ड इसी में समाया है। आप हमारे अनुभवों में पढ़िए तो अवश्य आपको अच्छा लगेगा।

13. साधकों, जब ध्यानावस्था में ओंकार की ध्वनि अपने आप निकलने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि यह ध्वनि कुण्डलिनी की कृपा से निकल रही है। कुण्डलिनी जाग चुकी है अथवा ऊर्ध्व होने लगी है। इस प्रकार की ओंकार की ध्वनि गूँजती हुई गम्भीर स्वर में होती है। सुनने में बहुत आकर्षक होती है। कभी-कभी ओंकार की ध्वनि साधक के मुँह से बाहर भी निकल जाती है। उस समय दूसरा साधक सुन सकता है।

कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने के बाद उतनी ही ऊर्ध्व होगी जितनी साधक की योग्यता होती है। कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने में कई साल लग जाते हैं। अत्यन्त उग्र कुण्डलिनी जल्दी ही ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाती है। कुण्डलिनी ध्यानावस्था में बराबर चढ़ी ही नहीं रहती है, कुछ समय के लिए चढ़ती है फिर वापस मूलाधार में आ जाती है। यदि साधक ज्यादा देर तक ध्यान पर बैठता रहता है तो कुण्डलिनी कई बार उतर-चढ़ सकती है क्योंकि कुण्डलिनी का ऊर्ध्व होना व मूलाधार में वापस लौटना मन की स्थिरता और कुम्भक के ऊपर निर्भर करता है। कुम्भक ज्यादा देर तक का होगा तो कुण्डलिनी ऊपर चढ़ जाएगी क्योंकि कुम्भक से प्राणवायु का दबाव मूलाधार पर पड़ता है। दबाव पड़ने से कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगती है। कुण्डलिनी जागरण में प्राणायाम और आसन भी सहायक है जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

जिन साधकों की कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगी है, वे ध्यान रखें कि कुण्डलिनी से किसी प्रकार का काम न लें क्योंकि कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने पर साधक की संकल्पशक्ति बहुत बढ़ जाती है। यदि कुण्डलिनी के द्वारा किसी प्रकार का कार्य लिया गया तो आपकी साधना में रुकावट आ जाएगी। अतः ऐसी भूल बिल्कुल न करें। साधक को शक्तिपात तब करना चाहिए, जब उसकी कुण्डलिनी स्थिर हो चुकी हो। फिर योग के विषय में भी पूर्ण रूप से जानकारी हासिल कर लीजिए। यदि आपने अपने साधनाकाल या ऊर्ध्व होते समय शक्तिपात किया अथवा अन्य कार्य लिए, तो इसका असर आपकी कुण्डलिनी पर सीधे आयेगा।

जब साधक के शरीर में कुण्डलिनी उठती है तब जरूरी नहीं कि उसे बार-बार दिखाई पड़े कि कुण्डलिनी ऊपर चढ़ रही है। कुण्डलिनी ऊपर चढ़ते समय सदैव हर किसी को नहीं दिखाई देती है, सिर्फ महसूस होती है। किसी-किसी साधक को शुरुआत में कुण्डलिनी चढ़ने का ज्ञान नहीं हो पाता है। ऐसे

साधकों की साधना जब आगे बढ़ती है, तब कुण्डलिनी काफी समय बाद महसूस होती है क्योंकि फिर कुण्डलिनी हल्की-सी गर्म हो जाती है; तब साधक को मालूम पड़ता है कि उसकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व हो रही है। मगर कुछ साधकों को कुण्डलिनी चढ़ते ही पीड़ा होती है, उनको लगता है कि गर्म लोहे की छड़ के समान कोई वस्तु ऊपर चढ़ रही है। चढ़ते समय उस क्षेत्र का माँस जलाती चली जाती है। उस क्षेत्र की नाड़ियों में आग सी फैल जाती है। नाड़ियों में बहुत जलन होती है, ऐसा लगता है कि नाड़ियाँ टूटी जा रही हैं या ब्लेड से काटी जा रही हैं।

साधकों को कुण्डलिनी जाग्रत व ऊर्ध्व होने के अलग-अलग अनुभव होते हैं। क्योंकि सभी साधकों की कुण्डलिनी एक जैसी स्वभाव की नहीं होती है। वैसे कुण्डलिनी के प्रकार तो नहीं होते हैं, मगर हमारा जिस तरह का अनुभव है, हमने कई साधकों के विषय में जानकारी हासिल की, जिन्हें कुण्डलिनी के अलग-अलग अनुभव हुए। इसलिए कुण्डलिनी के विषय को ज्यादा स्पष्ट करने के लिए, कुण्डलिनी को तीन श्रेणीयों में कर दिया है: एक– उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी, दो– मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी और तीन– शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी।

साधकों में उग्र स्वभाव की कुण्डलिनी बहुत कम पायी जाती है। जब कुण्डलिनी ऊर्ध्व होती है तब साधक को भली-भाँति मालूम पड़ जाता है कि उसकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व हो रही है क्योंकि यह अत्यन्त गर्म होती है। ऊर्ध्व होते समय लगता है कि आग उगलते हुए ऊपर की ओर चढ़ रही है। शुरुआत से ही साधक को परेशानी सी महसूस होती है, ऊर्ध्व होते समय ऐसा महसूस होता है कि रीढ़ की हड्डी के चारों ओर माँस का हिस्सा जलता सा जा रहा है। जिस जगह तक चढ़ती है वहाँ से संबंधित नाड़ियों में आग सी भरती जाती है, शरीर में उष्णता होने लगती है। इस प्रकार के साधकों की साधना बहुत कठोर होती है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में तत्पर रहते हैं। कुण्डलिनी उग्र होने के कारण उतनी ही शीघ्रता से शरीर को शुद्ध करना शुरू कर देती है। इससे चक्र खुलने में बड़ी सहायता मिलती है तथा सत्त्वगुण की अधिकता शीघ्र बढ़ने लगती है। यदि इस तरह के साधक के पास दूसरा साधक साधना करे तो उसकी भी साधना तीव्र होने लगेगी। उग्र कुण्डलिनी वाले साधकों में योगबल भी बहुत होता है। ऐसा साधक जिस क्षेत्र में शक्ति का प्रयोग करेगा, उसे सफलता अवश्य मिलेगी। मगर ऐसे साधकों को सिर्फ आध्यात्मिक क्षेत्र में ही शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। साधकों को स्थूल कार्यों में शक्ति को बिल्कुल नहीं लगाना

चाहिए। ऐसे साधक निश्चित रूप से पिछले जन्मों में साधना करते रहे हैं। प्रकृति का नियम है कि पिछले जन्मों की साधना का प्रभाव वर्तमान साधना पर पड़ता है। फिर अत्यन्त उच्चावस्था में पिछले जन्मों की साधना का प्रभाव पूरी तरह से आ जाता है। इसीलिए साधक को अपना लक्ष्य शीघ्र मिल जाता है। इस प्रकार के साधक में शक्तिपात करने की क्षमता बहुत अधिक होती है तथा वह दूसरे साधकों को मार्गदर्शन भी कर सकता है। योग कार्य में आयी परेशानी को दूर कर सकता है तथा साधकों की कुण्डलिनी उठाने में सक्षम होता है। मैं साधकों को एक बात और बता दूँ, कुण्डलिनी उठाने में ज्यादा शक्तिपात की आवश्यकता नहीं होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने के बाद साधक को किसी प्रकार की गलत क्रियाएँ नहीं होनी चाहिए। यदि गलत क्रियाएँ हों, तो मार्गदर्शक की जिम्मेदारी है कि वह साधक को गलत क्रियाएँ न होने दे, साधक को बिल्कुल स्थिर कर दे ताकि साधक का ध्यान में मन एकाग्र हो सके। ऐसे साधक गुरु पद के लिए बिल्कुल उपयुक्त हैं।

मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधक बहुत होते हैं। ऐसे साधक दूसरों पर शक्तिपात कर सकते हैं, मगर सिर्फ कामचलाऊ शक्तिपात होता है। ऐसे साधकों की कुण्डलिनी जब चढ़ती है तो उन्हें भी महसूस होती है कि कुण्डलिनी चढ़ रही है, मगर बहुत ज्यादा गर्म नहीं होती है। सिर्फ लगता है कि गर्म-गर्म कुण्डलिनी चढ़ रही है। ऐसे साधकों को कुण्डलिनी से परेशानी महसूस नहीं होती है, क्योंकि यह कम तेजस्वी होती है। ऊर्ध्व होते समय महसूस होता है कि ढेर सारी चीटियाँ काट रही हैं। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में कई साल लग जाते हैं अथवा साधक की साधना पर निर्भर करता है कि कुण्डलिनी कितने समय बाद स्थिर होगी। ऐसे साधकों में योगबल उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधकों की अपेक्षा कम होता है। मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधक जब उच्चावस्था में होते हैं, तब कुण्डलिनी से परेशानी महसूस होती है क्योंकि उस समय साधक का शरीर शुद्ध होता है और कुण्डलिनी अधिक गर्म होने लगती है। गर्मी के दिनों में साधना करने पर निश्चय ही परेशानी महसूस होगी। यदि आवश्यक समझा जाए तो ऐसे साधकों को गुरु पद पर बिठाया जा सकता है अथवा वे गुरु पद ग्रहण कर सकते हैं। मगर यह ध्यान रखें कि शिष्य सिर्फ सीमित ही रखें तो अच्छा है। शिष्यों की संख्या बढ़ाते न जाएँ, अन्यथा सही मार्गदर्शन नहीं हो सकेगा। तथा स्वयं भी सदैव समाधि का अभ्यास करते रहें, ताकि योगबल की कमी न पड़ जाए वरना भविष्य में योगबल क्षीण होकर शक्तिपात होना बन्द हो जाएगा।

कुछ साधकों में शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी पायी जाती है। इस प्रकार की कुण्डलिनी पर चन्द्र नाड़ी का प्रभाव ज्यादा रहता है। ऐसा कहते हैं, शुरुआत में ऐसे साधकों को कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय महसूस नहीं होता है अथवा कई दिनों बाद महसूस होता है कि कुण्डलिनी चढ़ रही है। जब ध्यानावस्था में कुण्डलिनी ऊर्ध्व होकर काफी देर तक खड़ी रहती है, तब धीरे-धीरे गर्म होती रहती है, उस समय साधक को महसूस होता है कि उसकी कुण्डलिनी ऊर्ध्व है। ऐसे साधकों का कण्ठ चक्र कई सालों में खुल पाता है। मैं स्वयं नहीं बता सकता हूँ कि शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधकों को कितने सालों में कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा होती है। मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि निश्चय ही बहुत सालों बाद कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा होती है। इन साधकों में योगबल भी कम होता है, इसलिए शक्तिपात कमजोर होता है। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि ऐसे साधक किसी के कहने पर भी गुरुपद ग्रहण न करें तो अच्छा है, फिर साधकों की जैसी इच्छा हो। उनकी दिव्य दृष्टि भी कम शक्तिशाली होती है।

एक बार मैं फिर लिख दूँ, कुण्डलिनी की अलग-अलग श्रेणियाँ नहीं होती हैं। मगर साधकों की अनुभूति के अनुसार, तथा समझाने की दृष्टि से इसे तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। अब तर्क यह भी है कि जब कुण्डलिनी की श्रेणियाँ नहीं होतीं तो एक ही गुरु के शिष्यों को अलग-अलग कुण्डलिनी की अनुभूति क्यों होती है तथा कुण्डलिनी की शक्ति में फर्क क्यों होता है। इसका कारण है कि उग्र स्वभाव की कुण्डलिनी वाले साधक निश्चय ही कई जन्मों से योग का अभ्यास करते चले आ रहे हैं, अर्थात पूर्व जन्म से उच्चकोटि के योगी होते हैं। पूर्व जन्मों के प्रभाव से कुण्डलिनी उग्र है, इसीलिए ऐसे साधक निश्चय ही शक्तिशाली होते हैं। ऐसे साधकों के कर्म भी कम मात्रा में शेष रह जाते हैं। मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक भी पूर्व जन्म में साधना कर चुके हैं और पूर्व जन्म के योगी हैं जिन्होंने सिर्फ कुछ जन्मों से योग किया है। ऐसे साधकों के अभी कर्म काफी शेष रहते हैं तथा उन्हें कुछ और जन्म लेने पड़ेंगे, योग करने के लिए। पिछले जन्मों के प्रभाव से कुण्डलिनी मध्यम स्वभाव वाली होती है। शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक पिछले जन्म में योगी रह चुके हैं, यह तो निश्चित है मगर कितना योग किया है, कहा नहीं जा सकता है। हो सकता है कि पिछले जन्मों में कुण्डलिनी ऊर्ध्व न हुई हो अथवा मात्र कुछ चक्रों तक ऊर्ध्व हुई होगी। यह भी हो सकता है, वर्तमान जन्म में ही उनकी कुण्डलिनी पहली बार ऊर्ध्व हुई हो। यह सब ऐसे साधकों के पिछले जन्म को देखकर बताया जा सकता है।

अलग-अलग तीनों स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक जब स्थूल शरीर त्यागकर ऊपर के लोक में जाते हैं, तब वहाँ भी उनकी स्थिति अलग-अलग होती है। उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक मृत्यु के पश्चत तपलोक के आधे भाग से ऊपर के हकदार होते हैं; अपनी योग्यतानुसार जगह मिलती है। मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक को मृत्यु के पश्चात तपलोक के निचले आधे भाग में अथवा जनलोक के ऊपरी भाग में स्थान मिलता है। शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधक को तपलोक शायद नहीं मिलेगा, सिर्फ जनलोक से ही संतोष करना पड़ेगा। जिन साधकों की कुण्डलिनी पूर्ण रूप से ऊर्ध्व नहीं हो पायी अथवा थोड़ी ऊर्ध्व हो पायी, या अकाल मृत्यु के कारण शरीर छूट गया हो, उन्हें पूर्व जन्म व वर्तमान जन्म के योग्यतानुसार लोक में स्थिति मिलेगी।

जिन साधकों की कुण्डलिनी मध्यम व शांत स्वभाव वाली है, ऐसे साधकों को अपना शरीर अत्यन्त शुद्ध रखना चाहिए। प्राणायाम बहुत करना चाहिए। मंत्र जाप का भी सहारा लें, तथा साधना करें तो निश्चय ही आपकी कुण्डलिनी का स्वभाव बदल सकता है। जिन साधकों का उद्देश्य सिर्फ योग का अभ्यास करना ही है, वह कठोर साधना करके अपनी कुण्डलिनी में फर्क ला सकते हैं। मगर गृहस्थ साधकों को इतना समय नहीं मिल पाता है तथा शुद्धता भी ज्यादा नहीं रख पाते हैं, इसलिए हताश नहीं होना चाहिए। आप अपने कर्मों पर विशेष ध्यान दें तो इसका लाभ अवश्य मिलेगा। किसी-किसी गृहस्थ साधक की भी कुण्डलिनी उग्र होती है, मगर ज्यादातर मध्यम स्वभाव वाली होती है। सच तो यह कि मैं पहले गृहस्थाश्रम में था, मगर कुछ समय बाद मुक्त हो गया। जब से योग मार्ग में आया, पूरी तरह से योग के अभ्यास में लग गया, पीछे मुड़कर नहीं देखा। जब तक स्थूल शरीर जीवित है तब तक योग मार्ग में लगा रहूँगा।

साधक की साधना जब परिपक्व अवस्था में होती है, उस समय गुरु स्वयं साधक की कुण्डलिनी उठा देता है। वैसे कुण्डलिनी ऊर्ध्व करने का तरीका गुरु अपने-अपने ढंग से अपनाते हैं। जैसे स्पर्श करके, नेत्रों से दृष्टिपात करके, संकल्प करके आदि विभिन्न तरीके हैं। गुरु अपनी सुविधानुसार तरीका अपनाता है। गुरु या मार्गदर्शक योगबल में शक्तिशाली है तो साधक की कुण्डलिनी शुरुआत में बड़े आराम से उठा सकता है। कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने लगेगी, मगर ऐसे साधक को साधना बहुत अधिक करनी चाहिए, वरना कुण्डलिनी मूलाधार में पहले की भाँति सुषुप्तावास्था में चली जाएगी। कुछ मार्गदर्शकों का सोचना है कि

कुण्डलिनी बिल्कुल शुरुआत में नहीं उठाई जा सकती है। मैं ऐसे मार्गदर्शकों से कहूँगा या तो आप में ज्ञान की कमी है अथवा योगबल की। मैंने स्वयं कई साधकों की कुण्डलिनी साधना के शुरुआत में उठाई है। अगर साधक के अंदर तीव्र योग करने की इच्छा नहीं है तो कुण्डलिनी नहीं उठानी चाहिए। यदि कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने के लिए पर्याप्त साधना नहीं होगी तो सुषुप्तावस्था में चली जाएगी। इसी प्रकार जिस साधक की कुण्डलिनी परिपक्व अवस्था में उठाई गयी है यदि साधना कम हो गयी अथवा किसी कारण से कुछ दिनों के लिए बन्द कर दी गयी तो कुण्डलिनी को सुषुप्तावस्था में जाने का भय रहता है। हमारा कहने का उद्देश्य यह है जिस साधक की कुण्डलिनी ऊर्ध्व कर दी गयी है, तब कुछ समय तक कठोर साधना करता रहे ताकि फिर कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में न जाए।

जब साधक की कुण्डलिनी परिपक्व अवस्था में उठाई जाती है, तब कुण्डलिनी उठाने वाले को ज्यादा शक्तिपात नहीं करना पड़ता। कुण्डलिनी चाहे जिस तरीके से उठाई जाए, साधना की परिपक्व अवस्था में कुण्डलिनी को संकल्प से उठाना संभव है। यदि साधना की शुरुआत में संकल्प से कुण्डलिनी उठाई जाए तो निश्चय ही एक से ज्यादा बार संकल्प करना पड़ेगा। फिर हो सकता है कि साधक को क्रियाएँ होने लगें। क्रियाएँ भी बन्द कर देनी चाहिए ताकि साधक का मन एकाग्र हो सके। कुछ मार्गदर्शक क्रियाएँ रोक नहीं पाते, इसका कारण मार्गदर्शक के पास योगबल की कमी होती है। ऐसे मार्गदर्शकों के शिष्यों की साधना अवरोधों के कारण धीमी गति से होती है। साधक की क्रियाओं से ध्यान में अवरोध तो होता ही है, साथ में शारीरिक परेशानी भी होती है। यह क्रियाएँ अशुद्धता के कारण होती हैं। इसलिए साधक को शुद्धता के सारे नियमों का पालन करना चाहिए। इनमें प्राणायाम प्रमुख है।

शक्ति मंत्र के जाप से कुण्डलिनी को शीघ्र जाग्रत व ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है, मगर शक्ति मंत्र का जाप सही ढंग से किया जाए तभी उचित लाभ मिलेगा। यह मंत्र आप अपने सद्गुरु या मार्गदर्शक से पूछिए। मैं किसी कारण से शक्ति मंत्र को नहीं लिख रहा हूँ। जब तक कुण्डलिनी स्थिर न हो जाए, तब तक जाप करना चाहिए। यदि शक्ति मंत्र का जाप कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद किया गया है, तब यही मंत्र साधक को योगबल प्रदान करेगा। इस मंत्र का उपयोग योगी को सारे जीवन भर करना चाहिए।

शक्तिपात करके यदि कुण्डलिनी समय से पूर्व उठायी गयी है तो साधक कुण्डलिनी की वह क्रिया नहीं देख पायेगा, जब वह अपनी आँख खोलती है और फिर मुँह से पूँछ उगलने लगती है। क्योंकि

शक्तिपात के प्रभाव से कुण्डलिनी शीघ्र ऊर्ध्व होने लगती है। यह क्रिया सिर्फ वही साधक देख पाते हैं जिनकी कुण्डलिनी उग्र होती है। यदि ऊर्ध्व न की गयी हो, तो साधक ध्यानावस्था में कुण्डलिनी की यह क्रिया स्पष्ट देख सकता है। ऐसे साधकों की साधना अति तीव्र होती है। यदि साधक को कुण्डलिनी के विषय में ज्यादा जानकारी हासिल करनी है तो अपनी कुण्डलिनी शक्तिपात द्वारा ऊर्ध्व न करवाये; यदि अपनी साधना के बल पर ऊर्ध्व करे तो निश्चय ही उसको कुण्डलिनी के ज्यादा अनुभव होंगे। यह क्रिया उग्र साधना करने वालों के लिए उचित है, कम साधना करने वाले इस क्रिया के चक्कर में न पड़ें।

यदि साधक की कुण्डलिनी शुरू में ही ऊर्ध्व कर दी गयी है तो जबरदस्ती से और ज्यादा ऊर्ध्व न करें, ताकि कुण्डलिनी अपना पूरा कार्य करते हुए आगे बढ़े। यदि आप किसी की कुण्डलिनी जल्दी साधना कराने के चक्कर में ऊर्ध्व करते जा रहे हैं क्योंकि यह आपके योगबल के प्रभाव से ऊपर कण्ठ चक्र तक जा सकती है, तो ऐसा करने से साधक को परेशानी हो सकती है। वैसे मैं यह भी जानता हूँ कि यह कार्य हर एक मार्गदर्शक नहीं कर सकता। सिर्फ वही करने में सक्षम होता है, जिस मार्गदर्शक के पास अत्यधिक योगबल और अनुभव होता है। जब कुण्डलिनी ऊपर चढ़ाने की क्रिया की जाए, तो पहले साधक की अशुद्धता कम कर देनी चाहिए। एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि जैसा गुरु होता है, वैसे ही शिष्य बनते हैं। यदि गुरु का स्तर महान अथवा उच्च है तो ज्यादातर शिष्य भी महान व उच्चश्रेणी के ही बनेंगे। यदि गुरु का स्तर उच्च श्रेणी का नहीं है तो उसके शिष्य थी ज्यादातर उच्च श्रेणी के नहीं बनेंगे। क्योंकि गुरु को स्वयं नहीं मालूम होता है कि साधक को उच्चता पर कैसे पहुँचाये? इसका सीधा मतलब कुण्डलिनी से है। आप सोचते होंगे कि कुण्डलिनी से यह कैसे हो सकता है। कुण्डलिनी के ही योगबल पर कम अथवा ज्यादा ज्ञान प्राप्त होता है तथा कुण्डलिनी के प्रभाव से साधक को अनुभूतियाँ होती हैं तथा दिव्य दृष्टि सामर्थ्यवान होती है।

जिसकी कुण्डलिनी जितनी उग्र होगी, उस साधक का योगबल उतना ही ज्यादा होगा। जिसकी कुण्डलिनी जितनी शांत होगी, उसका योगबल उतना ही कम होगा। साधक का योगबल कुण्डलिनी पर आधारित होता है। जिस साधक की कुण्डलिनी उग्र होगी, थोड़ी ही साधना में उसका योगबल बहुत बढ़ जाएगा। मध्यम और शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक काफी समय तक ध्यानावस्था में बैठने के बाद भी उग्र कुण्डलिनी वाले साधक की बराबरी नहीं कर पायेंगे। हमने अपने जीवन काल में अनुभव

किया, उग्र कुण्डलिनी वाले साधकों को योगबल सदैव ज्यादा रहता है। साधक का योगबल नापने का एक विशेष तरीका है। यह कार्य सिर्फ दिव्य दृष्टि द्वारा किया जा सकता है। यह तरीका लिखना उचित नहीं हैं क्योंकि दिव्य दृष्टि बहुत ज्यादा समय तक कार्य नहीं करती है। ज्यादा जानकारी दिव्य दृष्टि वाले पाठ में पढ़िए।

साधकों, कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने से पूर्व ही जाना जा सकता है कि किस साधक की कुण्डलिनी उग्र, मध्यम अथवा शांत होगी। यह जानकारी सिर्फ योगी ही कर सकते हैं। नया साधक ऐसी जानकारी नहीं कर सकता है। इस प्रकार की जानकारी के लिए साधक के पिछले जन्म देखने होंगे कि अमुक साधक कितने जन्मों से और किस प्रकार की साधना करता आ रहा है, अर्थात साधना उग्र की है अथवा साधारण की है। जब इस तरह की अच्छी जानकारी मिल जाए तो निर्णय करने में देर नहीं लगेगी कि कुण्डलिनी किस स्वभाव वाली होगी। दूसरा, एक और तरीका है, मगर कठिन है। अमुक साधक का जन्म किस लोक से हुआ है, उस लोक में किस प्रकार के स्तर पर समाधि लगाता रहा है, जन्म लेते समय कर्म कितने थे। यह क्रिया अत्यन्त जटिल है। पिछले जन्मों को देखना दूसरी क्रिया से ज्यादा सरल है। यह क्रिया तब करें जब किसी शिष्य को गुरु पद के लिए तैयार करना हो अथवा विशेष लगाव हो, किसी साधक से उसे श्रेष्ठ बनाना हो।

यदि किसी साधक की कुण्डलिनी का स्वभाव बदलना है तो ऊर्ध्व करने से पूर्व ही उसे गुप्त विधियाँ बताएँ जिससे कुण्डलिनी का स्वभाव बदलने लगेगा। यदि उन विधिओं को साधना काल में कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय ही अपनाया जाए, तो ऊर्ध्व होने के बाद सफलता पूरी तरह से मिलने की आशा रहती है। साधना काल बीत जाने पर, अर्थात कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि कुण्डलिनी का अस्तित्व फिर वायु रूप में विलीन हो जाता है तथा साधक के शरीर में पहले जैसी कुण्डलिनी नहीं रह जाती। कुण्डलिनी का स्वभाव हर साधक नहीं बदल सकता क्योंकि विधियाँ अपनाने के साथ कठोर साधना भी करनी पड़ेगी। तब शांत स्वभाव वाली से मध्यम स्वभाव वाली में, मध्यम स्वभाव वाली से उग्र स्वभाव वाली में परिवर्तित हो जाएगी। उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधक को आवश्यकता ही नहीं है किसी विधि अपनाने की क्योंकि उसकी कुण्डलिनी

पूर्व जन्मों के प्रभाव से तेजस्वी रहेगी। उग्र स्वभाव की कुण्डलिनी वाले साधकों को भविष्य में ज्यादा जन्म नहीं लेने पड़ते हैं क्योंकि ऐसे साधकों के कर्माशय बिल्कुल थोड़े रह जाते हैं।

अब बहुत से साधकों की समस्याएँ हल हो गयी होंगी। साधक अक्सर पूछते हैं कि शांत, मध्यम व उग्र कुण्डलिनी के विषय में कैसे जानें, तथा वर्तमान समय में कुण्डलिनी का शांत, मध्यम और उग्र स्वभाव वाला होना साधक के वश की बात है या नहीं। क्योंकि कुण्डलिनी के स्वभाव का सम्बन्ध पिछले जन्मों से रहता है। अब थोड़ा भस्त्रिका के विषय में लिख रहा हूँ, क्योंकि कुण्डलिनी जाग्रत होते समय अथवा ऊर्ध्व होते समय साधक को स्वयमेव भस्त्रिका प्राणायाम होने लगता है। जब भस्त्रिका स्वयमेव होने लगती है, उस समय साधक भस्त्रिका प्राणायाम रोक नहीं सकता क्योंकि वह कुण्डलिनी द्वारा कराया जा रहा होता है तथा सूक्ष्म शरीर भी प्रभावित होता है। मनुष्य के शरीर में कुण्डलिनी सर्पाकार रूप में रहती है, जब जागती है तो वह अपने स्वभाव के अनुसार फुफकार मारती है। यह कुण्डलिनी शक्ति सात्विक होती है। इसका जड़ता व अशुद्धता से विरोध होता है। इसलिए साधक के शरीर की जड़ता व अशुद्धता कम करने के लिए फुफकार मार-मारकर जलाती है, फिर उस स्थान पर चैतन्यता बिखेर देती है। कुण्डलिनी के प्रभाव से अशुद्धता बाहर भी निकलने लगती है। आपने देखा होगा किसी की ध्यानावस्था में भस्त्रिका तेज चलती है, किसी की धीमी चलती है, किसी साधक की भस्त्रिका चलती ही नहीं। किसी साधक की कभी-कभी भस्त्रिका इतनी ज्यादा तीव्रगति से चलती है कि यदि ध्यान दें तो भस्त्रिका प्राणायाम केवल आधा ही हो पाता है। इसके भी कुछ कारण हैं। यह साधक की अशुद्धता, कर्म और कुण्डलिनी के स्वभाव को दर्शाते हैं।

जिस साधक की कुण्डलिनी अति उग्र होती है, ज्यादातर उसके कर्माशय भी कम ही होंगे। यदि कर्म कम हैं तो अशुद्धता की मात्रा भी कम ही होगी। इस अवस्था में कुण्डलिनी की उग्रता के कारण अशुद्धता व कर्म अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं, तब अशुद्धता शीघ्र ही दब जाती है। थोड़ी सी भस्त्रिका से ही अशुद्धता की मात्रा कम पड़ जाती है तथा जलने भी लगती है। कभी-कभी अशुद्धता इतनी कम पड़ जाती है कि कुण्डलिनी का मार्ग ज्यादा समय तक अवरूद्ध नहीं कर पाती है। कुण्डलिनी ऐसी अवस्था में जल्दी ही ऊर्ध्व होने लगती है। ऊर्ध्व होते समय कर्म भी जलने लगते हैं। पहले से भी कर्म कम होने के कारण साधक शीघ्र ही पूर्णता की ओर चल देता है। यदि कुण्डलिनी उग्र स्वभाव वाली है और कर्म भी

किसी कारण से ज्यादा मात्रा में हैं तो अशुद्धता मध्यम श्रेणी में होगी। जब कुण्डलिनी ऊर्ध्व होती है तो कर्म व अशुद्धता मार्ग अवरुद्ध करते हैं। इसलिए भस्त्रिका जोर से (भयंकर रूप में) चलती है। श्वास पूरी तरह से बाहर निकलती है। ऐसा लगता है नाग गहरी श्वास लेकर जोर से फुफकार रहा है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उग्रता के कारण कुण्डलिनी मार्ग प्रशस्त करने में लगी होती है; कुण्डलिनी जितना ज्यादा आगे बढ़ने का प्रयास करती है, उतने ही वेग से कर्म व अशुद्धता मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं, इसलिए भस्त्रिका भयंकर रूप धारण करती है। इस अवस्था में साधक को थोड़ा कष्ट-सा महसूस होता हैं, क्योंकि शरीर थकान महसूस करता है। ऐसे साधक भविष्य में निश्चय ही शक्तिशाली योगी बनते हैं। ऐसे साधकों को किसी भी प्रकार से योग मार्ग से विमुख नहीं किया जा सकता।

यदि किसी साधक की कुण्डलिनी अति उग्र है, कर्म सिर्फ नाममात्र का है तो भस्त्रिका नहीं चलेगी अथवा अति जोर से दो-चार बार भस्त्रिका प्राणायाम होता है। ऐसे साधक की कुण्डलिनी अति शीघ्र पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो जाती है। ऐसा साधक बहुत समय बाद भूलोक पर आता है। उसका स्वयं का कर्म बहुत ज्यादा नहीं होता कि उसे भूलोक पर जल्दी जाने को विवश करे। बचपन में वलय द्वारा ग्रहण किया गया कर्म भी होता है, जो ज्यादा प्रभावी नहीं होता है।

मध्यम श्रेणी की कुण्डलिनी वाले साधकों का कर्म यदि ज्यादा है तो अशुद्धता भी ज्यादा होगी। कर्म और अशुद्धता के कारण कुण्डलिनी पर दबाव रहता है, तब भस्त्रिका कम चलती है। यदि साधक अधिक देर तक ध्यानावस्था में बैठता है तो कुण्डलिनी को ध्यान के माध्यम से शक्ति मिलती है। उस समय कुण्डलिनी अशुद्धता को बाहर निकालने लगती है, जिसके कारण भस्त्रिका शुरू हो जाती है। यदि साधक वर्तमान में अपना स्थूल शरीर अत्यन्त शुद्ध रखता है, तब शुद्धता के कारण थोड़ी ही देर में भस्त्रिका तेज चलेगी क्योंकि शुद्धता के कारण नाड़ी शुद्ध हो जाती है।

जिन साधकों की कुण्डलिनी शांत स्वभाव वाली होती है, उनका कर्म बहुत ज्यादा होता है। ऐसे साधकों पर कर्मों का दबाव रहता है। इसलिए भस्त्रिका कम चलेगी या कभी-कभी चलेगी। ऐसे साधकों को कुण्डलिनी स्थिर करने में बहुत साल लगेंगे। ऐसे साधकों को शुद्धता अधिक रखनी चाहिए। यदि ऐसा साधक भक्ति में रुचि रखता है अथवा भावुक है तो भस्त्रिका ज्यादा चल सकती है। ऐसे साधकों को

कुण्डलिनी उग्र करने की विधि अपनानी चाहिए, वरना कुण्डलिनी स्थिर करने के लिए बहुत इंतजार करना पड़ेगा।

अब आप यह भी कह सकते हैं कुण्डलिनी स्वयं शक्ति का रूप है, वह चैतन्यमय है, फिर कर्म और अशुद्धता उसका मार्ग कैसे अवरुद्ध कर देते हैं। कुण्डलिनी कर्म और अशुद्धता को क्यों नहीं जला डालती है? साधकों, कर्म और अशुद्धता स्वयं शक्ति हैं, क्योंकि इनकी प्रकृति से उत्पत्ति हुई है। इसलिए कर्म और अशुद्धता की शक्ति कुण्डलिनी से अधिक हो जाती है क्योंकि साधक के चित्त पर तमोगुणी कर्मो की मलिनता बहुत अधिक होती है। सत्त्वगुणी कर्मों की मात्रा कम होने के कारण कुण्डलिनी को उग्र होने में सहयोग नहीं मिल पाता है। सत्त्वगुण कुण्डलिनी को सहयोग देता है, तमोगुण कुण्डलिनी का विरोधी होता है। उस समय साधक द्वारा अधिक परिश्रम करने पर ही कुण्डलिनी अपना मार्ग प्रशस्त कर पाती है, जिसके फलस्वरूप ध्यानावस्था में भस्त्रिका तेज हो जाती है। कुण्डलिनी सदैव साधक की साधना के अनुसार ही शक्तिशाली बनती है। क्योंकि शरीर में तथा भूलोक में आजकल अशुद्धता (तमोगुण) का ही राज चल रहा है। जब साधक के शरीर में कर्म व अशुद्धता कम हो जाती है और कुण्डलिनी उग्र हो जाती है तब कुण्डलिनी कर्म और अशुद्धता को जलाती हुई तीव्रगति से आगे बढ़ती है। इसलिए साधक को शुद्धता का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि शरीर में अशुद्धता कम से कम रहे।

साधकों, कुण्डलिनी सदैव सुषुम्ना के अंदर से ही ऊर्ध्व नहीं होती है, बल्कि अन्य नाड़ियों के सहारे भी ऊर्ध्व होती है। कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय चार मार्गों का प्रयोग करती है। कण्ठ चक्र से ब्रह्मरंध्र तक जाने के लिए तीन मार्गों का प्रयोग करती है। चौथे मार्ग के द्वारा कुण्डलिनी नाभि चक्र से सीधे हृदय में एक नाड़ी के सहारे पहुँचती है। इस समय सुषुम्ना वाला मार्ग छोड़ देती है। कुण्डलिनी सीधे हृदय में पहुँचकर चित्त के उस स्थान पर अपना प्रभाव दिखाती है जहाँ पर कर्माशय होते हैं। कुण्डलिनी का मुँह जब कर्माशयों के पास जाता है तो उस स्थान पर अपनी सत्वशक्ति उगलने लगती है। इस क्रिया से कुछ मात्रा में गंदे संस्कार व अशुद्धता जलने लगती है। इस अवस्था में कुण्डलिनी ज्यादा समय तक हृदय में नहीं ठहरती है। फिर वापस नाभि चक्र में आ जाती है। कुछ समय बाद कुण्डलिनी फिर इसी मार्ग पर जाकर हृदय में पहुँच जाती है और अपना कार्य करके वापस आ जाती है। कुछ क्षणों में कुण्डलिनी फिर इस मार्ग पर ऊर्ध्व की जा सकती है। इसका निर्णय मार्गदर्शक को करना होता है।

प्रिय साधकों, आपने पढ़ा नहीं होगा कि कुण्डलिनी का चौथा मार्ग भी होता है। बहुत से योगियों को भी मालूम नहीं होता है कि कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय चार मार्गों का प्रयोग करती है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन और खतरनाक है। अनाड़ी मार्गदर्शक को इस मार्ग का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो अनुभवी हों वही इस मार्ग का प्रयोग करें। इस मार्ग पर साधक की कुण्डलिनी जितनी बार जाएगी, उतना ही उसे लाभ होगा। जिस साधक के अंदर कर्माशयों का अंबार लगा हो, मार्गदर्शक को चाहिए कि सतर्कतापूर्वक कुण्डलिनी को ज्यादा से ज्यादा इसी मार्ग पर ले जाएँ ताकि कुण्डलिनी कुछ मात्रा में कर्माशय व अशुद्धता को जलाकर नष्ट कर दे। इससे साधक को योग मार्ग में आगे बढ़ने में सुविधा मिलेगी। महत्त्वपूर्ण कर्माशयों को न छेड़ें तो अच्छा है क्योंकि ऐसी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। अच्छा साधक बनने के लिए साधक को कष्ट उठाना जरूरी है। साधक को जितना अधिक कष्ट मिलेगा, वह योगी उतना ही महान बनेगा। इसलिए आपने देखा होगा महान योगियों को अत्यन्त कष्ट मिलता है, तभी महान बन पाते हैं।

मार्गदर्शक को चाहिए कि शिष्य के विषय में ज्ञान के द्वारा अवलोकन करे। फिर कुण्डलिनी को इस मार्ग से हृदय में ले जाए तथा उसे कुण्डलिनी के लिए संकल्प करना चाहिए कि वह सात्विक कर्मों को चित्त की ऊपरी सतह पर कर दे ताकि साधक सात्विक कर्मों के प्रभाव से बराबर योग मार्ग में लगा रहे, क्योंकि कुछ साधक साधनाकाल में ही इस मार्ग को किसी न किसी कारणवश छोड़ देते हैं। संचित कर्मों में हर तरह के कर्म सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। यदि सात्विक कर्म चित्त की ऊपरी सतह अथवा प्रारब्ध में आ जाएँ तो साधक को इस मार्ग पर चलने में सहायता मिलेगी। हमें ज्ञान के द्वारा मालूम हुआ है कि किसी-किसी साधक की कुण्डलिनी स्वयं चौथे मार्ग में जाकर अपना काम करके वापस आ जाती है, मार्गदर्शक को कुछ नहीं करना पड़ता।

साधकों, ब्रह्मरंध्र खुलने के बाद कुण्डलिनी उलटकर हृदय में आ जाती है। ब्रह्मरंध्र से हृदय तक आने के लिए तीनों प्रकार की कुण्डलिनी अपना अलग-अलग कम-ज्यादा समय लगाती हैं तथा थोड़ा-सा मार्ग में भी परिवर्तन होता है। हमें एक घटना याद आ गयी। यह घटना शायद जनवरी 1996 की है। मुझसे एक बार भगवान पतंजलि ने कहा था कि यदि तुम्हें हमसे कभी योग के विषय में पूछना हो तो अवश्य पूछ लेना। वैसे उन्होंने हमें कई बार योग के विषय में बताया था। एक बार हमारे अंदर उत्सुकता

हुई कि कुण्डलिनी के विषय में पूछूँ। मैंने त्रिकाल के माध्यम से पूछा। उस समय वह समाधि लगाये हुए थे, उनका शरीर पारदर्शी था। मैंने पूछा– "प्रभु, आप हमें पारदर्शी क्यों दिखायी दे रहे हो। आप स्पष्ट क्यों नहीं दिखते हो?" वे मुस्कराये और बोले– "योगी, जब योगी अत्यन्त उच्च अवस्था में होता है, तो वह अपने आप को ब्रह्म में लीन किये रहता है और समाधि लगाये रहता है। ब्रह्म में लीन का अर्थ यह नहीं कि वह पूर्ण रूप से ब्रह्म में लीन हो गया। अत्यन्त सूक्ष्म पारदर्शी शरीर धारण किये रहता है। साधारण योगी को वह दिव्य दृष्टि से भी नहीं दिखायी देता। जब कोई योगी संकल्प करता है और वह संकल्प जब मुझ तक पहुँचता है, तब मैं अपने आपको उसकी दिव्य दृष्टि द्वारा दिखाता हूँ। इस समय ऐसा ही तुम्हारे साथ हो रहा है। शेष जानकारी तुम अपने ज्ञान से ले लो। इस विषय में जानकारी मिल जाएगी कि मैं क्यों पारदर्शी दिखता हूँ। योगी, तुम क्या पूछने वाले थे, कुण्डलिनी के विषय में?" मैं बोला– "प्रभु कृपया आप बताइए कि तीनों प्रकार की कुण्डलिनी अलग-अलग मार्ग पर किस प्रकार जाती हैं।" भगवान पतंजलि बोले– "योगी, तुम्हें तीनों प्रकार के मार्गों के विषय में तथा उग्र, मध्यम और शांत कुण्डलिनी के विषय में मालूम ही है। ब्रह्मरंध्र खुलने तक तीनों स्वभाव वाली कुण्डलिनी एक ही प्रकार का मार्ग तय करती हैं। ब्रह्मरंध्र खुलने के बाद कुण्डलिनी उलटकर वापस आने लगती है। इसमें थोड़ा फर्क है।"

"उग्र कुण्डलिनी वाले साधक साधना में ज्यादा समय देते हैं। उनका स्थूल शरीर भी अधिक शुद्ध रहता है। उग्र कुण्डलिनी के कारण शरीर में उष्णता भी बहुत रहती है। शुद्धता व उष्णता के कारण कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र से शीघ्र आज्ञा चक्र में वापस आ जाती है। आज्ञा चक्र से पूर्व मार्ग के द्धारा नीचे आने लगती है। तालू के ऊपरी हिस्से से अपना मार्ग बनाती हुई हृदय में आ जाती है। वापसी के समय कण्ठ चक्र के मार्ग से वापस नहीं आती है बल्कि कण्ठ चक्र के एक तरफ से वापस आती है। तीव्र साधना के कारण कहीं रुकती नहीं है।"

"मध्यम कुण्डलिनी का भी मार्ग यही है जो उग्र कुण्डलिनी का है, मगर यह उग्र की अपेक्षा धीमी चलती है। अपने मार्ग में आगे बढ़ने के लिए समय ज्यादा लगाती है। जब वापस होकर कण्ठ में आती है तो यहीं ठहर जाती है। उस समय साधक को कठोर साधना करनी पड़ती है। फिर उचित साधना होने पर कुण्डलिनी आगे हृदय की ओर बढ़ती है। फिर हृदय में आती है। उग्र कुण्डलिनी और मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी में यही फर्क है। उग्र कुण्डलिनी कहीं रुकती नहीं है। मध्यम कुण्डलिनी कण्ठ में काफी

समय ठहरकर नीचे की ओर आगे बढ़ती है फिर हृदय में आती है। हृदय में आने के पश्चात् स्थिर होने में उग्र कुण्डलिनी की अपेक्षा ज्यादा समय ले लेती है।"

"शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधकों को ब्रह्मरंध्र से हृदय तक स्थिर होने में निश्चय ही कई वर्ष लग जाते हैं, क्योंकि शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी बहुत ही धीमी गति से आगे बढ़ती है। इसे ब्रह्मरंध्र से हृदय तक बहुत लंबा मार्ग तय करना पड़ता है। शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र खुलने के बाद मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी की तरह ही आज्ञा चक्र होते हुए पूर्वमार्ग से नीचे की ओर कण्ठ में आकर रुक जाती है। फिर साधक को बहुत समय तक साधना करनी पड़ती है। जब साधना पर्याप्त हो जाती है, तब कुण्डलिनी पश्चिम मार्ग की ओर बढ़ जाती है, जबकि पश्चिम मार्ग पहले से खोल चुकी होती है। पश्चिम मार्ग में होते हुए ऊपर की ओर बढ़ जाती है। एक बार फिर ब्रह्मरंध्र द्वार पर पहुँचती है। फिर ब्रह्मरंध्र से ठीक नीचे की ओर, मुँह नीचे करके, सीधे मार्ग से (इसी मार्ग से पहले ऊपर चढ़ी थी) उतरने लगती है, और फिर कण्ठ में आ जाती है। अब की बार आज्ञा चक्र की ओर नहीं जाती, कण्ठ में थोड़ा ठहरकर हृदय में आ जाती है। इसीलिए शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी को स्थिर होने में बहुत समय लग जाता है। सिर में चारों ओर चक्कर लगाना पड़ता है, तब कुण्डलिनी अपना पूरा कार्य कर पाती है, क्योंक लघु मस्तिष्क भी महत्त्वपूर्ण जगह है। शांत स्वभाव के कारण, कुण्डलिनी चैतन्यता कम मात्रा में ही निकाल पाती है, इसलिए उसे लघु मस्तिष्क में दुबारा जाना पड़ता है। लघु मस्तिष्क को चक्र जैसा ही समझो। लघु मस्तिष्क सारे शरीर को नियंत्रित करता है। इसलिए लघु मस्तिष्क को पूरी तरह चैतन्य करना जरूरी होता है, फिर यह प्रकृति का नियम भी है।" भगवान पतंजलि ने अपने ही सिर में तीनों स्वभाव वाली कुण्डलिनी के मार्ग दिखाए। फिर हमारा और भगवान पतंजलि का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। वह समाधि में लीन हो गए।

हमने कुछ साधकों व मार्गदर्शक से सुना है जो वास्तव में योगी हैं– "कुण्डलिनी जाग्रत करना हंसी-मजाक का खेल नहीं है। कुण्डलिनी जाग्रत होकर मालूम नहीं किस ओर को चढ़नी शुरू हो जाए अथवा गलत मार्ग पकड़ ले। इससे साधक को कष्ट होने लगेगा अथवा साधक की मृत्यु भी हो सकती है।" ऐसे ही एक कुशल मार्गदर्शक, जिसका नाम इस जगह पर लिखना हम उचित नहीं समझते, ने कहा– "हमारे पास दूसरे गुरु का शिष्य आया और बोला कि आप हमारी कुण्डलिनी सही मार्ग पर चढ़ा दें

क्योंकि कुण्डलिनी के कारण हमें भारी कष्ट है।" फिर उस मार्गदर्शक ने साधक को अपने सामने ध्यान पर बिठाया। मार्गदर्शक ने साधक को बताया– "आपकी कुण्डलिनी गलत मार्ग पर चढ़कर गले में उलझ गयी है, उसे आगे का मार्ग नहीं मिल पा रहा है। पहले आप अपने गुरु से कुण्डलिनी वापस मूलाधार में करवाइये। फिर मैं सही मार्ग पर कर दूँगी।" साधक वापस चला गया। उसके गुरु कुण्डलिनी को वापस नहीं कर पाये। कुछ समय बाद मालूम पड़ा कि कष्ट के कारण वह साधक मर गया है।

जब वह बात हमसे कही जा रहीं थी तो हमें समझ में नहीं आया कि यह बात हमें क्यों बतायी जा रही है। क्या यह धमकी है कि मैं कभी कुण्डलिनी न उठाऊँ? अथवा क्या हमें मार्ग से भ्रमित किया जा रहा है? उस समय मैं योग में इतना नासमझ नहीं था कि हमें भ्रमित किया जा सके। हाँ, हमें इन शब्दों को सुनकर बड़ी चिढ़ हुई कि हमें गलत क्यों समझाया जा रहा है। ऐसे मार्गदर्शक क्या यह साबित करना चाहते हैं कि कुण्डलिनी स्वयं अपने मार्ग में सही रूप से नहीं जा सकती है। यह कितनी अज्ञानता की बात है कि कुण्डलिनी जो स्वयं शक्ति का स्वरूप व ज्ञान स्वरूपा है, उसके लिए हमें यह समझाया जा रहा है कि कुण्डलिनी गलत मार्ग पर भी जा सकती है। शायद ऐसे मार्गदर्शक अपने आपको कुण्डलिनी से भी ज्यादा ज्ञानवान समझते हैं। यह ठीक है कि योग में मार्गदर्शक की जरूरत पड़ती है। बिना मार्गदर्शक के योग संभव नहीं है। मार्गदर्शन साधक के लिए है न कि कुण्डलिनी को आप मार्गदर्शन देंगे। कुण्डलिनी स्वयं अपना मार्ग जानती है। उसे बताने की जरूरत नहीं है। ऐसे मार्गदर्शक नये साधकों को मनगढ़ंत बातें करके भ्रमित करते रहते हैं ताकि ऐसे मार्गदर्शकों को ज्यादा योग्य समझा जाए। मगर ऐसे मार्गदर्शक बाद में उपहास के पात्र होते हैं। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैंने कभी भी अपने गुरु से मार्गदर्शन के विषय में एक शब्द नहीं पूछा। मैं हर तरह का मार्गदर्शन के लिए अपने ज्ञान से पूछता हूँ अथवा आवश्यकता पड़ने पर ऊपर के लोकों के योगियों से पूछ लेता हूँ। योगी जब स्वयं परिपक्व अवस्था में होता है, तब उसे ज्ञान प्राप्त होता है, फिर उसे दूसरों से पूछने की क्या आवश्यकता है। हमारा यह कहना है कि ऐसे कुशल मार्गदर्शक को गलत बातें योग के विषय में नहीं करनी चाहिए।

कुछ साधक अपनी कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए मूलाधार पर ही ध्यान करते हैं। आसनों व प्राणायाम की सहायता लेते हैं तथा ध्यानावस्था में सोचते हैं कि कुण्डलिनी जाग्रत हो रही है और सुषुम्ना

नाड़ी में प्रवेश कर रही है। धीरे-धीरे साधक की जब साधना अच्छी हो जाती है तथा इच्छा शाक्ति भी बलवान हो जाती है उस अवस्था में कुण्डलिनी जाग्रत व ऊर्ध्व हो सकती है।

मंत्र जाप से भी कुण्डलिनी जाग्रत की जा सकती है। कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए बहुत ज्यादा मंत्र जाप किया जाता है, क्योंकि मंत्र स्वयं एक योग मार्ग है। मगर मंत्र योग के साधकों को भी गुरु बनाना आवश्यक है। वह आपको मंत्र को बोलने की विधि समझाएँगे, योग में और भी आवश्यक मार्गदर्शन करेंगे। कुण्डलिनी जाग्रत करने की ढेरों विधियाँ हैं। कुछ विधियों का मैंने उल्लेख किया है।

कुछ साधकों की कुण्डलिनी स्वयं ऊर्ध्व हो जाती है। ऐसे साधक बहुत ही कम मिलते हैं, जिनकी स्वयं ऊर्ध्व हुई हो। ऐसे साधक निश्चय ही अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं तथा महान बनते हैं। ऐसे साधकों के कर्म बहुत ही कम अथवा नाममात्र के होते हैं। साधकों, आपको आश्चर्य होगा यह जानकर कि कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद भी योगियों में सामर्थ्य (योगबल और ज्ञान का) अलग-अलग होता है। कभी-कभी योगियों की योग्यता मार्गदर्शन के समय मालूम पड़ जाती है। किसी भी योगी को अपनी योग्यता पर गर्व नहीं करना चाहिए। कुछ योगी तो अत्यन्त योग्य व शक्तिशाली होते हुए भी अपने को छुपाये रहते हैं।

प्रिय पाठको, आपको संक्षेप में यह बता दूँ कि कुण्डलिनी सिर्फ योगियों की ही नहीं, गायकों की भी जाग्रत हो जाती है। सिर्फ उन्हीं गायकों की कुण्डलिनी जाग्रत होती है जो शास्त्रीय गायन का कठोर अभ्यास करते हैं। गाते समय जब उनके मुँह से आलाप निकलता है उस समय अभ्यास के अनुसार कुण्डलिनी थोड़ी सी ऊर्ध्व भी होने लगती है। ऐसे गायकों को स्वयं मालूम नहीं पड़ता है कि उनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो गयी है। गायकों की कुण्डलिनी ज्यादा ऊर्ध्व नहीं होती है। पूर्वकाल में गायक सम्राट तानसेन की कुण्डलिनी जाग्रत थी। दक्षिण भारत के गायक कुमार गंधर्व की भी कुण्डलिनी जाग्रत हो गयी थी। वर्तमान में कुछ गायकों की कुण्डलिनी जाग्रत है, ऐसा मैंने ध्यानावस्था में देखा था।

समाधि

समाधि योग की आखिरी सीढ़ी है। साधक का कण्ठ चक्र जब खुल जाता है, उसके बाद ही समाधि लगती है। लेकिन, कुछ साधक जब कण्ठ चक्र में साधना करते हैं, तब ऐसा सोचते हैं कि उनकी समाधि लगती है, मगर यह उनका भ्रम रहता है। जब ध्यान ही ध्येय वस्तु में प्रतीत हो, फिर अपना स्वरूप छोड़ दे, उसे समाधि कहते हैं। समाधि दो प्रकार की होती है: (1) सविकल्प समाधि और (2) निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि कण्ठ चक्र से ऊपर और ब्रह्मरंध्र खुलने से पहले लगती है। ब्रह्मरंध्र खुलने के बाद निर्विकल्प समाधि लगती है। फिर साधक सदैव निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करता रहता है।

सविकल्प समाधि में मन सिर्फ ध्येय वस्तु में बना रहता है। इस अवस्था में मन अन्य विषयों से राग नहीं रखता है इसीलिए मन ध्येय वस्तु पर ही ठहरता है। अन्य विषयों में राग न रखना मन की एकाग्रता है। ज्यादातर अभ्यासियों के लिए ध्येय वस्तु ईश्वर ही होते हैं। इसलिए भगवान का दर्शन तथा उससे संबंधित दृश्य साधक को दिखायी पड़ते हैं तथा भगवान अथवा ध्येय वस्तु के विषय में ज्ञान भी होता है। देखने का कार्य तो इस समय दिव्य दृष्टि ही करती है। इसी तरह एकाग्रता को अधिक बढ़ाया जाए अथवा समाधि का अधिक अभ्यास किया जाए तो ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर प्रकृति की वास्तविकता दिखायी पड़ती है। यह सब जो दिखायी पड़ता है, वह चित्त की ही सात्विक वृत्ति होती है।

शुरुआत में समाधि घंटे, डेढ़ घंटे की होती है। फिर धीरे-धीरे, अभ्यास बढ़ने पर, अभ्यास के अनुसार समाधि का भी समय बढ़ जाता है। अब यह योगी के अभ्यास के ऊपर है कि वह कितनी देर तक समाधि में बैठा रहता है। साधक समाधि में जितना अधिक होगा, एकाग्रता भी उतनी अधिक बढ़ जाएगी। एकाग्रता बढ़ने के कारण संस्कार दबे रहते हैं। एकाग्रता भंग होने पर कभी-कभी संस्कार भी दिखायी पड़ने लगते हैं। साधक जब इस अवस्था में होता है तो वैराग्य काफी तेजी से बढ़ने लगता है।

समाधि अवस्था में कभी-कभी ऐसा होता है, जो वस्तु पहले कभी न देखी गयी हो वह भी दिखायी पड़ती है। जो शब्द पहले कभी नहीं सुने होते हैं, वह भी सुनायी पड़ते हैं। साधक सोचता है कि यह तो मैंने कभी नहीं देखा है, फिर क्यों दिखायी पड़ रहा है। और न ही यह शब्द या वाक्य पहले कभी सुने थे, फिर क्यों सुनायी पड़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि हमारा शरीर स्थूल है व इन्द्रियाँ भी स्थूल हैं। हमारे जीवन का व्यापार भी जाग्रत अवस्था में स्थूल जगत में रहता है। लेकिन, जो हमारी ध्येय वस्तु है,

वह अति सूक्ष्म है। समाधि के समय इन्द्रियाँ बहिर्मुखी से अंतर्मुखी (सूक्ष्म की ओर) होती हैं। इसलिए सबसे पहले योगी को स्थूल जगत से संबंधित दृश्यों का साक्षात होता है। इसीलिए विचित्र दृश्य दिखायी पड़ते हैं। एकाग्रता बढ़ने पर सूक्ष्म स्वरूप स्वयं साक्षात होने लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि एकाग्रता बढ़ने पर सत्त्वगुण बढ़ने लगता है, तमोगुण कम पड़ने लगता है। सत्त्वगुण के बढ़ने पर समाधि में हल्का प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है। यही सूक्ष्म विषयों को साक्षात कराता है। इस अवस्था में योगी का सूक्ष्म जगत से सम्बन्ध हो जाता है। सूक्ष्म जगत से सम्बन्ध होने के कारण, सूक्ष्म जगत के दृश्य और उसी का ज्ञान होने लगता है। इस अवस्था में योगी को बहुत प्रसन्नता होती है। ध्यान में बैठते ही सूक्ष्म लोकों के अनुभव आते हैं तथा सिद्ध पुरुषों के दर्शन व उनसे बातचीत करने का अवसर भी मिलता है। इस अवस्था में दिव्य दृष्टि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

योगी सूक्ष्म जगत के विषय में बताने में सामर्थ्यवान हो जाता है तथा उसे भूतकाल व भविष्यकाल दिखायी पड़ने लगते हैं। समाधि अवस्था में योगी को कभी डरावनी आकृति अथवा छवि दिखायी पड़ती है। इसका कारण यह होता है, उस समय तामसी संस्कार दिखायी पड़ते हैं। ऐसी आकृतियाँ धुंधले प्रकाश में दिखायी पड़ती हैं। धुँधला प्रकाश तमोगुण के कारण होता है। जब सात्विक संस्कार की आकृति या छवि दिखायी देती है तो वह प्रकाश में दिखायी देती है। ऐसे समय में कभी-कभी धर्मात्माओं के दर्शन भी होते हैं। उनसे उपदेश या मार्गदर्शन भी मिलता है। यदि साधक ऐसे धर्मात्माओं से आध्यात्मिक प्रश्न करें तो वे उत्तर अवश्य देते हैं।

सूक्ष्म भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक एक विशेष प्रकार का तारतम्य रहता है। इसी के अंतर्गत सारे सूक्ष्म लोक आते हैं। सत्त्वगुण की अधिकता के कारण यहाँ पर आनन्द महसूस होता है। एक बात और कहनी है, इस अवस्था में चित्त के अंदर निचली सतह पर पड़े हुए सात्विक संस्कार, जो संचित कर्म हैं, ये सुषुप्तावस्था में होते हैं, वे जाग्रत होकर ऊपर आ जाते हैं। इस कारण अच्छे-अच्छे दृश्य देखने को मिलते हैं। कभी-कभी साधकों को अपना ही स्वरूप प्रकाशमय आभा के बीच दिखायी पड़ने लगता है। उस समय साधक को ऐसा लगने लगता है कि मैं देवता हूँ अथवा पहले रह चुका हूँ। ऐसी क्रिया सत्त्वगुण की अधिकता के कारण होती है। ऐसा समझो कि यह काल्पनिक है। सत्ववृत्ति के रूप में मन ही होता है। इस अवस्था में कई प्रकार के अनुभव होते हैं। सभी का वर्णन नहीं किया जा सकता है। हमने इसका वर्णन

इसलिए किया क्योंकि कभी-कभी साधक अपने को ईश्वर का अवतार मानने लगता है। हे साधकों, ऐसी भूल मत करना, नहीं तो पतन होना निश्चित है। पहले चित्त के संस्कारों को नष्ट करके शुद्ध ज्ञान प्राप्त कीजिए। शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति पर आपको सब कुछ मालूम पड़ जाएगा कि आप कौन हैं? यह सब कुछ काल्पनिक सात्विक वृत्ति की देन है।

सत्त्वगुण की अधिकता होने पर दृष्टा, दृष्टि और दृश्य बिल्कुल स्थिर-से हो जाते हैं क्योंकि इस समय अंतःकरण का व्यवहार सत्य व निर्मल होता है। इस अवस्था में योगी व देवताओं के दर्शन होते हैं। साधक अपने इष्ट के ध्यान में निमग्न रहता है। होता यह है कि इसमें दृष्टा, दृष्टि और दृश्य अलग-अलग रहते हैं। चित्त की सात्विक वृत्ति साधक के इष्ट का रूप धारण कर लेती है। इस अवस्था में चित्त एकाग्र रहता है। चित्त में निरोध नहीं होता है। यहाँ पर थोड़ी मात्रा में सिर्फ ईश्वर या अपने ध्येय वस्तु के प्रति भावना रहती है। सत्त्वगुण के कारण आनन्द की अनुभूति होती है। सूक्ष्म रूप से अहंकार विद्यमान रहता है जो चित्त पर आलंबन का कार्य करता है।

साधक को कभी-कभी ध्यानावस्था में अचानक सुगंध सी महसूस होती है। ऐसा लगता है मानो विभिन्न प्रकार के फूलों की खुशबू आ रही है अथवा किसी अमुक फूल की खुशबू आ रही है। कभी-कभी साधक को अपने आप मीठे स्वाद की अनुभूति होती है अथवा किसी अच्छे फल के स्वाद की अनुभूति होती है। ऐसा लगता है मानो अमुक फल अभी-अभी खाया है। कभी लगता है मंद-मंद सुगंधित वायु चल रही है, उसी का मजा आ रहा है। कभी-कभी शब्द सुनायी पड़ते हैं। ऐसा लगता है ये शब्द आकाश में स्वयं प्रकट हो रहे हैं अथवा जोर-जोर से कोई कह रहा है। मुझे अपनी यही अवस्था याद आ गयी। मुझे भी समाधि में ये शब्द सुनायी पड़ते थे। कभी-कभी स्थूल कार्य करते समय ये शब्द सुनायी पड़ जाते थे। तब मैं जोर से चौंक पड़ता था। ऐसा लगता था जैसे किसी ने कान में कहा हो। एक बार मैंने श्री माता जी को यही बात बतायी कि ऐसे शब्द सुनायी पड़ते हैं तो माता जी बोलीं– "यह योग की एक अवस्था है जिससे ऐसा सुनायी पड़ता है।" साधकों, इस प्रकार के सभी अनुभव पाँचों तन्मात्राओं के कारण आते हैं। साधक का अभ्यास जब ज्यादा बढ़ जाता है तो सूक्ष्म भूतों से आगे बढ़कर तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। समाधि अवस्था में जिन-जिन विषयों का साक्षात्कार होता जाता है फिर वे विषय अपने मूल स्रोत में विलीन हो जाते हैं। समाधि में सबसे पहले स्थूल भूतों का साक्षात्कार होता है, तब

स्थूल भूत, सूक्ष्म भूतों में विलीन हो जाते हैं। फिर सूक्ष्म भूतों का साक्षात्कार होने पर, वे तन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं। जब तन्मात्राओं का साक्षात्कार हो जाता है, तब तन्मात्राएँ धीरे-धीरे अहंकार में विलीन हो जाती हैं। जब अहंकार का साक्षात्कार हो जाता है तो वह त्रिगुणात्मक चित्त में विलीन हो जाता है।

साधकों, जब साधक तन्मात्राओं का समाधि में सुख भोग करता हुआ अभ्यास के द्वारा आगे बढ़ता है, तब रजोगुण और तमोगुण कमजोर पड़ने लगते हैं। सत्त्वगुण की अधिकता आ जाती है। अब यहाँ पहले जैसे दृश्य नहीं आते हैं। इस अवस्था में साधक आनन्द का अनुभव करता है। कभी-कभी साधक को अनुभव इस प्रकार आते हैं– चारों ओर प्रकाश फैला हुआ है, उस प्रकाश में मैं खड़ा हूँ। आगे चला जा रहा हूँ। प्रकाश का रंग श्वेत होता है। मैं प्रकाश में बैठा हूँ। आनंदित हो रहा हूँ, अर्थात् योगी स्वयं अकेला दिखायी पड़ता है। यह क्रिया सत्त्वगुणी अहंकार की होती है। जब इस अवस्था में साधक को अनुभव ज्यादा नहीं आते हैं, तब उसके अंतःकरण में वृत्ति उठती है, 'मैं हूँ' अथवा कभी-कभी अंतरिक्ष में सुनायी पड़ता है– "मैं ब्रह्म हूँ।" वास्तव में, जो अंतरिक्ष मालूम होता है अथवा दिखायी देता है, वह साधक का स्वयं चित्त ही है। चित्त में ध्वनि उठती है– "मैं ही ब्रह्म हूँ।"

इस अवस्था में साधक अगर उसी ध्वनि से कोई प्रश्न करे तो जवाब अवश्य मिलेगा। यदि साधक को जवाब न भी मिले तो किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। जब उत्तर लेना आवश्यक हो तो ध्यान में बैठने से पूर्व उसी प्रश्न का संकल्प करके बैठे तो ध्यानावस्था में जवाब मिल जाएगा। साधक को यह सतर्कता बरतनी चाहिए कि कभी भी भूलकर अनावश्यक प्रश्न अथवा अनावश्यक जानकारी हासिल नहीं करे और न स्थूल विषयों की जानकारी करे, क्योंकि इस अवस्था में दिव्य दृष्टि द्वारा योग्यतानुसार कुछ भी देखा जा सकता है। साधक को योग मार्ग में आगे बढ़ना है इसलिए योग से ही मतलब रखे। समाधि में बैठकर आनन्द की अनुभूति लेनी चाहिए।

कुछ साधकगण सोचेंगे कि अभी तक सुना है अथवा पढ़ा है कि अहंकार बुरा होता है। इसलिए सभी कहते हैं कि अहंकार छोड़ देना चाहिए। मैं यहाँ पर लिख रहा हूँ कि अहंकार में आनन्द की अनुभूति होती है। आप सभी जिस अहंकार की बात कर रहे हैं, वह तमोगुणी अहंकार होता है। तमोगुणी अहंकार बड़ा खतरनाक अहंकार होता है, सदैव पतन के मार्ग पर ले जाता है। यहाँ पर तमोगुणी अहंकार को

समाधि के द्वारा बिल्कुल क्षीण अवस्था में कर दिया जाता है। अब सत्त्वगुणी अहंकार ही प्रधान रूप में रहता है, तमोगुणी अहंकार दब चुका होता है। सत्त्वगुण का ही व्यापार चलता है। सत्त्वगुणी अहंकार आनन्द स्वरूप रहता है, फिर साधक स्वयं को सुखी समझने लगता है। इस आनन्द का अनुभव मैं लिखकर शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता हूँ। यहाँ पर तन्मात्राओं का प्रभाव नहीं रहता है।

यहाँ पर अहंकार का साक्षात्कार होता है। अहंकार अन्य सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं है क्योंकि यहाँ पर सूक्ष्म इन्द्रियाँ व तन्मात्राएं स्वयं अहंकार में विलीन हो चुकी होती हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण की अधिकता रहती है। सत्त्वगुण में ही आनन्द है। इसीलिए चित्त की वृत्ति के द्वारा अहंकार की अनुभूति होती है। यदि साधक को उच्चकोटि का योगी बनना है तो इस अवस्था में ज्यादा से ज्यादा समाधि में बैठने का अभ्यास करना चाहिए ताकि 2-3 घंटे आराम से बैठ सके। समाधि के अभ्यास के अलावा कुछ और बातों का ध्यान भी रखना चाहिए। भोजन कम करना चाहिए। भोजन पौष्टिक व सात्विक होना चाहिए। भोजन में केला, दूध, दही और फलों का भी प्रयोग करना चाहिए। यदि कुण्डलिनी ज्यादा उग्र हो तो आप दूध में थोड़ा घी डाल लें, ताकि कुण्डलिनी की उष्णता से आंतों में जख्म न हो जाए। प्राणायाम पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दिन में लगभग पाँच बार प्राणायाम करना चाहिए, ताकि नाड़ियाँ बिल्कुल शुद्ध हो जाएं। जब कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र खोलने का प्रयास करने लगे तो मंत्रों का भी सहारा लेना चाहिए ताकि कुण्डलिनी और उग्र हो जाए। मंत्रों के प्रभाव से ब्रह्मरंध्र खुलने में सहायता मिलती है।

ब्रह्मरंध्र खुलने पर साधक की निर्विकल्प समाधि लगती है। ब्रह्मरंध्र में निर्गुण ब्रह्म का द्वार है। इस अवस्था में योगी का प्राण ब्रह्मरंध्र के अंदर रहता है। यहाँ पर किसी प्रकार के विचार उत्पन्न नहीं होते क्योंकि निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटि बननी बन्द हो जाती है। किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता है। सविकल्प समाधि में पहले जो दृष्टा-दृष्टि-दृश्य का प्रवाह बह रहा था, वह प्रवाह बहना बन्द हो चुका होता है। अर्थात् पहले नाम, रूप (अर्थ), ज्ञान का प्रवाह बह रहा था, इसीलिए ध्येय वस्तु का दर्शन हो रहा था। निर्विकल्प समाधि में नाम और ज्ञान का प्रवाह अर्थ (रूप) में विलीन हो जाता है। साधक की वृत्ति अर्थ स्वरूप में विद्यमान रहती है, इसलिए कौन किसे देखे! कभी-कभी साधक अत्यन्त तेज चकाचौंध कर देने वाले प्रकाश में अपने आपको पाता है, मगर यह साधक की वास्तविक स्थिति नहीं है क्योंकि चित्त के अंदर अभी संस्कार शेष रहते हैं और ये शेष संस्कार रजोगुण व तमोगुण मिश्रित होते हैं। जब तक साधक

इन शेष संस्कारों को नष्ट नहीं कर देता है तब तक चेतन स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता है। प्रिय साधकों, शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित कौन है, यह मैं नहीं जानता हूँ। यह बात सिर्फ ज्ञान के बताने पर लिखी है।

अक्सर कहा जाता है कि अमुक योगी ब्रह्मलीन हो गया, मगर ऐसा नहीं होता। क्योंकि उसका अस्तित्व सूक्ष्म लोकों में होता है। फिर निश्चित समय के बाद वह जन्म लेता है। ऐसा भी कहा जाता है जो योगी कामनाओं से परे है अथवा जिसकी सारी कामनाएं पूरी हो चुकी हैं व सिर्फ आत्मा की कामना करता है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। हमारा सोचना है कि निर्गुण ब्रह्म कैसे प्राप्त होगा? जब तक साधक की ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य नहीं होता, तब तक उसके चित्त से अज्ञान पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रज्ञा अज्ञान की विरोधी होती है। अभ्यास के अनुसार धीरे-धीरे अज्ञान को नष्ट करती रहती है और उस स्थान पर ज्ञान को भरती रहती है। ऐसी अवस्था में साधक को तत्त्वों का भी वास्तविक स्वरूप दिखाई देता है। इन पाँचों तत्त्वों के वास्तविक साक्षात्कार के बाद वर्षों तक अभ्यास करना पड़ता है। तब अपने स्वरूप में स्थिति हो पाती है। इसके बाद ब्रह्मलीन हो पाना संभव है। ब्रह्मरंध्र में योगी जब ध्यान लगाता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। यहाँ तक कि समय का भी आभास नहीं होता है कि वह कितनी देर तक समाधि में बैठा है। समाधि में बैठे चार घंटे बीत जाएँ, तब भी समाधि भंग होने पर उसे लगेगा कि अभी-अभी तो ध्यान पर बैठा था। ऐसा इस प्रकार होता है– साधक का प्राण व मन एक साथ ब्रह्मरंध्र के अन्दर विद्यमान रहते हैं तथा साधक की ध्येय रूपी वृत्ति अर्थ स्वरूप में विद्यमान रहती है। ज्ञान का प्रवाह अर्थ स्वरूप ध्येय वृत्ति में विलीन हो जाता है। इसलिए समय आदि का ज्ञान नहीं हो पाता है।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि क्या निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करने वाले साधक को मोक्ष मिल जाता है। उत्तर– नहीं मिल सकता है क्योंकि चित्त में अभी संस्कार शेष रहते हैं और ये संस्कार रजोगुण व तमोगुण मिश्रित होते हैं। इसलिए पुन: वापस पूर्व स्थिति में आना पड़ता है। जब तक योगी अपने शेष संस्कारों को पूरी तरह समाप्त नहीं कर लेता है, तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस अवस्था में योगी के जो कर्माशय शेष रहते हैं, वे ज्यादातर क्लेशात्मक ही होते हैं। योगी को अपने स्थूल जीवन में क्लेश उठाने पड़ते हैं। ये कर्माशय निश्चित रूप से योगी को भोगने ही होते हैं।

शुरुआत में निर्विकल्प समाधि कुछ समय के लिए ही लगती है, फिर अभ्यास बढ़ाने पर समाधि का समय बढ़ता ही जाता है। शुरुआत में शेष संस्कारों के कारण ज्यादा देर तक निर्विकल्प समाधि नहीं

लग पाती है। मगर जब साधक समाधि का अभ्यास बार-बार करके बढ़ाता है तब धीरे-धीरे शेष संस्कार दबने लगते हैं। अभ्यास के कारण समाधि का समय भी बढ़ने लगता है। दूसरा कारण यह भी होता है कि शुरुआत में प्राण ब्रह्मरंध्र में ज्यादा देर तक नहीं ठहरता, फिर वापस नीचे आ जाता है। जब तक प्राण ब्रह्मरंध्र में स्थिर रहता है, तब तक निर्विकल्प समाधि लगती है। अभ्यास के द्वारा प्राण वायु ब्रह्मरंध्र में धीरे-धीरे ज्यादा देर तक ठहरने लगता है। वैसे ही समाधि का समय बढ़ता रहता है। इस अवस्था में योगी को वैराग्य होने लगता है अथवा हो जाता है। वैराग्य के द्वारा तमोगुण क्षीण होने लगता है तथा धीरे-धीरे तमोगुणी कर्माशय भी योगी भोग कर समाप्त करने लगता है।

कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र द्वार खोलकर वापस होने लगती है। जब वापस आती है तो अपना नया मार्ग बनाकर वापस आती है। जब कुण्डलिनी हृदय में आती है तो चित्त में स्थित शेष संस्कारों का कुछ भाग जलाकर भस्म कर देती है और स्वयं स्थिर होकर वायु रूप में परिवर्तित हो जाती है। इधर जैसे-जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता है, शेष संस्कार दुर्बल होकर दबने लगते हैं। इसी अवस्था में दीपशिखा के समान एक ज्योति का दर्शन होता है। यह वास्तव में चित्त की एक सात्विक वृत्ति होती है जो ज्योति का स्वरूप धारण कर लेती है। कुछ योगी इसे ही वास्तविक आत्मा समझ लेते हैं। वह शायद यह ध्यान नहीं देते हैं कि अभी तो चित्त में संस्कार शेष हैं। इसलिए अभी साधक आत्मा में अवस्थित नहीं हुआ है। मैंने कुछ योगियों से बात की तो इसी अवस्था को अपना लक्ष्य बताकर यह दर्शाया कि उन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, वे पूर्ण हो गए हैं तथा जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो गए हैं। मैं ऐसे योगियों से कहना चाहूँगा कि अभी बहुत लंबा मार्ग तय करना है। इसलिए समाधि में लगे रहो जब तक आपका चित्त परा-प्रकृति में अवस्थित न हो जाए।

जब बहुत समय तक निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करते हैं तब एक समय योगी का ऐसा आता है कि उसके चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है। इससे रजोगुण व तमोगुण मिश्रित सारे संस्कार नष्ट हो जाते हैं, तब चित्त का स्वरूप पारदर्शी हो जाता है और यह चित्त बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है। अब चित्त में सत्त्वगुण का ही साम्राज्य रहता है, फिर साधक के संस्कार चित्त पर नहीं ठहरते हैं। इस अवस्था में योगी की तृष्णा पूरी तरह समाप्त हो चुकी होती है। किसी प्रकार की वासना नहीं रहती है। जब साधक की कोई इच्छा व तृष्णा ही नहीं रह गयी तो कर्माशय चित्त पर नहीं बन पाते हैं। यह क्रिया इस

प्रकार होती है कि जब योगी कोई कार्य करता है तो उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। चित्त उसी समय साधक को उस संस्कार का वास्तविक ज्ञान करा देता है। वास्तविक ज्ञान होने के कारण चित्त पर उन संस्कारों की कोई छाप नहीं रह जाती है। संस्कार चित्त पर ठहर नहीं पाते हैं, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। योगी की इसी अवस्था को कहते हैं– "योगी संसार में रहता हुआ भी संसार में नहीं है।"

हम पहले लिख चुके हैं समाधि अवस्था में शेष कर्माशय दबे रहते हैं। समाधि भंग होने पर ये कर्माशय अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं। इन प्रबल कर्माशयों का योगी स्थूल जीवन में भोग करता है। ये कर्माशय समाधि द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते हैं। ये अत्यन्त क्लेशात्मक होते हैं। साधकों, जब मैंने ये कर्माशय भोगे तो मेरी बहुत दुर्गति हुई। दुर्गति इतनी हुई कि मुझे एक-दो बार लगा कि शायद हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिए। मुझे ज्ञान के द्वारा अपना सारा भविष्य मालूम है, फिर आत्महत्या कैसे कर सकता था। आखिरकार ये कर्म मेरे हैं, भले ही जन्म-जन्मातरों के हों। मैं दूसरों को दोष क्यों दूँ। अब तो मैं इन सबसे दूर प्रसन्न, आनंदित हूँ। मेरा नाम भी आनन्द है और आनन्द की अनुभूति भी स्थूल जीवन में करता हूँ। हाँ, समाज वाले हमारी दुर्गति पर हँसते हैं। हमें समाज वालों को देखकर दया आती है। वे स्वयं नहीं जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। चलो अच्छा है, वे (समाज वाले) अपना कार्य करके प्रसन्न हैं, मैं अपना कार्य करके प्रसन्न हूँ। चलो दोनों प्रसन्न ही प्रसन्न हैं। ईश्वर सभी को प्रसन्न रखे।

हमने जो समाधि के विषय में लिखा है कि समाधि में आनन्द की अनुभूति होती है, लेकिन समाधि में जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह शब्दों में नहीं लिखी जा सकती, सिर्फ अनुभूति का विषय है। इसकी अनुभूति अभ्यासी साधक ही कर सकता है। सविकल्प समाधि के समय कुछ सिद्धियाँ भी साधक को प्राप्त होती हैं। उनका वर्णन मैंने नहीं किया है। हाँ, हमें सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं, उनसे थोड़ा कार्य भी लिया था, मगर ज्ञान के समझाने पर मैंने सिद्धियों से नाता तोड़ लिया है। सिद्धियों के चक्कर में योगी उलझ जाता है क्योंकि वे चीज़ें ही ऐसी हैं। मैंने कुछ ही शब्दों में समाधि का वर्णन किया है, मगर योगी की समाधि शुरुआत से लेकर अंत तक पूर्ण करने में कई जन्म लग जाते हैं। एक जन्म में योग पूर्ण नहीं होता है। जब तक योगी अपने सारे संस्कारों को नष्ट न कर दे, तब तक उसे बार-बार जन्म लेकर योग करना पड़ता है। जो योगी समाधि अवस्था का अभ्यास करते हुए ही मृत्यु को प्राप्त होता है, उसे अगले जन्म में संस्कारों के कारण पिछली अवस्था जल्दी मिल जाती है। फिर समाधि का अभ्यास शुरू कर देता है। यही

क्रम चलता रहता है जब तक वह योग का अभ्यास पूर्ण न कर ले। समाधि का अभ्यासी मृत्यु के पश्चात् भी अपनी योग्यतानुसार सूक्ष्म लोकों में अभ्यास करता रहता है।

साधकों! कुछ योगी चौदह लोकों से भी परे रहते हैं। ऐसे योगी अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म व पारदर्शी किये रहते हैं। वह योगी की दिव्य दृष्टि से भी जल्दी दिखायी नहीं पड़ते हैं। जब उनके लिए संकल्प करो तब वह दर्शन देते हैं। ऐसे योगी अत्यन्त उच्चकोटि के होते हैं। ज्यादातर ऐसे योगी आदिकाल के होते हैं तथा इनकी समाधि भी बहुत लंबी होती है।

हमें कुछ मनुष्यों के विषय में जानकारी मिली। वे समाधि के अभ्यास के लिए नशे का सेवन करते हैं। मुझे इस बात का आश्चर्य है कि नशे का सेवन करके कैसे समाधि लगाते हैं। समाधि के लिए तो शरीर अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। नशे के सेवन से शरीर अशुद्ध होता है, नाड़ियों में अवरोध भर जाता है।

निर्विकल्प समाधि के अभ्यास के समय जो कर्माशय शेष रह जाते हैं, वे कलेशात्मक होते हैं। ये कर्माशय योगबल से कभी नष्ट नहीं होते हैं, बल्कि साधक इन कर्माशयों को भोगकर समाप्त करता है। जब साधक इन कर्माशयों को भोग लेता है, तब फिर समाधि अवस्था में अविद्या, तमोगुणी अहंकार, सत्त्वगुणी अहंकार व माया का साक्षात्कार होता है। इन सभी के साक्षात्कार के बाद प्रज्ञा उत्पन्न होती है। प्रज्ञा के समय चित्त पर तमोगुण सिर्फ नाममात्र का रह जाता है। रजोगुण सिर्फ इतनी मात्रा में रह जाता है कि आत्मा और चित्त में भिन्नता की क्रिया कर सके। आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान विवेक कराता है। इस अवस्था में कारण शरीर अंतर्मुखी होने लगता है। चित्त पर सत्त्वगुण पूरी तरह से फैल जाता है। इससे चित्त अत्यन्त स्वच्छ दिखायी देता है। चित्त पर ज्ञान का प्रकाश भी अधिक फैल जाता है। जब आत्मा और चित्त की भिन्नता का साक्षात् हो जाता है तो उसकी यह भावना कि 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ' की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वह चित्त में ही सारे परिणामों को देखता है। चित्त से अपने को भिन्न अपरिणामी ज्ञानस्वरूप आत्मा अनुभव करने लगता है। ऐसा योगी ही आत्मज्ञान का अधिकारी होता है।

योगी के चित्त में जब तक आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्रबलता से रहता है तब तक उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर रहती है। परंतु जब ज्ञान में (आत्मा और चित्त की भिन्नता में) शिथिलता आने लगती है तब व्युत्थान की वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन व्युत्थान की वृत्तियों के कारण योगी सोचता है– 'यह मेरा है, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ'। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ है।

हम पहले लिख चुके हैं कि निर्विकल्प समाधि में किसी प्रकार का दर्शन नहीं होता है और न ही कोई विचार आता है। इन सभी का साक्षात् (अहंकार, आत्मा और चित्त की भिन्नता का) निर्विकल्प समाधि के बहुत समय बाद होता है।

समाधि का अभ्यास बढ़ने पर चित्त कैवल्य की ओर अभिमुख होता है। तीनों गुण अपना बाह्य परिणाम कुछ समय के लिए बन्द कर देते हैं। चित्त आत्मा में अवस्थित हो जाता है। इसको निर्बीज समाधि कहते हैं। योगी को वास्तविक वैराग्य (पर-वैराग्य) भी उत्पन्न होता है। वास्तविक वैराग्य के कारण योगी स्थूल व सूक्ष्म रूप से सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर देता है क्योंकि उसका चित्त तृष्णा रहित हो जाता है। योगी को जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।

ज्ञान

योगाभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो जाने पर ज्ञान प्रकट होने लगता है। यही ज्ञान अभ्यास के अनुसार धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। अंत में इसी ज्ञान से योगी को उच्चत्तम अवस्था मिलती है। साधारण मनुष्यों का जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है क्योंकि सभी जीवात्माएँ माया के फंदे में जकड़ी रहती हैं। बिना माया का फंदा तोड़े सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। माया का फंदा तोड़कर सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का उपाय सिर्फ योग है। योगविहीन सांसारिक ज्ञान सिर्फ अज्ञान मात्र है। इससे सिर्फ सुख-दुःख की अनुभूति होती है। मुक्ति पथ पर चलने की सहायता नहीं मिलती है। बिना योग के केवल साधारण नाम मात्र के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। योग के द्वारा तमोगुणी व रजोगुणी वृत्तियाँ जब नष्ट होती हैं फिर योगी को ज्ञान मिलने की शुरुआत हो जाती है।

किसी पदार्थ के विषय में वास्तविक जानकारी को ज्ञान कहते हैं। इसमें (ज्ञान में) अविद्या व माया का मिश्रण बिल्कुल नहीं होता है, क्योंकि अविद्या के कारण किसी भी पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता है। जब किसी पदार्थ से अविद्या समाप्त हो जाती है तब उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आत्मा और चित्त में अभिन्नता को अहंभाव ही दर्शाता है जबकि आत्मा और चित्त को अलग-अलग बताने वाले को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान अविद्या और माया का विरोधी है। जब योगी को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो उसके अंदर किसी प्रकार की वासना नहीं रह जाती है। क्योंकि जड़ प्रकृति के अनित्य स्वरूप का भान होने लगता है।

ज्ञान की प्राप्ति पर कर्तापन का अभिमान नहीं रह जाता, अर्थात् 'किसी कार्य को मैं कर रहा हूँ', 'आज मैं बहुत दुखी हूँ', 'अब मैं बहुत सुखी हूँ' इत्यादि का जो अहंभाव है, वह अहंभाव जाता रहता है। यह निर्मल चित्त की ही एक वृत्ति है। यह ज्ञान चित्त की अंतिम सात्विक वृत्ति है। इस अवस्था में साधक को वास्तविक वैराग्य की स्थिति रहती है।

ज्ञान की प्राप्ति पर साधक को भली-भाँति मालूम पड़ जाता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'मैं इन्द्रिय नहीं हूँ', 'मैं मन नहीं हूँ', 'मैं बुद्धि नहीं हूँ', 'मैं चित्त भी नहीं हूँ', चित्त मुझसे भिन्न है। यही वास्तविक ज्ञान है। एक ज्ञान वह भी कहा जाता है जो शास्त्रों को पढ़ने से या उपदेश सुनने से मिलता है। लेकिन, ऐसा ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है क्योंकि ऐसा ज्ञान अविद्या को नष्ट नहीं कर सकता। साधक के अंदर रजोगुणी

व तमोगुणी वृत्तियों का उदय होता रहता है क्योंकि रजोगुणी व तमोगुणी संस्कार उसके अंतःकरण में विद्यमान रहते हैं। मगर जो ज्ञान समाधि की उच्चतम अवस्था में प्राप्त होता है, उस ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाता है, कर्तापन का भाव चला जाता है; यह रजोगुण व तमोगुण की गंदगी को धो डालता है व चित्त में निर्मलता आती है। आत्मा से प्रतिबिंबित होने के कारण चित्त में चैतन्यता-सी प्रतीत होती है तथा क्लेशों का सर्वथा नाश हो जाता है।

ज्ञान का स्थान बुद्धि कहा गया है। मगर ज्ञान तो तमोगुणी अहंकार को नष्ट कर डालता है, और बुद्धि जो अहंकार से उत्पन्न हुई है, इस स्थान पर अहंकार में विलीन हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि से यह ज्ञान परे है तथा ज्ञान चित्त में सारे परिणामों को देखता है एवं अपरिणामी स्वरूप का अनुभव करने लगता है। इस स्थिति को प्राप्त साधक ही आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी है, क्योंकि उसने योगाभ्यास के द्वारा आत्मज्ञान की अनुभूति की है। ऐसा योगी ही आत्मज्ञान को भली-भाँति समझ सकता है।

जिस व्यक्ति ने योगाभ्यास के द्वारा आत्मज्ञान की अनुभूति नहीं की है, वह भला क्या आत्मा का उपदेश दे सकता है, क्योंकि उसे स्वयं आत्मज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। जिस साधक ने जिस वस्तु को प्राप्त ही नहीं किया है, वह भला उसका वास्तविक ज्ञान क्या जाने। सिर्फ आध्यात्मिक पुस्तकों व उपनिषदों से पढ़कर ज्ञान अर्जित कर लेने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता है।

जब साधक समाधि में स्थित होकर आनन्द की अनुभूति करता है, उस समय उसे ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है। जैसे-जैसे समाधि का अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे ज्ञान की प्राप्ति भी बढ़ती है, क्योंकि रजोगुण व तमोगुण क्षीण पड़ने लगते हैं। इसी के साथ अविद्या भी कमज़ोर पड़ने लगती है और सत्त्वगुण की प्रधानता बढ़ने लगती है।

स्थितप्रज्ञ साधक (ज्ञान में स्थित) सत्त्वगुण के प्रभाव से आनन्दमय कोष अर्थात् महाकारण शरीर में अंतर्मुखी होता है तथा ज्ञान के प्रकाश से आत्मानंद की अनुभूति करता है। साधारण पुरुष रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से सांसारिक कार्य करते हैं। मगर ज्ञान में स्थित साधक, ममता, अहंकार तथा आसक्ति से रहित, मात्र निष्काम भाव से, कर्तव्य समझकर कार्य करता रहता है। इस अवस्था में साधक के चित्त में संस्कार नहीं बनते हैं।

साधक को चित्त प्रकाशित दिखायी देता है। वास्तव में, यह प्रकाश स्वयं चित्त का नहीं है। यह प्रकाश आत्मा का प्रतिबिंब है। चित्त जड़ प्रकृति है, इसलिए स्वप्रकाशी नहीं है। चित्त में अहंभाव होने के कारण आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान नहीं होता है। मनुष्य राग-द्वेष, सकाम-कर्म, उनके फलों की इच्छाएँ, जन्म-मृत्यु और आयु को प्राप्त होता है, तथा सुख-दुःख भोगता है। इन सबकी जननी अविद्या है। यह अविद्या तमोगुणी अहंकार में बीजरूप में रहती है। जब साधक को ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब त्रिगुणात्मक चित्त और चेतन-स्वरूप आत्मा में भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस भिन्नता का ज्ञान हो जाने पर अविद्या अपने क्लेश रूपी परिवार सहित अंतर्मुखी होकर अपने मूल स्त्रोत में विलीन हो जाती है। ज्ञान रूपी सात्विक वृत्ति चित्त की सबसे उच्चतम सात्विक वृत्ति है। जिस प्रकार दर्पण में दिखायी देने वाला स्वरूप, वास्तविक स्वरूप नहीं होता है, इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साक्षात्कार वास्तविक आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसीलिए इस ज्ञान रूपी वृत्ति से भी योगी को आसक्ति हटा लेनी चाहिए।

साधक को जब ज्ञान प्राप्त होता है तथा कठोर अभ्यास के द्वारा ज्ञान में स्थित रहता है, तब वास्तविक वैराग्य का उदय होता है। वास्तविक वैराग्य के बिना दुःख की निवृत्ति नहीं होती है। ज्ञान में लगातार स्थित न रहने के कारण बीच-बीच में व्युत्थान की वृत्तियों का उदय होता रहता है। ये वृत्तियाँ रज और तम से मिश्रित होती हैं तथा साधक को सुख-दुःख महसूस होता रहता है। ज्ञान होने पर साधक को दृष्टा और दृश्य में भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। साधक जान जाता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त मुझसे भिन्न हैं।

मनुष्य को स्कूली शिक्षा, गुरु उपदेश व शास्त्रों को पढ़ने से भी ज्ञान का उदय होता है। पर यह वास्तविक ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसा ज्ञान अविद्या से निवृत्ति करने में असमर्थ होता है। रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ चित्त में उदित होती रहती हैं। पुस्तक के पढ़ने व सुनने वाले ज्ञान से चित्त में व्युत्थान की वृत्तियाँ (रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ) बनी रहती हैं। जब ज्ञान समाधि की उच्चतम अवस्था में प्राप्त होता है, उस समय चित्त में सत्त्वगुण की पूरी तरह से अधिकता रहती है। रज व तम नाममात्र रहता है। यह दोनों गुण भी सत्त्वगुण का साथ देते हैं, इसे तत्त्वज्ञान भी कहते हैं। ज्ञान की अवस्था में चित्त रजोगुण व तमोगुण के मलों से शून्य तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो जाता है। चित्त के निर्मल ज्ञान के निरंतर प्रवाह से

सभी प्रकार के क्लेशों का सर्वथा नाश हो जाता है। जीव को बन्धन की उत्पत्ति करने में चित्त असमर्थ हो जाता है।

ज्ञान द्वारा साधक के चित्त के अशुद्धता रूपी मल के नष्ट हो जाने पर तथा सांसारिक ज्ञानों के उत्पन्न न होने पर उत्कर्ष अवस्था वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। इस अवस्था वाले ज्ञान से साधक के चित्त को कार्य से विमुक्त करने वाली अवस्था प्राप्त होती है। जब साधक का अभ्यास और बढ़ता है, तब चित्त से विमुक्त करने वाली अवस्था प्राप्त होती है। तब साधक को अपने आत्म-अवस्थित की अवस्था प्राप्त होती है। कार्यो से विमुक्त होने की अवस्था में साधक को निम्नलिखित जानकारी होती है– (1)जो कुछ जानना था वह सब जान लिया, अर्थात् जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति का दृश्य है वह सब परिणामी है। परिणामी होने के कारण असत्य व दुःख स्वरूप है, (2) जो कुछ अलग करना था वह अलग कर दिया, अर्थात आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान हो गया है। अब कुछ भी अलग करने योग्य नहीं रह गया, (3) जो कुछ साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया। (इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ, अहंकार आदि) अब कुछ भी साक्षात् करने योग्य नहीं रहा, (4) जो कुछ करना था वह कर लिया। अब कुछ भी करने योग्य नहीं रहा, अर्थात् ज्ञान द्वारा सब कुछ कर लिया, (5) चित्त ने अपने अंदर स्थित सभी प्रकार की वृत्तियों का भोग कर लिया है। अब कुछ भी शेष नहीं रह गया, (6) तीनों गुण अपना प्रयोजन पूरा करके अपने कारण में लीन हो रहे हैं और (7) गुणों से परे अपने निजस्वरूप (आत्मा) में अवस्थिति हो रही है।

जब ज्ञान की वृत्ति का प्रवाह निरंतर बहने लगता है, अर्थात् ज्ञान परिपक्व हो जाता है तब व्युत्थान की वृत्तियाँ नहीं उठती हैं। इससे निर्बीज समाधि लगती है, जिसे आत्मा में अवस्थिति भी कहते हैं। प्रिय साधकों, मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। पूरी तरह से ज्ञान में परिपक्व होने के लिए कठोर अभ्यास को कुछ समय के लिए ढीला (कम) कर लीजिए। जब तक आप सांसारिकता में थोड़ा नहीं आएंगे, तब तक आपको कैसे मालूम होगा कि आपका ज्ञान (तत्त्वज्ञान) परिपक्व हुआ है कि नहीं। पर- वैराग्य (वास्तविक वैराग्य) के द्वारा स्थूल पदार्थों से लिप्तता छूट जानी चाहिए। थोड़ा स्थूलता में आइए, अपनी परीक्षा आप स्वयं लीजिए कि आपको कहीं किसी स्थूल पदार्थ से राग तो नहीं है। किसी भी स्थूल पदार्थ से यदि मन के अंदर सूक्ष्म रूप से भी राग है तो अभी परिपक्वता में कमी है।

ज्ञान चित्त की अंतिम, सर्वोच्च वृत्ति है। इस वृत्ति का प्रादुर्भाव तीनों गुणों के द्वारा हुआ है। यह वृत्ति कर्माशय की वृत्ति नहीं है, यह वृत्ति जीव की उत्पत्ति के समय प्रकट होती है। जिस साधक ने ज्ञान प्राप्त कर आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान कर लिया है, वही आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी होता है। जिसने आत्मानुभूति ही न की हो, वह आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी कैसे हो सकता है? आध्यात्मिक पुस्तकों व शास्त्रों से आत्मानुभूति नहीं हो सकती है।

मोक्ष

मोक्ष का अर्थ है छुटकारा पाना। छुटकारा पाना अर्थात् जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होना; जो सांसारिक बन्धन में अपने आपको बांधे हुए है, उससे छुटकारा प्राप्त करना ताकि वह पुन: अपने पूर्व के समान दिव्यरूप को प्राप्त कर ले। एक बात बता दूँ कि मोक्ष के स्वरूप को लेकर महापुरुषों में थोड़ी भिन्नता है, जिसे हम आगे लिखेंगे। मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य को, योग का अपनी इच्छानुसार एक मार्ग अपनाना पड़ेगा। कठोर नियम, संयम के बाद अभ्यास जरूरी है। बिना अभ्यास के अज्ञानता को नष्ट नहीं किया जा सकता है तथा साधक में मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा होनी चाहिए। भक्ति योग के साधक को मोक्ष प्राप्ति करने के लिए अपने इष्ट के प्रति शरणागत होना आवश्यक है। योग की उच्चस्थिति आने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है जिससे साधक में राग, द्वेष, मोह आदि विकारों का निरोध हो जाता है। बचे हुए संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं, फिर चित्त में संस्कार नहीं रह जाते हैं। एक बार संस्कार नष्ट हो जाने पर नये कर्मों के संस्कार नहीं बन पाते हैं। जब साधक के सारे संस्कारों का नाश हो जाता है, तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

संपूर्ण संस्कार नष्ट होने के बाद, नये संस्कार इसलिए नहीं बन पाते हैं क्योंकि योगी की अज्ञानता नष्ट हो जाती है। संस्कार सिर्फ अज्ञानतावश किये गये कर्मों के बनते हैं। अद्वैत भाव से युक्त साधक के संस्कार नहीं बनते हैं। अज्ञान के नष्ट होने पर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान से सांसारिक दु:खों का भी अंत हो जाता है। इस तरह साधक को प्रकृति के वास्तविक स्वरूप की जानकारी हो जाती है। बन्धन, मोक्ष व पुनर्जन्म यह सब प्रकृति के ही खेल हैं। वैसे प्रकृति स्वयं सर्वत्र अति सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। जब साधक प्रकृति के विषय में सारी जानकारी कर लेता है तो फिर प्रकृति उसे अवरोध नहीं करती है, क्योंकि वह उसके वास्तविक स्वरूप को पहचान गया है। इसीलिए कहते हैं सकाम भाव से कर्म करने पर बार-बार जन्म लेना पड़ता है तथा इसमें सुख-दु:ख मिश्रण वाला फल मिलता है। ऐसे कर्मों को इन्द्रियों का बन्धन रहता है तथा सुख-दु:ख की अनुभूति मन व इन्द्रियाँ करती हैं, जिससे मनुष्य सांसारिक जीवन से ऊब जाता है। निष्काम भाव से कर्म करने पर इन्द्रियाँ तथा मन अलग हो जाते हैं जिससे आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

अद्वैत सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ही मोक्ष है क्योंकि उस अवस्था में ज्ञानी, ज्ञान और ज्ञाता में कोई अंतर नहीं रह जाता। इस समय याद आ गया, महान संत ज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गयी ज्ञानेश्वरी में किसी जगह पर पढ़ा था 'ब्रह्मभाव आ जाना ही ब्रह्म में लीन हो जाना है'।

शास्त्रों के अनुसार मोक्ष चार प्रकार का होता है–
(1) सालोक्य, (2) सान्निध्य, (3) सारूप्य और (4) सायुज्य।

सालोक्य मुक्ति – इस प्रकार की मुक्ति में योगी ईश्वर के लोक में रहता है।

सान्निध्य मुक्ति – इस प्रकार की मुक्ति में योगी ईश्वर के निकट रहता है।

सारूप्य मुक्ति – इस प्रकार की मुक्ति में योगी दिव्य होकर ईश्वर का रूप धारण कर लेता है।

सायुज्य मुक्ति – इस प्रकार की मुक्ति में योगी ब्रह्म में लीन हो जाता है। साधकों, मुझे नहीं मालूम है कि सायुज्य मुक्ति आज तक किसे मिली है।

पहले की तीनों प्रकार की मुक्ति में, जीवात्मा को बहुत समय तक ईश्वर के लोक में रहना पड़ता है। अनन्त समय बाद योगी ईश्वर अथवा ब्रह्म में लीन हो जाता है। भक्त, ईश्वर (सगुण ब्रह्म) में लीन हो जाता है। योगी निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है। ये तीनों प्रकार के योगी अपने-अपने ढंग से साधना (समाधि) करते रहते हैं। सायुज्य मोक्ष ही वास्तव में सही मोक्ष है, इसमें साधक का अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। भक्त सगुण ब्रह्म का उपासक होने के कारण अपने इष्ट (ईश्वर) में लीन हो जाता है।

अब तर्क यह भी किया जा सकता है कि प्रलय के समय तो सभी को मोक्ष मिल जाता है, क्योंकि एक समय ऐसा भी आता है, प्रकृति ईश्वर में लीन हो जाती है। उस समय अच्छे-बुरे कर्मों वाली जीवात्माएँ सभी एकाकार हो जाती हैं, यह सत्य है। मगर ऐसी क्रिया अनंतकाल के बाद होती है। इसलिए हर मनुष्य को ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष की इच्छा रखनी चाहिए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वैसा ही कार्य करना चाहिए, तभी प्राप्ति हो सकेगी। वैसे सनातन धर्म में, पुराणों के अनुसार प्रलय कई प्रकार का होता है। हर चतुर्युग के बाद प्रलय होता है। ऐसा कहते हैं कि उस समय पृथ्वी पर सभी जगह जल भर जाता है।

पृथ्वी प्राणियों से विहीन हो जाती है। इसी प्रकार एक निश्चित समय के बाद पृथ्वी के साथ ऊपर के लोक भी नष्ट हो जाते हैं।

साधकों, हम सभी को ज्ञात है कि एक न एक दिन संपूर्ण सृष्टि का प्रलय के समय विनाश हो जाता है। इस प्रलय में सभी प्रकार के प्राणियों का अंत हो जाता है। यदि कोई मनुष्य सोचे कि मुझे उस समय तो मोक्ष मिल ही जाएगा, फिर मैं क्यों मोक्ष का प्रयास करूँ। साधकों, इस विषय में मैं यही कहूँगा कि किसी भी मनुष्य का इस तरह सोचना उचित नहीं है; हाँ, अज्ञानता अवश्य है। क्योंकि सृष्टि जब पूरी तरह प्रलय के कारण नष्ट हो जाती है तो प्रकृति सारी सृष्टि को बीज रूप में अपने में समेंट लेती है। इसलिए सभी प्राणियों के कर्माशय भी बीज रूप में प्रकृति के अंदर रहते हैं। जब सृष्टि की शुरुआत होती है तो शेष बचे कर्माशयों को भोगने के लिए जीवात्मा को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए प्रलय के बाद भी जीवात्मा को मुक्ति नहीं मिलती है। जीवात्मा जब तक अपने कर्माशय पूरी तरह समाप्त नहीं कर देती, तब तक जन्म ग्रहण करना अनिवार्य है। इसीलिए प्रलय के बाद सृष्टि अनिवार्य है। जब तक जीवात्मा अपने अविद्या युक्त कर्म भोग कर समाप्त नहीं कर लेती है, तब तक जीवात्मा जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा।

मोक्ष व बन्धन वास्तव में प्रकृति के कार्य हैं। आत्मा स्वयं न तो बन्धन में बन्धता है और न ही मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मा का स्वरूप ही असंग व निर्लिप्त है। संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही किये जाते हैं। तमोगुणी अहंकार से मोहित हुआ जीवात्मा 'मैं कर्त्ता हूँ', ऐसा मान लेता है। इसीलिए उसके (जीवात्मा) अंदर आसक्ति आ जाती है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुआ साधक आसक्त नहीं होता है। उसे (तत्त्वज्ञानी को) मालूम होता है कि सारे कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किये जा रहे हैं। अज्ञान (अविद्या) के कारण बन्धन है और ज्ञान के कारण मोक्ष है। धर्म-अधर्म अथवा जो भी सांसारिक कार्य होते हैं, वह सब चित्त के धर्म हैं क्योंकि इन सभी का सम्बन्ध चित्त से होता है। परिणाम चित्त में होता है। आत्मा का इन सब कार्यों से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि वह अपरिणामी है। इसलिए कर्मफल, बन्धन, मोक्ष व संसार का सम्बन्ध चित्त से है। आत्मा बन्धन में, मोक्ष में तथा सभी प्रकार के सांसारिक कार्यो में समान रूप से रहती है।

अब आप सोचेंगे कि ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा को मोक्ष मिल गया, आत्मा बन्धन के कारण जन्म लेती है; चित्त के लिए क्यों नहीं कहा जाता? इन सबका कारण चित्त ही है। चित्त की

अवस्थाओं में भेद होता है। अविद्या (अज्ञान) के समय जो अवस्था चित्त की होती है, ज्ञान (तत्त्वज्ञान) के समय उससे भिन्न अवस्था चित्त की हो जाती है। आत्मा चित्त की दृष्टा है। अविद्या (अज्ञान) के समय आत्मा और चित्त में भिन्नता न समझने के कारण, आत्मा की अवस्थाएँ समझ ली जाती हैं जबकि वास्तव में चित्त की अवस्थाएँ होती हैं। इसीलिए आत्मा को आरोपित कर दिया जाता है। प्रकृति ही अपने आपको बन्धन में बांधती है तथा प्रकृति ही अपने आपको मुक्त करती है।

जाग्रत अवस्था में मनुष्य रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियों से युक्त सांसारिक कार्य करता है, मगर तत्त्वज्ञान में स्थित साधक अपने सभी कार्यों को भोग की निवृत्ति के लिए अथवा ईश्वर की ओर से कर्तव्य मात्र समझकर आसक्ति से रहित निष्काम भाव से करता है। इसीलिए उसके चित्त में कर्मों के संस्कार नहीं बनते हैं। जो साधक आत्मा में अवस्थिति की अवस्था प्राप्त कर चुके हैं, वे दो प्रकार के होते हैं: (1) जिनके कर्म केवल भोग निवृत्ति के लिए होते हैं और (2) जिनके कर्म भोग निवृत्ति तथा ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए सभी प्राणियों का कल्याण करने के लिए होते हैं। इसी प्रकार मुक्ति भी दो प्रकार की होती है – (1) पहले प्रकार के योगियों की मुक्ति में चित्त को बनाने वाले तीनों गुण अपने मूल स्त्रोत (आत्मा) में लीन हो जाते हैं, इसे कैवल्य मोक्ष कहते हैं। (2) दूसरे प्रकार के योगी अपने सात्विक चित्त के साथ ईश्वर के लोक में अवस्थित रहते हैं। ईश्वर के नियमों के अनुसार जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब संपूर्ण प्राणियों के कल्याण हेतु, धर्म की मर्यादा के लिए पृथ्वी पर जन्म धारण करते हैं, फिर अपना कार्य करके अपने लोक में वापस लौट जाते हैं।

जब साधक अपने अभ्यास से तमोगुणी अहंकार, अविद्या और माया अपने मूलस्त्रोत में विलीन कर देता है तथा चित्त के शेष कर्माशय भी भोग लिए जाते हैं तो चित्त स्फटिक मणि के समान शुद्ध हो जाता है। फिर साधक द्वारा किये गये कर्मों के संस्कार चित्त पर नहीं बनते हैं। उस समय साधक को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति पर साधक को आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इसलिए उसे मालूम हो जाता है सारे कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। जब तक ज्ञान परिपक्व नहीं हो जाता है तब तक बीच-बीच में व्युत्थान की वृत्तियाँ (रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ) उत्पन्न होती रहती हैं। ज्ञान परिपक्व हो जाने पर व्युत्थान की वृत्तियाँ उत्पन्न होनी समाप्त हो जाती हैं। इस अवस्था में सकाम कर्म और उनकी वासनाएँ मूल रूप से नष्ट हो जाती हैं। सभी प्रकार के मलों के आवरण से रहित होकर चित्त

रूपी प्रकाश अनंत होने से जानने योग्य पदार्थ अल्प रह जाता है। क्योंकि ज्ञान रूपी प्रकाश इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती है। विषय बहुत न्यून तथा ज्ञान अनंत हो जाता है। सांसारिक वस्तुएं उसकी दृष्टि में तुच्छ हो जाती हैं।

साधक को जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब उसके परिणाम वाले कर्म समाप्त होते जाते हैं, अर्थात् गुणों का कार्य समाप्त हो जाता है। अब गुण फिर से अपने परिणामी कर्म शुरू नहीं करते हैं क्योंकि उनका कार्य पूर्ण हो गया है। साधक द्वारा समाधि का अभ्यास करते रहने पर गुणों का अपने मूल स्रोत (आत्मा) में अभिमुख होना शुरू हो जाता है। पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने मूल स्रोत में लीन होना कैवल्य मोक्ष है।

परिणामी कर्म का अर्थ है– तीनों गुणों द्वारा सात्विक चित्त का निर्माण हुआ। इस चित्त से सत्त्वगुणी अहंकार प्रकट हुआ। सत्त्वगुणी अहंकार में विकृति आने पर तमोगुणी अहंकार बहिर्मुखी हुआ। इसी प्रकार क्रमशः बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हुए। ग्राह्य रूप से पाँचों तन्मात्राएँ, पाँचों सूक्ष्म भूत और फिर पाँचों स्थूल भूत बहिर्मुखी हुए।

लोकों के विषय में

हम जिस ब्रह्मांड में रहते हैं इसमें चौदह लोक माने गये हैं। इन चौदह लोकों में विभिन्न प्रकार के प्राणी रहते हैं। इन लोकों का घनत्व अलग-अलग होता है। घनत्व के कारण ही इन्हें चौदह भागों में बांटा गया है। हर लोक में घनत्व के अनुसार ही प्राणी रहते हैं। प्राणियों की जातियाँ तो अनगिनत हैं, मगर शास्त्रों में प्राणियों की जातियाँ 84 लाख बतायी गयी हैं। मैं सिर्फ इतना कहूँगा कि यह सत्य है जातियाँ अनगिनत हैं तथा मैं शास्त्रों में विश्वास भी रखता हूँ।

पृथ्वी से नीचे जो लोक हैं उनमें निम्न प्रकार की जीवत्माएँ रहती हैं। पृथ्वी के ऊपर के लोकों में उच्च श्रेणी की जीवात्माएँ रहती हैं। पृथ्वी से नीचे सात लोक हैं जिनमें ज्यादातर अंधकार व धुंधला प्रकाश रहता है। पृथ्वी पर हम सभी रहते हैं। यहाँ पर सूर्य के कारण दिन और रात होते हैं, अर्थात् प्रकाश व अंधकार दोनों निश्चित समय में बदलते रहते हैं। पृथ्वी से ऊपर के लोक स्वप्रकाशित हैं तथा सूक्ष्म लोक हैं। इन लोकों में प्रकाश के रंग में भी भिन्नता है, जिसे मैं आगे लिखूंगा। अब मैं लोकों के नाम लिखता हूँ। सबसे नीचे लोक से लेकर क्रमश: सबसे ऊपर तक लोकों के नाम लिख रहा हूँ– (1) पाताल, (2) रसातल,
(3) महातल, (4) तलातल, (5) सुतल, (6) वितल, (7) अतल, (8) पृथ्वी, (9) भुवर्लोक, (10) स्वर्गलोक, (11) महर्लोक, (12) जनलोक, (13) तपलोक और (14) ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोक के ऊपर भी तीन लोक हैं, मगर इनकी गिनती लोकों में नहीं मानी गयी है। ये तीनों लोक नित्य हैं, क्योंकि परा-प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। परा-प्रकृति में ईश्वर (सगुण ब्रह्म) रहता है अर्थात् परा-प्रकृति ईश्वर का चित्त होता है, इसलिए ये लोक नित्य माने गए हैं। परा-प्रकृति में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। अपरा-प्रकृति की अपेक्षा परा-प्रकृति नित्य मानी गयी है। यह भी ध्यान रखने की बात है, परा-प्रकृति चाहे जितनी स्फूर्तिमान हो मगर यह जड़ ही है। भक्त अथवा योगी की भावना के अनुसार ही सगुण ब्रह्म (ईश्वर) का स्वरूप दिखाई देता है। सगुण ब्रह्म नारायण, परम शिव और कृष्ण के रूप में दिखाई देता है। क्योंकि उपासक ईश्वर को इन्ही रूपों में देखना चाहता है। इसी के अनुसार तीन लोक माने गए हैं। यह लोक क्रमश: इस प्रकार हैं– (1) क्षीर सागर, (2) शिवलोक और (3) गोलोक। गोलोक सबसे ऊपर का लोक माना गया है।

हमने पहले लिखा है कि पृथ्वी के नीचे के लोक निम्न कोटि के जीवात्माओं के लोक हैं। इन सातों लोकों में प्रकाश की कमी रहती है। धुंधला प्रकाश अथवा अंधकार छाया रहता है। निम्न लोकों की बनावट व सतहें भी बड़ी विचित्र व अच्छी नहीं हैं। यहाँ की जीवात्माओं को कष्ट ही भोगना पड़ता है, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि सभी जीवात्माएँ कष्ट भोगती हैं। कुछ जीवात्माएँ किसी कारणवश यहाँ रहती हैं, लेकिन उन्हें कष्ट महसूस नही होता। इन लोकों में कुछ जीवात्माएँ ऐसी भी हैं जिन्हें श्राप देकर कष्ट भोगने के लिए भेजा गया होता है। ऐसी जीवात्माएँ लोकों के वातावरण में ढल जाती हैं। बुद्धि मलिन होने के कारण किसी प्रकार का कष्ट महसूस नहीं करती हैं। इन जीवात्माओं की शरीर की लंबाई बहुत कम होती है। यह वहाँ के लोकों का नियम है। मैं स्वयं अपनी जानकारी के आधार पर लिख रहा हूँ। जब पृथ्वी की जीवात्मा किसी कारण कष्ट भोगने के लिए रसातल भेजी गयी तो रसातल जाते समय उसका सूक्ष्म शरीर कष्ट भोग रहा था। जैसे ही रसातल पहुँची तो इस जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर पर, सिर पर और पैरों के तलवों पर भारी दबाव पड़ा। जीवात्मा दर्द से चीखने लगी। कुछ क्षणों में जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर मात्र 3-4 इंच का रह गया। आप आश्चर्य में तो नहीं पड़ गए कि 3-4 इंच का मनुष्य कैसे हो सकता है। उस लोक में सूक्ष्म शरीर की लंबाई इतनी ही होती है। उस लोक में कीचड़ व अंधकार होता है। जो जीवात्माएँ यहाँ रहती हैं, वो उसी कीचड़ में कुछ ढूंढ-ढूंढ कर खाया करती हैं।

इसी प्रकार पाताल लोक में पानी ही पानी है। वहाँ के सारे प्राणी पानी के अंदर रहते हैं। वहाँ पर हलका प्रकाश है। उस हल्के प्रकाश में स्पष्ट दिखायी पड़ता है। मगर पृथ्वी के समान ज्यादा दूरी तक दिखायी नहीं देता है। यहाँ के कुछ प्राणियों को अन्य निम्न लोकों की अपेक्षा कम कष्ट है। कभी-कभी कुछ अच्छी-अच्छी जीवात्माएँ भी कुछ समय के लिए यहाँ गयी हैं। ध्यानावस्था में पाताल लोक मैं ज्यादा घूमा नहीं हूँ।

अब अतल लोक के विषय में थोड़ा लिखता हूँ। इस लोक में किसी प्रकार का तल (आधार) नहीं है। किसी प्रकार का तल न होने के कारण इसका नाम अतल पड़ा है। इसमें वायु ही वायु भरी है। वायु के कारण यहाँ की जीवात्माओं को काफी परेशानी का सामना करना पड़ता है। इस लोक में किसी प्रकार का आधार न होने के कारण चलने अथवा घूमने-फिरने में काफी परेशानी होती है। जब चलने का प्रयास करते हैं तो गिर पड़ते हैं। बस, यही कष्ट होता है। इस लोक में जीवात्माएँ ठीक प्रकार से चल नहीं सकती हैं।

ऊपर से वायु के झोंके लगते हैं। जब गिरते हैं तो उलटे-सीधे गिरते हैं। यहाँ पर भूख की तृप्ति नहीं होती है अर्थात् जीवात्माएँ घोर कष्ट उठाती हैं।

वितल लोक के बिषय में थोड़ा-सा अनुभव याद आया। इस लोक का तल (आधार) बड़ा बेकार-सा है। कहीं-कहीं इस लोक के सतह पर कंकड़ ही कंकड़ हैं, कहीं पर पत्थर ही पत्थर हैं और कहीं पर बालू के ढेर जैसे हैं। यहाँ की सतह बहुत ही ऊबड़-खाबड़ है। यहाँ पर जीवात्माओं को घोर कष्ट उठाना पड़ता है। जब मुझे इस लोक का अनुभव हुआ, उस समय हमारे सूक्ष्म शरीर को काफी कठिनाई-सी हो रही थी वहाँ पर घूमने-फिरने में। वहीं पर बालू के ढेर पर मैंने कुछ स्त्री व पुरुष बैठे हुए देखे थे। ये स्त्री व पुरुष हमें आश्चर्यभरी दृष्टि से देख रहे थे। कुछ समय बाद मैं इन जीवात्माओं के पास थोड़ी दूरी पर खड़ा हो गया, मगर जीवात्माएँ कुछ नहीं बोलीं। मैं भी उनसे कुछ नहीं बोला। उनके चेहरे से उनका कष्ट झलक रहा था, फिर हमारा अनुभव समाप्त हो गया।

सुतल लोक अन्य लोकों की अपेक्षा अच्छा है। इस लोक का तल भी सुन्दर है, अर्थात ठीक है। सुन्दर तल का अर्थ अपने यहाँ की सुन्दरता से न लगाएँ। इतना अवश्य है कि इन सातों लोकों में सबसे सही तल इसी लोक का है। यहाँ का धरातल समतल है तथा कहीं-कहीं पर पानी भी भरा है। साधकों, मैं यह नहीं बता सकता हूँ कि यहाँ पर किस प्रकार से जीवात्माएँ कष्ट भोगती हैं। यह निश्चित है, यहाँ पर जीवात्माएँ कष्ट भोगती हैं। यहाँ का एक अनुभव हमें आया था। मैं सूक्ष्म शरीर से इस लोक में पहुँचा, तो देखा एक जगह नदी के आकार में पानी भरा हुआ है। पानी स्थिर है। मैं पानी के किनारे भूमि पर बैठ गया। कुछ समय बाद उठकर घूमने लगा, तो देखा कुछ स्त्री-पुरुष एक स्थान पर बैठे हैं। ये सभी स्त्री-पुरुष हमें गौर से देख रहे हैं। मैंने भी उन्हें गौर से देखा और सोचने लगा, ये लोग चुपचाप क्यों बैठें हैं। हमसे बोलते क्यों नहीं हैं। उसी समय ज्ञान ने मुझे बताया– "ये स्वयं अपने आप में कष्ट भोग रहे हैं।" कुछ क्षणों बाद मैं वापस आ गया।

साधकों! महातल और तलातल के विषय में हमें ज्यादा कुछ अनुभव नहीं आए हैं। जब अनुभव आते हैं तो यह निर्णय करना मुश्किल हो जाता है कि यह किस लोक का अनुभव आया था, फिर ज्ञान से कार्य लेना होता है। इतना तो मालूम है कि ये लोक धुंधले प्रकाश व अंधकार में रहते हैं तथा साधना काल में हमें नीचे के लोकों के और अनुभव आए, मगर मैं निर्णय नहीं कर सकता था कि ये किस लोक के

अनुभव थे। अभी तक संक्षेप में मैंने नीचे के लोकों के विषय में थोड़ा-सा लिखा है। अनुभव व ज्ञान के आधार पर लिखा है। निचले लोकों में मालूम तो पड़ता नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि अन्य योगियों को नीचे के लोकों के अनुभव कुछ और तरह से आए हों, क्योंकि एक ही लोक में काफी विस्तार में जगह होती है। यह भी हो सकता है कि दूसरी जगह का दृश्य, दूसरे ढंग का हो। मगर अंधकार व धुंधला प्रकाश एक जैसा ही रहेगा। मैंने तो सिर्फ अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है।

सन् 1996 के शुरुआत के दिन थे। मैंने प्रकृति देवी से पूछा– "माता, मुझे नीचे के लोकों का ज्यादा ज्ञान नहीं है, हमें वहाँ के विषय में बताएँ, जिससे उन लोकों के विषय में जानकारी हो सके।" प्रकृति देवी बोलीं– "योगी, वहाँ के विषय में जितनी जानकारी है उसी पर संतोष करो। अब वहाँ के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं दी जाएगी। तुम्हें जो काम सौंपे गये हैं, सिर्फ उनसे मतलब रखो। जिन लोकों के विषय में पूछ रहे हो, वह निम्न श्रेणी के लोक हैं। योगी को ऐसे लोकों के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं लेनी चाहिए। तुम्हें ऊर्ध्व लोकों के विषय में जानकारी करनी चाहिए। तुम्हें मृत्यु के पश्चात् जिस लोक में पहुँचना है वहाँ के विषय में पूछो तो मैं बता दूँगी, और वहाँ के दृश्य भी तुम्हें दिखा सकती हूँ।" मैं बोला– "माता, मुझे मालूम है मृत्यु के बाद मैं कहाँ जाऊँगा, कृपया क्षमा कीजिए।" फिर प्रकृति देवी अदृश्य हो गयीं। इसलिए अब ज्यादा नीचे के लोकों के विषय में नहीं लिख सकता हूँ। मैंने जो लिखा है वह अपने साधनाकाल के समय आये हुए अनुभवों के आधार पर लिखा है। ये नीचे के लोक सूक्ष्म लोक हैं, इसलिए सूक्ष्म शरीरधारी यहाँ पर रहते हैं।

जिस पृथ्वी पर हम सब रहते हैं इसे मृत्युलोक भी कहते हैं। इसके विषय में क्या लिखें क्योंकि पृथ्वी के विषय में सभी को ज्ञात है, मगर थोड़ा अवश्य लिखूँगा, जो सभी को ज्ञात नहीं है। आप सभी ने बरमूडा ट्रैंगल (Bermuda triangle) का नाम अवश्य सुना होगा। यह समुद्र में अमेरिका के पास है। हम सभी को जानकारी है कि उस बरमूडा में ढेरों जहाज और कई मनुष्य चले गए। वे सभी आज तक लौटकर नहीं आये। उस क्षेत्र का जितना आकाश है वह विशेष प्रकार के गुरुत्वाकर्षण से युक्त है। वैसा ही पानी की सतह पर भी है। बरमूडा ट्रैंगल के आकाशीय क्षेत्र और पृथ्वी के अन्य आकाशीय क्षेत्र में थोड़ा-सा फर्क है। इस क्षेत्र में जो भी मनुष्य पहुँचता है वह अपना होश खो बैठता है, फिर बेहोश-सा हो जाता है। इसका कारण वहाँ का घनत्व व चुंबकीय क्षेत्र है।

बरमूड़ा ट्रैंगल में जो भी वस्तु पहुंचती है, वह पृथ्वी पर नहीं रहती। वहाँ पहुंची हुई वस्तु बरमूडा के आकाश से होकर ऊपर की ओर चली जाती है, फिर वह वस्तु अपने सौर मंडल से बाहर चली जाती है। वह वस्तु ऐसे स्थान पर पहुंचती है जहाँ घोर अंधकार है। यह अंधकार सदैव रहता है। यहाँ पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं होता। पृथ्वी की जो वस्तुएं बरमूडा ट्रैंगल में पहुंचती हैं, वे अंतरिक्ष में उसी घोर अंधकार में एक निश्चित जगह पर पहुंच जाती हैं। उस जगह पर किसी प्रकार का धरातल नहीं है, बल्कि घोर अंधकार में डूबा अंतरिक्ष है।

पृथ्वी पर बहुत से क्षेत्र बड़े विचित्र से हैं। इन क्षेत्रों में चुम्बकीय सुरंगें होती हैं। ये चुम्बकीय सुरंगें निश्चित जगह पर सदैव बनी रहती हैं। ये चुम्बकीय सुरंगें आँखों से दिखाई नहीं देती हैं, उनके क्षेत्र में जाने पर मालूम होता है। कुछ चुम्बकीय सुरंगें कभी-कभी कुछ समय के लिए ही बनती हैं, फिर समाप्त हो जाती हैं। अगर उस समय कोई प्राणी उस चुम्बकीय क्षेत्र में जाएगा तो वह कुछ क्षणों में अदृश्य हो जाएगा। चुम्बकीय क्षेत्र समाप्त होने पर वह प्राणी कभी नहीं मिलेगा। चुम्बकीय सुरंगें (क्षेत्रों) का अंतरिक्ष में जाल बना हुआ है। ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र ब्रह्माण्ड के प्रत्येक ग्रह पर विद्यमान रहते हैं। कुछ चुम्बकीय सुरंगें (क्षेत्र) बनती व नष्ट होती रहती हैं। पृथ्वी के जाल क्षेत्र व भू-भाग पर भी यह क्रिया चलती रहती है। ऐसा ब्रह्माण्ड के निर्माण के समय से हुआ है और अंत तक होता रहेगा।

पृथ्वी पर बड़े विचित्र स्थान हैं जिनका उल्लेख करना मुश्किल है। हमें भी ज्यादा रुचि नहीं रही, इन सब विषयों में जानकारी करने के लिए। हिमालय के बर्फीले इलाके में बड़े विचित्र स्थान हैं। इन स्थानों का सम्बन्ध योगियों से है। पृथ्वी पर हम सभी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तो रहते ही हैं, मगर पृथ्वी के अंतरिक्ष में सूक्ष्म शरीर में बहुत ही अतृप्त जीवात्माएँ भी रहती हैं। ये जीवात्माएँ अपनी तृष्णा के कारण अथवा अकाल मृत्यु के कारण भटकती रहती हैं। एक निश्चित समय में अथवा तृष्णा समाप्त होने पर ऊर्ध्व गति को प्राप्त करती हैं। ऐसी जीवात्माएँ कभी-कभी योग्य व्यक्ति से भी सम्बन्ध स्थापित करती हैं अथवा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करती हैं जो उन्हें ऊर्ध्व कर सके। इन जीवात्माओं को ऊर्ध्व करने की क्षमता सिर्फ वही व्यक्ति रखते हैं जो आध्यात्मिक शक्ति रखते हैं। मैंने भी कुछ अतृप्त जीवात्माओं को ऊर्ध्व किया है। इन अतृप्त जीवात्माओं के विषय में हमने बहुत जानकारी हासिल की है। उसका वर्णन तो यहाँ नहीं करूँगा, क्योंकि उससे किसी प्रकार से साधकों को लाभ नहीं मिलेगा। लेख का विषय भी बदल

जाएगा। अतृप्त जीवात्माओं से मैं उन्हीं के विषय में पूछा करता था। वह अपने जीवन की कहानी बड़े प्यार से बताती थीं। आखिर ऐसी जीवात्माओं को हमसे थोड़ा लाभ ही हो जाता था। मैंने स्वयं अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उससे बहुत समय तक सम्बन्ध बनाये रखा था तथा उससे ढेर सारी जानकारियाँ लिया करता था जो बाद में सत्य निकलती थीं। फिर उसका कर्मभोग का समय आ गया, इसलिए हमने उससे सम्बन्ध काट लिया ताकि उसे हमारे कारण कोई परेशानी न हो।

भुवर्लोक के विषय में भी बहुत जानकारी प्राप्त की है, मगर यहाँ पर संक्षेप में लिख रहा हूँ। यह लोक सूक्ष्म लोक है। इसे समझाने की दृष्टि से तीन भागों में बाँटते हैं– एक भाग वह, जहाँ पर मृत्यु के पश्चात् जीवात्माएँ पहुँचती हैं। यमराज के सामने चित्रगुप्त द्वारा निर्णय किया जाता है कि इस जीवात्मा के कैसे कर्म हैं और कहाँ जाएगी। अच्छे कर्म करने वाली जीवात्माएँ ऊर्ध्व हो जाती हैं। बुरे कर्म करने वाली जीवात्माएँ यहीं रुक जाती हैं। कर्म के अनुसार ही जीवात्मा को यमदूत दंड देते हैं। दंड जहाँ दिया जाता है, वह जगह इसी लोक में एक सीमा के अंदर है। यह जगह अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में है जिसे दूसरे शब्दों में नरक कहते हैं। निश्चित अवधि तक दंड भोगने के बाद, जीवात्मा पुण्यकर्म भोगने के लिए ऊर्ध्व हो जाती है अथवा जन्म लेने के लिए पृथ्वी पर आ जाती है। अपने कर्मानुसार जन्मस्थान के पास आ जाती है। इन नरकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं।

भुवर्लोक के एक भाग में तामसिक शक्तियाँ रहती हैं। ये तामसिक शक्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। ऐसी शक्तियाँ अपनी शक्ति बढ़ाने केलिए, तामसिक मंत्रों का जाप किया करती हैं। किसी-किसी स्थान पर यज्ञ कुण्ड की तरह कुण्ड बने रहते हैं। इनमें सूक्ष्म रूप से अग्नि प्रज्वलित रहती है। वे इसी अग्निकुण्ड में सूक्ष्म तामसिक वस्तुओं की आहुति दिया करती हैं तथा अपनी तामसिक शक्ति भी बढ़ाया करती हैं। ऐसी जीवात्माएँ अत्यन्त दुष्ट स्वभाव की होती हैं। ये पृथ्वी की ओर भी देखती रहती हैं। जो इनका उपासक होता है, उनका कार्य कर देती हैं एवं उस कार्य के बदले में तामसिक वस्तुएँ ले लेती हैं। इन तामसिक वस्तुओं का सूक्ष्म भाग उन्हें प्राप्त होता है। कभी-कभी पृथ्वी के कुछ विशिष्ट जगहों पर जबरदस्ती छीना-झपटी करके वस्तुओं का सूक्ष्म भाग ले लेती हैं। इस क्रिया को पृथ्वी के साधारण मनुष्य नहीं जान पाते हैं। पृथ्वी पर कभी-कभी नये साधकों के सामने अवरोध भी डालती हैं। ऐसे अवरोध साधक के मार्गदर्शक को ठीक करने पड़ते हैं। अथवा दृढ़ता से ध्यान में लगे साधक के सामने टिक नहीं पाती हैं।

ऐसी तामसिक शक्तियों की साधकों से बड़ी दुश्मनी होती है क्योंकि तामसिक व सात्विक का विरोध तो सदैव से चला आ रहा है। इन तामसिक शक्तियों के पास शक्ति बहुत होती है, क्योंकि ये सदैव तामसिक शक्ति मंत्र द्वारा अर्जित किया करती हैं। यह अपनी इच्छानुसार तामसिक शक्ति से अपने समान पुरुष प्रकट करने की शक्ति भी रखती हैं। यह कार्य बड़ी तामसिक शक्तियाँ करती हैं। साधक और तामसिक शक्ति का कभी मेल नहीं हो सकता। साधक को इनसे सर्वथा दूर रहना चाहिए। जिस जगह ये शक्तियाँ रहती हैं, वहाँ पर हल्का प्रकाश रहता है।

भगवान सूर्य के पुत्र धर्मराज जी इसी लोक में रहते हैं। आप सोचेंगे कि क्या धर्मराज जी यहाँ रहते हैं! इनका स्थान इसी लोक में है! मगर धर्मराज जी जिस क्षेत्र में रहते हैं, वह स्थान इस लोक से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इस लोक में तो तामसिक शक्तियाँ व नरक आदि हैं। मगर धर्मराज जी के रहने के स्थान पर सफेद रंग का उज्जवल तेज प्रकाश फैला रहता है। यह स्थान सुख-दुख से दूर आनन्दमय है। धर्मराज जी के सामने एक तराजू सदैव बना रहता है, यह तराजू दिव्य है। धर्मराज जी की दृष्टि इसी तराजू पर बनी रहती है। यह साधारण तराजू की भाँति नहीं है, यह तराजू स्वयमेंव ब्रह्माण्ड भर का बैलेंस बताता रहता है। यह तराजू धर्म और अधर्म का निर्णय स्वयं करता है। ब्रह्माण्ड में किसी जगह अगर अधर्म बढ़ता है तो तराजू का एक पलड़ा नीचे हो जाता है, दूसरा पलड़ा ऊपर हो जाता है। उसी समय भगवान धर्मराज को मालूम हो जाता है कि किस स्थान पर अधर्म की मात्रा ज्यादा हो रही है। उसी समय धर्मराज जी के आवाहन पर प्रकृति देवी व्यवस्था करती हैं। तराजू का कांटा बिल्कुल सही रहता है। यदि किसी मनुष्य के कर्मों का, धर्म अधर्म का निर्णय इनके पास पहुँचता है तो तराजू द्वारा स्वयमेंव बता दिया जाता है। पृथ्वी पर युग के अनुसार कितना धर्म होना चाहिए, कितना अधर्म होना चाहिए, यह तराजू बताता रहता है। जब पृथ्वी पर अधर्म एक निश्चित अनुपात से अधिक हो जाता है तो तराजू द्वारा ज्ञात होने पर भगवान धर्मराज ब्रह्मा जी को बताते हैं। फिर ब्रह्मा जी प्रकृति देवी को प्रेरित करते हैं। प्रकृति देवी योगियों को धर्म की व्यवस्था के लिए, धर्म प्रचार के लिए भेजती हैं। योगियों की गिनती ज्यादा भी हो सकती है। अधिक अधर्म बढ़ने पर स्वयं भगवान भी पृथ्वी पर अवतार ग्रहण कर लेते हैं। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में अधर्म अधिक क्यों हैं क्योंकि कलियुग है। कलियुग के समय यह निश्चित रहता है कि अधर्म अनुपात में इतना बढ़ेगा, धर्म अनुपात में इतना घटेगा। भले ही देखने में अधर्म अधिक हो, मगर यदि निश्चित अनुपात में है, तो सही कहा जाएगा।

प्रिय साधकों, एक दिलचस्प बात लिखता हूँ, भगवान धर्मराज जी बहुत ही ज्यादा सुन्दर हैं। हमारी और भगवान धर्मराज की खूब बनती थी। मैं तो कभी-कभी धर्मराज जी से मजाक भी कर देता था। एक बार मैंने मजाक में पूछा– "प्रभु, आप इतने सुन्दर क्यों हैं?" भगवान धर्मराज जी मुस्कराने लगे। मैंने दुबारा यही प्रश्न किया, तो वे बोले– "क्यों, मैं आपको सचमुच सुन्दर दिखता हूँ।" मैं बोला– "हाँ, आप वास्तव में बहुत सुन्दर हैं।" वे बोले– "चलो आपने मुझे सुन्दर तो कहा, किसी ने आज तक सुन्दर नहीं कहा।" मैं बोला– "प्रभु, मैं क्यों सुन्दर नहीं हूँ?" भगवान बोले– "माता प्रकृति से पूछो।" कुछ समय बाद मैंने माता प्रकृति से यही सवाल किया, तो माता प्रकृति देवी बोलीं– "आप अपना पीछे का तीसरा जन्म देखिए, जवाब मिल जाएगा।" फिर मैंने अपना पिछला तीसरा जन्म देखा, मुझे अपने प्रश्न का जवाब मिल गया था। साधकों, यदि आपकी दिव्य दृष्टि अत्यन्त तेजस्वी है तो आप एक बार भगवान धर्मराज के दर्शन अवश्य कीजिए, उनका स्वरूप देखकर आप भी मोहित हो जाएँगे।

यहाँ पर जिस स्थान पर यमराज जी व चित्रगुप्त रहते हैं, वह स्थान भी अलग है। यमराज जी अपनी इच्छानुसार अपने शरीर से यमदूत प्रकट कर सकते हैं। चित्रगुप्त जी के पास जो पुस्तक है उसमें ब्रह्माण्ड की सभी जीवात्माओं के विषय में लेखा-जोखा रहता है, जरूरत पड़ने पर कई कल्प पीछे का भी देखा जा सकता है। यह पुस्तक ज्यादा मोटी नहीं है मगर यह पुस्तक दिव्य है। दिव्य होने के कारण इसमें सभी जीवात्माओं के विषय में मिल जाता है।

अब मैं एक दिलचस्प घटना लिख रहा हूँ। यह घटना दिसम्बर 1995 की है, कई वर्षों पूर्व हमारे एक मित्र ने आत्महत्या कर ली थी। हमने अपना ध्यान करने के लिए गांव से बाहर नदी के किनारे एक झोपड़ी बना रखी है। उस समय मैं झोपड़ी में था, तब हमारे मित्र ने (जिसने आत्महत्या कर ली थी) त्रिकाल से अपनी बात कही– "मैं तुम्हारे गुरु का मित्र था, उनसे कहो कि मुझे इच्छानुसार भोजन करा दें और मेरी ऊर्ध्व गति कर दें।" त्रिकाल ने मुझे बताया। मैंने त्रिकाल को बताया– "यह सही है कि ये हमारे मित्र थे, मगर मजबूरी में आत्महत्या कर ली।" वैसे मैं यह कार्य नहीं करता, मगर मित्र के कारण करना पड़ा। पहले इच्छानुसार भोजन कराया, फिर मैं बोला– "मित्र! आपको बहुत साल हो गए भटकते हुए, अब आप ऊपर जाने की तैयारी कीजिए। वह नदी के ऊपर आकाश में खड़े हो गए। मैं और त्रिकाल झोपड़ी में बैठे हुए थे। जैसे ही मैंने ओंकार किया, हमारे द्वारा किये गए ओंकार से सफेद रंग की शक्ति

निकली और मित्र के पैरों के नीचे तलवे पर पहुँच गयी। मित्र ने हमें प्रणाम किया फिर ऊपर की ओर अंतरिक्ष में जाने लगा। जाने की गति तीव्र थी। कुछ क्षणों बाद अंतरिक्ष में काले रंग के बादल दिखाई दिये। मित्र उन बादलों को बीच से चीरता हुआ ऊपर की ओर चला जा रहा था। ऊपर भुवर्लोक की सीमा में पहुँच गया। वहाँ ऊपर अंतरिक्ष में एक दरवाजा दिखाई दिया। उस दरवाजे से पहले सीढ़ियाँ थीं। मित्र हमारे योगबल पर सीढ़ियों पर खड़े हो गए। फिर सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। सीढ़ियाँ ऊँची थीं। जब सारी सीढ़ियाँ चढ़ लीं, तब दरवाजे के सामने खड़े हो गए, दरवाजा बन्द था। मैं चौंका, दरवाजा बन्द है! मगर उसी समय दरवाजे के पास दो काले रंग के तेजस्वी यमदूत प्रकट हो गए। उन्होंने दरवाजा खोल दिया। हमारे मित्र अंदर चले गए। थोड़ी दूर चलने पर उन्हें फिर सीढ़ियाँ मिलीं, उन सीढ़ियों पर मित्र फिर चढ़ने लगे। मैं उत्सुकतावश सारा दृश्य देख रहा था। कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद फिर दरवाजा मिला। इस दरवाजे को भी दो यमदूतों ने प्रकट होकर खोला। दरवाजे के अंदर मित्र पहुँच गया। दरवाजा अपने आप बन्द हो गया। अंदर का दृश्य अच्छा था, वहाँ बैठने का स्थान था। मित्र बड़ी शांति से वहाँ पर बैठ गए, आगे नहीं बढ़े।

पहले मैंने सोचा कि मित्र रुक क्यों गया, फिर मैं बोला– "मित्र आगे बढ़ो, मैं तुम्हें योगबल से आगे भेज दूँगा। इतने में माता प्रकृति देवी प्रकट हो गयीं। वे बोलीं– "योगी पुत्र, यह जीवात्मा अब आगे नहीं जा सकती।" मैं बोला– "क्यों माता?" वे बोलीं– "यह मेरा नियम है, अभी इसे पृथ्वी पर रहना था। तुमने योगबल से भुवर्लोक पहुँचा दिया। यह भुवर्लोक का दृश्य मैंने तुम्हें दिखाया है।" मैं बोला– "माता मैं आगे का भी दृश्य देखना चाहता हूँ, हमारे अंदर उत्सुकता है कि आगे क्या होता है।" माता प्रकृति बोलीं– "अब आगे का दृश्य नहीं देख पाओगे। हर एक बात पर हठ मत किया करो।" प्रकृति देवी अदृश्य हो गयीं। साधकों, आगे का दृश्य मैं नहीं देख सका। हमारे मित्र वहीं पर बैठ गए। दूसरे दिन एक तरुण लड़की की जीवात्मा को भी ऊर्ध्व किया। उसकी हत्या कर दी गयी थी। वह मुझे भैया कहती थी। उसने हमसे प्रार्थना भी की थी। स्थूल रुप से मैं उस लड़की को जानता था। उस लड़की पर दया आ गयी, फिर उसे भी भोजन करा कर ऊर्ध्व कर दिया। यह लड़की भी वहीं पर बैठ गयी, जहाँ पर हमारे मित्र महाशय बैठे हुए थे। दोनों आमने-सामने थे मगर आपस में बोलते नहीं थे। मैंने मित्र से कहा– "तुम दोनों एक दूसरे को जानते हो, आपस में बातें क्यों नहीं करते।" मित्र बोले– "मेरी इच्छा नहीं होती।" लड़की ने भी यही जवाब दिया। मगर हमारा और लड़की का सम्बन्ध बहुत दिनों तक बना रहा। वह हमसे बात करती थी। एक दिन प्रकृति

देवी ने बताया कि आप उस लड़की से सम्बन्ध मत स्थापित करिए, आप योगी हैं। हमें लड़की से मालूम हुआ था कि वहाँ पर किसी तरह की परेशानी नहीं है। वह जगह भूख-प्यास से रहित है।

साधकों, मैंने लिखा है जब हमारे मित्र की जीवात्मा ऊर्ध्व हो रही थी तो मार्ग में काले रंग के बादल मिले थे। यह सब सूक्ष्म जगत से सम्बन्धित है, स्थूल जगत से नहीं। पृथ्वी के आकाश में जो अतृप्त जीवात्माएँ रहती हैं, वे चाहे जितनी भी शक्तिशाली हों, इन काले बादलों को भेदकर पार नहीं हो सकतीं। जब उनका ऊर्ध्व होने का समय आ जाता है तो स्वयं पार हो जाती हैं, वरना ये अतृप्त जीवात्माएँ काले बादलों से नीचे ही रहती हैं। मैंने यह सब संक्षेप में लिखा है।

स्वर्ग लोक का नाम कौन नहीं जानता है। बच्चे-बच्चे से पूछ लो स्वर्गके विषय में कि वहाँ पर देवता रहते हैं। चलो, हम थोड़ा सा स्वर्ग के विषय में भी लिखते हैं। स्वर्ग तो वैसे भी सुन्दर जगह है, किसका मन नहीं चाहेगा कि स्वर्ग की प्राप्ति हो। मगर स्वर्ग मिलता कहाँ है! यदि समझाने की दृष्टि में स्वर्ग को दो भागों में बाँट दें तो अच्छा रहेगा। एक भाग में इन्द्र और देवता आदि रहते हैं, तो दूसरे भाग को हम पितृलोक कह सकते हैं। पितृलोक में पुण्य कर्म करने वाली जीवात्माएँ रहती हैं। पृथ्वी पर मनुष्य जो पुण्य कर्म करते हैं, उन कर्मों का फल पितृलोक में सुख भोगने के रूप में मिलता है। यह जगह भूख प्यास से रहित है। यहाँ पर किसी प्रकार का कष्ट नहीं भोगना पड़ता है। जीवात्माएँ सुख ही सुख का भोग करती हैं। इस लोक में अपनी इच्छानुसार जीवात्मा विचरण करती है। यहाँ पर ढेर सारी जीवात्माएँ एक साथ रहती हैं, मगर आपस में बातें नहीं करती हैं क्योंकि इनके अन्दर बात करने की इच्छा नहीं रहती है। मुझे पितृलोक के अनुभव आए हैं। मैंने पितृलोक की सैर की है। यह लोक स्वर्ग लोक के समकक्ष है, इसीलिए सुख ही सुख है। जब पुण्य कर्म समाप्त हो जाते हैं, एक निश्चित मात्रा में, तब जीवात्मा जन्म लेने के लिए पृथ्वी पर आ जाती है।

पितृलोक की जीवात्मा स्वर्ग के क्षेत्र में नहीं जा सकती है। पितृलोक में रहने के लिए अलग-अलग स्तर हैं। यह स्तर थोड़े-थोड़े घनत्व पर बदल जाते हैं। कर्म के अनुसार जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर का हल्का-सा घनत्व बदल जाता है। फिर जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर के घनत्व के अनुसार उसी घनत्व के स्तर पर पहुँच जाती है और उसी स्तर पर रहती है। जरूरत पड़ने पर दूसरे घनत्व के स्तर पर ये जीवात्माएँ

जा सकती हैं। मगर इस क्रिया से उनके पुण्यकर्मों पर सीधा असर पड़ेगा। स्थूल दृष्टि से ये स्तर हम सीढ़ीनुमा समझ सकते हैं। इस लोक का सबसे ऊँचा स्तर महर्लोक को स्पर्श करता है।

स्वर्ग के क्षेत्र में देवताओं के रहने का स्थान है तथा इसी क्षेत्र में विशाल आकार में अति सुन्दर भगवान इन्द्र का दरबार है। जिस जगह देवता रहते हैं वह जगह स्वप्रकाश से युक्त है। यहाँ का प्रकाश बहुत सुन्दर है तथा सुन्दर रमणीक जगह है। कुछ विशेष स्थानों पर अत्यन्त चमकीली दिव्य मणियों का प्रयोग किया गया है। ये मणियाँ स्वप्रकाशित हैं। साधकों, स्वर्ग का वर्णन मैं ज्यादा नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि स्वर्ग के उस स्थान पर मैं कभी नहीं गया जहाँ पर देवताओं के रहने का स्थान है। वैसे योगी के साधना काल में ऐसा समय अवश्य आता है जब वह सूक्ष्म शरीर से स्वर्ग में जाता है। फिर वहाँ पर योगी का सम्मान भी किया जाता है। ऐसा जरूरी नहीं कि सभी साधकों को स्वर्ग घूमने का अवसर मिलता हो, मगर ज्यादातर अच्छी साधना करने वाले साधकों को यह अवसर आता है। हमें भी यह अवसर आया था, मगर मैंने स्वर्ग जाने से इंकार कर दिया। मुझे ब्रह्म की ओर से यह अवसर दिया गया था कि ऐरावत पर चढ़ाकर स्वर्ग घुमाया जाए। स्वर्ग के अंदर जाना तो दूर रहा, मैं स्वर्ग के दरवाजे से भी बहुत दूर खड़ा रहा। अधिक जानकारी हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं।

फिर सन् 1995-96 में हमारी और भगवान इन्द्र की कई बार बातचीत हुई। मैंने पृथ्वी से ही भगवान इन्द्र की सभा देखी और वहाँ के दृश्य भी देखे। हमारा और इन्द्र का सम्बन्ध कई दिनों तक बना रहा। विधि का विधान ऐसा था कि फिर हमारा और इन्द्र का सम्बन्ध टूट गया क्योंकि हमें योग की मंजिलें भी तय करनी थीं। इन्द्र के दरबार (सभा) में अप्सराएँ अक्सर नृत्य किया करती हैं। इन अप्सराओं को हमें हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए कि यह नर्तकी हैं। ये तो जन्म और मृत्यु से रहित हैं। ये एक प्रकार की दिव्य शक्तियाँ हैं जो अपनी कला का प्रदर्शन तथा देवताओं का मनोरंजन किया करती हैं। इन्द्र से हमारा मित्र जैसा व्यवहार रहा है। बहुत सीधे और सरल हैं। मैं पहले उन्हें भगवान शब्द से सम्बोधित करता था, फिर वह बोले योगी, तुम मुझे भगवान क्यों कहते हो। मैं बोला– आप देवताओं के राजा हैं इसलिए मैं आपको भगवान कहता हूँ। इन्द्र बोले– "मुझे योगियों से बड़ा डर लगता है तथा उनका स्थान भी हमसे ऊपर के लोकों में है, इसलिए योगी महान हुआ।" कितना अपनापन है इन बातों में। फिर हमारे और उनके बीच दोस्ती कायम हो गयी, मगर ज्यादा दिन न चल सकी।

इन्द्र पद का नाम है, किसी देवता का नाम नहीं है। जैसे अपने यहाँ प्रधानमंत्री का पद है इसी प्रकार इन्द्र का पद है। इन्द्र पद पर जो देवता बैठता है वह कभी-न-कभी पूर्वकाल में पृथ्वी लोक पर रह चुका होता है। यह पद अत्यन्त पुण्यकर्मों के कारण मिलता है। एक इन्द्र 72 से 74 युगों तक अपने पद पर रहता है। फिर दूसरा इन्द्र आ जाता है। इन्द्र के पास जो शक्ति है वह इन्द्र पद की होती है, इसलिए इन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली होता है। एक बार इन्द्र ने बताया, जब पृथ्वी पर कलियुग चलता है, तब हमें किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती क्योंकि उस समय पृथ्वी पर कोई भी इतना शक्तिशाली नहीं होता है, जो हमें परेशान कर सके। अन्य युगों में परेशानी ही परेशानी होती है। यदि स्वर्ग से ऊपर की जीवात्माएँ चाहें तो इन्द्र के पास जा सकती हैं। ऐसी जीवात्माओं के पास योगबल होना जरूरी है। जितना समय इन्द्र के पास गुजारा जाएगा, उस भक्त या योगी का योगबल कुछ-न-कुछ क्षीण होगा, यह प्रकृति का नियम है। वैसे योगियों को, जो उच्चलोकों में रहते हैं, इन्द्र से कोई काम नहीं होता है। यदि कोई योगी या जीवात्मा इन्द्र के दरबार में पहुँचती है तो इन्द्र द्वारा उस योगी का सम्मान किया जाता है।

महर्लोक स्वर्ग से ऊपर का लोक है। इस लोक में भक्त ही भक्त रहते हैं। ये भक्त सदैव अपने इष्ट की याद में डूबे रहते हैं। कुछ भक्त अपने इष्ट नाम का जप करते हैं और अपने-अपने ढंग की भक्ति में लगे रहते हैं। यहाँ पर माया का प्रभाव कम होने के कारण एक भक्त दूसरे से मतलब नहीं रखता है। इस लोक में कई स्तर हैं। भक्त अपनी योग्यतानुसार अपने स्तर में बैठा नाम जप अथवा ध्यानमग्न रहता है। यदि इस लोक में भक्ति के कारण योगबल बढ़ जाए तो भक्त का स्तर बदल जाता है। फिर अपने से उच्च स्तर पर चला जाता है। एक निश्चित समय बाद जन्म लेने का समय आ जाता है। तब प्रकृति की प्रेरणा से भक्त पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए आ जाता है। ऐसी जीवात्मा जब स्थूल शरीर ग्रहण करती है तो स्थूल जीवन में अपने कर्माशयों के अनुसार कर्म करता हुआ भक्त बनता है। इस लोक में सफेद उज्जवल प्रकाश सदैव बना रहता है। ये लोक स्वप्रकाशित है।

जनलोक, महर्लोक से ऊपर है, इसलिए यह लोक महर्लोक से उत्तम है। इस लोक को हम स्तर के अनुसार दो भागों में बांट दें तो अच्छा रहेगा। हमारा मतलब, समझने में आसानी रहेगी। इस लोक में अनगिनत स्तर हैं। नीचे के आधे स्तरों में भक्त रहते हैं, ऊपर के आधे स्तरों में साधक रहते हैं। ये साधक ज्यादातर वे हैं, जिनका योगबल कम होता है तथा योग में उच्चतम स्थिति प्राप्त नहीं हुई है। ऐसे साधक

ज्यादातर योग का अभ्यास भी करते रहे तथा स्थूल संसार में भी जीवन व्यतीत करते रहे। शांत कुण्डलिनी वाले साधकों की संख्या इस लोक में ज्यादा होती है, किसी कारण से योग भ्रष्ट हो गए, योगबल भी थोड़ा रह गया आदि। यहाँ पर यह निश्चित है कि इन साधकों का योगबल ज्यादा नहीं होता है। इस लोक में वे साधक भी आते हैं जिन्होंने स्थूल शरीर से योग का अभ्यास तो किया, लेकिन फिर स्थूल सुख में लिप्त होकर अपना योगबल भी समाप्त कर लिया। इस लोक में साधक समाधि लगाए बैठे रहते हैं। इनका जन्म बहुत ज्यादा देर तक नहीं रुकता। इस लोक का प्रकाश सफेद उज्ज्वल व सुनहरे रंग के मिश्रण का है।

तपलोक, जनलोक से ऊपर का लोक है। इस लोक का जैसा नाम है वैसी ही यहाँ की भूमि है, वैसा ही यहाँ का वातावरण है। यह लोक योगियों का लोक है। इस लोक में एक से बढ़कर एक योगी रहते हैं। इस लोक के ऊपरी स्तरों में जितने भी साधक रहते हैं, सभी ज्ञानी होते हैं। इस लोक के निचले स्तरों के साधकों को ज्ञान नहीं होता है। यहाँ पर ज्ञान का अर्थ तत्त्वज्ञान से न लगाया जाए। तत्त्वज्ञानी तो ईश्वर के लोक अर्थात् परा-प्रकृति में रहते हैं। मगर एक बात अवश्य है कि यहाँ समाधि लगाने वाले योगी होते हैं। साधकों, इस लोक से हमें बड़ा प्यार है। इसका कारण यह भी है कि मैं भी यहीं का निवासी रहा हूँ। पृथ्वी से मृत्यु के पश्चात् कई बार मैं इस लोक में आया हूँ। फिर काफी लम्बी समाधि लगाकर पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए आया हूँ। अबकी बार मैं इस लोक से नहीं आया हूँ क्योंकि हमारा सम्बन्ध प्रकृतिलय अवस्था से रहा है। प्रकृतिलय अवस्था में साधक अपरा-प्रकृति के बाहरी आवरण में रहता है। ऐसा साधक जब जन्म ग्रहण करता है तब उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। हमारी पिछली बार की समाधि सबसे कम रही है। सिर्फ 25 वर्ष के लगभग समाधि लगाने के बाद प्रकृति देवी ने हमें जन्म लेने के लिए भेज दिया। अब की बार हमें सबसे जल्दी आना पड़ा। जब मुझे प्रकृति देवी ने समाधि से उठाकर जन्म लेने के लिए कहा, तब मैं बोला– "माता, अभी-अभी पृथ्वी लोक से आया हूँ, आप कह रही हैं कि पृथ्वी पर जाकर जन्म ग्रहण करो। क्या हमें इतनी जल्दी जन्म लेना पड़ेगा?" प्रकृति माता बोलीं– "तुम्हें किसी कारण से इतनी जल्दी भेजा जा रहा है। वहाँ पर तुम्हें कुछ कार्य करने हैं तथा तुम्हें तुम्हारे योग का फल भी मिलने वाला है। पृथ्वी पर जाकर अपने कर्म समाप्त करना, ताकि तुम्हें उच्चतम स्थिति प्राप्त हो सके।" फिर मैं पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए आ गया, यह बात मैंने अति संक्षेप में लिखी है।

इस लोक का वातावरण ऐसा है कि कभी-कभी इस लोक में उच्च स्थिति वाले योगी भी समाधि के लिए आ जाते हैं। क्योंकि यहाँ का वातावरण अत्यन्त शांत है, योगियों के अनुकूल है। इस लोक में हमारे स्वामी शिवानंद जी भी (ऋषिकेश, शिवानंद आश्रम वाले) समाधिस्थ रहते हैं। यहीं पर हमारे पिछले जन्मों के मित्र भी (योगी मित्र) रहते हैं। मैंने काफी समय तक अपने मित्रों से सम्बंध बनाए रखा मगर उन्हें समाधि लगानी थी, इसलिए सम्बन्धविच्छेद कर दिया ताकि समाधि लगा सकें। अप्रैल, 96 में सम्बन्धविच्छेद हो गया था। हमारे चारों मित्रों ने एक बार कहा– "कब आओगे तपलोक?" मैं बोला– "मृत्यु के पश्चात।" मित्र बोले– "तेरी मृत्यु के लिए अभी बहुत समय है।" मैं बोला– "तो मैं क्या करूँ?" मित्र बोले– "आत्महत्या कर ले अथवा कहीं पर एक्सीडेंट में मर जा।" मैं बोला– "ऐसा प्रकृति को मंजूर नहीं है।" मित्र बोले– "यार, तेरी बड़ी याद आ रही है, तू जल्दी से तपलोक आ जा, हम तेरा इंतजार कर रहे हैं।"

साधकों, ये चारों मित्र हमारे पिछले जन्म में बचपन के मित्र थे। फिर हम पाँचों योगी हो गये। थोड़े-थोड़े अंतराल में मृत्यु के पश्चात तपलोक पहुँच गये। मैं अपने कर्मों को समाप्त करने फिर मृत्युलोक आ गया। मित्रों ने जन्म ग्रहण नहीं किया। वर्तमान समय में तपलोक पर हमारे पिछले जन्मों के परिचित कुछ और योगी हैं जिनसे दो-चार बार सम्बंध स्थापित किया था। इस लोक का सबसे ऊंचा स्तर ब्रह्मलोक को स्पर्श कर रहा है। हमारे प्रिय योगी भगवान गौतम बुद्ध जी कभी-कभी तपलोक की अत्यन्त उच्च स्तर पर समाधि लगाने आ जाते हैं। कभी-कभी ब्रह्मलोक में समाधि लगाते हैं। एक बार भगवान गौतम बुद्ध जी से मैंने पूछा– "आप कभी-कभी तपलोक में क्यों समाधि लगाते हैं, आपको ब्रह्मलोक में रहना चाहिए।" वे बोले– "योगी पुत्र, तपलोक योगियों की भूमि है, इसलिए इच्छानुसार आ जाता हूँ।" इस लोक में तेज सुनहले रंग का प्रकाश रहता है। बुद्ध जी की अवस्था अत्यंत सूक्ष्म है क्योंकि वे तत्त्वज्ञानी हैं। अब उन्हें जन्म ग्रहण नहीं करना है। वे परा-प्रकृति के निचले स्तर पर भी समाधि लगाते हैं अथवा रहते हैं। उनका दर्शन करना दुर्लभ है।

ब्रह्मलोक भगवान ब्रह्मा का लोक है। भगवान ब्रह्मा इस लोक के उच्च स्तर पर कमल के फूल पर विराजमान रहते हैं। भगवान ब्रह्मा का लोक होने के कारण इस लोक का नाम ब्रह्मलोक पड़ा। यह लोक तपे हुए सोने के समान तेज सुनहले प्रकाश से चमकता रहता है। इस लोक के ऊपरी भाग में भगवान ब्रह्मा,

सरस्वती और गायत्री आदि देवियों का स्थान है। इसके निचले स्तर पर गंधर्व, किन्नर आदि अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। यह स्तर गंधर्वो व किन्नरों का है। इस लोक के मध्य स्तर पर बहुत विचित्र जगह है। इस स्थान पर सुगंधित और आनंदित कर देने वाली वायु सदैव बहती रहती है। यह दिव्य वायु अत्यन्त सुगंधित होती है। यह वायु सुगंधित और आनंदित अवश्य है, मगर योगी यहाँ पर समाधि नहीं लगा सकता है, इसका कारण यही वायु है। योगी यहाँ इस वायु का आनन्द अवश्य ले सकता है। अगर ज्यादा आनन्द के चक्कर में पड़ा तो योगी के योगबल पर फर्क पड़ता है। इसलिए योगी यहाँ ठहरता नहीं है। इस जगह से निचले भाग पर योगी समाधि लगा सकते हैं। मगर ज्ञान के द्वारा मालूम हुआ इस स्थान पर कभी-कभी गंधर्वो का आलाप सुनाई पड़ने लगता है। इसलिए योगी इस स्थान पर समाधि कम लगाते हैं, तपलोक में समाधि लगाने आ जाते हैं। ब्रह्मलोक में सुख महसूस होता है। योगी को सुख नहीं चाहिए।

हमने यहाँ पर जिन-जिन लोकों का वर्णन किया, वह अपने अनुभव के आधार पर किया है। हो सकता है किसी अन्य साधक को अन्य प्रकार के अनुभव हुए हों। हमने लोकों में योग से सम्बंधित ही जानकारी हासिल की है। अन्य जानकारियाँ छोड़ दी। कुछ लोकों की बहुत ज्यादा जानकारी है, मगर ज्यादा लिखना उचित नहीं समझा। ऊपर के लोकों में विभिन्न स्तर हैं, ये स्तर घनत्व के आधार पर हैं।

चौदह लोक कहे गए हैं, उनका थोड़ा-थोड़ा वर्णन मैंने किया। ये लोक पृथ्वी लोक के सिवा सूक्ष्म लोक हैं। इन चौदह लोकों से ऊपर तीन और लोक हैं। इनकी गणना लोकों में नहीं की गयी है। ब्रह्मलोक तक जितने लोक हैं, इन लोकों में रहने वाली सभी जीवात्माओं का कभी न कभी जन्म लेना निश्चित है। ये चौदह लोक अपरा-प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। अपरा-प्रकृति में स्थित जीवात्माओं को भूलोक पर कभी न कभी जन्म अवश्य ग्रहण करना होता है। इससे ऊपर के लोकों में स्थित (परा-कृति में) जीवात्माओं को जन्म ग्रहण करने के लिए भूलोक पर नहीं आना पड़ता है। ऐसी जीवात्माएँ तत्त्वज्ञान से युक्त होती हैं। ब्रह्मलोक से ऊपर क्षीर सागर है। क्षीर सागर में भगवान नारायण वास करते हैं। भगवान नारायण शेषनाग के शरीर की बनी शैय्या पर योगमुद्रा में महालक्ष्मी जी के साथ विराजमान रहते हैं। भगवान नारायण पालनकर्त्ता हैं। ये ईश्वर हैं। इनका लोक भी नित्य है। कभी भी प्रलय का प्रभाव इस लोक पर नहीं आता है। क्षीर सागर में हल्के नीले रंग का चमकदार प्रकाश विद्यमान रहता है। क्षीर सागर की संरचना महाकारण तत्त्व से है। इसलिए क्षीर सागर महाकारण जगत में आता है। महाकारण का रंग हल्का नीला चमकीला

होता है। इस लोक में नारायण भक्त तथा विष्णु भक्त भी रहते हैं। वैकुण्ठ भी इसी लोक को कहते हैं। भगवान नारायण के पार्षद भी इनकी तरह चार भुजाओं वाले होते हैं। भक्ति के बल पर अथवा योग के बल पर जो जीवात्माएँ इस लोक को प्राप्त करती हैं, फिर अनंत समय तक यहाँ रहती हैं, इनका जन्म नहीं होता है। यहाँ पर रहने वाली जीवात्माओं को एक प्रकार का मोक्ष सा ही है।

क्षीर सागर से ऊपर का लोक शिवलोक है। यह लोक भी महाकारण तत्त्वों से बना है। यह लोक महाकारण जगत में आता है। यहाँ पर भगवान परमशिव सदा समाधि में लीन रहते हैं, इनके पास आदिशक्ति भी विराजमान रहती हैं। भगवान शिव के पार्षद भगवान शिव के समान रूप वाले होते हैं। शिव लोक में अत्यन्त उच्चकोटि के योगियों का स्थान है। ये योगी ज्यादातर आदिकाल के हैं। ऐसे योगियों की समाधि बहुत ही लम्बी अवधि की होती है। ऐसे योगी शीघ्र दिव्य दृष्टि से भी दिखाई नहीं पड़ते हैं। ऐसे योगी अपने शरीर का घनत्व इतना कम कर लेते हैं कि ऐसा लगता है कि ये योगी ब्रह्म में लीन हो चुके हैं। मगर इनका अस्तित्व रहता है, इसलिए ब्रह्म में लीन नहीं हुए होते हैं। साफ जाहिर है, ऐसे अत्यन्त उच्चकोटि के योगी जब इच्छा करते हैं, तब दूसरों को दिखाई पड़ते हैं। इसी विषय पर भगवान पतंजलि और वैद्यों के गुरु धनवन्तरि से बात की थी, तथा साधनाकाल में इसी प्रकार के दर्शन हमें सप्तऋषियों के हुए थे। साधना काल में जब मैं शिवलोक महाकारण शरीर से पहुँचा, पहले शिवलोक में थोड़ा सा घूमा, फिर ब्रह्म से कुछ माँगा, ब्रह्म ने आकाशवाणी द्वारा हमारी माँग का जवाब दिया। यह अनुभव आप हमारे अनुभवों में पढ़ सकते हैं। यहाँ पर भी नीले रंग का प्रकाश रहता है। यह स्थान हमें वृत्तियों के द्वारा योगनिद्रा में दिखाई दिया।

भगवान परमशिव से ग्यारह रुद्र प्रकट हुए थे, जिन्हें शंकर भी कहते हैं। यह भी भगवान परमशिव के समान हैं तथा संहार का कार्य करते हैं। रुद्रों की उत्पति भगवान परमशिव के तीसरे नेत्र से होती है। रुद्रों में ग्यारहवें रुद्र सबसे अधिक शक्तिशाली कहे गये हैं। ग्यारहवें रुद्र का नाम कालाग्नि है। साधना काल में हमारा ज्यादा सम्पर्क इन्ही ग्यारहवें रुद्र भगवान कालाग्नि से रहा है। शिवलोक में वही योगी रह सकता है जिसके चित्त में किसी प्रकार के कर्माशय शेष नहीं हैं। चित्त में शुद्ध सात्विक अहंकार ही रह गया है, तमोगुणी अहंकार लेशमात्र भी नहीं है।

शिवलोक से ऊपर का लोक गोलोक है। यही लोक सबसे ऊपर है, इससे ऊपर कोई लोक नहीं हैं। इस लोक में भगवान श्रीकृष्ण और आदिशक्ति स्वरूपा राधा जी रहती हैं। भगवान श्रीकृष्ण के सखा भी रहते हैं जिन्हें गोप कहा जाता है। आदिशक्ति स्वरूपा राधा जी के साथ उनकी सखियाँ भी रहती हैं जिन्हें गोपी कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण जी व राधाजी कम उम्र के रूप में रहते हैं। गोलोक के विषय में ज्यादा नहीं लिख सकता हूँ, क्योंकि मैं साधना काल में और लेख लिखते समय तक कभी भी योग के माध्यम से गोलोक नहीं गया हूँ। साधना काल में हमें एक अनुभव हुआ था, यह अनुभव गोलोक का था। उस समय मैंने भगवान श्रीकृष्ण व राधाजी के एक साथ दर्शन किये थे। मगर दर्शन करते समय भगवान श्रीकृष्ण जी व राधा जी के तेज के कारण हमारी दिव्य दृष्टि चकाचौंध हो रही थी। बड़ी मुश्किल से उनके दर्शन हुए। दर्शन बिल्कुल नजदीक से किये। उन दोनों ने आशीर्वाद भी दिया था, मगर गोलोक घूमने का अवसर नहीं मिला था।

सन् 1996 के शुरुआत में हमारा सम्बन्ध भगवान श्रीकृष्ण व राधाजी से हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण ने हमें एक वरदान भी दिया था। वह वरदान मृत्यु के बाद सदैव के लिए कार्य करेगा। साधकों, हमारी भी कभी कोई इच्छा नहीं हुई, गोलोक देखने की। यदि मैं चाहूँ तो ज्ञान के द्वारा गोलोक देख सकता हूँ। मगर अब मैं तृप्त हूँ, गोलोक भी महाकारण तत्त्व से बना है। गोलोक का प्रकाश नीले चमकीले रंग का है। क्षीर सागर, शिवलोक व गोलोक नित्यलोक हैं, इन पर प्रकृति के नियम लागू नहीं होते हैं।

मैंने अभी जो लोकों के विषय में लिखा है इसका मतलब यह नहीं है कि भक्त सिर्फ महर्लोक और जनलोक में ही रहेगा, अपनी योग्यतानुसार किसी भी लोक में रह सकता है। मगर ऐसे भक्त मात्र कुछ हैं जो तपलोक में रहते हैं, वे कलियुग के नहीं हैं। इसी प्रकार मैं एक ऐसे साधक को जानता हूँ जिसकी कुण्डलिनी नाभि तक उठी थी, मगर वह जनवरी 1996 के आसपास पितर लोक में थे। जब मैंने उनसे पूछा– "दादा जी, आपकी कुण्डलिनी नाभि तक उठी है। इस समय आप पितर लोक में क्यों हैं, आपको ऊपर के लोक में होना चाहिए।" वे बोले– "आनन्द कुमार, मेरी कुण्डलिनी अंतिम समय में उठी थी, इसलिए हमारे पास योगबल कोई खास नहीं है। काफी दिन भुवर्लोक में रहने के बाद अब पितर लोक में आया हूँ।" साधकों, भक्त या साधक अपनी योग्यतानुसार किसी भी लोक में रह सकता है, मगर जिस तरह का मैंने वर्णन किया ज्यादातर वैसा ही होता है। यहाँ पर लोकों का वर्णन योग से संबन्धित किया है। किसी

भी लोक का पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। क्योंकि सूक्ष्म लोक अत्यन्त विस्तार में होता है, इसलिए कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है।

योगबल

मनुष्य जब योग के नियमों का पालन करता है, ध्यान के माध्यम से बहिर्मुखी इन्द्रियों को अंतर्मुखी करता है और सत्य व अहिंसा का पालन करता है, तब उसके अंदर सूक्ष्म रूप से एक विशेष प्रकार की शक्ति बढ़ती है। जैसे-जैसे मनुष्य अपने आंतरिक मल को साफ करता है, अविद्या के प्रभाव को कमज़ोर करता है, वैसे-वैसे शक्ति की बढ़ोत्तरी धीरे-धीरे होती रहती है। जब मनुष्य समाधि लगाने लगता है, तब उसकी शक्ति में बढ़ोत्तरी ज्यादा होती है। इस शक्ति को हम योगबल कहते हैं क्योंकि यह शक्ति योग के माध्यम से प्रकट होती है। समाधि लगाने पर शरीर में शुद्धता बढ़ती है तथा इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होती हैं। समाधि लगाने से धीरे-धीरे वह आत्मा के नजदीक पहुँचने लगता है क्योंकि वह अविद्या के कारण स्थूल जगत को अपना समझकर आत्मा से दूर होता गिया। मनुष्य यदि सिर्फ सत्य और अहिंसा का पालन करे तो भी उसके अंदर मानसिक शक्ति की इतनी बढ़ोत्तरी हो जाएगी कि वह दूसरे मनुष्य को अपनी बातों से प्रभावित कर सकता है। दूसरे मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार चला भी सकता है। मानसिक शक्ति बढ़ जाने पर मनुष्य निडर हो जाता है। वह किसी प्रकार का भय अथवा दबाव महसूस नहीं करता है।

योग के माध्यम से प्राप्त की गयी शक्ति को योगबल कहते हैं। साधक ने जितना अधिक योग किया होगा, उतना ही अधिक उसका योगबल होगा। वैसे साधक का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार होता है, लेकिन शांत स्वाभाव वाला साधक योगबल पर ध्यान नहीं देता। मगर साधक को योगबल की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि साधक को जीवन में योगबल की बहुत जरूरत पड़ती है। साधक अपने योगबल से ढेर सारे कार्य कर सकता है। उसका योगबल सिर्फ कार्य करने के लिए नहीं बल्कि मृत्यु के बाद भी योगबल कार्य करता है। साधक के लिए योगबल ठीक वैसा है, जैसे किसी आदमी के लिए उसकी शारीरिक शक्ति है। स्वस्थ आदमी के लिए जरूरी है उसके अंदर शारीरिक शक्ति हो। इसी प्रकार साधक के लिए जरूरी है कि उसके पास ज्यादा योगबल हो।

साधक के लिए जरूरी है कि ज्यादा योगबल के लिए ज्यादा से ज्यादा समाधि लगाए, स्थूल तथा सूक्ष्मरूप से संयमित रहे, मौनव्रत का पालन करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, सात्विक भोजन करे, प्राणायाम अधिक से अधिक करे, सत्य का पालन करे, जितना हो सके एकांत का पालन करे और मन में सदैव अपने इष्ट को स्मरण करता रहे। इन सब नियमों का पालन करने से योगबल में बढ़ोत्तरी होती है। योगी जब

शक्तिपात करता है तो उसका योगबल उसके शक्तिपात के अनुसार ही क्षीण होता है। अच्छा यही है कि बहुत जरूरत पड़ने पर ही आध्यात्मिक कार्य के लिए शक्तिपात किया जाए। योगबल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। इस योगबल को सम्भाल कर रखना चाहिए क्योंकि मृत्यु के बाद साधक जिस लोक में रहेगा, वहाँ पर योगबल कार्य करेगा। यदि साधक का योगबल अधिक होगा, तो वह उस लोक में ज्यादा दिन रुक सकेगा। अधिक योगबल होने पर साधक के तमोगुणी संस्कार कमजोर पड़ने लगते हैं क्योंकि अधिक योगबल होने का अर्थ है, सत्त्वगुण की अधिकता होना। तथा अधिक योगबल के प्रभाव से समाधि भी अधिक समय तक लगाने का अभ्यास हो जाएगा।

जिस साधक के पिछले जन्म में योगबल अधिक रहा होगा, वर्तमान में जब वह योग करेगा, तो उसे शीघ्र ही सफलता मिलनी शुरू हो जाएगी। ऐसा योगी अपने पिछले जन्मों के प्रभाव से वर्तमान जन्म में सफलता पाता है क्योंकि पिछले जन्मों के संस्कार के प्रभाव से साधना की शुरुआत करते ही साधक तेजस्वी रूप में उभरेगा। उसके लक्षण उच्चकोटि के योगी की तरह दिखाई पड़ने लगते हैं। ऐसे साधकों की कुण्डलिनी जाग्रत होने पर शुरू से ही तेजस्वी दिखाई देने लगती है।

जिस साधक की कुण्डलिनी तेजस्वी होती है, भविष्य में उसका योगबल भी अधिक मात्रा में होता है। तेजस्वी कुण्डलिनी वाले साधक थोड़ा सा योग करने पर अन्य की अपेक्षा ज्यादा योगबल प्राप्त कर लेते हैं। मध्यम और शांत स्वभाव वाली कुण्डलिनी के साधक, तेजस्वी कुण्डलिनी वाले साधकों की अपेक्षा योगबल कम प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए उग्र स्वभाव की कुण्डलिनी वाले साधक भविष्य में शक्तिशाली योगी बन सकते हैं क्योंकि योगबल शीघ्रता से ज्यादा मात्रा में प्राप्त होता है।

जिन साधकों के पास योगबल अधिक मात्रा में होता है, वह गुरु पद पर बैठने के लिए सर्वथा योग्य हैं क्योंकि शिष्यों पर शक्तिपात करना पड़ता है जिससे साधक का योगबल क्षीण होता है। जिन साधकों के पास योगबल कम मात्रा में है, उन्हें गुरु पद पर प्रतिष्ठित नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसे गुरु शिष्यों के (आध्यात्मिक) अवरोध पूरी तरह ठीक नहीं कर पाते। आध्यात्मिक अवरोध सिर्फ योगबल से ही ठीक किये जा सकते हैं। मगर आजकल हमने देखा है, स्वयं तो साधक नहीं होते, सिर्फ दिखावे में साधक होते हैं और गुरुपद पर बैठ जाते हैं। अथवा गुरु में इतना योगबल नहीं होता कि शिष्य के अवरोध दूर कर सके। ऐसे गुरु शिष्यों को धोखा देते हैं।

मैं अपने अनुभवों के आधार पर लिख रहा हूँ। जिस साधक के पास योगबल का अपार भंडार होता है, वह साधक आजकल भी किसी को श्राप व वरदान दे सकता है। यदि यह श्राप या वरदान वर्तमान जन्म के लिए दिया गया है तो तुरंत प्रभावी नहीं होगा। कुछ समय बाद प्रभावी होगा क्योंकि उस मनुष्य के प्रारब्ध कर्म पहले से ऊपरी सतह पर (चित्त के) रहते हैं। फिर श्राप अथवा वरदान प्रारब्ध कर्मों में मिल जाएगा। जब श्राप या वरदान का समय आयेगा, तब इसे भोगना होगा। साधक को ऐसे कार्यों में योगबल बहुत ज्यादा लगाना होता है, तभी आपका श्राप या वरदान कार्य कर पायेगा। श्राप या वरदान देते समय साधक को देखना चाहिए कि जो दिया जा रहा है क्या वह उचित है। फिर वह अपने आपको देखे कि क्या उसके पास इतनी सामर्थ्य है कि उस मनुष्य के कर्माशयों में उसका श्राप अथवा वरदान प्रवेश कर जाए और उसके शब्दों के अनुसार मनुष्य को भोगने पर विवश कर दे। यदि आप शक्तिशाली हैं तो ठीक है, वरना आपका योगबल बेकार चला जाएगा, कुछ नहीं होगा। यह ध्यान रहे श्राप देने का कुछ न कुछ कर्म अवश्य बन जाएगा। अगले जन्म के लिए दिए गए श्राप या वरदान के लिए योगबल ज्यादा नहीं लगता। आपका श्राप या वरदान संचित कर्मों में मिल जाएगा और फिर चित्त के निचली भूमि में चला जाता है।

अगर आपको महान योगी बनना है तो आप योगबल का अपार भंडार एकत्र कीजिए, तभी आपसे कुछ हो सकेगा, वरना आप शांत होकर रहें और अपने योग मार्ग में लगे रहें। किसी से ज्यादा मतलब न रखें, तभी ठीक है। जब तक साधक का ब्रह्मरंध्र न खुले, तब तक उसे अपने योगबल को किसी भी हालत में क्षीण नहीं करना चाहिए, नहीं तो उसके योग मार्ग में अवरोध आ जाएगा। साधक को पहले समाधि का अभ्यास बढ़ाते हुए, कुण्डलिनी को पूर्णयात्रा करा लेनी चाहिए। फिर जब तक कुण्डलिनी स्थिर न हो जाए, तब तक शक्तिपात नहीं करना चाहिए। इसके बाद फिर अगर उसकी इच्छा हो तो आध्यात्मिक मार्ग में अपनी शक्ति लगाये। साधक जितनी शक्ति आध्यात्मिक मार्ग में लगाए, उससे ज्यादा शक्ति योग के अभ्यास द्वारा अर्जित कर लेनी चाहिए, वरना एक दिन ऐसा आएगा कि उसके पास योगबल की कमी पड़ने लगेगी।

बहुत से साधकों को देखा है कि कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद योग करना ही बन्द कर देते हैं; वे समझते हैं कि मैं पूर्ण हो गया हूँ, परन्तु यह क्यों नहीं देखते कि चित्त में अभी भी संस्कार शेष हैं। वास्तव में योगबल बढ़ाने का असली समय अब आया है। कुण्डलिनी स्थिर होने के पश्चात साधक को अपनी

समाधि के अभ्यास का समय बढ़ा देना चाहिए। इस अवस्था में योगबल अधिक मात्रा में बढ़ता है, इसलिये इस अवस्था में कुम्भक प्राणायाम की अवधि बढ़ा देनी चाहिए। भोजन थोड़ा करें, पर स्थूल शरीर की शक्ति में कमी न आने दें। यदि आप दूध-दही और फल का प्रयोग करें तो और भी अच्छा है। यदि आप सब्जियों पर निर्भर रह सकें तो सब्जी को काटकर पानी में उबाल लें, उसमें किसी प्रकार का मसाला न डालें। यदि बिना नमक के खा सकें तो और भी अच्छा है। यदि ज्यादा जरुरत समझें तो थोड़ा सा नमक डाल लें। इससे आपका शरीर अत्यन्त शुद्ध हो जाएगा; तमोगुण की मात्रा भी घट जाएगी। हाँ, आपका स्थूल शरीर जरुर दुबला-पतला हो जाएगा, मगर साथ में आपका योगबल अधिक बढ़ने लगेगा, आपका चेहरा तेजस्वी होने लगेगा। फिर लग जाइये आप योगबल बढ़ाने में। ऐसा आप करके देखिये– आपके अन्दर कितनी तेजी से शक्ति बढ़ती है; निश्चय ही आप शक्तिशाली होंगे।

हमने देखा है कि आजकल बहुत से मनुष्य अपने पूर्वजों की मृतात्माओं के लिए श्राद्ध कर्म करते हैं। अपने पूर्वजों की भूख व प्यास की तृप्ति के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं ताकि भोजन व पानी का सूक्ष्म भाग उनके पूर्वजों को मिल जाए। मगर सत्य तो यह है कि उन्हें भोजन का सूक्ष्म भाग (प्राय:) नहीं मिलता है क्योंकि उन ब्राह्मणों में योगबल नहीं होता। आजकल अधिकतर ब्राह्मण सिर्फ जाति से होते हैं, कर्म से नहीं। इसलिए उन ब्राह्मणों में आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती है। यदि वे कर्म से ब्राह्मण है तो मृतात्माओं को भोजन अवश्य मिलेगा। मुश्किल तो इस बात की है कि जो कर्म से ब्राह्मण है उसे आप कहाँ ढूँढेंगे; और जो सिर्फ नाम का ब्राह्मण है वह तो एक साधारण सा मनुष्य है– उसमें इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं होता है। हम सब ऐसा सिर्फ सोच लेते हैं कि श्राद्ध कर्म कर लेने से उनके पूर्वजों को भूख व प्यास से तृप्ति मिल गयी होगी। यह केवल एक सामाजिक रीति है कि शव का दाह संस्कार करने के बाद स्नान करके मृतात्मा को जल देते हैं; मगर इससे मृतात्माओं को जल का सूक्ष्म भाग नहीं मिलता है। क्योंकि साधारण लोगों में इतनी शक्ति नहीं होती है कि स्थूल जल से उसका सूक्ष्म तत्त्व निकाल कर मृतात्मा को दे दें। मृतात्मा सूक्ष्म तत्त्व स्वयं तो नहीं ले सकती है, सिर्फ दी हुई वस्तु ही ग्रहण कर सकती है।

जिन मनुष्यों के पास आध्यात्मिक शक्ति होती है, ऐसे मनुष्य ही किसी भी मृतात्मा को भोजन व पानी का सूक्ष्म तत्त्व दे सकने में समर्थ होते हैं। वे आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से स्थूल पदार्थ का सूक्ष्म तत्त्व निकालकर संकल्प के अनुसार मृतात्मा तक पहुँचा देते हैं, जिसे मृतात्मा ग्रहण कर लेती है। यह कार्य

एक साधक के लिए तो साधारण सी बात है। साधक की इच्छा मात्र से ही मृतात्मा भोजन का सूक्ष्म तत्त्व ग्रहण कर लेने में समर्थ होती है। साधक अगर चाहे, तो बिना भोजन दिये भी अपने संकल्प मात्र से किसी भी मृतात्मा को तृप्त कर सकता है। साधक के योगबल के प्रभाव से, भोजन सूक्ष्म रूप से प्रकट हो जाएगा। योगबल ही भोजन के रूप में प्रकट होकर मृतात्मा के पास पहुँच जाएगा। योगी द्वारा इस प्रकार कराया गया भोजन मृतात्मा को अत्यन्त लाभकारी होगा क्योंकि मृतात्मा को भोजन के रूप में योगबल मिल जाता है, इससे वह मृतात्मा बहुत समय तक तृप्त रहेगी।

साधक अपने योगबल से सूक्ष्म वस्तुएँ प्रकट करने में समर्थ होता है। आदिकाल में तो योगी स्थूल वस्तुएँ भी प्रकट करने में समर्थ होते थे, मगर आजकल यह कार्य नहीं हो सकता क्योंकि कलियुग का समय चल रहा है; तमोगुण व अशुद्धता का ही व्यापार इस युग में चल रहा है, और तमोगुण का कार्य है अवरोध डालना। अन्य तीनों युगों में तमोगुण का प्रभाव इतना ज्यादा नहीं होता। फिर भी, यदि साधक सिद्धियों से युक्त है, तो आजकल भी वह स्थूल वस्तुएँ प्रकट कर सकता है; मगर ऐसा कार्य योगी के आध्यात्मिक मार्ग में अवरोध का कार्य करता है।

यहाँ एक और बात– यदि साधक अत्यन्त शक्तिशाली है, तो वर्तमान युग (कलियुग) में भी अपनी प्रिय जीवात्माओं की सहायता कर सकता है। यदि पितृलोक की जीवात्मा महर्लोक जाना चाहे तो साधक सहायता कर सकता है। साधक अपने संकल्पानुसार अपना योगबल उस जीवात्मा को दे देगा; जैसे ही जीवात्मा को साधक का योगबल प्राप्त होगा, जीवात्मा स्वयं ही ऊर्ध्व हो जाएगी। यदि किसी जीवात्मा ने स्थूल जीवन में नाम-जप आदि न किया हो और पितर लोक में हो, तो शक्तिशाली साधक अपने योगबल पर उस जीवात्मा को भक्त बना सकता है; वह वहीं आँख बन्द करके नाम जाप करने लगेगी। वैसे पितर लोक का स्वभाव है कि वहाँ पर जीवात्मा सुख भोगे; मगर योगबल के प्रभाव से वह ईश्वर का नाम जपना शुरू कर देगी। अथवा साधक अपने योगबल के प्रभाव से महर्लोक भेज सकता है, और वहाँ महर्लोक के स्वभाव के अनुसार जीवात्मा स्वयं ईश्वर का स्मरण करने लगेगी। इसी प्रकार, महर्लोक की जीवात्मा को जनलोक पहुँचाया जा सकता है। जब तक साधक का योगबल जीवात्मा के पास रहेगा, साधक के संकल्पानुसार जीवात्मा उस लोक में रहेगी; फिर, वहाँ कर्म के अनुसार ही जीवात्मा की स्थिति होगी। मगर, जीवात्मा तब तक कुछ न कुछ योगबल उस लोक में भी प्राप्त कर लेगी। यह सब मैंने अनुभवों के

आधार पर लिखा है– इस प्रकार के कार्य मैंने स्वयं किये हैं। मैं अपनी जिन्दगी में सदैव विभिन्न प्रकार के प्रयोग करता रहता हूँ– हालाँकि कभी-कभी सूक्ष्म शक्तियों से डाँट भी खानी पड़ी है। साधक कैसे अपने योगबल के प्रभाव से सूक्ष्म लोकों को पृथ्वी से ही प्रभावित कर सकता है, इस बारे में मैं एक दिलचस्प घटना लिखता हूँ।

यह प्रयोग मैंने और त्रिकाल ने मिलकर किया था। त्रिकाल सिर्फ (दिव्य दृष्टि से) देखने का कार्य करता था, शेष कार्य मैं करता था। यह बात जनवरी 1996 की है। पृथ्वी की एक सूक्ष्म शरीरधारी जीवात्मा ने हमारे कई कार्य किये थे जिनका उल्लेख मैं यहाँ पर नहीं कर रहा हूँ। इस जीवात्मा से हमारा प्रेम हो गया था। वैसे पूर्वकाल में इस जीवात्मा ने दुष्टता के भी कुछ कार्य किये थे, इसलिए अब इसे घोर कष्ट था। मगर हमारे साथ इस जीवात्मा की बहुत अच्छी दोस्ती थी। एक दिन इस जीवात्मा ने इच्छा जाहिर की। हमसे पूछा– "योगी मित्र! क्या मैं अगले जन्म में योगी बन सकता हूँ?" मैंने उसके कर्मों के आधार पर बताया– "कर्मानुसार तुम कई जन्मों तक योगी नहीं बन सकते।" वह हताश हो गया। मुझे भी दुःख हुआ। फिर वह बोला– "योगी! हमें कोई ऐसा मार्ग बताओ जिससे मैं भी योगी बन सकूँ।" मैं बोला– "इसका कुछ उपाय सोचता हूँ।" फिर, पहले मैंने प्रकृति देवी से कहा– "माता! आप हमारे मित्र पर कृपा कीजिये।" माता प्रकृति बोलीं– "योगी पुत्र! तुम ज्ञानी हो, और ऐसी बातें करते हो!" मैं बोला– "माता! आप सत्य कहती हैं, मगर फिर भी, वह मेरा मित्र है।" उसी समय प्रकृति देवी बिना कुछ उत्तर दिये ही अदृश्य हो गयीं।

मैं अपने मित्र से बोला– "मित्र! तुम तैयार हो जाओ, मैं तुम्हें अपने योगबल द्वारा तपलोक भेज दूँगा, और तब तक नीचे नहीं आने दूँगा, जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ।" मित्र तो पहले से ही तैयार था। मैंने त्रिकाल से कहा– "तुम अपनी दिव्य दृष्टि से देखो और मैं योगबल का प्रयोग करता हूँ।" मैंने अपनी आँख बन्द की, और जैसे ही मैं सिद्ध मन्त्रों का प्रयोग करने को तैयार हुआ, हमें आवाज़ सुनाई पड़ी– "ठहरो योगी!" मैंने देखा कि स्वयं यमराज जी की यह आवाज़ थी। यमराज जी पुनः बोले– "योगी! यह कार्य प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है।" मैं बोला– "प्रभु! आप सत्य कहते हैं; मगर, हमारे मित्र ने हमसे सहायता माँगी है, इसलिए मैं सहायता जरुर करूँगा।" यमराज जी बोले– "योगी! तुम एक कर्म-योगी हो, कर्म पर विश्वास रखते हो, इसलिए इस जीवात्मा को हमारे पास भेज दो। मैं दण्ड देकर कर्म कम कर दूँगा।" इस

बात पर हमारा मित्र भी तैयार हो गया। मगर मैंने उसे भुवर्लोक नहीं भेजा, बल्कि उसी समय मैंने दीर्घ ओंकार का उच्चारण किया; और फिर ओंकार द्वारा निकली शक्ति से कहा– "इस जीवात्मा के कर्म जलाने शुरू कर दो।" फिर क्या था, जीवात्मा से काले रंग के छोटे–छोटे कण निकलकर अन्तरिक्ष में फैलने लगे। यह क्रिया ऊपर की कुछ शक्तियाँ व तपलोक के कुछ योगी देख रहे थे। उसी समय हमारे 'ज्ञान' ने हमें रोक दिया– "बन्द करो यह क्रिया! इसे यमराज के पास जाने दो।" हमारा मित्र कष्ट भोगने को तो पहले से ही तैयार था; मित्र को उसी समय भुवर्लोक भेज दिया। वहाँ पर उसे यमदूतों के द्वारा घोर कष्ट दिया गया। कुछ दिनों बाद, मैंने अपने योगबल द्वारा मित्र को तपलोक पहुँचा दिया। मित्र हमारा तपलोक के बिल्कुल निचले स्तर पर बैठ गया, मगर योगबल नहीं होने के कारण उस लोक में रुक नहीं सकता था। इस बात को मैं समझ गया; फिर मैंने संकल्प करके उसे ढेर सारा योगबल दे दिया। उसी समय माता कुण्डलिनी प्रकट हो गयीं। मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे थोड़े क्रोध-भाव से बोलीं– "पुत्र! एक तो तुम गलत कार्य करते हो और ऊपर से इतना योगबल भी दे दिया!" मैंने माता कुण्डलिनी से क्षमा माँगी। फिर, मैंने मित्र को दो अंक की शक्ति देकर, जितनी तपलोक में रहने के लिए न्यूनतम रुप से आवश्यक होती है, उसे वहाँ समाधिस्थ कर दिया।

जिस गुरु के पास योगबल बहुत होगा, वह अपने शिष्यों पर शक्तिपात कर उन्हें ध्यान की गहराई में शीघ्र पहुँचा सकता है। किसी भी साधक पर अगर कई बार शक्तिपात किया जाए, तो उसके साधना की गति तीव्र बनी रहेगी। मगर इस काम के लिए योग्य साधक होना चाहिए। हमने यह भी देखा है कि कुछ साधकों की गति तो तीव्र होती है, मगर योग में उचित मार्गदर्शन न मिल पाने के कारण कुछ समय बाद वे ठहर से जाते हैं। किसी भी गुरु को उतने ही शिष्य बनाने चाहिए जितनों का वह सही मार्गदर्शन कर सके। अपनी क्षमता से अधिक शिष्य बनाने पर शिष्यों को उचित मार्गदर्शन नहीं मिल पाता है।

मैं यहाँ पर उदाहरण के तौर पर एक घटना का संक्षेप में उल्लेख करना चाहता हूँ। यह सभी जानते है कि साधक का कण्ठ चक्र कई वर्षों की कठोर साधना के बाद खुलता है। कभी-कभी तो साधक सारा जीवन कण्ठ चक्र खोलने के प्रयास में ध्यान करता रहता है, मगर यह चक्र खुलता नहीं है। ऐसा इसलिए कि कण्ठ चक्र की संरचना ही कुछ ऐसी है– यहाँ पर एक ग्रन्थि है जो ऊपर के मार्ग को अवरोधित किये रहती है। फरवरी 1996 की बात है, मैं पूना गया था; पूना में एक गुरु-बहन के पास ठहरा था। गुरु-बहन ने

हमसे योग से सम्बन्धित सहायता माँगी ताकि उसकी भी योग में उन्नति हो जाए। मैंने देखा कि उस साधिका की कुण्डलिनी मूलाधार में सोई हुई थी। यह भी मालूम हुआ कि कुण्डलिनी तो पहले जाग्रत होकर थोड़ी ऊर्ध्व हुई थी, मगर साधना के अभाव में कुण्डलिनी पुनः शान्त भी हो गयी। मैंने साधिका को अपने सामने ध्यान पर बिठाया, फिर उसकी कुण्डलिनी जाग्रत करके ऊर्ध्व कर दी; पहली बार में कुण्डलिनी को नाभि तक उठा दी। फिर दूसरी बार, सायंकाल को ध्यान पर बैठा; इस बार कुण्डलिनी को कण्ठ चक्र तक पहुँचा दिया। दूसरे दिन शिवरात्रि थी, इसलिए ज्ञानेश्वर जी की समाधि (जो कि आलिन्दी में है) के दर्शन हेतु चला गया। दोपहर को पुनः वापस आ गया। उसी समय हमें माता कुण्डलिनी का आदेश मिला– "इस साधिका का कण्ठ चक्र खोल दो।" मैं बोला– "माता! मैं कण्ठ चक्र कैसे खोल सकता हूँ; फिर, यह तो एक नई साधिका है।" माता कुण्डलिनी ने कहा– "तुम हमारे वरदान का प्रयोग करो, कण्ठ चक्र खुल जाएगा।" मैंने साधिका को बुलाया और कहा– "आप हमारे सामने ध्यान पर बैठ जाइए , हमें ऊपर से आज्ञा मिली है कि मैं आपका कण्ठ चक्र खोल दूँ।" फिर क्या था, साधिका प्रसन्न ही प्रसन्न थी क्योंकि उसका कण्ठ चक्र जो खुलने वाला था; वह जानती थी कि कण्ठ चक्र खुलना कोई साधारण बात नहीं है। साधिका हमारे सामने ध्यान पर बैठ गयी। मैंने माता कुण्डलिनी के वरदान का प्रयोग किया। पहले कण्ठ में स्थित ग्रन्थि खोली, फिर कण्ठ चक्र खोल दिया; कुण्डलिनी कण्ठ चक्र से ऊपर चली गयी। दूसरे दिन, लघु मस्तिष्क भी खोल दिया; फिर कुण्डलिनी को आज्ञा चक्र पर पहुँचा दिया। दूसरे दिन मैं मिरज चला गया।

मैं आपको यह बता दूँ कि मेरे और श्रीमाता जी के विचार मेंल नहीं करते थे। इसलिए दूरी काफी बढ़ गयी थी। जब मैं मिरज आश्रम में पहुँचा तो वहाँ हमें जलगाँव की एक साधिका मिली। हमारी और इस साधिका की बहुत बनती थी। यहाँ भी मैंने अपनी शक्ति (माता कुण्डलिनी के वरदान) का प्रयोग किया। मैंने जलगाँव की साधिका का कण्ठ चक्र सिर्फ दो मिनट में खोल दिया। दो-तीन दिन मिरज आश्रम में रहने के बाद, मैं इस साधिका के साथ, महाराष्ट्र एक्सप्रेस द्वारा, मिरज से जलगाँव आ गया। यहाँ पर हमें एक और साधिका ने बुलाया था। इस साधिका से भी मेरी बहुत बनती थी। मैं जब कभी जलगाँव आता तो इसी साधिका के घर रुकता था। यहाँ मैं एक माह तक रुका। इस साधिका की कुण्डलिनी उठायी, फिर कण्ठ चक्र खोलकर कुण्डलिनी को आज्ञा चक्र में पहुँचा दिया। मात्र कुछ दिनों में ही इतनी साधना हो गयी थी कि अगर यह सारी जिन्दगी भी लगी रहती, फिर भी इस अवस्था (कण्ठ चक्र का खुलना, आदि)

तक न पहुँच पाती। इस प्रकार जलगाँव की दो और साधिकाओं का कण्ठ चक्र खोलते समय भी मैंने माता कुण्डलिनी के वरदान का प्रयोग किया। मैं यहाँ कहना चाहूँगा कि मैंने माता कुण्डलिनी का वरदान प्रयोग किया था, तभी तीनों साधिकाओं का कण्ठ चक्र खोल पाया। बिना ऐसे असाधारण वरदान के किसी योगी के लिये कण्ठ चक्र का खोल देना, वह भी सिर्फ पाँच मिनटों में, एक साधारण बात नहीं हैं। वैसे यह वरदान ऐसे कल्याण कार्यों के लिए ही दिया गया है, मगर शायद अब इसका प्रयोग कभी न करूँ, क्योंकि मैं अपनी भविष्य की जिन्दगी शान्ति से व्यतीत करना चाहता हूँ।

प्रिय साधकों! हमारे पास योगबल की कोई कमी नहीं है, इसलिए हमने योगबल पर ढेरों कार्य किये। जैसा कि हमारा स्वभाव है, मैं अपने योगबल का प्रयोग करके साधकों की कुण्डलिनी तुरन्त उठा देता था, और साथ में, ऐसी अवस्था में साधक की आध्यात्मिक जिम्मेदारियाँ ले लेता था। मैं अनिवार्यतावश ही ऐसा करता था, क्योंकि साधारणतः कुण्डलिनी तभी जाग्रत करनी चाहिए, जब साधक परिपक्व अवस्था में आ जाए। परिपक्वावस्था में थोड़ा सा भी शक्तिपात करने से किसी भी साधक की कुण्डलिनी उठ जाती है; लेकिन यदि साधना की केवल शुरुआत भर हो, तो कुण्डलिनी उठाने के लिए ढेर सारा योगबल लगाना पड़ता है, ऊर्ध्व करते समय लगातार शक्तिपात करते रहना पड़ता है। इससे शक्तिपात करने वाले साधक का ढेर सारा योगबल क्षीण होता है। ऐसी स्थिति में, शक्तिपात करने वाले साधक को काफी जिम्मेवारी व सावधानी से काम करना होता है। सच तो यह है कि योगबल ही सारा मजा है; यदि योगबल खूब है तो आप कुछ भी कर सकते हैं, योग में असफलता कभी नहीं मिलेगी।

योग मार्ग एक कल्याणकारी मार्ग है। इस मार्ग में पहले साधक अपना कल्याण करता है; फिर, योग्यता हासिल कर लेने पर दूसरों का भी कल्याण करता है। मगर, अब मैं ऐसे कार्यों को लिखना चाहूँगा जिससे आपको साबित हो जाएगा कि ऐसे कल्याणकारी मार्ग में भी कुछ दुष्ट किस्म के साधक दुष्टता के कार्य करते हैं। मैंने देखा कि योग में भी साधक एक दूसरे से वैमनस्य रखते हैं। दूसरे का योग मार्ग अपने योगबल से अवरुद्ध कर देते है। जो अधिक शक्तिशाली हैं, वो अपने से कम योगबल वाले साधक की साधना में रुकावट डाल देते हैं, जिससे उस साधक को काफी परेशानी उठानी पड़ती है। जब तक अवरोध दूर नहीं हो जाता है, तब तक उसकी उन्नति रुकी रहती है। ऐसी घटना मैंने स्वयं देखी है। जो साधक ऐसे बुरे कार्य करते हैं, उन्हें कभी न कभी अवश्य इस दुष्कर्म का फल भोगना पड़ता है। योग में किसी के लिये

अवरोध नहीं डालना चाहिए; बल्कि हो सके तो कल्याण कर दो, किसी साधक की सहायता कर दो, लेकिन कभी किसी को अवरोध मत डालो। यहाँ एक प्रश्न उठता है, कि यह अवरोध कैसे डाला जाता है। मैं इसकी विधियों का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ, ताकि इसका गलत प्रयोग न हो सके। मगर, इतना अवश्य लिखूँगा कि यदि किसी साधक पर अवरोध डाला गया हो, तो कैसे हटाया जाए। ऐसे किसी साधक की सहायता करने के लिये यह आवश्यक है, कि पहले यह जानकारी कर ली जाए कि 'अवरोध' में कितनी शक्ति लगाई गयी है। फिर, इससे अधिक मात्रा की शक्ति इस अवरोध को हटाने में लगानी होगी, तभी यह अवरोध हट पाएगा; वरना शक्ति बेकार चली जाएगी।

हाँ, यदि आपको मजबूरीवश किसी ऐसे दुष्ट साधक को आध्यात्मिक दण्ड देना है जो दूसरों के लिये अवरोध डालते हैं, या कोई अन्य अनुचित कार्य करतें हैं, तो पहले आप देखें कि उस साधक के पास कितना योगबल है। आपका योगबल उससे अधिक होना चाहिए, तभी यह कार्य हो पाएगा। आप उस साधक का योगबल समाप्त कर सकते हैं; समाप्त तभी होगा जब उसका योगबल आत्मा अथवा ब्रह्म में लीन कर दें; उसे आप स्वयं न लें, तभी अच्छा है। यदि आपका योगबल उस साधक से कम है, तो आप अपने विरोधी का योगबल समाप्त नहीं कर सकते हैं, बल्कि स्वयं आपका ही योगबल समाप्त हो जाएगा; इसलिए, सतर्कता से कार्य करें। योगबल किस विधि से समाप्त किया जाता है, इसका वर्णन मैं नहीं करूँगा ताकि अकारण कोई इसके अनुचित प्रयोग का शिकार न हो जाए; इसके बारे में आप अपने 'ज्ञान' से ध्यानावास्था में पूछ सकते हैं।

योगबल कैसे बढ़ाया जाए, इस पर थोड़ा सा लिखना चाहूँगा। मैं पहले लिख चुका हूँ कि समाधि की अवस्था में योगबल ज्यादा बढ़ता है। यदि आपको योगबल ही बढ़ाना है तो साधनाकाल में आप अपनी कुण्डलिनी को उग्र करने का प्रयास कीजिये। इसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त आवश्यक है। साथ में, सत्य और अहिंसा का पालन कीजिये, बिल्कुल अल्प व सात्त्विक भोजन कीजिये, कुम्भक प्राणायाम की अवधि बढ़ाइये तथा मन्त्रों का भी प्रयोग कीजिये। इस प्रकार से जब आपका शरीर शुद्ध हो जाए, तब मन्त्र का जाप अधिक बढ़ा दें, इससे आपका योगबल और भी ज्यादा बढ़ जाएगा।

साधकों, एक बात ध्यान में रखना, समाधि की अपेक्षा मन्त्र-जाप द्वारा योगबल अधिक प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन मन्त्र बोलने का तरीका सही होना चाहिए। यदि योगबल बढ़ाने के उद्देश्य से

मन्त्र-जाप किया जा रहा है, तो मन्त्र का जाप मन के अन्दर नहीं किया जाना चाहिए। बल्कि अच्छा होगा, आप एकान्त में निकल जाएँ; पहले मन्त्र को सिद्ध करना पड़ेगा, तभी वह ज्यादा से ज्यादा शक्ति दे सकेगा। एक बार अगर मन्त्र सिद्ध हो जाए, तो आपको अगले जन्म में भी यह कुछ मात्र समय में ही सिद्ध हो जाएगा। लेकिन, यहाँ एक और बात– सभी प्रकार के मन्त्रों से योगबल प्राप्त नहीं होता। इसलिए शक्ति प्रदान करने वाले मन्त्र जैसे, 'शक्ति मन्त्र', 'कुण्डलिनी मन्त्र', 'प्रणव' आदि मन्त्रों का जाप किया जाए; वैसे इस कार्य के लिये और भी मन्त्र होते हैं। यदि एक बार भी आपको ये मन्त्र सिद्ध हो जाएँ, तो फिर आपको योगबल की कमी नहीं पड़ेगी। वैसे ये सब कार्य अपने गुरुदेव के देख-रेख में करें तो अच्छा है, ताकि किसी जगह पर गलती होने पर वे आपको बता सकें, वरना गलत प्रभाव पड़ सकता है। मैंने तो यहाँ थोड़ा सा ही लिखा है। हाँ, जितना योगबल बढ़ा लेंगे उतना अधिक लाभ आपको मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म लोकों में मिलेगा। क्या लाभ मिलेगा, यह सब कुछ वहाँ पहुँचने पर मालूम पड़ जाएगा; यहाँ उसका वर्णन करने पर लेख और भी बढ़ जाएगा, अत: वर्णन नहीं कर रहा हूँ। यहाँ एक जरुरी बात बता दूँ– योगबल बढ़ाने का सही समय कुण्डलिनी स्थिर होने के पश्चात् ही होता है।

सूक्ष्म लोकों में जितने ऋषि, मुनि, योगी व तपस्वी रहते हैं, उनके योगबल की जानकारी की जा सकती है। स्वर्ग लोक में इन्द्र के पास जो शक्ति होती है वह व्यक्तिगत इन्द्र की नहीं है, बल्कि इन्द्र पद की शक्ति होती है। वह ब्रह्म के द्वारा दी गयी एक निश्चित शक्ति है। मगर, जो ईश्वर है जिनका सम्बंध परा-प्रकृति से हैं– जैसे भगवान श्री कृष्ण, भगवान श्री नारायण, परम् शिव आदि के पास जो शक्ति है, उसकी गणना नहीं की जा सकती क्योंकि ये ईश्वर हैं, ब्रह्म का सगुण रुप हैं, इसलिए इनकी शक्ति को नापा ही नहीं जा सकता है। भगवान विष्णु, भगवान शंकर तथा भगवान ब्रह्मा की भी शक्ति को नापा नहीं जा सकता, भले ही ये अपरा-प्रकृति में स्थित हों, क्योंकि ये तीनों अपरा-प्रकृति के स्वामी हैं। गणेश जी भी अतुल्यनीय शक्ति के स्वामी हैं, इसलिए इनका स्थान मूलाधार चक्र में है।

मैंने कुछ जगहों पर लिखा है कि अपने गुरुदेव की देख-रेख में अमुक कार्य करो। इसका कारण यह है कि ऐसे कार्य किसी मार्गदर्शक की देखरेख में ही करने चाहिए ताकि वे उस कार्य का तरीका देखकर, सही अथवा गलत के विषय में बताएँगे; ऐसे ही सिर्फ पुस्तक पढ़कर शुरू नहीं कर देने चाहिए। ऐसे कार्य यदि मार्गदर्शक की देख-रेख में न किए गए तो परेशानी भी हो सकती है, गलत निष्कर्ष भी निकल सकता

है। इसलिए कहते हैं कि योग बिना गुरु के मार्गदर्शन के नहीं हो सकता है। हाँ, हमने यह भी देखा है, गुरु का मार्गदर्शन सही न हो पाने से भी शिष्यों को परेशानी उठानी पड़ती है। मेरा मानना है कि जो साधक योग में पूरी तरह से परिपक्व न हो, उसे गुरु पद पर नहीं बैठना चाहिए।

कुछ योगी यह सोच सकते हैं कि हमें योगबल कि क्या आवश्यकता है, मैं तो अपने जीवन शान्तिपूर्वक एकान्त में बिता रहा हूँ। वैसे तो ऐसा सोचना ठीक ही है, मगर अधिक योगबल सदैव काम आता है– वर्तमान् जीवन में, मृत्यु के बाद तथा अगले जन्म में भी। अधिक योगबल, सिद्धियों की प्राप्ति में भी सहायक होता है। यहाँ मैं छोटी-मोटी सिद्धियों की बात नहीं कर रहा, बल्कि परकाया प्रवेश व आकाश गमन जैसी सिद्धियों के विषय में बात करता हूँ; हालाँकि इन सिद्धियों के लिए कर्माशयों का बिल्कुल कम होना जरूरी है। इन सिद्धियों की प्रथम अवस्था में योगबल बहुत क्षीण हो जाता है। परकाया प्रवेश में 'ज्ञान चक्र' का उपयोग बहुत जरूरी है, अथवा एक ऐसी नाड़ी का, जिसके अन्दर से होकर आपका सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जाता है; आकाश गमन सिद्धि के लिए उदान प्राणवायु और कुम्भक प्राणायाम का उपयोग प्रमुख है। आप इस बिषय में थोड़ा और हमारे अनुभवों की पुस्तक 'योग कैसे करें' में पढ़ सकते हैं।

तीसरा अध्याय

शरीर

शरीर रूपी पिण्ड और सृष्टि रूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों एक ही हैं तथा इन दोनों का आपस में अटूट सम्बन्ध है। जो पदार्थ व शक्ति आदि, ब्रह्माण्ड में है, वही इस शरीर रूपी पिण्ड में है; मगर मनुष्य बहिर्मुख होकर इन्द्रियों के वशीभूत हो अपने आप को सिर्फ स्थूल शरीर तक सीमित रखे हुए है। बाहरी इन्द्रियों का व्यवहार सिर्फ स्थूल जगत तक ही सीमित है, इसलिए वह अपने स्थूल शरीर को ही सब कुछ मानता है। मनुष्य स्थूल जगत में इतना लिप्त हो गया है कि स्थूल जगत से परे के विषय में न तो उसे ज्ञान है और न ही ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता है। मनुष्य जब कभी किसी की मृत्यु होते देखता है, अथवा इस बारे में सुनता है, तो 'सूक्ष्म सत्ता' को कुछ समय के लिए तो मानता है, मगर फिर, वह सब कुछ भुला देता है। वह 'सूक्ष्म सत्ता' के विषय में जानने का प्रयत्न नहीं करता और न ही इस सम्बन्ध में विचार करता है कि जो मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर निकल जाता है, वह आखिर इस स्थूल शरीर में कहाँ स्थित है; तथा यह शरीर किन-किन सूक्ष्म तत्त्वों से बना है, स्थूल शरीर को क्रियाशील कौन करता है अथवा ये क्रियाशीलता कहाँ से आती है, आदि।

मनुष्य का शरीर पञ्चतत्त्वों से बना है। ये पञ्चतत्त्व हैं– **(1) पृथ्वी तत्त्व, (2) जल तत्त्व, (3) अग्नि तत्त्व, (4) वायु तत्त्व** और **(5) आकाश तत्त्व**। ये पाँचों तत्त्व स्थूल व सूक्ष्म रूप से होते हैं तथा अपने-अपने विशिष्ट आकार वाले रूप में होते हैं। इन पञ्चभूतों का अपना-अपना गुण है, इन्हीं गुणों द्वारा इनकी पहचान होती है।

(1) पृथ्वी तत्त्व – पृथ्वी तत्त्व का गुण गन्ध है। 'पृथ्वी तत्त्व' में सभी तत्त्व विद्यमान होते हैं, लेकिन 'पृथ्वी तत्त्व' प्रधान रूप से रहता है, अन्य चारों तत्त्व गौण रूप में रहते हैं। इसी के अनुसार अन्य चारों तत्त्वों की तन्मात्राएँ भी पायी जाती हैं; ये तन्मात्राएँ हैं– **रस** (जल तत्त्व की)**, रूप** (अग्नि तत्त्व की)**, स्पर्श** (वायु तत्त्व की) और **शब्द** (आकाश तत्त्व की)। पृथ्वी तत्त्व में गुरुता (भारीपन), रूखापन, स्थिरता, सहनशीलता, कठोरता आदि गुण हैं। यदि आप सोचें कि पृथ्वी तत्त्व में अन्य चारों तत्त्व क्यों हैं तो इसका कारण इस प्रकार से है– पञ्चभूतों में सबसे पहले आकाश तत्त्व की उत्पत्ति हुई; आकाश तत्त्व से वायु

तत्त्व की उत्पत्ति हुई; वायु तत्त्व से अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति हुई; अग्नि तत्त्व से जल तत्त्व की उत्पत्ति हुई, और फिर जल तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति हुई। क्योंकि पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति सबसे बाद में हुई, इसीलिए चारों तत्त्व पृथ्वी तत्त्व के अन्दर निहित है। जब पृथ्वी तत्त्व में सभी तत्त्व सम्मिलित हैं तो उनकी तन्मात्राएँ भी उपस्थित होती हैं।

(2) जल तत्त्व – जल तत्त्व का गुण रस है। जल तत्त्व में अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व व आकाश तत्त्व भी विद्यमान है। जल तत्त्व में 'जल तत्त्व' प्रधान रूप से रहता है, इसी कारण इसका गुण रस प्रमुखता से रहता है, लेकिन रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्राएँ भी जल तत्त्व में रहती हैं। जल तत्त्व में चिकनापन, सूक्ष्मता, मृदुलता, शीतलता, पवित्रता आदि के गुण हैं।

(3) अग्नि तत्त्व – अग्नि तत्त्व का गुण उष्णता है। अग्नि तत्त्व में वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व विद्यमान रहते हैं। अग्नि तत्त्व में ऊर्ध्व गति, पवित्रता, दाह, शीलता, लघुता आदि गुण होते हैं। अग्नि तत्त्व में रूप, स्पर्श व शब्द तन्मात्राएँ रहती हैं।

(4) वायु तत्त्व – वायु तत्त्व का गुण स्पर्श है। वायु तत्त्व में आकाश तत्त्व विद्यमान है। वायु तत्त्व में गति, कम्पन, बल और चंचलता आदि गुण होते हैं। स्पर्श व शब्द तन्मात्राएँ वायु तत्त्व में रहती हैं।

(5) आकाश तत्त्व – आकाश तत्त्व का गुण शब्द है। व्यापकता, शून्यता, दो वस्तुओं को अलग करना आदि गुण आकाश तत्त्व के होते हैं। शब्द तन्मात्रा आकाश तत्त्व में रहती है।

अब हम पञ्चभूतों को दूसरी तरह से समझें। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या आकाश तत्त्व में अन्य चार तत्त्व नहीं हैं। तो मैं कहूँगा– अन्य चारों तत्त्व होते हैं। अब पुनः प्रश्न उठता है कि ये किस प्रकार से विद्यमान हैं। इसको यथार्थ रूप से समझने के लिए हमें तत्त्वज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। मगर, संक्षेप में हम यही समझ सकते हैं कि आकाश तत्त्व से ही अन्य सभी तत्त्वों की क्रमशः उत्पत्ति हुई है, इसलिए आकाश तत्त्व में ये चारों तत्त्व उपस्थित हैं; यदि आकाश तत्त्व में ये तत्त्व उपस्थित न होते तो उससे उत्पत्ति सम्भव न हो पाती। इसलिए अब यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक तत्त्व में अन्य सभी तत्त्व भी अत्यन्त सूक्ष्म रुप से विद्यमान रहते हैं। लेकिन अन्य तत्त्व अत्यन्त गौण रूप में रहते हैं। इन पाँचों तत्त्वों में आकाश तत्त्व का घनत्व सबसे कम है; फिर वायु तत्त्व, अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व और पृथ्वी तत्त्व का घनत्व क्रमशः

अधिक होता जाता है। जल और पृथ्वी तत्त्वों का घनत्व तो इतना ज्यादा होता है कि हमारे स्थूल शरीर में ये ही तत्त्व सबसे ज्यादा विद्यमान हैं, ऐसा दिखाई देता है। पृथ्वी तत्त्व का घनत्व सबसे ज्यादा है; उसका रूप कठोरता में बदल जाता है।

पञ्चभूतों से उत्पन्न मनुष्य के शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से अलग-अलग भूतों के धर्म भी प्रत्यक्ष हो रहे हैं, जिनका सम्बन्ध तन्मात्राओं से भी है।

पृथ्वी तत्त्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय गुदा है। गुदा से मल त्याग करने का कार्य लिया जाता है। मल भी पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता से सम्पन्न है। पृथ्वी तत्त्व की तन्मात्रा गन्ध है। गन्ध सूँघने से मालूम पड़ती है, सूँघने का कार्य नाक करती है, इसलिए पृथ्वी तत्त्व का कार्य ज्ञानेन्द्रिय के रूप में नाक करती है। पृथ्वी तत्त्व की अधिकता मूलाधार चक्र में होती है।

जल तत्त्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय, जननेन्द्रिय है। जननेन्द्रिय से मूत्र त्याग करने का कार्य किया जाता है। मूत्र वास्तव में, जल तत्त्व है। जल तत्त्व की तन्मात्रा रस है। जल तत्त्व से ही जिह्वा की उत्पत्ति हुई है। जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय हैं क्योंकि यह स्वाद लेने का कार्य करती है। जल तत्त्व की अधिकता वाला चक्र स्वाधिष्ठान चक्र है। यह चक्र लिंग के पास स्थित है।

अग्नि तत्त्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय, पैर है। इस तत्त्व से उत्पन्न ऊर्जा, अर्थात चलने की शक्ति, पैरों द्वारा उपयोग होती है। अग्नि तत्त्व की तन्मात्रा रूप है। रूप-तन्मात्रा से उत्पन्न, देखने की शक्ति का स्थान आँख है; आँख ज्ञानेन्द्रिय है तथा देखने का कार्य करती है। अग्नि तत्त्व का अधिकता वाला चक्र नाभि चक्र है, यह नाभि के पास स्थित है।

वायु तत्त्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय, हाथ है; हाथ से पकड़ने का काम लिया जाता है। वायु तत्त्व की तन्मात्रा स्पर्श है। स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न त्वचा है; त्वचा द्वारा स्पर्श की अनुभूति होती है। वायु तत्त्व की अधिकता वाला चक्र हृदय चक्र है, यह हृदय के पास स्थित है।

आकाश तत्त्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय, वाणी है; इसका स्थान मुख है; मुख से बोलने का कार्य लिया जाता है। आकाश तत्त्व की तन्मात्रा शब्द है; शब्द-तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति का स्थान कान है; कान

ज्ञानेन्द्रिय है, इससे सुनने का कार्य लिया जाता है। क्योंकि कण्ठ से ही वाणी की उत्पत्ति होती है, इसलिए आकाश तत्त्व की अधिकता वाला चक्र कण्ठ चक्र है, यह चक्र कण्ठ में स्थित है।

जो योगीजन योग के द्वारा इन्हीं पञ्चभूतों के संयम का अभ्यास करते हैं, उन्हें जिन-जिन भूतों पर संयम स्थापित हो जाता है, उसे उस तत्त्व से सम्बन्धित सिद्धि प्राप्त होने लगती है। यहाँ, मैं इन सिद्धियों के विषय में उल्लेख करना उचित नहीं समझता हूँ क्योंकि ये सिद्धियाँ हर किसी योगी को प्राप्त नहीं हो सकती हैं। इसके लिए कई जन्मों की कठोर साधना होना जरूरी है। आकाश गमन अथवा जल पर चलने की सिद्धि के लिए निश्चित मात्रा में कर्मों का नाश होना जरुरी है। 'कर्मशून्यता'की अवस्था इन सिद्धियों से काफी ऊँची है। यह साधकों को अन्तिम जन्म में ही उपलब्ध हो पाती है।

हमारे स्थूल शरीर के अन्दर क्रमश: सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारण शरीर विद्यमान हैं। मृत्यु के समय स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर निकल जाता है। इस सूक्ष्म शरीर के अन्दर कारण शरीर और महाकारण शरीर विद्यमान रहता है। चेतन तत्त्व, अर्थात आत्मा इन चारों शरीरों से अत्यन्त व्यापक है। अज्ञान की अवस्था में आत्मा के ऊपर क्रमश: **महाकारण शरीर, कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर** और **स्थूल शरीर** आवरण के रूप में माने जाते हैं। परन्तु वास्तव में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से आत्मा के अंदर ये चारों शरीर विद्यमान रहते हैं, क्योंकि चेतन तत्त्व, अर्थात आत्मा इन चारों जड़ शरीरों से अत्यन्त व्यापक है। चूँकि प्रत्येक प्राणी अज्ञान की अवस्था में ही संसार में व्यवहार कर रहा है, इसलिए समझाने की दृष्टि से बताया जाता है कि जो स्थूल शरीर है, यह आत्मा के ऊपर का चौथा शरीर है। साधारण आदमी की मृत्यु के समय सिर्फ स्थूल शरीर ही अलग होता है। अन्य तीनों शरीर आत्मा के ऊपर आवरण रूप में चढ़े रहते हैं। इन तीनों शरीरों का घनत्व ब्रह्माण्ड में स्थित भिन्न-भिन्न घनत्वों से मेल करता है। साधक समाधिकाल में जिस शरीर में अन्तर्मुखी होता है, शरीर के उस घनत्व के अनुसार ही ब्रह्माण्ड के घनत्व से उसका सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी योगी का चित्त समाधि के समय महाकारण जगत में अन्तर्मुखी होता है, अर्थात उसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से हो जाता है। इसे ईश्वर का लोक या मूल प्रकृति भी कहा जाता है, ऐसा सिर्फ तत्त्वज्ञानी योगी के साथ ही होता है।

स्थूल शरीर – स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों व तीन गुणों द्वारा निर्मित है। इस शरीर के द्वारा हम कर्म करते हैं। अच्छे-बुरे कर्म करके मनुष्य अपना भविष्य अच्छा अथवा बुरा बनाता है। केवल मनुष्य का स्थूल शरीर

ही एक ऐसा शरीर है, जो नये कर्म कर सकता है। अन्य प्राणियों के स्थूल शरीर ऐसा नहीं कर सकते, वे सिर्फ भोग करने का काम करते हैं। इस स्थूल शरीर के लिए कहा गया है कि यह कई जन्मों के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है। इस शरीर में मनुष्य ईश्वर चिन्तन कर सकता है तथा अच्छे कर्म करके जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। इसी शरीर के द्वारा वह दूसरों की सेवा कर सकता है, परोपकार कर सकता है। सूक्ष्म लोकों में स्थित योगियों, भक्तों आदि का योगबल क्षीण होने पर, उन्हें फिर पृथ्वी पर स्थूल शरीर धारण करना होता है। वे फिर इसी शरीर से योगबल अर्जित करते हैं और वापस सूक्ष्म लोकों को लौट जाते हैं।

कुछ अज्ञानी मनुष्य इस शरीर का महत्व नहीं समझते हैं। वे कहते हैं, यह शरीर तो मिट्टी का बना हुआ है। इसे तो नष्ट होना ही है, फिर हम इसकी परवाह क्यों करें? इस शरीर के रहते सुख भोग लो वरना मृत्यु होने पर वैसे भी नष्ट हो जाएगा। ऐसे मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर स्थूल जगत में क्षणिक सुख भोगते रहते हैं, फिर कष्ट महसूस करने लगते हैं। मगर विवेकी और ज्ञानी पुरुष इस शरीर का सही उपयोग करता है। वह अपना सारा जीवन ईश्वरीय कार्यों में व प्रभु चिन्तन में गुजारता है। साधक इस शरीर का सही उपयोग करते हुए अपने वास्तविक स्वरूप की खोज में लग जाता है। क्योंकि, स्थूल शरीर ही एक ऐसा माध्यम है जो आत्म-साक्षात्कार करा सकता है, हमें अपने भूले हुए अस्तित्व से मिला सकता है। इसलिए, मैं यही कहूँगा– **"हे अमृत के पुत्रों! इस मानव शरीर का सदुपयोग करो। इस शरीर के सदुपयोग करने से आपको चिरशांति मिलेगी, वरना आप सदैव इधर-उधर भटकते रहेंगे।"**

सूक्ष्म शरीर– सूक्ष्म शरीर आत्मा के ऊपर का दूसरा आवरण है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का घनत्व बहुत ही कम होता है। सूक्ष्म शरीर का रंग श्वेत (उजला सफेद) होता है। इसमें पृथ्वी तत्त्व व जल तत्त्व बहुत ही कम मात्रा में होते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में भी इन्द्रियाँ होती हैं। हमारी ये जो इच्छाएँ हैं, वे सूक्ष्म शरीर में ही चला करती हैं। मनुष्य जो भी कार्य करता है, उससे सूक्ष्म शरीर प्रभावित होता है। जैसे– मनुष्य जब भोजन करता है तो भोजन का स्वाद सूक्ष्म शरीर महसूस करता है। मनुष्य के अन्दर जो भी इच्छाएँ चलती हैं अथवा कोई भी कार्य करना होता है, इसका संकेत सूक्ष्म शरीर ही देता है। सूक्ष्म शरीर के संकेत पर स्थूल शरीर कार्य करने लगता है। जब स्थूल शरीर को किसी प्रकार का आघात पहुँचता है, जैसे स्थूल शरीर को गहरी चोट लगना या अन्य किसी प्रकार से कष्ट

पहुँचना इत्यादि, इससे सूक्ष्म शरीर को कष्ट पहुँचता है क्योंकि स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर व्याप्त होता है। ऐसा समझो कि स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर का वाहन है। जैसा सूक्ष्म शरीर चाहेगा, वैसा ही स्थूल शरीर करेगा।

मनुष्य के स्थूल शरीर का इलाज तो चिकित्सक कर देता है, मगर कभी-कभी मनुष्य को ऐसा रोग लगता है कि चिकित्सक परेशान हो जाता है कि रोगी को कौन सा रोग है, यह उसकी समझ में नहीं आता और रोग ठीक होने का नाम नहीं लेता। ऐसी अवस्था में सूक्ष्म शरीर किसी कारण से बीमार या क्षतिग्रस्त होता है, जो चिकित्सक द्वारा ठीक नहीं हो पाता। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर को जोड़ने की कड़ी मस्तिष्क है। स्थूल शरीर को निर्देश देने वाला मस्तिष्क ही है। जब सूक्ष्म शरीर को कोई कार्य करना होता है तो वह मस्तिष्क की कोशिकाओं को प्रभावित करता है और फिर, मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाएँ स्थूल शरीर के अंगों को निर्देश देती हैं।

मृत्यु के समय जब सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर से निकलता है, तब स्थूल शरीर में अत्यन्त खिंचाव होता है क्योंकि स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर व्याप्त रहता है। जब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से सम्बन्ध अलग करता है, तब स्थूल शरीर परेशानी महसूस करता है। मगर सच यह है कि कष्ट तो सूक्ष्म शरीर में ही होता है। जब स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग हो कर बाहर आ जाता है, तब स्थूल शरीर पूरी तरह से निष्क्रिय हो जाता है। इसे ही 'मृत्यु' कहते हैं। सूक्ष्म शरीर अलग होते समय सूक्ष्म रूप से सब कुछ अपने साथ ले लेता है। ढेर सारे कर्म भी अपने साथ समेटे रहता है। फिर कर्मानुसार अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है।

योगी ध्यानावस्था में अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा बाहर निकलता है तथा सूक्ष्म जगत का भ्रमण करके वापस स्थूल शरीर में आ जाता है। जब सूक्ष्म शरीर ध्यानावस्था में बाहर निकलता है, तब वह पूर्ण रूप से नहीं निकलता क्योंकि सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से तारतम्य अति सूक्ष्म रूप से बना रहता है। बाहर निकलकर भ्रमण करते समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से तारतम्य कभी टूटता नहीं है। स्थूल शरीर पर जरा भी आघात होने पर सूक्ष्म शरीर तुरंत वापस लौट आता है। सूक्ष्म शरीर अन्तरिक्ष में एक निश्चित सीमा तक ही जा सकता है, फिर आगे की ओर गति नहीं कर सकता है क्योंकि आगे का घनत्व सूक्ष्म शरीर से बहुत कम होता है। कम घनत्व के कारण सूक्ष्म शरीर उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता है।

मुझे जुलाई 1989 में एक अनुभव आया था। ध्यानावस्था में हमारा सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर से निकलकर अन्तरिक्ष में चला गया। कुछ क्षणों बाद हमारा सूक्ष्म शरीर अन्तरिक्ष में खड़ा हो गया। फिर इस सूक्ष्म शरीर से दूसरा शरीर निकला, यह शरीर ऊपर अन्तरिक्ष में चला गया। इस शरीर को कारण शरीर कहते हैं। कारण शरीर अन्तरिक्ष में अनंत दूरी तक चला गया। वहाँ सूर्य से भी अधिक तेज प्रकाश वाली 'प्रज्ञा' को देखा। कुछ समय तक खड़ा हुआ कारण शरीर 'प्रज्ञा' को देखता रहा। फिर, वापस आने लगा। नीचे आकर देखा कि अन्तरिक्ष में सूक्ष्म शरीर अपनी जगह पर खड़ा था। फिर मैं सूक्ष्म शरीर के अन्दर प्रवेश कर गया और सूक्ष्म शरीर के द्वारा नीचे की ओर आने लगा। वापस आकर मैंने देखा कि हमारा स्थूल शरीर ध्यानावस्था में बैठा हुआ था, फिर मैं स्थूल शरीर के अन्दर प्रवेश कर गया। विस्तृत जानकारी आप हमारी **'योग कैसे करें'** पुस्तक में पढ़ सकते हैं। साधनाकाल में मैंने कई बार देखा कि मेरा सूक्ष्म शरीर ध्यानावस्था में बाहर निकलता है।

कारण शरीर– सूक्ष्म शरीर का आवरण हटने के बाद कारण शरीर आता है। यह आत्मा के ऊपर का दूसरा शरीर है। इसका घनत्व सूक्ष्म शरीर से कम होता है तथा आकार भी सूक्ष्म शरीर से छोटा होता है। इसका रंग नीला होता है। इस शरीर में भी सूक्ष्म शरीर की भाँति कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि सब होते हैं। मगर, ये सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा अति सूक्ष्म होते हैं। इस शरीर की अनुभूति साधारण मनुष्य को नहीं होती, सिर्फ योगी को ही कारण शरीर की अनुभूति होती है। वो भी ऐसा तब होता है जब साधना की अवस्था उच्च होती है। योगी की साधना, कारण शरीर में बहुत ज्यादा समय तक चलती है। साधक का जब ब्रह्मरन्ध्र खुलता है, तब उसकी साधना कारण शरीर के अन्तर्गत होनी शुरू हो जाती है। इसके बाद कुण्डलिनी स्थिर होने तक तथा इसके बाद बहुत समय साधना कारण शरीर में ही चलती रहती है। ज्यादातर साधकों को ढेरों जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं, फिर अन्तिम जन्म में 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' के उदय होने पर कारण शरीर से आगे की अवस्था प्राप्त होती है।

महाकारण शरीर– महाकारण शरीर यह शरीर परम शुद्ध तत्त्वों से निर्मित है। फिर भी यह शरीर जड़ मूल प्रकृति के अन्तर्गत आता है। इसका रंग हल्का नीला चमकदार है। इसका नीलापन विलक्षणता को लिए हुए है क्योंकि यहाँ पर गुणों की साम्यावस्था होती है। इस शरीर का सम्बन्ध महाकारण जगत से रहता है। महाकारण जगत में तीन लोक आते हैं। ये तीनों लोक, नित्य लोक होते हैं। वैकुण्ठलोक,

शिवलोक व गोलोक, महाकारण जगत में आते हैं। जिस साधक का आखिरी जन्म होता है, वह जब अभ्यास करता हुआ सबीज समाधि की पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तब उसके चित्त पर 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' का उदय होता है। इस प्रज्ञा के द्वारा अज्ञानता धीरे-धीरे नष्ट होने लगती है। उस समय कारण शरीर ही अत्यन्त सूक्ष्म व व्यापक होने लगता है। फिर योगी की महाकारण शरीर में स्थिति हो जाती है। इस अवस्था में योगी को तत्त्वज्ञान प्राप्त होने की शुरूआत होने लगती है तथा वह ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होने लगता है, अर्थात परा-प्रकृति में उसकी अवस्था आ जाती है। यह परा-प्रकृति परम आकाश तत्त्व के द्वारा निर्मित होती है। इसमें गुणों का परिणाम नहीं होता, गुण साम्यावस्था में रहते हैं। जो योगी महाकारण जगत में रहता है, वहाँ पर अनंतकाल तक रहता है। अन्त में सगुण ब्रह्म, अर्थात ईश्वर अथवा निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है। महाकारण जगत में रहने वाले योगियों को भूलोक पर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। ऐसा समझो एक प्रकार का मोक्ष जैसा है। आदिकाल के ब्रह्मर्षि महाकारण जगत में रहते हैं और यहाँ स्वयं ईश्वर भी महाकारण शरीर में विद्यमान रहते हैं।

साधक जब महाकारण शरीर में प्रवेश करता है, तब उसे स्वयं का शरीर भी नीला जैसा दिखाई देता है। नीले चमकदार प्रकाश के अन्दर वह अपने आपको पाता है। अन्तरिक्ष भी नीला होता है। यह नीला अन्तरिक्ष स्वप्रकाशित है। वास्तव में महाकारण शरीर नीला नहीं होता है, बल्कि ऐसा भासित होता है। यह शरीर अत्यन्त सूक्ष्मतम अवस्था वाला व अत्यन्त पारदर्शी होता है। इसलिए ऐसे शरीरधारी योगी दिव्य दृष्टि से भी शीघ्र दिखायी नहीं देते हैं क्योंकि आकाश तत्त्व की प्रधानता से ऐसे शरीर निर्मित होते है। महाकारण जगत में रहने वाले योगियों के अन्दर किसी प्रकार की तृष्णा नहीं होती है और न ही इच्छाएँ चलती है। वे सिर्फ समाधि में लीन रहते हैं। महाकारण जगत में रहने वाले प्राणियों के लिए मोक्ष कहा गया है।

किसी-किसी स्थान पर लेखों में तीन ही शरीर का वर्णन मिलता है– वे महाकारण शरीर को नहीं मानते, अर्थात ईश्वर को नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि आत्मा के ऊपर सिर्फ तीन शरीर होते हैं– स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। वे इस महाकारण शरीर को ही कारण शरीर के रूप में मानते हैं। अब हम शरीर के विषय में थोड़ा और जान लें तो अच्छा है। इन तीनों शरीरों को जोड़ने का कार्य **वासनामय** और **मनोमय शरीर** करते हैं। ये शरीर के नाम पर पारदर्शी झिल्ली मात्र होते हैं। ये सिर्फ शरीरों के बीच

की कड़ी जैसे हैं– स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच **वासनामय शरीर** है, तथा सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के बीच **मनोमय शरीर** है। वासनामय शरीर के विषय में आप सभी जानते होंगे। मृत्यु के पश्चात् साधारण मनुष्य वासनामय शरीर में चला जाता है। फिर, अतृप्त रूप में इधर-उधर भटकता रहता है। जब यह पारदर्शी झिल्ली शरीर से अलग हो जाती है, तब सूक्ष्म शरीर ऊर्ध्वगति कर जाता है। मनुष्य का यह वासनामय शरीर स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर दोनों को प्रभावित करता रहता है।

मनोमय शरीर सिर्फ सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करता है। कारण शरीर को इसलिए प्रभावित नहीं कर पाता क्योंकि वह आत्मा के नजदीक का शरीर है, इस पर आत्मा का प्रभाव पड़ता है। ज्ञान योग के साधक मनोमय शरीर के विषय में अच्छी तरह समझ सकते हैं क्योंकि इस मार्ग का साधक इसे मनोमय कोष कहता है। हर पुरुष व स्त्री अपने आप में पूर्ण है क्योंकि स्त्री व पुरुष का मूल स्वरूप तो एक ही है। आत्मा तो न स्त्री है और न पुरुष है। स्थूल दृष्टि से स्त्री व पुरुष में अन्तर माना जाता है। कुछ पुरुष तो स्त्रियों को हेय दृष्टि से देखते हैं तथा अपने से छोटा व कमजोर समझते हैं, मगर ऐसा है नहीं। अब हम यह देखें कि अन्तर क्यों दिखाई पड़ता है और कहाँ से इस अन्तर की शुरुआत होती है।

स्त्री और पुरुष का जो पहला स्थूल शरीर है, उसमें अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। स्त्री का स्थूल शरीर ऋणात्मक और पुरुष का धनात्मक होता है। ऋणात्मक का अर्थ होता है– संग्राहक, अर्थात संग्रह करने वाला। इसमें शक्ति का संग्रह होता है। उसकी शक्ति एकत्र रहती है, लेकिन यह क्रियाशील नहीं रहती है जबकि शक्ति का भण्डार रहता है। पुरुष का स्थूल शरीर धनात्मक होता है, स्थूल दृष्टि से काफी शक्तिशाली होता है तथा इसका रुख आक्रामक होता है। किसी वस्तु की खोज अथवा सृजन करने के लिए आक्रामक होना जरूरी है।

स्त्री का जो दूसरा शरीर वासना देह है, वह धनात्मक होता है अर्थात स्त्री का दूसरा शरीर पुरुष का होता है। इसी प्रकार पुरुष का दूसरा शरीर ऋणात्मक होता है अर्थात स्त्री होता है। स्त्री और पुरुष के दूसरे शरीर आपस में विपरीत होते हैं। क्योंकि स्त्री का पहला शरीर ऋणात्मक होता है, इसलिए वासना के सम्बन्ध में वह कभी भी आक्रामक नहीं हो सकती। पुरुष के बिना स्त्री कुछ भी नहीं कर सकती। लेकिन, पुरुष का पहला शरीर धनात्मक होता है, इसलिए स्त्री के बिना इच्छा के कुछ भी कर सकता है क्योंकि धनात्मक शक्ति आक्रामक होती है। पुरुष का पहला शरीर धनात्मक और दूसरा ऋणात्मक है, जो आपस

में जुड़े रहते हैं। इसी कारण एक वृत्त बनता है। इसी तरह स्त्री का भी एक वृत्त बनता है। पुरुष का दूसरा शरीर ऋणात्मक होने के कारण कमजोर होता है। स्त्री का दूसरा शरीर धनात्मक होने के कारण शक्तिशाली होता है, इसलिए स्त्री बाहर से देखने में कमजोर नजर आती है, पर अन्दर से शक्तिशाली होती है। ठीक इसके विपरीत पुरुष बाहर से शक्तिशाली दिखता है, मगर अन्दर से कमज़ोर होता है। यही कारण है कि स्त्री में कष्ट सहने की क्षमता पुरुष की अपेक्षा ज्यादा होती है क्योंकि उसका दूसरा शरीर अधिक शक्तिशाली है। स्त्री के अन्दर पुरुष की अपेक्षा सहनशीलता अधिक होती है। स्थूल रूप से पुरुष स्त्री की ओर अधिक आकर्षित होता है। इसके दो कारण हैं। एक, पुरुष का दूसरा शरीर ऋणात्मक (स्त्री का) है। वासनामय शरीर का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है, इसलिए स्त्री की ओर आकर्षित होता है। दूसरा कारण, पुरुष का स्थूल शरीर धनात्मक है। धनात्मक का स्वभाव आक्रामक होता है तथा ऋणात्मक की ओर आकर्षित होता है।

स्त्री का तीसरा शरीर (सूक्ष्म शरीर) ऋणात्मक होता है, अर्थात स्त्री का ही होता है तथा चौथा शरीर धनात्मक, अर्थात पुरुष का होता है। चौथा शरीर मनोमय शरीर है। इसी प्रकार पुरुष का तीसरा शरीर (सूक्ष्म शरीर) धनात्मक अर्थात पुरुष का होता है। चौथा शरीर (मनोमय शरीर) ऋणात्मक अर्थात स्त्री का होता है। स्त्री और पुरुष के तीसरे और चौथे शरीर, ऋणात्मक व धनात्मक, आपस में जुड़े होने के कारण चुम्बकीय शक्ति बनती है। यह चुम्बकीय शक्ति पुरुष में तेज के रूप में प्रकट होती है और स्त्री में लावण्य के रूप में प्रकट होती है।

स्त्री का पाँचवाँ शरीर (कारण शरीर) स्त्री का ही, अर्थात ऋणात्मक होता है। इसी प्रकार पुरुषों का पाँचवा शरीर पुरुष का अर्थात धनात्मक ही होता है। यह शरीर 'आत्मा' के अति निकट है, इसलिए इस शरीर पर 'आत्मा' का प्रभाव अधिक पड़ता रहता है तथा विकारों से रहित होता है। इस शरीर में भी स्त्री व पुरुष का भिन्न अस्तित्व रहता है। मगर विकारों से रहित होने के कारण एक-दूसरे के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण या विकर्षण नहीं होता, सिर्फ शान्त से होते हैं। यह अवस्था सिर्फ एक उच्च साधक ही महसूस कर सकता है।

अब हम आएँ, थोड़ा अनुभवों की ओर। कुछ साधकों को अनुभव आते हैं कि ध्यानावस्था में उनका शरीर स्त्री का हो गया है अथवा साधक अपने आपको सुन्दर स्त्री के रूप में पाता है अथवा कभी-कभी देखता है उसका आधा शरीर पुरुष का है, आधा शरीर स्त्री का है। **इस प्रकार के अनुभव हमें भी**

खूब आए। हमने इस प्रकार के अनुभव अपनी दूसरी पुस्तक 'योग कैसे करें' में लिखे हैं, जिन्हें आप पढ़ सकते हैं। इस प्रकार के अनुभव आने का कारण है कि हर पुरुष के अन्दर स्त्रीत्व है और हर स्त्री के शरीर में पुरुषत्व है।

आपने छोटे-छोटे बच्चों को देखा होगा, वह चलते हैं, फिर गिर पड़ते हैं। मगर फिर उठकर चल पड़ते हैं। दिन भर कई बार गिरते हैं। कभी-कभी उल्टे-सीधे गिर जाते हैं, मगर उनको चोट नहीं लगती है। यदि उतनी बार वयस्क पुरुष गिरे तो उसकी हड्डियाँ ही टूट जायेंगी। इसका कारण है कि बच्चों का स्थूल शरीर से ज्यादा सम्बन्ध नहीं हुआ होता, जबकि वयस्क पुरुष का पूरी तरह से स्थूल शरीर से सम्बन्ध होता है। बच्चों का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध ज्यादा रहता है, अभी स्थूल शरीर का भान कम होता है। इस अवस्था में बच्चों को स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था का कोई विशेष भेद नहीं होता है। स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था उनके लिए समान होती है। यदि बच्चा सो रहा हो और अगर सोते समय रोने लगे तो जागने के बाद भी वह जाग्रत अवस्था में भी रोएगा। क्योंकि अभी उसे जाग्रत अवस्था का भान ही नहीं हुआ होता; वह जाग्रतावस्था को अब भी स्वप्नावस्था मान रहा होता है। इसलिए बच्चों की आँखें बिल्कुल शान्त व विकार से रहित होती हैं क्योंकि अभी उन्हें जीवन की वास्तविकता का आभास नहीं हुआ है। यह आभास इसलिए नहीं हुआ है क्योंकि अभी उसने स्थूल शरीर में प्रवेश ही नहीं किया है, जिसके द्वारा बाह्य जगत (स्थूल जगत) का आभास होता है। नवजात शिशु के लिए दिन और रात में कोई फर्क महसूस नहीं होता है। वह रात्रि में भी बड़े आराम से आँखे खोलकर जागता रहता है और दिन के समय भी सोता-जागता रहता है। मगर वयस्क पुरुष को रात्रि में ही नींद आती है और दिन में जागता है, क्योंकि उसने अपनी ऐसी आदत बना ली है। वयस्क पुरुष ने अपने आपको स्थूल जगत के अनुसार ढाल लिया है, अपने शरीर को अपना सबकुछ मान रखा है। इसीलिए उसे स्थूल जगत ही सब-कुछ दिखाई पड़ता है।

आपने सम्मोहन का नाम सुना होगा। इसके द्वारा इलाज भी किया जाता है। डॉक्टरों की अपेक्षा सम्मोहन के द्वारा इलाज ज्यादा लाभकारी है क्योंकि इसमें किसी प्रकार के धन का खर्च नहीं होता, इसलिए यह गरीब पुरुष के लिए ज्यादा गुणकारी सिद्ध हुआ है। सम्मोहनकर्ता को अनुभवी होना चाहिए, तभी यह कार्य सम्भव हो पाता है। सम्मोहनकर्ता रोगी पर सम्मोहन करके उसके सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालता है। जिस समय रोगी के सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डाला जाता है, उसका असर रोगी के स्थूल शरीर पर

भी पड़ता है। सम्मोहनकर्ता की आँखों के द्वारा निकली हुई तेजस्वी किरणें तथा इच्छा शक्ति रोगी के सूक्ष्म शरीर को निरोग कर देती हैं, जिससे रोगी का स्थूल शरीर निरोगी होने लगता है। यदि सम्मोहनकर्ता प्रकाण्ड विद्वान है तथा अनुभवी भी है, तो दूसरों की कुण्डलिनी भी उठा सकने तक में सामर्थ्यवान होता है।

अवस्थाएँ

मनुष्य का जीवन चार अवस्थाओं में बीतता है। साधारण मनुष्य अपना जीवन तीन अवस्थाओं में व्यतीत करता है। सिर्फ योगी पुरुष का जीवन चार अवस्थाओं में व्यतीत होता है। योग के कारण योगी को चौथी अवस्था अर्थात तुरीयावस्था प्राप्त होती है। यह अवस्था साधारण पुरुष को प्राप्त नहीं होती है। ये अवस्थाएँ हैं– **(1) जाग्रत अवस्था, (2) स्वप्नावस्था, (3) सुषुप्तावस्था** और **(4) तुरीयावस्था**।

(1) जाग्रत अवस्था– जाग्रत अवस्था में मनुष्य का स्थूल शरीर क्रियाशील रहता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर क्रियाशील रहती हैं। मनुष्य स्थूल जगत को अपना समझकर स्थूल पदार्थों में लिप्त रहता है। इस अवस्था में स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर भी क्रियाशील रहता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल जगत से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है। जाग्रत अवस्था में मन आज्ञा चक्र पर होता है।

(2) स्वप्नावस्था– स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर क्रियाशील रहता है। स्थूल शरीर शिथिल व शान्त होता है। मनुष्य जब स्वप्नावस्था में होता है तो स्वप्न देखने का कार्य यही सूक्ष्म शरीर करता है। इसका साथ मन देता है। यदि मनुष्य के स्थूल शरीर में किसी प्रकार का कष्ट हो रहा है, तब वह स्वप्नावस्था में भी कष्ट की अनुभूति करता है– उस समय मनुष्य इस प्रकार के स्वप्न देखता है कि उसे लगता है कि वह कष्ट महसूस कर रहा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य स्वप्नावस्था से आगे निकल जाता है, फिर गहरी निद्रावस्था में चला जाता है। उस समय उसे स्वप्न याद नहीं रहता है अथवा जागने पर कहता है कि स्वप्न देखा तो था मगर याद नहीं आ रहा है। याद न आने का कारण उसकी स्मृति है। याद आना या न आना स्मृति का कार्य है। स्वप्नावस्था में मनुष्य की स्मृति कार्य करती है। जब मनुष्य स्वप्नावस्था के बाद जाग्रतावस्था में आता है, तब उसे अपनी स्मृति स्वप्नावस्था की बराबर बनी रहती है, इसीलिए स्वप्न याद रहता है। गहरी निद्रावस्था में स्मृति स्वयं कार्य नहीं करती, इसलिए उसे गहरी निद्रावस्था की याद नहीं रहती। स्वप्न भूल जाने का कारण है– मनुष्य का स्वप्नावस्था से गहरी निद्रावस्था में चले जाना। स्वप्न में जो देखा था तुरन्त गहरी निद्रावस्था में जाने से, स्मृति में जो संग्रह हुआ था वह मिट जाता है। मगर स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था में आने पर दोनों अवस्थाओं में स्मृति कार्य करती है, इसलिए पूरी तरह से उस व्यक्ति को स्वप्न याद रहता है।

हर व्यक्ति सोते समय स्वप्न देखता है, क्योंकि गहरी नींद में जाने से पूर्व उसे सूक्ष्म शरीर से गुजरना पड़ता है। इसलिए जब सोया हुआ व्यक्ति सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करेगा तो स्वप्न अवश्य आएँगे। जब व्यक्ति गहरी नींद के कारण, कारण शरीर में स्थित होता है, तो उसे स्थूल शरीर व सूक्ष्म के बारे में कोई याद या जानकारी नहीं रहती है। मगर, जब मनुष्य सूक्ष्म शरीर में होता है तो उसे जाग्रत अवस्था की महत्वपूर्ण घटनाएँ याद रहती हैं। मन ही स्वप्नावस्था में महत्वपूर्ण कार्य करता है। यह बहिर्मन ही स्वप्न दिखाने का कार्य करता है। यह कभी-कभी तो स्थूल घटनाओं से सम्बन्धित स्वपन दिखाता है, और कभी-कभी काल्पनिक दुनिया भी बना लेता है। मन ही दृष्टा होता है तथा मन ही दृश्य बनता है। मन एक से अनेक बन जाता है। स्वप्न की दुनिया का मालिक मन ही है। स्वप्नावस्था में मन हृदय में स्थित होता है। जब मनुष्य स्वप्नावस्था में होता है, तब बहिर्मन अन्तर्मन में अवस्थित रहता है। अन्तर्मन आत्मा के पास अर्थात कारण शरीर से सम्बन्धित है, वह स्वप्न दिखाने का कार्य नहीं करता है। उच्च अवस्था के साधक के अन्दर अन्तर्मन कार्य करता है, बहिर्मन अन्तर्मुखी होकर अन्तर्मन में विलीन हो जाता है। इसलिए उसे स्वप्न नहीं आते, बल्कि वह योगनिद्रा में रहता है। योगनिद्रा में योग से सम्बन्धित अनुभव आते हैं।

(3) सुषुप्तावस्था– मनुष्य को प्रगाढ़ निद्रावस्था में होश नहीं रहता है, अर्थात स्मृति कार्य नहीं करती। आपने देखा होगा कि मनुष्य जब अधिक शारीरिक परिश्रम करता है, तब उसे अधिक थकान महसूस होती है। तब अधिक थकान से सूक्ष्म शरीर भी थकान महसूस करता है, इसी कारण स्थूल शरीर में और परिश्रम करने की शक्ति नहीं रहती है। फिर उसे आराम अथवा विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। लेटते ही गहरी निद्रा में चला जाता है। उस समय सूक्ष्म शरीर भी शान्त व स्थिर बना रहता है क्योंकि वह भी थका हुआ होता है। यदि आप गहरी निद्रा में सो रहे व्यक्ति को जगाएँ, तो वह शीघ्र नहीं जागता, कुछ क्षणों के बाद जागता है। जागने के बाद भी उसके चेहरे पर आलस्य रहता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर को पूरी तरह विश्राम नहीं मिल पाता। मगर कुछ मनुष्य जगाने पर तुरंत बोल देते हैं अथवा जग जाते हैं और उनके चेहरे पर आलस्य नहीं होता है। इसका कारण है कि वह गहरी नींद में नहीं सोये थे, वह स्वप्नावस्था में ही थे। मनुष्य जब गहरी नींद में सोता है तब वह कारण शरीर में होता है। उस समय मन का स्थान कण्ठ चक्र पर कहा गया है, अर्थात मन गहरी निद्रा के समय कण्ठ चक्र में होता है।

(4) तुरीयावस्था– तुरीयावस्था इन तीनों अवस्थाओं से परे है। यह अवस्था सिर्फ योगी को प्राप्त होती है। यह अवस्था चैतन्यमय अवस्था है। इस अवस्था में स्थूल जगत भासित नहीं होता है क्योंकि बहिर्मन, अन्तर्मन में विलीन हो जाता है। अन्तर्मन आत्मा के निकट होने के कारण आत्मा से संलग्न रहता है। यह अवस्था जाग्रत अवस्था जैसी दिखती है। मगर उस समय अन्तर्मन आत्मा या ईश्वर में अंतर्मुखी होता है। जब योगी तुरीयावस्था में होता है, तब उसके स्थूल नेत्र बिल्कुल स्थिर व नेत्रों की मुद्रा विचित्र सी होती है। उसकी पलकें ज्यादातर खुली अथवा कम खुली हुई व स्थिर रहती हैं। कभी-कभी तुरीयावस्था वाला योगी पागलों सा दिखाई देता है। इस अवस्था में स्थित योगी यदि स्थूल कार्य भी करे, जैसे भोजन करना आदि, तो उसे याद नहीं रहता क्योंकि स्थूल जगत में रहता हुआ भी वह स्थूल जगत में नहीं रहता है। वह चैतन्यमय जगत में खोया हुआ होता है। यह अवस्था सबसे उत्कृष्ट अवस्था है। योगी की जब निर्विकल्प समाधि लगती है, तब यह अवस्था प्राप्त होती है। योगी जब तन्मात्राओं का साक्षात्कार कर लेता है, उस समय यह अवस्था काफी अधिक समय तक रहती है। फिर योगी की समाधि के अभ्यास के ऊपर है, जितना अधिक अभ्यास करेगा, उतना अधिक वह इस अवस्था में रह सकेगा। योगी के अभ्यास के अनुसार यह अवस्था कम अथवा ज्यादा रहती है।

कोष

कोष का अर्थ है खोल अथवा आवरण। मनुष्य के शरीर में पाँच कोष होते हैं। यह मार्ग ज्ञानयोग के साधकों के लिए है। इन कोषों के विषय में समझ लेना हर योग मार्ग के साधकों के लिए अच्छा है। पाँचों कोषों के नाम इस प्रकार हैं– **(1) अन्नमय कोष, (2) प्राणमय कोष, (3) मनोमय कोष, (4) विज्ञानमय कोष** और **(5) आनन्दमय कोष।** इस आनन्दमय कोष के बाद आत्मा होती है। अथवा इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि आत्मा के ऊपर ये पाँच कोष रूपी खोल चढ़े रहते हैं।

अन्नमय कोष– अन्नमय कोष स्थूल शरीर को कहते हैं। स्थूल शरीर अन्न से ही बनता है तथा अन्न से ही उसका पालन-पोषण होता है, इसलिए इसको अन्नमय कोष कहते हैं। स्थूल शरीर का मस्तिष्क भी अन्नमय कोष के अन्तर्गत आता है, परन्तु मस्तिष्क की कोशिकाएँ संवेदना का कार्य भी करती है, इसलिए ये भी प्राणमय कोष के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो अन्नमय कोष व प्राणमय कोष को जोड़ने का कार्य यही कोशिकाएँ करती हैं। इसलिए मस्तिष्क को इन दोनों कोषों का सन्धि स्थल भी कहते हैं। अन्नमय कोष के अन्तर्गत पञ्चभूतों का बना स्थूल शरीर तथा स्थूल इन्द्रियाँ आती हैं।

प्राणमय कोष– प्राणमय कोष को सूक्ष्म शरीर भी कह सकते हैं। यह कोष सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत आता है। प्राणमय कोष में पाँचों प्राण व सूक्ष्म रूप से पाँचों कर्मेन्द्रिय आती है। प्राणमय कोष अन्नमय कोष पर आधारित रहता है क्योंकि मनुष्य जिस प्रकार का अन्न खाएगा, शुद्ध अथवा अशुद्ध, ठीक उसी प्रकार का प्राणमय कोष बनेगा। यदि मनुष्य सात्विक भोजन करता है, तब प्राणमय कोष सात्विक व शुद्ध बनेगा। यदि मनुष्य तामसिक भोजन करता है, तब उसका प्राणमय कोष अशुद्ध हो जाता है। प्राणमय कोष अन्न के सूक्ष्म भाग से बनता है। प्राणायाम तथा सात्विक अल्प भोजन से प्राणमय कोष संयमित किया जा सकता है।

मनोमय कोष– मनोमय कोष, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर के बीच की कड़ी अथवा सन्धि स्थल है। मगर मनोमय कोष सूक्ष्म शरीर (प्राणमय कोष) को प्रभावित करता रहता है। यह कोष सूक्ष्म शरीर में भी रहता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्म शरीर में दो कोष हैं तथा यह सन्धि स्थल भी है। इच्छाएँ इसी कोष में कार्यरत होती हैं। मनोमय कोष प्राणमय कोष पर निर्भर करता है। यदि प्राणायाम के

द्वारा प्राणमय कोष संयमित कर लिया जाए तो मनोमय कोष भी संयमित होने लगेगा। यह कोष प्राणमय कोष से ज्यादा व्यापक है। मनोमय कोष में मन व पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। इसमें स्वार्थमय संकल्प होता है।

विज्ञानमय कोष– विज्ञानमय कोष के अन्तर्गत अहंकार और बुद्धि आती है। इसमें कर्त्तापन का अभिमान रहता है। इस अवस्था में साधक समाधि द्वारा तन्मात्राओं का साक्षात्कार कर रहा होता है। जब साधक इस कोष में प्रवेश करता है तो ढेर सारा ज्ञान प्राप्त होता है। साधक जिस विषय में भी जानकारी लेना चाहता है, उसे उस विषय का ज्ञान अवश्य मिलता है। इस अवस्था में साधक को अभिमान रहता है।

आनन्दमय कोष– आनन्दमय कोष में साधक सुख-दुख से रहित आनन्द की अनुभूति करता है। साधारण मनुष्य इस कोष से अनभिज्ञ रहता है। उच्च कोटि का योगी ही समाधि में इसकी अनुभूति कर पाता है। जब चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, तब उसमें किसी प्रकार के कर्माशय नहीं रहते हैं। सत्त्वगुणी अहंकार से तमोगुण भी धुल जाता है। तमोगुण गौण रूप में रहता है, चित्त में सत्त्वगुणी अहंकार रहता है। इसी सत्त्वगुणी अहंकार के द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है। यह महाकारण शरीर में होता है। इसी कोष के अन्तर्गत चित्त आता है।

नाड़ी

मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में नाड़ियों का जाल सा बिछा हुआ है। प्राण तत्त्व इन्हीं नाड़ियों के द्वारा शरीर में प्रवाहित होता है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्य के शरीर में 72000 नाड़ियाँ हैं। इन सभी नाड़ियों में तीन नाड़ियाँ मुख्य मानी गयी हैं। इन तीनों नाड़ियों के नाम हैं– इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार से लेकर रीढ़ की हड्डी के सहारे सभी चक्रों को स्पर्श करती हुईं सिर के ऊपरी भाग तक चली गयी हैं। सुषुम्ना नाड़ी दोनों नाड़ियों के मध्य में है, इड़ा नाड़ी बायीं ओर तथा पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर होती है। इन्हें क्रमश: चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। इड़ा और पिंगला नाड़ियों को शक्तिवाहिनी नाड़ियाँ भी कहा जाता है क्योंकि शक्ति का संचार इन्हीं दोनों नाड़ियों के द्वारा है।

मनुष्य जब श्वास लेता है, उस समय यही दोनों नाड़ियाँ चला करती हैं। ये नाड़ियाँ सदैव समान रूप से नहीं चलतीं, बल्कि क्रमश: एक कम एक ज्यादा चला करती हैं। यदि यह ज्ञात करना हो कि कौन सी नाड़ी ज्यादा चल रही है और कौन सी कम चल रही है, उसके लिए अपनी हथेली को हम नाक के बिल्कुल नजदीक ले जाएँ। फिर नाक से तीव्रगति से श्वास बाहर की ओर छोड़ें। श्वास बाहर छोड़ते समय नाक के जिस छिद्र से अधिक वायु निकलती हुई महसूस हो, उसी से अन्दाज़ लगा लीजिए कि कौन सी नाड़ी ज्यादा चल रही है क्योंकि नाक के एक छिद्र से ज्यादा वायु निकलेगी। जिससे ज्यादा वायु निकले वही नाड़ी ज्यादा चल रही है। इन नाड़ियों को समान रूप से चलाने के लिए प्राणायाम और ध्यान का सहारा लिया जाता है। जब दोनों नाड़ियाँ समान रूप से चलने लगेंगी, उस समय मन स्थिर व शान्त होता है। यह अवस्था बहुत अभ्यास के बाद आती है। आप नाड़ियों की चाल को बदल भी सकते हैं। यदि आपकी सूर्य नाड़ी अधिक चल रही है तो आप इसमें परिवर्तन कर चन्द्र नाड़ी को क्रियाशील कर सकते है। आप फर्श अथवा किसी और समतल जगह पर दायीं करवट करके लेट जाइए, लगभग दस मिनट लेटे रहिए, आपकी चन्द्र नाड़ी अधिक चलने लगेगी। यदि आप सूर्य नाड़ी को अधिक चलाना चाहते है तो दस मिनट तक बायीं करवट करके लेटे रहिए, इससे आपकी सूर्य नाड़ी अधिक चलने लगेगी।

सूर्य नाड़ी चलते समय शरीर के अन्दर गर्मी बढ़ती है क्योंकि यह नाड़ी गर्म स्वभाव की होती है। चन्द्र नाड़ी चलते समय शरीर के अन्दर ठंडक बढ़ती है क्योंकि यह नाड़ी शीतल होती है। जिन साधकों

की साधना तीव्र होती है अथवा अच्छे साधक होते हैं, उनकी सूर्य नाड़ी सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक चलती है, जबकि सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक सारी रात्रि चन्द्र नाड़ी चलती है।

सुषुम्ना नाड़ी सभी नाड़ियों में प्रमुख है। यह नाड़ी मूलाधार के त्रिकोण के मध्य से निकलकर सिर के ऊपरी भाग तक जाती है। यह नाड़ी अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण साधक इसे क्रियाशील करने का प्रयास करता रहता है। इस नाड़ी का नीचे की ओर का मुँह बन्द रहता है। शास्त्रों में कहा गया है कि इस सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर तीन और नाड़ियाँ होती हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं– **(1) वज्र नाड़ी,** यह सुषुम्ना के अन्दर स्थित है, **(2) चित्रणी नाड़ी**, यह वज्र नाड़ी के अन्दर स्थित है तथा **(3) ब्रह्म नाड़ी**, यह चित्रणी नाड़ी के अन्दर स्थित है। ये नाड़ियाँ सत्त्वगुण प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली होती हैं। साधकों! साधना काल में मैंने सुषुम्ना नाड़ी अवश्य देखी थी, लेकिन उसके अन्दर की तीनों नाड़ियों का हमें अनुभव नहीं आया। कुण्डलिनी जाग्रत होकर इसी सुषुम्ना के अन्दर प्रवेश कर जाती है। ऊर्ध्व होते समय कुण्डलिनी सदैव सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर से ही नहीं गति करती है, बल्कि कभी-कभी सुषुम्ना नाड़ी के बाहरी ओर से भी सुषुम्ना के सहारे ऊपर की ओर चढ़ती है। इसी सुषुम्ना के अन्दर दिव्यशक्तियाँ निहित हैं। इस नाड़ी को देवमार्ग या ब्रह्ममार्ग भी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी को न्यूट्रल आवेश (neutral charge) भी कहते हैं। चन्द्र नाड़ी को ऋणात्मक आवेश (negative charge) और सूर्य नाड़ी को धनात्मक आवेश (positive charge) कहते हैं।

हमारे शरीर में अन्य ढेर सारी नाड़ियाँ भी सूक्ष्म रूप में रहती हैं। लेकिन वह शान्त व निष्क्रिय पड़ी रहती हैं। इन नाड़ियों में तमोगुण के प्रभाव के कारण अशुद्धता भरी रहती है। जब साधक ध्यान करता है तब इन नाड़ियों में प्राण अवरुद्ध होता है, इससे दर्द की अनुभूति होती है। इसलिये, साधक को ज्यादा से ज्यादा शुद्ध रहना चाहिए। प्राणायाम का प्रयोग ज्यादा करना चाहिए, इससे थोड़ी राहत मिलती है। जब साधना आगे बढ़ती है, तब सिर ज्यादा दुखा करता है । जिसकी साधना अति उग्र होगी, उसे ज्यादा दर्द महसूस होगा क्योंकि प्राण का दबाव अधिक होता है। जब कोई भी कोशिका क्रियाशील होगी, तब उसमें दर्द अवश्य महसूस होगा क्योंकि बहुत समय से वह निष्क्रिय पड़ी थी। इस अवस्था में ज्यादा से ज्यादा प्राणायाम करना चाहिए।

चक्र

मनुष्य का स्थूल शरीर देखने में तो हड्डियों और माँस का पिण्ड दिखता है, परन्तु सृष्टिकर्त्ता ने इस स्थूल शरीर में विभिन्न प्रकार की दिव्यशक्तियाँ स्थापित कर दी हैं। शरीर के उन स्थलों को जहाँ पर इन गुप्त शक्तियों के केन्द्र स्थापित किये गए हैं, उन्हें चक्र या कमल कहते हैं। ये सभी चक्र सूक्ष्म शरीर में होते हैं, स्थूल में नहीं। इसलिए चिकित्सकों द्वारा शारीरिक अन्वेषण द्वारा जाने नहीं जा सकते। जो पाठकगण योग की परिभाषा से परिचित हैं, वे इन शब्दों का अर्थ भली प्रकार समझते होंगे। सभी जानते है कि जाग्रत अवस्था में मनुष्य की समझने-बूझने और देखने-सुनने आदि की सभी क्रियाएँ उसके मस्तिष्क में स्थित विभिन्न केन्द्रों के क्रियावान होने पर होती है। मस्तिष्क के इन केन्द्रों में तो केवल इसी प्रकार की क्रियाओं को प्रकट करने की योग्यता है, परन्तु इन चक्रों की योग्यता अत्यन्त उच्चकोटि की होती है। यहाँ तक कि एक ऐसा चक्र है जिसके क्रियावान होने पर मनुष्य को निर्गुण ब्रह्म का वृत्ति के द्वारा दर्शन प्राप्त होता है। जिस प्रकार इन चर्म चक्षुओं से स्थूल जगत के सूर्य का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार, इस चक्र के चैतन्यमय होने पर अभ्यासी साधक को प्रकृति से परे शुद्ध चेतन तत्त्व की अनुभूति होती है। इसलिए मनुष्य को अपने शरीर के अन्दर चक्रों को सुषुप्तावस्था से जाग्रत करना चाहिए। जिससे मनुष्य विभिन्न प्रकार की दिव्यशक्तियों से युक्त हो जाए। इन चक्रों को जाग्रत करने से तथा अभ्यास और बढ़ाने के बाद अपने निजस्वरूप आत्मा की अनुभूति कर सकता है। जो मनुष्य इस प्रकार का अभ्यासी होता है, जिसने अपने सारे चक्र जाग्रत कर लिए हैं, अपने स्वरूप की अनुभूति कर ली है, उस मनुष्य ने अपने स्थूल शरीर का पूरी तरह से उपयोग कर लिया है। मनुष्य के शरीर में सात प्रमुख चक्र होते हैं। चक्रों के नाम इस प्रकार है– **(1) मूलाधार चक्र, (2) स्वाधिष्ठान चक्र, (3) नाभि चक्र, (4) हृदय चक्र, (5) कण्ठ चक्र, (6)आज्ञा चक्र** तथा **(7) सहस्त्रार चक्र**।

(1) मूलाधार चक्र– यह चक्र रीढ़ के सबसे निचले भाग में स्थित है। गुदा द्वार से थोड़ा ऊपर की ओर होता है। इस चक्र में कमल की चार पंखुड़ियाँ होतीं हैं। यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है। इस चक्र का गुण गन्ध है। इस चक्र में अपान वायु का मुख्य स्थान है। यह पृथ्वी तत्त्व से उत्पन्न होने वाली मल त्याग की शक्ति, गुदा कर्मेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। यह गन्ध तन्मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूँघने की शक्ति, नाक ज्ञानेन्द्रिय का प्रमुख स्थान है। इस चक्र के देवता भगवान गणेश जी हैं। इसी चक्र में त्रिकोण के मध्य में स्वयंभू शिवलिंग पर साढ़े तीन चक्कर लगाए लिपटी कुण्डलिनी शक्ति विराजमान रहती है। इसी

त्रिकोण के मध्य से सुषुम्ना नाड़ी, बायीं ओर से इड़ा अथवा चन्द्र नाड़ी, दाहिनी ओर से पिंगला अथवा सूर्य नाड़ी निकली हुई हैं। ये तीनों नाड़ियाँ ऊपर की ओर जाकर सिर के ऊपरी भाग में पहुँचती हैं।

(2) स्वाधिष्ठान चक्र– यह चक्र मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर जननेन्द्रिय के स्थान पर है। इस चक्र में छ: पंखुड़ियाँ वाला कमल है। यह चक्र जल तत्त्व का मुख्य स्थान है। इसका गुण रस है। इस चक्र में सारे शरीर में व्यापक होकर गति करने वाली व्यान वायु का मुख्य स्थान है। यहाँ जल तत्त्व से उत्पन्न मूत्र त्यागने वाली जननेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। रस तन्मात्रा से उत्पन्न स्वाद लेने की शक्ति, जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। इस चक्र के देवता भगवान ब्रह्मा जी है।

(3) नाभि चक्र– यह चक्र नाभि के पीछे रीढ़ के पास सुषुम्ना नाड़ी से स्पर्श करता हुआ विद्यमान है। इस चक्र में दस पंखुड़ियाँ वाला कमल है तथा अग्नि तत्त्व का मुख्य स्थान है। इसका गुण रूप है। इस चक्र में भोजन के सूक्ष्म तत्त्व को समान रूप से पहुँचाने वाली समान वायु का मुख्य स्थान है। यहाँ पर अग्नि तत्त्व से उत्पन्न चलने की शक्ति, पैर कर्मेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति, नेत्र ज्ञानेन्द्रिय का स्थान है। इस चक्र के देवता भगवान विष्णु जी हैं।

(4) हृदय चक्र– यह चक्र हृदय के पीछे स्थित है। इस चक्र में बारह पंखुड़ियाँ वाला कमल होता है। इस चक्र में वायु तत्त्व का मुख्य स्थान है। इसका गुण स्पर्श है। इस चक्र में मुँह और नाक से गति करने वाली प्राण वायु का मुख्य स्थान है। वायु तत्त्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति, हाथ कर्मेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न त्वचा ज्ञानेन्द्रिय का मुख्य स्थान है। इस चक्र के देवता भगवान रुद्र हैं। इसी हृदय चक्र के अन्तर्गत हृदय से ही नाद की उत्पत्ति होती है।

(5) कण्ठ चक्र– यह चक्र कण्ठ में स्थित है। इस चक्र में सोलह पंखुड़ियों वाला कमल है। इस चक्र में उदानवायु का प्रमुख स्थान है। इसका गुण शब्द है। इस चक्र में आकाश तत्त्व प्रमुख है। आकाश तत्त्व से उत्पन्न वाणी (मुँह) कर्मेन्द्रिय यहाँ है। शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति, कान ज्ञानेन्द्रिय है। इस चक्र का देवता स्वयं जीव माना गया है।

(6) आज्ञा चक्र– यह चक्र भृकुटी के पास स्थित है। इस चक्र के कमल में सिर्फ दो पंखुड़ियाँ हैं। इस चक्र के देवता भगवान शिव हैं। इस चक्र से थोड़ा ऊपर की ओर तीसरा नेत्र अर्थात दिव्य दृष्टि भी है। जब साधक की साधना इस चक्र पर आ जाती है तब सविकल्प समाधि लगने लगती है।

(7) सहस्त्रार चक्र– यह चक्र सिर के मध्य में ऊपरी सतह पर स्थित है तथा यह सभी शक्तियों का केन्द्र है। इस चक्र का कमल सहस्त्र (हज़ार) पंखुड़ियों वाला कहा गया है। यह चक्र निर्गुण व निराकार ब्रह्म का स्थान है। इस चक्र के विषय में कुछ भी नहीं लिखा जा सकता, यह सिर्फ अनुभूति का विषय है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म के विषय में लिखा नहीं जा सकता, वह शब्दों से परे है। यह चक्र सभी का नहीं खुलता अथवा विकसित नहीं होता है। कुछ अज्ञानी साधक अथवा गुरु ब्रह्मरन्ध्र को ही सहस्त्रार चक्र समझ लेते हैं। ऐसे अज्ञानी साधक व गुरु न जाने कितने वर्तमान समय में हैं। सहस्त्रार चक्र में हजार दल कमल होता है। मैंने कमल की पंखुड़ियों की गणना तो नहीं की है, मगर मैं यह अवश्य कह सकता हूँ, शायद इतनी पंखुड़ियाँ होगी। मुझे कई बार इसका अनुभव आया है। आप हमारी तीसरी पुस्तक में पढ़ सकते हैं। जो साधक प्रकृतिलय अवस्था से जन्म ग्रहण करते हैं, उन्हीं साधकों का यह चक्र विकसित होता है क्योंकि यह उनका आखिरी जन्म होता है। इसी जन्म में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य होता है। यही प्रज्ञा चित्त पर स्थित अज्ञान को धीरे-धीरे अभ्यासानुसार नष्ट करती रहती है और ज्ञान के प्रकाश से भरती रहती है। इसी प्रक्रिया के साथ-साथ सहस्त्रार चक्र का विकास होता रहता है। कई वर्षों के अभ्यास के बाद सहस्त्रार चक्र पूर्ण विकसित होता है। फिर अभ्यासी जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

साधकों, किसी-किसी स्थान पर नाभि चक्र को मणिपुर चक्र भी कहा गया है, यह एक पर्यायवाची शब्द है। इसी प्रकार हृदय चक्र को अनाहत चक्र भी कहा जाता है व कण्ठ चक्र को विशुद्ध चक्र भी कहा गया है। सहस्त्रार चक्र को ब्रह्मरंध्र भी कह देते हैं, लेकिन ब्रह्मरंध्र व सहस्त्रार अलग-अलग होते हैं। मगर यह बात ज्यादातर अभ्यासी समझ नहीं पाते। किसी-किसी ने लघु मस्तिष्क में भी तथा तालु में भी चक्र माना है। कुण्डलिनी जब ब्रह्मरन्ध्र खोलकर, फिर आज्ञा चक्र से होकर नीचे हृदय की ओर वापस आती है, तो आज्ञा चक्र से नीचे तालु में भी एक चक्र माना गया है। वैसे मध्यम और शान्त स्वभाव की कुण्डलिनी यहाँ पर अवश्य काफी समय रुकती है, परन्तु उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी बिल्कुल नहीं रुकती।

साधकों, हम पहले लिख चुके हैं कि इन चक्रों में अद्भुत शक्तियाँ निहित हैं। मगर साधारण मनुष्य के अन्दर ये शक्तियाँ सुषुप्तावस्था में रहती हैं क्योंकि जब तक ये चक्र जाग्रत करके क्रियाशील नहीं किए जाएँगे, तब तक ये शक्तियाँ सुषुप्तावस्था में रहेंगी। जब साधक प्राणायाम और ध्यान के माध्यम से मूलाधार में स्थित आदिशक्ति कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्ना द्वार से प्रवेश कराके ऊर्ध्व करने लगता है, तब यह कुण्डलिनी जाग्रत होकर पहले मूलाधार स्थित पृथ्वी तत्त्व को नष्ट करने लगती है। पृथ्वी तत्त्व को एक निश्चित मात्रा में नष्ट करके इस चक्र में चैतन्यता बिखेर देती है, फिर यह चक्र चैतन्यमय व क्रियाशील हो जाता है। इसी प्रकार कुण्डलिनी ऊर्ध्व होते समय जिस चक्र में पहुँचती है, उसे जाग्रत करके चैतन्यता बिखेरती जाती है जिससे चक्र क्रियाशील हो जाता है। उस चक्र में स्थित शक्तियाँ भी कार्य करना शुरू कर देती हैं। इससे साधक के अन्दर दैवी गुण आने शुरू हो जाते हैं। जब कुण्डलिनी सहस्त्रार चक्र खोल देती है, उस समय साधक को प्रकृति से परे निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति होती है। साधक को इन चक्रों की जाग्रति का लाभ वर्तमान जीवन में तथा मृत्यु के बाद भी मिलता है।

प्राण

प्राणतत्त्व पंचभूतों में से एक तत्त्व है। इस तत्त्व से ब्रह्माण्ड की रचना हुई है तथा प्राणियों के स्थूल शरीर में भी प्राणतत्त्व मिलकर संरचना में शामिल हुआ है अर्थात प्राणतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। स्थूल शरीर धारण करने वालों को यही प्राण वायु जीवित रखती है, इसलिए जीवधारी श्वास के द्वारा वायु लेता है और फिर बाहर निकाल देता है। मनुष्य के लिए जीवनदायी इस प्राण वायु का स्थूल रूप ऑक्सीजन ही है। स्थूल शरीर को जीवित रखने के लिए ऑक्सीजन की जरूरत पड़ती है। यह ऑक्सीजन रूपी प्राण वायु हमें वायुमण्डल से मिलती है। जब मनुष्य श्वास द्वारा वायुमण्डल से वायु अन्दर खींचता है, तब ऑक्सीजन के साथ अन्य गैसें भी आ जाती हैं। इन गैसों में नाइट्रोजन सबसे ज्यादा मात्रा में होती है। विज्ञान के अनुसार ऑक्सीजन मात्र 20 प्रतिशत होती है, नाइट्रोजन व अन्य गैसें 80 प्रतिशत होती है। जब ये दोनों प्रकार की गैसें फेफड़ों के अन्दर जाती हैं, तब मनुष्य के फेफड़े शुद्ध ऑक्सीजन एक निश्चित मात्रा में सोख लेते हैं, नाइट्रोजन फेफड़ों में भरी रहती है। ऑक्सीजन सोखने का काम, फेफड़ों में स्थित कोष्ठक करते हैं। सोखी गयी शुद्ध ऑक्सीजन युक्त रक्त हृदय में भेजा जाता है। हृदय इसे धमनियों द्वारा सारे शरीर में पहुँचाने का कार्य करता है। अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा वापस होकर फिर फेफड़ों में आ जाता है, यही गन्दा रक्त फेफड़ों में शुद्ध होता है। जो रक्त में अशुद्धता होती है, वह फेफड़ों में स्थित नाइट्रोजन गैस में मिल जाती है, प्रश्वास के द्वारा सारी गन्दी वायु बाहर आ जाती है जिसे हम कार्बन डाइऑक्साइड कहते हैं। इसी ऑक्सीजन द्वारा रक्त शुद्ध किया जाता है तथा सारे शरीर में प्राण व्याप्त रहता है। शरीर के अन्दर इस प्राण के अलग-अलग ढंग से कई कार्य होते हैं। इन्हीं कार्यों के कारण प्राण के अलग-अलग नाम दिये गये हैं। मुख्य रूप से पाँच प्रकार के प्राण होते हैं, मगर इनके पाँच उपप्राण भी हैं। मुख्य प्राण ये हैं– **(1) प्राण, (2) अपान, (3) समान, (4) उदान** और **(5) व्यान**, तथा उप प्राणों के नाम इस प्रकार हैं– **(6) नाग, (7) कूर्म, (8) कृकल, (9) देवदत्त** और **(10) धनंजय**।

यहाँ पर यह बात बताना अति आवश्यक है कि जिस प्राण से अपरा-प्रकृति की संरचना हुई है, उसे वायु तत्त्व भी कहते है यह वायु तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है। प्रत्येक प्राणी को जो प्राणवायु जिंदा रखती है, उस प्राणवायु के स्थूल रूप को ऑक्सीजन भी कहते हैं।

(1) प्राण– इसका स्थान हृदय में है, यह हृदय में कार्य करता है तथा मृत्यु के समय इसकी भूमिका मुख्य होती है।

(2) अपान– ये किये हुए भोजन को नीचे की ओर ले जाने और मल त्यागने का कार्य करता है।

(3) समान– यह वायु शरीर के समस्त अंगों में समान रूप से कार्य करती है, इसीलिए इसको समान वायु कहते हैं।

(4) उदान– यह वायु ऊर्ध्व करने का काम करती है तथा इसका स्थान कण्ठ है। यह वायु योगी के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(5) व्यान– जो समस्त अंगो को बढ़ाती हुई समभाव से व्याप्त रहती है उसे व्यान कहते हैं।

(6) नाग– यह प्राण वमन (उल्टी) करने का कार्य करता है।

(7) कूर्म– यह आँख खोलने और बन्द करने का कार्य करता है।

(8) कृकल– छींक आते समय यह प्राण कार्य करता है।

(9) देवदत्त– जम्हाई लेने में यह प्राण कार्य करता है।

(10) धनंजय– यह प्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है तथा मृत्यु होने के पश्चात् भी यह प्राण मौजूद रहता है।

साधकों! उदान वायु साधक के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। साधक को ऊर्ध्वरिता बनाने का कार्य यही प्राणवायु करता है। यह कण्ठ से लेकर सिर तक व्याप्त रहता है। जब साधक की कुण्डलिनी स्थिर हो जाए, तब वह प्राणायाम के द्वारा इस प्राणवायु का संयम करे और इसे नीचे की ओर गति कराकर पैरों के पंजों में स्थिर कर दे, उस समय योगी अत्यंत शक्तिशाली हो जाएगा। यह मैंने अभ्यास के आधार पर लिखा है।

बन्ध

योग मार्ग में बन्ध का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि बन्ध के अभ्यास से ध्यान में शीघ्र सफलता मिलने में सहायता मिलती है। प्राण शीघ्र ऊर्ध्व होने लगता है तथा कुण्डलिनी जाग्रत करने में सहायता मिलती है और इन बन्धों के कारण कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने में भी सहायता मिलती है। साधक को समय निकालकर इनका अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास करने से फिर साधक को ध्यानावस्था में भी स्वयमेव बन्ध लगने लगते हैं, इससे साधक की साधना पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

योग मार्ग में प्रगति के लिए मुख्य रूप से तीन बन्धों का उपयोग किया जाता है:-

(1) मूल बन्ध – गुदा द्वार को संकुचित करके ऊपर की ओर खिंचाव करते हुए बन्द कर देना, मूल बन्ध कहलाता है। यदि अभ्यास कर रहे हैं तो इसका सहजासन अथवा पद्मासन की मुद्रा में अभ्यास करना चाहिए। गुदा द्वार का खिंचाव ऊपर की ओर होना आवश्यक है। साधक की साधना जब थोड़ी सी अच्छी होने लगती है, तब मूल बन्ध ध्यानावस्था में स्वयमेव ही लगने लगता है, इससे अपान वायु ऊपर की ओर जाने लगती है तथा कुण्डलिनी को भी ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है। ऊर्ध्वरिता बनाने के लिए यह बन्ध अति उत्तम है। साधक का ध्यानावस्था में बराबर मूल बन्ध लगा रहना चाहिए।

(2) उड्डियान बन्ध – नाभि का निचला भाग तथा नाभि में थोड़ा ऊपर का भाग बलपूर्वक पीछे की ओर खींचकर पीठ की ओर ऐसे लगा दें कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दिखाई देने लगे तथा नाभि ऐसी महसूस हो कि पीछे की ओर पीठ से चिपक गयी हो। पेट को जितना अन्दर की ओर खींचा जाएगा उतना ही अच्छा रहेगा। इससे प्राण का दबाव मूलाधार पर पड़ता है। इससे कुण्डलिनी को जाग्रत करने, प्राण को सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्रवेश करने तथा कुण्डलिनी को ऊर्ध्व करने में सहायता मिलती है। इससे फेफड़े मजबूत बनते हैं, जठराग्नि तेज होती है तथा भूख में वृद्धि होती है। यदि साधक ने उड्डियान बन्ध का अभ्यास न किया हो, ध्यानावस्था में उड्डियान बन्ध जोर से स्वयमेव लगने लगता हो तथा उसी समय साथ मूल बन्ध भी लगता हो, तो समझ लेना चाहिए कि कुण्डलिनी ने आँखें खोल दी है। यदि भस्त्रिका भी स्वयमेव उसी समय चलने लगे तो यह निश्चित है कि कुण्डलिनी की आँखें खुल गयी है।

(3) जालन्धर बन्ध – सिद्धासन पर सीधे बैठकर गर्दन को आगे की ओर सिकोड़ते हुए ठोढी को सीने में ऊपर की ओर स्पर्श करायें। इस अवस्था में श्वास लेने में परेशानी होती है। यह बन्ध कण्ठ में स्थित ढेर सारी नाड़ियों के जाल को दबाव देकर बाँधे रहता है, इसीलिए इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। कण्ठ के

संकुचित करने पर इड़ा और पिंगला नाड़ियों पर दबाव बढ़ता है, इससे प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने में सहायता मिलती है।

बन्ध तो और भी होते हैं, मगर तीन बन्ध प्रमुख हैं, इसलिये हमने सिर्फ इन्हीं बन्धों का उल्लेख किया है। साधक को तीनों बन्धों को एक साथ लगाने का अभ्यास करना चाहिए। इससे कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत व ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है। साधक की साधना जब तीव्र होने लगती है, तब ये तीनों बन्ध एक साथ लगने लगते हैं। इससे मूलाधार में प्राण का दबाव बढ़ता है तथा मूलाधार गर्म होता है। मूलाधार जितना ज्यादा गर्म होगा उतना ही ज्यादा साधक को लाभ होता है, क्योंकि इस अवस्था में जब साधक की कुण्डलिनी ऊर्ध्व होगी, वह अवश्य ही उग्र अथवा मध्यम स्वभाव वाली होगी। शान्त स्वभाव वाली कुण्डलिनी बहुत समय तक बन्ध लगाने के बाद ही ऊर्ध्व हो पाती है।

कर्म

संसार में जितने प्राणी हैं, वे सभी कर्म करते हैं। सभी प्राणियों द्वारा कर्म किया जाना अनिवार्य है क्योंकि कर्म रजोगुण के कारण करना मजबूरी सा है। रजोगुण हर वस्तु या पदार्थ में पाया जाता है। इस गुण का स्वभाव गति करना है। गति करने से किसी न किसी प्रकार के कर्माशय बनना अनिवार्य है। प्राणियों द्वारा गति करने का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है।

मनुष्य के चित्त में कर्माशय दो प्रकार के रहते हैं। एक, प्रधान रूप से जिसे मनुष्य वर्तमान जन्म में भोगता है। ये कर्माशय चित्त की ऊपरी सतह पर प्रधान रूप धारण किए रहते हैं, इसलिए मनुष्य को ये कर्माशय भोगना जरूरी है। इन्हीं प्रधान कर्मों के अनुसार मनुष्य का जीवन चलता है। इन कर्मों को प्रारब्ध कहते हैं। दूसरे प्रकार के वे कर्म हैं, जो चित्त की निचली सतह पर सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं, ये कर्म वर्तमान जीवन में नहीं भोगे जाते क्योंकि प्रारब्ध कर्म इन कर्मों को दबाए रखते हैं। इन्हें संचित कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म अगले जीवन काल में भोगे जाते हैं। मनुष्य जो वर्तमान कर्म करता है, उनसे जो कर्माशय बनते हैं, उनमें से कुछ तो चित्त की निचली सतह पर सुषुप्त अवस्था में चले जाते हैं तथा कुछ कर्म प्रधान रूप धारण करके प्रारब्ध कर्मों के साथ मिल जाते हैं, इसलिए ऐसे कर्म वर्तमान जीवन में भोगने पड़ते हैं। जो कर्म सुषुप्तावस्था में शामिल होकर चित्त की निचली सतह पर चले गये, ऐसे कर्म अगले जन्मों में भोगने पड़ते हैं।

कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि संचित कर्म भी निचली सतह (सुषुप्तावस्था) से ऊपर आकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं और वे प्रारब्ध कर्मों के साथ मिल जाते हैं। ऐसी अवस्था के कुछ कारण हो सकते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि वर्तमान जीवन में किये गए कर्म, अर्थात क्रियमाण कर्मों से कुछ इस प्रकार के कर्माशय बनते हैं, जो चित्त की निचली सतह में जाकर कुछ कर्माशयों को जगा देते हैं। ऐसे कर्माशय जागकर चित्त की ऊपरी सतह पर आ जाते हैं और प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संचित कर्मों को जानबूझकर जबरदस्ती जगा दिया जाए। ऐसा तभी हो सकता है जब उसके चित्त पर जोरदार शक्तिपात किया जाए। शक्तिपात करने से सुषुप्तावस्था वाले कर्म जाग्रत अवस्था में आकर ऊपरी सतह पर आने लगते हैं, फिर प्रारब्ध कर्मों के साथ मिलकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। तीसरा कारण यह हो सकता है कि मनुष्य जब योग का अभ्यास करता है, तब ध्यानावस्था में चित्त के अन्दर हलचल होती है। इसलिए सुषुप्तावस्था वाले कर्म जागकर प्रधान कर्मों में मिलकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। इसलिये मनुष्यों को कभी-कभी इस प्रकार के कर्म भोगने पड़ते हैं।

चाहे उच्चकोटि का योगी ही क्यों न हो, उसे भी अच्छे-बुरे कर्म भोगने ही पड़ते हैं। समाज वाले कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छा था अथवा योगी पुरुष था, फिर इसे कष्टदायक कर्म क्यों भोगने पड़ रहे हैं। इसका कारण यही है कि चित्त की निचली सतह पर जन्म-जन्मान्तरों के कर्म पड़े रहते हैं। जब योग के संस्कार निचली सतह पर जाते हैं, तब संचित कर्मों को जगाने का कार्य करते हैं। ऐसे संचित कर्म तेजी के साथ ऊपर आ जाते हैं। इसलिए अपने समाज में हम अच्छे मनुष्य का उदाहरण ले तो देखेंगे कि उसने सारा जीवन अच्छे कर्मों में बिता दिया होगा, मगर उसे फिर भी कष्ट मिलते है क्योंकि वर्तमान कर्म उनके अन्तःकरण की गंदगी को ऊपरी सतह पर फेंक देते हैं, इसलिए कष्टों का सामना करना पड़ता है। यदि कोई मनुष्य बुरे कर्म करने वाला है, हो सकता है वह अपना जीवन अच्छे ढंग से व्यतीत कर रहा हो, मगर ऐसे मनुष्यों को कभी न कभी अपने बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

सम्पूर्ण जगत में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो कर्म कर सकता है तथा कर्मों का भोग भी करता है क्योंकि किये गये कर्मों के कर्माशय भी बनते हैं और कर्माशय भोगकर समाप्त भी होते हैं। जबकि अन्य जितने भी प्राणी हैं, वह सभी अपने कर्माशयों का सिर्फ भोग करते हैं, नवीन कर्म नहीं कर सकते। इसलिए कर्म भोगने वाले प्राणियों के कर्माशय नष्ट होते रहते हैं, नए कर्माशय नहीं बनते हैं। यदि कोई दुष्ट स्वभाव वाला मनुष्य दोबारा मनुष्य शरीर धारण करता है, तब वह पिछले संस्कारों के कारण दुष्ट स्वभाव वाला ही बनेगा क्योंकि पिछले जन्म के कर्माशयों का फिर से उदय हो जाएगा और फिर से इसी प्रकार के संस्कार बनेंगे। यही क्रम चलता रहेगा। ऐसा मनुष्य अपने वास्तविक कल्याण से दूर रहेगा। इसलिए दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य का जब अधिक पाप कर्म हो जाता है, तब उसे इन पाप कर्मों को भोगने के लिए अन्य योनियों में जाना पड़ेगा। अन्य योनियों में जब निश्चित मात्रा में कर्म भोग लिए जाते हैं, तब वह फिर से मनुष्य योनि में आ जाता है। मनुष्य योनि में फिर से आने का यह अर्थ है कि कुछ न कुछ अच्छे कर्माशय अवश्य ही उसके अन्तःकरण में होते हैं। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर इसका सदुपयोग करना चाहिए। मनुष्य अपनी आत्मोन्नति करे और अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करे।

यदि योगी चाहे तो किसी का मार्ग बदल भी सकता है। जैसा कि मैंने पहले लिखा है कि चित्त में जन्म-जन्मान्तरों के कर्माशय भरे रहते हैं। यदि किसी मनुष्य का मार्ग दुष्टता या हिंसा करने वाला है, तब उसका मार्ग बदलकर अध्यात्म में लगाया जा सकता है। यह तो साफ जाहिर है कि दुष्ट पुरुष के कर्म दुष्टता के ही होंगे, तभी तो गलत कार्यों में लिप्त रहता है। मनुष्य के जो दुष्टता के प्रारब्ध कर्म हैं, यदि उस पर शक्तिपात करके प्रारब्ध कर्मों को चित्त की निचली सतह पर पहुँचा दिया जाए और उसके संचित कर्मों में

से जो अच्छे कर्म हों, उन्हें जाग्रत करके प्रारब्ध कर्म बना दिया जाए, अर्थात उन कर्मों को ऊपरी सतह पर कर दिया जाए, तब उसके जीवन का मार्ग बदल सकता है। इस प्रकार बुरा मनुष्य अच्छा मनुष्य बनाया जा सकता है। इसी प्रकार अच्छा मनुष्य भी बुरा मनुष्य बनाया जा सकता है क्योंकि प्रकृति का स्वभाव है कि कोई भी शक्तिशाली प्राणी कम शक्ति वाले को सदैव दबाता रहता है। प्रारब्ध कर्म शक्तिशाली होते हैं, संचित कर्म सुषुप्त अवस्था में कमजोर पड़े रहते हैं। यदि प्रारब्ध कर्मों को एक तरफ हटा दिया जाए व संचित कर्मों को ऊपर कर दिया जाए तो इससे भी मनुष्य में बदलाव आ सकता है।

अभी जो मैंने लिखा कि संचित कर्म ऊपरी सतह पर किये जा सकते हैं और प्रारब्ध कर्म निचली सतह पर किये जा सकते हैं। ऐसे पूरी तरह से कर्मों में बदलाव नहीं लाया जा सकता है क्योंकि प्रकृति के भी कुछ नियम हैं। यदि प्रकृति के अनुसार कोई घटना इसी जन्म में घटनी है, तब वह कर्म नीचे की सतह पर नहीं जाएँगे, यह मेरा अनुभव है। कुछ मात्रा में कर्मों का बदलाव किया जा सकता है तथा मनुष्य के जीवन में कुछ बदलाव लाया जा सकता है। मगर यह कार्य हर साधक नहीं कर सकता, सिर्फ वही साधक कर सकता है जिसके पास योगबल बहुत अधिक मात्रा में हो। मगर यह भी ध्यान रखना कि प्रकृति के नियम सर्वोच्च हैं। प्रकृति देवी अपनी व्यवस्था भी करती है, इसलिए पूरी तरह से किसी भी नियम को नहीं बदला जा सकता।

जो साधक उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात जिनके चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो चुका है, ऐसे साधकों द्वारा किये गये कर्मों के कर्माशय नहीं बनते। क्योंकि ऐसे साधकों द्वारा पाप कर्म त्याग दिये जाते हैं और पाप से बहुत दूर रहते हैं तथा वे आसक्ति, ममता एवं अहंभाव छोड़कर, कर्तव्य रूप से निष्काम भाव से कर्म करते हैं। निष्काम भाव से किये गए कर्मों के कर्माशय नहीं बनते। साधारण मनुष्यों के कर्म पाप और पुण्य से युक्त होते हैं तथा पाप-पुण्य मिश्रित होते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि जो मनुष्य कर्म करके मुझे समर्पित कर देता है, अपनेपन का अभिमान छोड़कर कार्य करता है, वह मनुष्य कीचड़ में कमल के समान है। उसे किसी प्रकार का कर्म बन्धन नहीं होता।

साधारण मनुष्य के कर्माशय कभी समाप्त नहीं होते, इसीलिए जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। योगी के योगाग्नि से कुछ संचित कर्म तो जल जाते हैं, मगर प्रारब्ध कर्म तो भोगने ही होते हैं। इसलिए साधक को कष्ट मिलना अनिवार्य है। ये संचित कर्म एक जन्म में ही नहीं, बल्कि कई जन्मों में समाप्त होते हैं। यह योगी के योग पर आधारित है। साधक के कर्माशय जब पूर्ण रूप से समाप्त होने को होते हैं, तब

अन्तिम समय में क्लेशात्मक कर्म ही रह जाते हैं, इसलिए तब साधक को क्लेश ही क्लेश अकारण भोगने पड़ते हैं। यह क्लेशात्मक कर्म स्वयं साधक के ही किसी न किसी जन्म के होते हैं। ऐसे कर्म कुछ मात्रा में समाधि के द्वारा समाप्त कर दिये जाते हैं तथा ज्यादातर कर्म भोगकर ही समाप्त किये जाते हैं। जब चित्त के सभी कर्माशय समाप्त हो जाते हैं, तब भी कभी-कभी साधक को क्लेशात्मक कर्म भोगने होते हैं। इसका कारण यह है कि चित्त में कर्म तो समाप्त हो जाते हैं, परन्तु चित्त में अभी ज्ञान का प्रवाह निरन्तर न बहने के कारण व्युत्थान के संस्कार प्रकट होने लगते हैं। इसलिए चित्त पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं रहता है, बल्कि चित्त में व्युत्थान के संस्कार के कारण हल्का सा अज्ञान सा रहता है। निर्बीज समाधि की अवस्था में पर वैराग्य के संस्कार धीरे-धीरे प्रबल होकर व्युत्थान के संस्कारों को दबाते रहते हैं, निर्बीज समाधि समाप्त होने पर चित्त पर व्युत्थान के संस्कार प्रकट होने लगते हैं और पर-वैराग्य के संस्कारों को दबाने लगते हैं। यही प्रक्रिया चलती रहती है, अन्त में चित्त पर पर-वैराग्य के संस्कार बने रहते है। व्युत्थान के संस्कार प्रकट नहीं हो पाते हैं। इस अवस्था में अभ्यासी अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उसे जीवन चक्र से छुटकारा मिल जाता है।

साधकों! एक बार हमारे मित्र ने हमसे प्रश्न किया कि कहते हैं मनुष्य अपने कर्मों द्वारा भाग्य बदल सकता है तथा यह भी कहा जाता है कि मनुष्य का भाग्य व घटनाएँ पूर्वकाल से निश्चित हैं। ये दोनों बातें एक दूसरे के विरोध में हैं, फिर सत्य क्या है? साधकों, दोनों बातें अपनी-अपनी जगह पर सत्य हैं। साधारण मनुष्य अपना भाग्य नहीं बदल सकता है। वह ज्यादातर पूर्व निश्चित कर्मों के अनुसार चलेगा क्योंकि प्रारब्ध निश्चित हो चुका है। मगर, कर्मठ मनुष्य क्रियमाण कर्म अपनी इच्छानुसार करके भाग्य में बदलाव लाने में सफल हो जाएगा क्योंकि वर्तमान कर्मों के कर्माशय प्रारब्ध कर्मों में भी मिलेंगे। इन्हीं कर्मों के प्रभाव से भाग्य बदलना शुरू हो जाएगा। योगी पुरुष अपना भाग्य योग के द्वारा निश्चय ही बदल देता है क्योंकि योग के प्रभाव से एक निश्चित मात्रा में संचित कर्म नष्ट कर देता है, लेकिन प्रारब्ध कर्म उसे भी भोगने पड़ते हैं। उच्च कोटि का योगी चाहे तो थोड़ा-सा प्रारब्ध कर्मों में हस्तक्षेप कर सकता है, जैसे मुख्य घटनाओं को वह कुछ समय के लिए टाल सकता है, क्लेश थोड़े कम कर सकता है। मगर निर्विकल्प समाधि के समय जो कर्म शेष रह जाते हैं, उन्हें योगी को भोगना ही होगा, ऐसा निश्चित है। कर्मठ मनुष्य के लिए कुछ भी सम्भव है क्योंकि वह दृढ़-निश्चयी, परिश्रमी और धैर्यवान होता है।

मनुष्य जो भी कर्म करता है, उस कर्म के संस्कार चित्त पर बनते हैं। जिस प्रकार के संस्कार मनुष्य के चित्त पर बनते हैं, उसी प्रकार का उसका स्वभाव होता है। उसी प्रकार से उसकी जन्म-आयु और मृत्यु

होती है और अपने जीवन काल में वैसा ही भोग करता है। इन्हीं संस्कारों के द्वारा मनुष्य में सोचने की शक्ति व याद रहने की शक्ति निर्भर करती है तथा इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य की इच्छाएँ भी निर्भर करती हैं। इस तरह ये संस्कार दो तरह के कार्य करते हैं– एक, स्मृति के रूप में और दूसरा, वासना (इच्छाओं) के रूप में। स्मृति का कार्य लघु मस्तिष्क के क्षेत्र में होता है। इच्छाओं का कार्य इन्द्रियों का स्वामी, मन करता है।

मनुष्य जब भी किसी प्रकार का कर्म करता है, ये कर्म चाहे स्थूल रूप से किये गए हों अथवा मानसिक रूप से, इन कर्मों के संस्कार चित्त पर अंकित हो जाते हैं। इस चित्त को एक प्रकार का वीडियो कैमरा समझो। किये गये कर्मों का चित्र लेता रहता है। इसीलिए साधक की जब उच्चावस्था आती है, तब उसके अन्तःकरण में स्थित (चित्त में) इन संस्कारों को देख लेने की शक्ति आ जाती है, तब संस्कारों के आधार पर वह अपने पूर्व जन्मों को भी देख लेता है क्योंकि ये संस्कार जन्म-जन्मातरों के भरे रहते हैं। योगी अपनी योग्यतानुसार पिछले कई जन्म देख लेने में सामर्थ्यवान होता है, पूर्व जन्मों की घटनाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। पूर्व जन्म का ज्ञान संस्कारों के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार योगी दूसरे मनुष्यों के चित्त के संस्कारों को देखकर उसके भी पिछले जन्मों को बता सकता है। तथा भविष्य की घटनाएँ भी बता सकता है क्योंकि चित्त में ही तो यही संस्कार रूपी कर्माशय होते हैं। संचित व प्रारब्ध कर्म देखकर योगी किसी भी व्यक्ति का भूतकाल व भविष्यकाल बताने में समर्थ होता है।

इन्हीं संस्कारों के आधार पर मनुष्य की प्रखर अथवा मन्द बुद्धि होती है। बच्चा जब छोटा होता है, तभी से यह दिखाई पड़ने लगता है कि इसका स्वभाव कैसा होगा। कुछ बच्चे छोटी-छोटी उम्र में ही चञ्चल होते हैं, कुछ बुद्धू स्वभाव वाले होते हैं। कभी-कभी देखा गया है कि बच्चे कम उम्र से ही झूठ बोलने लगते हैं, चोरी करने लगते हैं अथवा उद्दण्ड स्वभाव के हो जाते हैं। यह सब संस्कारों का ही प्रभाव होता है। जिस जीवात्मा का जैसा संस्कार होगा, ज्यादातर उसका जन्म भी उसी प्रकार के संस्कारों वाले माता-पिता के यहाँ होगा। इसीलिए ज्यादातर देखा गया है कि जैसे माता-पिता होते हैं, उनके बच्चे भी वैसे ही बनते हैं। यदि किसी जीवात्मा के संस्कार योग का अभ्यास करने वाले हैं, तो वह योगी के यहाँ अथवा अध्यात्म रुचि रखने वालों के यहाँ पैदा होगा। जो मनुष्य जिस स्वभाव वाला होगा, वैसे ही स्वभाव वाले मनुष्य से मित्रता करना पसन्द करेगा। किसी भी मनुष्य को योगी बनने के लिए, उसके संस्कार योगियों जैसे होने चाहिए, नहीं तो योग में थोड़ा अवरोध आने पर वह योग मार्ग को छोड़ देता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि माता-पिता के स्वभाव से ठीक उल्टे स्वभाव वाला बच्चा बचपन से ही होता है। इसके दो कारण होते हैं। माता पिता के विपरीत संस्कारों वाली जीवात्मा इसलिए जन्म लेती है क्योंकि उनके बच्चे के रूप में, माता-पिता को उसके के द्वारा कर्मवश कष्ट भोगना होता है अथवा पूर्व जन्म के कर्मों के कारण बच्चे के रूप में, उसे माता-पिता के द्वारा परेशानियाँ सहनी होती हैं। जैसे– माता-पिता अच्छे कर्म करने वाले हैं तो उनका लड़का दुष्ट स्वभाव का पापयुक्त कर्म करने वाला होता है। इससे माता-पिता को अपने लड़के के कारण कष्ट सहना पड़ता है तथा समाज में अपमानित होना पड़ता है। यदि माता पिता दुष्ट स्वभाव के हैं, मगर उनका लड़का सत्य कर्म करने वाला है तो लड़के को अपने जीवन में अवरोधों का सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्थाओं में, जिसे अवरोध या कष्ट उठाना पड़ता है, उसके कर्माशय ही ऐसे होते हैं कि किसी न किसी कारण से कष्ट भोगना होता है। कारण कोई भी बन जाए, मगर कर्मफल तो भोगना ही होता है। ऐसी अवस्था में किसी को दोषारोपण नहीं करना चाहिए। हर मनुष्य अपने कष्टों का स्वयं जिम्मेदार होता है।

कर्म दो प्रकार से किए जाते हैं– एक, सकाम भाव से; दूसरा, निष्काम भाव से। **सकाम कर्म** वे कर्म हैं जब कर्म करते समय फल की इच्छा होती है कि अमुक कार्य करते समय उस मनुष्य को यह कर्म-फल मिलेगा अथवा फल की आकांक्षा से किया गया कर्म सकाम कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्मों के करने से पुण्य अथवा पाप की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य को मृत्यु के पश्चात भुवर्लोक अथवा स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है। ऐसे कर्म करने से मनुष्य को बार-बार जन्म और मृत्यु के बन्धन में बन्धना होता है। **निष्काम कर्म** वह कर्म है जब फल की आकांक्षा से रहित कर्म किया जाए अथवा इन्द्रियों में किसी प्रकार से कर्म करते समय लिप्तता महसूस न करें, उसे निष्काम कर्म कहते हैं। ऐसा कर्म वही कर सकता है जिसने अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर लिया है। ऐसे जितेन्द्रिय ज्यादातर योगी ही होते हैं। इसलिए निष्काम कर्म साधारण मनुष्य नहीं कर सकता क्योंकि साधारण मनुष्य कुछ न कुछ अपनी इच्छाएँ रखता है। कर्म करते समय, योगी के चित्त में जब कर्माशय नहीं होते हैं, तब उसकी इच्छाएँ भी नहीं चलतीं क्योंकि उसके चित्त में जब कर्माशय नहीं होते हैं, तब ऐसे पुरुष निष्काम भाव से कर्म करते हैं। निष्काम कर्म करने वाले मृत्यु के पश्चात परा-प्रकृति में जाते हैं। इनका जन्म कभी भी सम्भव नहीं होता हैं। अनन्तकाल तक समाधि में लीन रहते हैं। ऐसा योगी तत्त्वज्ञानी होता है।

मनुष्य का जीवन तीन प्रकार के कर्मों से चलता है– **संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म** और **क्रियमाण कर्म**। संचित कर्म वे कर्म हैं जो चित्त की निचली सतह पर सुषुप्तावस्था में रहते हैं। ऐसे कर्म अगले जन्मों में

भोगे जाते हैं। प्रारब्ध कर्म उन्हें कहते हैं जो चित्त में ऊपरी सतह पर प्रधान रूप में रहते हैं। ये प्रधान कर्म ही वर्तमान जन्म में भोगने पड़ते हैं। ये कर्म प्रधान होने के कारण संचित कर्मों को दबाए रहते हैं। ये प्रधान कर्म शक्तिशाली होते हैं। संचित कर्म सुषुप्तावस्था के कारण कमजोर रहते हैं। क्रियमाण कर्म उन्हें कहते हैं जो वर्तमान समय में किए जाते हैं। इन कर्मों के कारण बनने वाले कुछ कर्माशय प्रारब्द्ध में मिल जाते हैं, तथा कुछ संचित कर्मों में मिलकर सुषुप्तावस्था में चले जाते हैं। ऐसे कर्म अगले जन्मों में भोगने होते हैं तथा जो कर्म प्रारब्ध कर्मों में मिलकर प्रारब्ध कर्म बन जाते हैं, वह शीघ्र अथवा वर्तमान जीवन में कभी भी भोगने पड़ते हैं।

कुछ मनुष्य भाग्य के सहारे बने रहते हैं। उनका कहना है कि हमारे भाग्य में जो लिखा होगा वही होगा। मगर कुछ मनुष्य भाग्य के सहारे न बैठकर कर्म पर विश्वास रखते हैं। ऐसे मनुष्य ज्यादातर सफल होते हैं क्योंकि उन्होंने जो कठोर कर्म किया होता है, उसका फल अवश्य मिलेगा। जो भाग्य के सहारे बैठे रहते हैं, वे ज्यादातर असफल होते हैं क्योंकि वे कर्म नहीं करना चाहते। मनुष्य को कर्म करना चाहिए। फिर भी यदि कर्म के अनुसार सफलता नहीं मिलती है, तो हताश नहीं होना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि प्रारब्ध कर्मों के कारण ही उसे सफलता नहीं मिली। हो सकता है प्रारब्ध कर्म अच्छे न हों, इसलिए धैर्यपूर्वक कर्म करते रहना चाहिए। जब क्रियमाण कर्मों के कारण प्रारब्ध कर्म ज्यादा मात्रा में बनेंगे तो कभी न कभी क्रियमाण कर्मों के प्रभाव से सफलता अवश्य मिलेगी। जिस मनुष्य को कम मात्रा में कर्म करने से ढ़ेर सारी सफलताएँ मिलती हैं, उसने पूर्व जन्मों में अच्छे कर्म किये होते हैं, इसलिए शीघ्र सफलताएँ मिलती हैं।

संसारी मनुष्य इस स्थूल जगत में ज्यादातर दुःख ही दुःख भोगता है क्योंकि अज्ञानतावश इस संसार को ही अपना सब कुछ समझता रहता है। वह हमेशा अपने परिवार व सगे-सम्बन्धियों के लिए चिन्तन करता रहता है। ऐसा बहिर्मुखी इन्द्रियों के कारण होता है, क्योंकि इन्द्रिय-भोग की इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हो पाती हैं। उसके चित्त में ढेरों इच्छाएँ रहती हैं। इस स्थूल संसार में सुख प्राप्ति की लालसा में सदैव कर्म करता रहता है। मगर जब संसार ही परिवर्तनशील है, तो सुख कैसे स्थिर रह सकता है? सिर्फ क्षणिक सुख की खातिर इस संसार में लगा रहता है। क्षणिक सुख के बाद फिर दुःख ही दुःख मिलता है। मनुष्य ने जो कोई भी कर्म चाहे अपने परिवार, सगे-सम्बन्धियों या मित्रों के लिए किया हो, मगर उस कर्म का भोग उसे स्वयं भोगना पड़ता है। चाहे वह कर्म अच्छा किया हो, चाहे बुरा हो। इन कर्मों को भोगने में मित्र, परिवार आदि साथ नहीं देते हैं। इसलिए मनुष्य को सदैव अच्छे कर्म करने चाहिए।

कर्म का रहस्य बहुत ही गूढ़ है। इसलिए सभी मनुष्य इस गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते हैं। इस गूढ़ रहस्य को समझने में बड़े-बड़े विद्वानों, बुद्धिमानों से गलतियाँ हो जाती हैं। जब स्वयं साधक ही कभी-कभी इस गूढ़ रहस्य को नहीं समझ पाता है, तो साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है। साधक स्वयं अपने आपको कभी-कभी देवता का अवतार समझने लगते हैं और अपनी पूजा करवाने लगते हैं। साधक जब समाधि अवस्था में अपने आप को कहता है कि "मैं ब्रह्म हूँ", "मैं ही ब्रह्म हूँ" अथवा अपने आपको किसी देवता व शक्ति के रूप में देखता है तो वह भ्रमित हो जाता है। सोचता है कि मैं तो स्वयं ही ब्रह्म हूँ अथवा अमुक देवता का अवतार हूँ। फिर स्वयं अथवा अपने शिष्यों के द्वारा प्रचार करवाता है। अपने को सर्वे-सर्वा समझकर, कर्मों पर ध्यान न देकर कुछ भी करता रहता है। ऐसे साधकों का पतन होना शुरू हो जाता है। ऐसे साधकों को मैं यह कहना चाहूँगा कि जब तक उनको शुद्ध ज्ञान प्राप्त न हो जाए, तब तक अपने योगमार्ग में लगे रहें, अपने को देवता या ब्रह्म न समझें। शुद्ध ज्ञान के प्राप्त होने पर आपको सब कुछ मालूम हो जाएगा कि आप कौन हैं। यह सब चित्त की वृत्तियों के कारण होता है।

एक बात हमें याद आ गयी। मैंने लिखा है कि कर्म के अनुसार ही जन्म, आयु और मृत्यु निश्चित होती है। अब आप सोच सकते हैं कि कभी-कभी दुर्घटनाओं में अथवा प्राकृतिक आपदा में एक साथ सैकड़ों मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। क्या इन सब मनुष्यों का कर्म ऐसा ही था कि एक साथ इस प्रकार से मृत्यु हो? उत्तर में, मैं यही कहूँगा कि ऐसा नहीं हो सकता कि एक साथ सैकड़ों या हज़ारों मनुष्यों के इस प्रकार की मृत्यु के लिए ऐसे कर्म हों। प्राकृतिक आपदा में हुई मृत्यु की जिम्मेदार प्रकृति देवी है। प्रकृति देवी अपनी व्यवस्था अपने अनुसार करती हैं क्योंकि ये मृत्यु किसी व्यक्ति विशेष के कारण नहीं होती है। प्रकृति देवी पर किसी का नियंत्रण नहीं है; वह चाहे तो सृष्टि का सृजन करे अथवा विनाश करे। जैसे– ज्वालामुखी, भूकम्प, बाढ़, अकारण बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएँ, युद्ध आदि के समय हजारों और लाखों मनुष्यों की मृत्यु। इन सभी प्राकृतिक आपदा में हुई मौतों की जिम्मेदार प्रकृति देवी होती है। ऐसी जीवात्माएँ अपने कर्मानुसार फिर जन्म लेती हैं। प्रकृति देवी अपने कार्यों को करने के लिए स्वतंत्र है।

ज्ञानी पुरुष प्रकृति के नियमों के अनुसार ही अपने कार्य करता है क्योंकि उसने प्रकृति के नियमों को जान लिया है। ऐसे मनुष्य को जीवन में कभी क्लेश की अनुभूति नहीं होती है। वह अपने सभी प्रकार के कर्म निष्भाव भाव से करता है, इसलिए ऐसे पुरुष को महापुरुष कहा जाता है। मगर जो मनुष्य अज्ञानी है, वह इन्द्रियों के वशीभूत होकर प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कार्य करता है तथा स्थूल पदार्थों के भोग में

लगा रहता है। अन्त में तृष्णा के कारण दु:ख महसूस करता है। ऐसा मनुष्य बन्धनों में बन्ध कर जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है।

कभी-कभी मनुष्य कहता है कि मैंने अपने जीवन में कभी ऐसे कर्म नहीं किये कि कष्ट भोगना पड़े, सदैव अच्छे कर्म किये, फिर भी हमें जीवन में कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि वह व्यक्ति अपने पिछले बुरे कर्म भोग रहा है। इसलिए हम सबको शिक्षा लेनी चाहिए कि अमुक मनुष्य अपने पिछले जन्म के बुरे कर्म भोग रहा है, यदि हम वर्तमान जन्म में अच्छे कर्म करेंगे तो अगले जन्मों में इसका फल अवश्य मिलेगा। कभी-कभी वर्तमान जन्म में अच्छे कर्मों के कारण बुरे कर्म दब जाते हैं, तब मनुष्य के जीवन में सुख आ जाता है। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि अच्छे या बुरे कर्म कभी नष्ट नहीं होते हैं, कुछ समय के लिए दब भले ही जाए। अनुकूल समय आने पर ये कर्म फिर चित्त में उभरकर ऊपर आ जाते हैं। इसी प्रकार कुछ मनुष्य वर्तमान जीवन में पाप युक्त कर्म करते हैं, फिर भी वह सुख भोग रहे होते हैं। इसका कारण यही है कि उनका पूर्व काल का कर्म अच्छा रहा है, इसलिए वर्तमान में सुख भोग रहा है। वर्तमान कर्म वृद्धावस्था में अथवा अगले जन्म में भोगेगा।

आपने देखा होगा कि किसी व्यक्ति के यदि कई पुत्र है और वह अपने सभी पुत्रों का समान रूप से पालन-पोषण करता है, समान रूप से शिक्षा का प्रबन्ध करता है, मगर पुत्र जब बड़े होते हैं तो भविष्य में एक समान नहीं बनते हैं। किसी की प्रकृति चञ्चल होती है, किसी की प्रकृति आलसी होती है। कोई अपने जीवन में सफलताएँ अर्जित करता है तो किसी को असफलता हाथ लगती है। विद्यालय में एक ही शिक्षक के पढ़ाये विद्यार्थियों में कुछ के मस्तिष्क का विकास अधिक हो जाता है तो किसी विद्यार्थी के मस्तिष्क का विकास कम होता है। आखिरकार ये सब असमानताएँ क्यों पायी जाती हैं? तब इसका उत्तर यही मिलेगा कि पिछले कर्मों के प्रभाव से ये सभी प्रभावित होते रहते हैं। सभी मनुष्यों के कर्म एक समान नहीं होते हैं, इसलिए असमानता होना निश्चित है। कुछ बच्चे गरीब परिवार में जन्म लेते हैं, कुछ मध्यम वर्ग के परिवार में तथा कुछ धनवान परिवार में जन्म लेते हैं। इन सभी बच्चों पर कर्मानुसार शुरू से ही कर्मों का प्रभाव पड़ने लगता है।

कुछ साधकों का कहना है, उनकी साधना आगे क्यों नहीं बढ़ती है, जबकि वह साधना करते हैं, नियम-संयम से रहते हैं। सच तो यह है कि साधना हो रही होती है, मगर उनके पास बुरे कर्मों की मात्रा ज्यादा होती है, इसलिए दूसरों की अपेक्षा उन्नति की गति उनकी कम होती है। ऐसी अवस्था में यदि साधक कहे कि हम पर गुरु की कृपा नहीं है अथवा ईश्वर की कृपा नहीं है, तो हम यही कहेंगे कि यह बात

सत्य नहीं है। ये सब स्वयं साधकों के कर्मों का फल है। कभी-कभी कहा जाता है कि ईश्वर की कृपा से मनुष्य शरीर मिला है, परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि जीव ने मनुष्य शरीर धारण किया है तो वह अपने कर्मों के कारण ही किया है। इसलिए कहा जाता है जो जैसा बोता है, वह वैसा ही काटता है। अतः संसार में जो पाप-पुण्य, सुख-दुख, क्लेश आदि दिखाई देता है, उसका कारण ईश्वर नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य का ही कर्म फल है। सृष्टा होने के कारण ईश्वर को अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सूक्ष्म और स्थूल में विभाजित जगत, अपने आदि कारण ईश्वर में लौटकर, अपने इन विशेष गुणों को छोड़कर बीज रूप धारण कर लेता है। अतः इससे ईश्वर की विशुद्धता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जगत बाह्य रूप में ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, परन्तु मूल रूप में वही है। मनुष्य की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं की तरह, अविद्या के कारण जगत अनेक रूपों में प्रकट होता है, जिससे जगत की जड़ता अथवा अन्य दोषों से ईश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ईश्वर तो कर्मों का नियामक तथा कर्मों का अध्यक्ष है; वह सर्वज्ञानी है। ईश्वर के बनाए हुए कर्मफल के नियम के अनुसार ही जीवात्माओं को शरीर मिलता है तथा जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार वस्तुओं (पदार्थों) की प्राप्ति होती है।

अब शायद समझ में आ गया होगा कि हमें ईश्वर अपनी कृपा से मनुष्य शरीर नहीं देता, और न ही किसी को भोग योनियों में जाने को बाध्य करता है, बल्कि स्वयं अपने कर्मों के कारण, ईश्वर के बनाए हुए कर्मों के नियम के अनुसार, जीवात्मा को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ईश्वर स्वयं धर्म और अधर्म से परे है, वह अन्तर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसलिए हमें ईश्वर को, राग-द्वेष, सुख-दुख, पाप-पुण्य जैसे बन्धनों से नहीं बाँधना चाहिए, कि यह सब ईश्वर ने दिया है। उसको इससे कुछ लेना देना नहीं है, इसकी जिम्मेदारी स्वयं जीवात्मा की है। ईश्वर ने जो नियम बनाए हैं, उनके अनुसार ही जीवात्मा भोग करता है। यदि मनुष्य का कर्म अच्छा है, तो उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा, बुद्धि भी निर्मल होगी, हर कार्य के लिए निर्णय भी सही होंगे तथा उसके अन्तःकरण में उठने वाले विचार भी शुद्ध होंगे। जिस व्यक्ति का कर्म बुरा होगा, वह पाप में लिप्त होगा, उसका अन्तःकरण अशुद्ध होगा, अन्तःकरण से उठने वाली वृत्तियाँ भी अच्छी नहीं होंगी। इन्हीं गलत वृत्तियों के कारण, उसके द्वारा किए गए कर्म भी अच्छे नहीं होंगे। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि एक पर ईश्वर की कृपा है और दूसरे पर ईश्वर की नाराजगी है, इसलिए ये मनुष्य ऐसा कर्म कर रहे हैं। ईश्वर ने एक नियम बना दिया है, हर जीवात्मा को अपने अनुसार कर्म करना है। जीवात्मा कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। जिस जीवात्मा का कर्म जैसा होगा, वह वैसा ही भोग करेगी। इसमें किसी की कृपा या नाराजगी नहीं होती है।

ईश्वर को प्राप्त करना है तो उसके लिए कर्म करना होगा। किसी की कृपा का इंतजार करने का कोई लाभ नहीं है। जब आप कर्म करेंगे तब ईश्वर अवश्य प्राप्त होगा। इस प्रकार ईश्वर की प्राप्ति स्वयं आपकी योग्यता होती है। किसी की कृपा नहीं होती है। कृपा उसे कहते हैं, जिसके हम योग्य न हों और वह वस्तु प्राप्त हो जाए। जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाए, तो इसे कहेंगे कि विद्यार्थी योग्यता के कारण पास हुआ है, न कि परीक्षक की कृपा के कारण उत्तीर्ण हुआ है। परीक्षक की कृपा हम तब समझेंगे, यदि कोई विद्यार्थी उत्तीर्ण होने की योग्यता नहीं रखता हो, फिर भी परीक्षक उसे उत्तीर्ण कर दे। परीक्षा में वही उत्तीर्ण होता है जिसमें उत्तीर्ण होने की योग्यता होती है। इसी प्रकार कहा जाता है कि भगवान अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं, तब दर्शन देते हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि भगवान अपने भक्त की योग्यता के कारण ही दर्शन देते हैं। आपके अन्दर योग्यता कर्मों के द्वारा ही आएगी, इसलिए कर्म पर विश्वास रखो। कुछ पाना है तो कर्म करो, कर्मों के द्वारा अपने आप को योग्य बनाओ।

वेद भी कर्मवाद को मानते है। वेदों में कई जगह पर लिखा मिलेगा कि शुभ कर्मों के करने से अमरत्व मिलता है। जीव अपने कर्मानुसार बार-बार संसार में पैदा होता और मरता है। वेदों के अनुसार जीव अपने दुष्ट कर्मों के कारण ही पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। जीव अपने अगले जन्म में अपने ही वर्तमान के शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगता है। अच्छे कर्म करने वाले मनुष्य मरने के बाद 'देवयान' मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। साधारण कर्म करने वाले लोग 'पितृयान' मार्ग से चन्द्र लोक जाते हैं और नीच कर्म करने वाले लोग मरने के बाद पेड़-पौधों के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं।

मनुष्य अपने कर्मों के अन्तर के कारण ही, दूसरे मनुष्य के समान नहीं होता है। कुछ दीर्घायु होते हैं, कुछ अल्पायु होते हैं। कुछ स्वस्थ होते हैं, कुछ अस्वस्थ होते हैं। कुछ गरीब होते हैं, कुछ अमीर होते हैं, कुछ राग-द्वेष व लड़ाई-झगड़े में लिप्त रहते हैं और कुछ शान्त, सरल और परोपकार में तत्पर रहते हैं। भगवान गौतम बुद्ध का शिष्य एक बार उनके पास आया। उसका सिर फटा हुआ था, सिर से रक्त बह रहा था। भगवान गौतम बुद्ध ने कहा– "इसे ऐसे ही सहन करो। तुम अपने उन कर्मों का फल सहन कर रहे हो, जिसके लिए तुम्हें बहुत समय तक नरक का कष्ट सहन करना पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का उत्तरदायी है। कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुम्हें अपने कर्मों के अनुसार ही फल भोगना पड़ रहा है, इसलिए दुखी मत हो।"

यदि किसी दुश्चरित्र वाले मनुष्य ने पाप कर्म किया है, तो उसे अवश्य नरक की यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। यदि किसी सुचरित्र वाले व्यक्ति से पाप कर्म हो गया हो, तो उसे जीवन में थोड़ा सा ही कष्ट

झेलकर छुटकारा मिल जाएगा। यह इस प्रकार होता है यदि एक कटोरी के पानी में नमक का ढेला डाल दिया जाए तो सारा पानी नमकीन हो जाता है और पानी पीने लायक नहीं रहेगा। वही नमक का ढेला किसी नदी के पानी में डाल दिया जाए तो उसमें कोई भी दोष समझ में नहीं आयेगा। दूसरे शब्दों में, नमक के ढेले का असर नदी के पानी में न के बराबर रहेगा। आपने देखा होगा, बुरे कर्म करने वाला मनुष्य खूब पापयुक्त कर्म करता है मगर उसे जरा भी कष्ट नहीं उठाने पड़ते हैं। ऐसे मनुष्यों का पाप का घड़ा भरता रहता है। जब पाप का घड़ा भर जाएगा, फिर उसे असहनीय नरकीय कष्ट उठाने होंगे, चाहे ये कष्ट उसे अगले जन्म में ही क्यों न उठाने पड़ें। मगर जो मनुष्य अच्छे कर्म करने वाला है, उसे अपने पापयुक्त कर्म का तुरन्त फल भोगकर नष्ट करना होगा क्योंकि अच्छे कर्म करने वाले मनुष्य में पाप कर्म टिकता नहीं है।

जब साधक की अत्यन्त उच्चावस्था आती है तब उसके चित्त के सारे कर्माशय नष्ट हो जाते हैं अथवा भोग लिए जाते हैं। चित्त सत्त्वगुण के कारण निर्मल हो जाता है। इस अवस्था में साधक द्वारा किए गए अच्छे-बुरे कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता है। वह साधक अच्छे-बुरे कर्मों से ऊपर उठ जाता है, क्योंकि चित्त साधक द्वारा किए गए कर्मों का साक्षात्कार करा देता है, इसलिए कर्म उसके चित्त पर नहीं कर्माशय ठहरते। साधक की अज्ञानता भी नष्ट हो चुकी होती है। सिर्फ उन्हीं कर्मों का फल बनता है, जो अविद्या के कारण वासनाओं (कामनाओं) से प्रेरित होते हैं। कर्मों से छुटकारा मिल जाने पर (चित्त कर्मशून्य हो जाने पर) कर्मों के फल नहीं बनते हैं, जैसे किसी भुने हुए अनाज को यदि खेत में बो दिया जाए तो उस बीज से अंकुर नहीं निकलेगा। साधकों, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जो कर्म अविद्या (अज्ञान) से युक्त होते हैं, उन्हीं का कर्मफल बनता है, तभी मनुष्य कर्मों का फल भोगने के लिए मजबूर होता है। जब योग के अभ्यास के प्रभाव से साधक ज्ञान प्राप्त करता है, तो अज्ञान (अविद्या) स्वयं नष्ट हो जाता है। माया का आवरण भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। मनुष्य अज्ञानता और माया के प्रभाव से ही जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है।

साधकों! कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद भी शेष कर्माशय चित्त में रहते हैं। यह कर्माशय योगी को ध्यानावस्था में कभी-कभी किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ते हैं। जब तक यह कर्माशय भोग कर समाप्त न कर दिये जाए, तब तक जन्म लेना निश्चित है। महर्षि पतंजलि के अनुसार इन शेष कर्माशयों के समाप्त होने के पश्चात् ही मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मगर आदिगुरु शंकराचार्य के अनुसार शेष कर्माशयों की समाप्ति के बाद भी जन्म हो सकता है। इस जगह पर कुम्हार के चाक का उदाहरण देते हैं। बर्तन बनाने

के बाद चाक बिना उद्देश्य के ही घूमता रहता है, इसी तरह शेष कर्मों के अन्त के बाद भी जन्म हो सकता है। उन्हें अवतार कहते हैं।

कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद योगी को जो दीपशिखा के समान जलती हुई ज्योति उसके चित्त में दिखाई देती है, वह वास्तव में चित्त की एक सात्त्विक वृत्ति होती है जो कि संस्कार के रूप में चित्त में स्थित है। ऐसी वृत्ति सात्विक व अत्यन्त शक्तिशाली होती है, इसीलिए वह ऐसा स्वरूप धारण कर लेती है। साधक इसे ही आत्म-साक्षात्कार समझने लगता है, जबकि चित्त में कर्माशय अभी भी शेष होते हैं। ये कर्माशय रजोगुण व तमोगुण से युक्त वृत्तियों के रूप में रहते हैं। निर्विकल्प समाधि के बाद भी यह शेष कर्माशय नष्ट नहीं होते हैं। इस अवस्था में साधक के चित्त के अन्दर अभी तमोगुणी अहंकार, अविद्या, माया, आदि मौजूद रहते हैं। साधक को इन्हीं शेष कर्माशयों के कारण शुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

ये शेष कर्माशय समाधि अथवा योगबल के द्वारा जलाये नहीं जा सकते। इन शेष कर्माशयों को साधक भोगकर ही नष्ट करता है। यह शेष कर्माशय बहुत ही क्लेशात्मक होते हैं। साधक जब इन कर्माशयों को भोगता है तो उसे स्थूल जगत में निश्चय ही अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है, साधक की बहुत ही दुर्गति होती है, ऐसा प्रकृति का नियम होता है। इसलिए ऐसे कर्माशय निर्विकल्प समाधि के कठोर अभ्यास के बाद भी नष्ट नहीं होते हैं। साधक इन शेष कर्माशयों को जैसे-जैसे भोगता है, उसके चित्त के अन्दर रजोगुण व तमोगुण की मात्रा घटने लगती है। फिर तमोगुणी अहंकार और साथ में अविद्या भी नष्ट होने लगती है। अविद्या की अनुपस्थिति में माया का प्रभाव साधक पर नहीं पड़ता क्योंकि उसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होने लगता है। चूँकि माया अविद्या का सहारा लेकर ही मनुष्यों को भ्रमित किए रहती है, माया का आवरण नष्ट होने के कारण साधक को स्थूल संसार की वास्तविकता का ज्ञान होने लगता है। जब शेष कर्माशय भोगकर नष्ट कर दिये जाते हैं, तब साधक को शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में साधक द्वारा किए गए कर्मों के संस्कार चित्त पर नहीं पड़ते हैं क्योंकि साधक किसी भी कर्म को निष्काम भाव से करता है।

जब तक शुद्ध ज्ञान परिपक्व नहीं होता है, तब तक बीच-बीच में व्युत्थान की वृत्तियाँ (रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ) प्रकट हो जाती हैं। ऐसा आत्मा और चित्त में भिन्नता के ज्ञान में शिथिलता आने के कारण होता है। जब आत्मा और चित्त की भिन्नता के ज्ञान में प्रबलता आती है, तब व्युत्थान की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। यह क्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि शुद्ध ज्ञान परिपक्व नहीं हो जाता है।

ज्ञान परिपक्व होने पर साधक द्वारा किए गए कर्मों के संस्कार जैसे ही उसके चित्त पर पड़ते हैं, चित्त द्वारा उन संस्कारों का साक्षात्कार करा दिया जाता है, इससे संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

साधक इस अवस्था में भली प्रकार समझ लेता है कि कर्म प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा किए जाते हैं। 'कर्म मैं कर रहा हूँ', यह भान समाप्त हो जाता है। चूँकि 'मैं कर्त्ता हूँ' का भान कराने वाला तमोगुणी अहंकार मूल स्त्रोत में विलीन हो चुका होता है, अब केवल सात्विक अहंकार शेष रह गया है। अब साधक अपना कर्म भोग निवृत्ति के लिए करता है अथवा ईश्वर की आज्ञा समझकर सभी प्राणियों के कल्याण हेतु करता है।

साधकों! यदि आप गौर पूर्वक देखें तो पाएँगे कि बहुत से साधक जब साधना शुरू कर देते हैं, तब उनके सामने ढेरों कष्ट आ जाते हैं, जबकि साधक को पहले इतने कष्ट नहीं मिलते थे। इसका कारण यह है कि साधना के कारण उसके चित्त में स्थित कर्माशय बाहर निकलने लगते हैं, जिन्हें साधक भोगने पर मजबूर होता है। ये कष्टदायक कर्माशय उसके द्वारा पूर्वकाल में किए गए कर्मो के कारण होते हैं। साधक को ऐसे (कष्टदायक) कर्माशय भोगते समय प्रसन्न होना चाहिए कि आपके चित्त में कर्माशय कम हो रहे हैं क्योंकि चित्त को कर्मों से शून्य बनाना है।

अब मैं कुछ शब्द उन साधकों के लिए लिखना चाहूँगा जो अत्यन्त कठोर साधना करते हैं तथा उनका एक ही लक्ष्य रह गया है– आत्मा में अवस्थिति। साधक पहले कठोर साधना करके अपना ब्रह्मरन्ध्र खोलें। इसके बाद मन्त्रजाप का भी सहारा लें तथा कठोर जाप करें ताकि मन्त्र सिद्ध हो सके। मन्त्र बोलने का तरीका सही होना चाहिए। किसी अनुभवी साधक से पूछ लें अथवा दिव्य दृष्टि का प्रयोग कर किसी सूक्ष्म शक्ति से जानकारी हासिल कर लें। ऐसे मन्त्र का जाप करें जिससे शक्ति निकलती हो, जैसे– 'ॐ' मन्त्र का जाप अच्छा रहेगा। जब मन्त्र सिद्ध हो जाए अथवा अधिक शक्ति निकलने लगे, तब इसी का सहारा लेकर अपना योगबल बढ़ाइए। योगबल का काफी भण्डार होने पर, योगबल का संकल्प करके अपने कर्मों पर ही प्रहार करो। यह क्रिया करते समय आपको अन्तरिक्ष में स्थित सूक्ष्म शक्तियाँ रोक भी सकती है। उनका रोकना उचित भी है क्योंकि योगबल का कर्म पर प्रभाव करते समय सूक्ष्म लोक प्रभावित होंगे। इस क्रिया से आपके चित्त से कुछ न कुछ कर्म निकलेंगे, कुछ जल जाएँगे। जब कर्माशय निकलने शुरू होंगे, तब निकट भविष्य में आपको कष्ट मिलने शुरू हो जाएँगे। फिर भी कर्मों पर रोज प्रहार करें। इससे आपको निश्चय ही भविष्य में लाभ प्राप्त होगा, भविष्य में आपको कम जन्म लेने पड़ेंगे तथा योग में उच्च स्थिति प्राप्त होगी। इस बात का अवश्य ध्यान रखिए कि यह क्रिया करने पर आपको ढेरों

कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। सच तो यह है कि मैंने भी यही क्रिया की थी तथा दुर्गति सही थी, अब योग में अत्यन्त उच्चतम अवस्था पर आ गया हूँ। मैं अब भी कठोर साधना करता हूँ। जब तक स्थूल शरीर हमारा साथ देगा अथवा स्थूल शरीर में हूँ, कठोर साधना करता रहूँगा।

प्रिय साधकों! आप यह तो नहीं सोचने लगे कि मैं इस प्रकार का (कठोर) कार्य करने के लिए क्यों प्रोत्साहन दे रहा हूँ, जबकि सहज ध्यान योग शान्ति का मार्ग है। यह मैंने सिर्फ उन साधकों के लिए लिखा है, जो अत्यन्त कठोर साधना करते हैं तथा भविष्य में कठोर साधना करने की इच्छा रखते हैं। ऐसा साधक निश्चय ही भविष्य में महान योगी बनेगा। यह क्रिया प्रत्येक साधक से हो भी नहीं सकती है।

अहंकार और इन्द्रियाँ

अहंकार चित्त की पहली विकृति है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि चित्त में अहंकार बीज रूप में छिपा रहता है। सृष्टि के समय, गुणों के परिणाम से अहंकार विकृत होकर बहिर्मुख होने लगता है। बहिर्मुखी होने का कारण रजोगुण व तमोगुण हैं। तमोगुण के प्रभाव से अहंकार में अविद्या बीज रूप में छुपी रहती है। अहंकार ही एकत्व और बहुत्व में अलगाव प्रकट करता है। फिर जीवात्मा के अन्दर 'मैं हूँ' का भाव प्रकट होता है, तथा कर्त्तापन का भी भाव आ जाता है। अहंभाव के कारण ही जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग समझने लगता है, यही कारण है कि जीवात्मा का पतन होना शुरू हो जाता है। अहंभाव आने का कारण रजोगुण व तमोगुण है, इन्हीं दोनों गुणों की अधिकता के कारण ऐसा होता है। अहंकार में दो विषम परिणाम हो रहे हैं– **(1) ग्रहण** और **(2) ग्राह्य**। ग्रहण का अर्थ यहाँ पर– जिसके द्वारा कुछ लिया गया है। **ग्राह्य** का अर्थ है– ऐसा कुछ जो ले लिया गया है। अहंकार के यही दोनों परिणामों के कारण जीवात्मा की दूरी अपनी मूल उत्पत्ति से बढ़ जाती है क्योंकि अब अहंकार ही अपने आप को सर्वेसर्वा मानने लगता है एवं अहंकार से बुद्धि विकृति रूप में बहिर्मुखी हो रही होती है। अहंकार की अपेक्षा बुद्धि में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ती जाती है। यह बुद्धि निर्णय अथवा निश्चय करने का कार्य करती है। जब बुद्धि में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता और आ जाती है, तब मन व्यक्त भाव में बहिर्मुखी होने लगता है। यह मन इच्छाएँ चलाने का कार्य करता है। यह मन दस इन्द्रियों का स्वामी है। दसों इन्द्रियाँ मन के अधीन कार्य करती हैं। अहंकार के सत्त्वगुण में, रजोगुण व तमोगुण कुछ विशेषताओं के साथ अधिकता से विकृत होते हैं व पाँच तन्मात्राएँ व्यक्त भाव में बहिर्मुखी हो रही हैं। पाँचों तन्मात्राओं व दसों इन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वगुण में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता पाँचों सूक्ष्म व स्थूल पंचतत्त्वों में क्रमश: और भी बढ़ जाती है। इस स्थूल संसार में रजोगुण व तमोगुण ही पूरी तरह से व्याप्त हो रहा है। इन्हीं दोनों गुणों का व्यवहार ही प्रमुख रुप से चल रहा है। पाँचों तन्मात्राएँ व दसों इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर में और स्थूल शरीर में क्रमश: व्यक्त भाव में बहिर्मुखी हो रही हैं।

अहंकार से लेकर स्थूल शरीर तक रजोगुण व तमोगुण की अधिकता क्रमश: बढ़ती जाती है। इसी प्रकार शुरुआत में सत्त्वगुण जो प्रधानता में विद्यमान था, वह क्रमश: धीरे धीरे कम होता जाता है। स्थूल शरीर तक आने में सत्त्वगुण सिर्फ गौण रूप में रह जाता है। रजोगुण व तमोगुण समयानुसार प्रधानता धारण करते रहते हैं। पहले सत्त्वगुण प्रधान था, अब तमोगुण प्रधान है। स्थूल संसार में रजोगुण व तमोगुण की प्रधानता होती है। स्थूल शरीर व स्थूल संसार, दोनों का ही पूरी तरह से गुणों के कारण मेल-सा हो जाता

है। जीवात्मा तमोगुण के प्रभाव से अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। भूलने का एक कारण और भी है– तमोगुण की अधिकता से जीवात्मा पर अविद्या का अधिकार पूर्ण रूप से हो जाता है। अविद्या के कारण ईश्वर की एक शक्ति माया का प्रभाव भी जीवात्मा पर पूरी तरह से हो जाता है। माया के प्रभाव से जीवात्मा भ्रम में रहती है। इसी कारण मनुष्य स्थूल संसार को अपना समझने लगता है। मनुष्य की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण, मनुष्य एक तरह से इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है। तमोगुण प्रधान मन अपनी मनमानी करता रहता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य घोर कष्ट उठाता हुआ स्थूल संसार में लिप्त रहता है।

इन्हीं इन्द्रियों के कारण राग, द्वेष, क्लेश और सकाम कर्म होते हैं। सकाम कर्मों के कारण उन्हीं के अनुसार कर्माशय बनते हैं। इन्हीं कर्माशय के अनुसार मनुष्य जन्म, जीवन और मृत्यु को प्राप्त होता है। जब मनुष्य जीवन काल में होता है, तब वह स्थूल पदार्थों का भोग करता है। इसी भोग के अनुसार सुख और दु:ख उत्पन्न होते हैं तथा राग के कारण तृष्णा बढ़ती है। जैसे-जैसे मनुष्य की आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे यह तृष्णा भी बढ़ती है। जीवन की समाप्ति पर अर्थात मृत्यु के समय तो मनुष्य की तृष्णा चरम बिन्दु पर होती है। फिर मृत्यु अपने प्रभाव में ले लेती है, इसके बाद फिर जन्म होता है, अर्थात जन्म-जीवन-मृत्यु का चक्र घूमता रहता है, यह चक्र कभी समाप्त नहीं होता है। यदि मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से बचना है तो उसे योग का सहारा लेना होगा। योग के माध्यम से इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं तथा अपने मूल स्त्रोत में विलीन होकर प्रभावहीन सी होकर रहने लगती हैं। जब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तब स्थूल संसार से लगाव हट जाता है क्योंकि इस संसार की वास्तविकता साधक जान जाता है।

ध्यान देने योग्य बात यह है, अहंकार तो ईश्वर में भी होता है। अब आप सोचेंगे, उसके अन्दर मनुष्यों के समान इन्द्रियाँ आदि व्यवहार क्यों नहीं करती हैं क्योंकि मनुष्य में भी अहंकार है। मनुष्य का अहंकार उल्टे-सीधे कार्य करता रहता है, मगर ईश्वर का अहंकार ऐसे कार्य क्यों नहीं करता है? इसका कारण यह है कि ईश्वर का अहंकार विशुद्ध सत्त्वगुण द्वारा बना हुआ होता है। विशुद्ध सत्त्वमय होने के कारण अहंकार में विकृति नहीं आती है। इसका कारण यह भी है कि ईश्वर के चित्त में गुणों की साम्यावस्था है। साम्य परिणाम में सत्त्वगुण सदैव सत्त्वगुण में रहता है, रजोगुण सदैव रजोगुण में रहता है, तमोगुण सदैव तमोगुण में रहता है। इसलिए विकृति को अवसर नहीं मिलता है क्योंकि एक गुण दूसरे गुण पर दबाव नहीं देता है। दबाव न देने के कारण रजोगुण व तमोगुण जो अत्यन्त गौण हैं सदैव गौण रूप में रहते हैं। जबकि जीवात्माओं के चित्त में गुण एक-दूसरे को सदैव दबाने का प्रयास करते रहते हैं, इसलिए जीवात्माओं के चित्त की अवस्था सदैव बदलती रहती है। इन्द्रियाँ जो तमोगुण प्रधान होने से सांसारिक

पदार्थों के भोग में लिप्त रहती हैं, उसका फल जीवात्मा को सुख-दु:ख, जन्म-आयु-मृत्यु के रूप में मिलता रहता है।

अहंकार के जो विषम परिणाम हो रहे हैं, वे दो प्रकार के होते हैं– **(1) ग्रहण रूप में** और **(2) ग्राह्य रूप में**।

(1) ग्रहण रूप में – अहंकार में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ने के कारण विकृति होकर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का स्वामी मन होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य करके मन को संकेत भेजती हैं, इनका स्वामी मन फिर जैसा कहता है, उसी के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

(2) ग्राह्य रूप में – अहंकार में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ने से विकृति होकर पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। फिर रजोगुण व तमोगुण की और अधिकता बढ़ने से बहिर्मुखी हो रही हैं। ये पाँच तन्मात्राएँ हैं– (1) शब्द, (2) स्पर्श, (3) रूप, (4) रस और (5) गन्ध। शब्द तन्मात्रा का सम्बन्ध आकाश तत्त्व से है। आकाश का अर्थ है रिक्तता। आकाश का स्वभाव शब्द है। स्पर्श तन्मात्रा का सम्बन्ध वायु तत्त्व से है, इसलिए वायु की अनुभूति स्पर्श से होती है। रूप तन्मात्रा का सम्बन्ध अग्नि तत्त्व से है। रस तन्मात्रा का सम्बन्ध जल तत्त्व से है। गन्ध तन्मात्रा का सम्बन्ध पृथ्वी तत्त्व से है। जल तत्त्व और पृथ्वी तत्त्व ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जिनकी स्थूलता सभी को स्पष्ट दिखाई देती है क्योंकि दोनों तत्त्वों का घनत्व भी सबसे ज्यादा है।

स्थूल तत्त्व (जो गिनती में पाँच हैं) और तन्मात्राओं के बीच एक और अवस्था है जिसे सूक्ष्म तत्त्व कहते हैं। इसी सूक्ष्म तत्त्व का सम्बन्ध स्थूल तत्त्व से भी है और तन्मात्राओं से भी है। अब यह कहा जा सकता है, स्थूल तत्त्व से तन्मात्राओं तक सूक्ष्मता द्वारा एक तारतम्य चला आ रहा है, अर्थात तन्मात्राओं और स्थूल तत्त्वों को जोड़ने वाली बीच की कड़ी सूक्ष्म तत्त्व है। पाँचों तन्मात्राओं का कार्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ करती हैं। तन्मात्राओं और ज्ञानेन्द्रियों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। ये इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में व्यक्त होकर बहिर्मुखी हो रही हैं। स्थूल शरीर में इन इन्द्रियों के अलग-अलग स्थान इस प्रकार हैं: **(1) कान,**
(2) त्वचा, (3) आँखें, (4) जिह्वा तथा **(5) नाक**। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियों के नाम इस प्रकार हैं: **(1) हाथ, (2) पैर, (3) मुँह, (4) जननेन्द्रिय** और **(5) गुदा**।

स्थूल तत्त्व और तन्मात्राओं के बीच की अवस्था का जो वर्णन किया गया है, उन सूक्ष्म तत्वों से सूक्ष्म शरीर बनता है। इसलिए इस सूक्ष्म शरीर में सभी इन्द्रियाँ व तन्मात्राएँ होती हैं। स्थूल शरीर की जिस इन्द्रिय से कार्य लिया जाता है अथवा जो इन्द्रिय कार्य करती है, उससे वही सूक्ष्म इन्द्रिय प्रभावित होती है। सूक्ष्म इन्द्रिय अपना संकेत अपने स्वामी मन को दे देती है। अब मन सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय को अपना संकेत दे देता है कि अमुक कार्य करो अथवा न करो या किस प्रकार करना है आदि। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य कार्य कर तो रहा है बाह्य इन्द्रियों से, मगर वास्तव में बाह्य इन्द्रियों का निर्देशन सूक्ष्म इन्द्रियाँ कर रही हैं। इन बाह्य इन्द्रियों द्वारा किए कर्मों के फल, अर्थात सुख और दु:ख की अनुभूति भी सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही कराती हैं। हालाँकि आमतौर पर समझा जाता है कि बाह्य इन्द्रियाँ सुख और दुख की अनुभूति कर रही हैं, मगर ऐसा नहीं है। अनुभूति सूक्ष्म है, न कि स्थूल। इसलिए स्थूल इन्द्रियाँ सुख-दु:ख नहीं भोग सकती हैं, सिर्फ सूक्ष्म इन्द्रियों का निर्देश मानती हैं।

अब तन्मात्राओं को ले लें। स्थूल ज्ञानेन्द्रिय ही सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय को संकेत भेजती है। स्थूल ज्ञानेन्द्रिय ने जो भी सूचना ग्रहण की होती है, वह सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय ले लेती है। ज्ञानेन्द्रिय इस सूचना को ग्रहण करती है और अपने स्वामी मन को दे देती है। सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय स्थूल ज्ञानेन्द्रिय में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहती है क्योंकि हम पहले लिख आएँ हैं कि स्थूल से लेकर तन्मात्राओं तक एक सूक्ष्म तारतम्य है। ये तारतम्य स्थूल ज्ञानेन्द्रिय में व्याप्त रहता है। जब भी कोई बाह्य अनुभूति स्थूल ज्ञानेन्द्रिय के सम्पर्क में आती है, तो तुरन्त ही सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय क्रियाशील हो जाती है और अपना कार्य करने लगती है। अगर यह कहा जाए कि स्थूल शरीर की ज्ञानेन्द्रियाँ सिर्फ ज्ञान ग्रहण करने का स्थान हैं, तो यह सत्य होगा क्योंकि वास्तव में ग्रहण तो सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ ही करती हैं। यदि सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय कार्य करना बन्द कर दें तो स्थूल इन्द्रिय द्वारा किए गये कार्य का कोई अर्थ नहीं निकलेगा क्योंकि सूक्ष्म इन्द्रिय तो अपना कार्य कर ही नहीं रही होती है, अर्थात इन्द्रिय का कार्य बेकार हो गया, फिर मनुष्य के लिए वह इन्द्रिय बेकार समझो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि स्थूल शरीर की इन्द्रिय किसी कारणवश खराब हो गयी, तो भी वह इन्द्रिय कार्य करने में असमर्थ होगी। बेकार हुई इन्द्रिय का सम्बन्ध सूक्ष्म इन्द्रिय से नहीं हो पाता है, अथवा सूक्ष्म इन्द्रिय का संकेत बेकार हुआ। इस दशा में भी इन्द्रिय क्रिया शून्य होती है। उदाहरण– कभी-कभी मनुष्य को सुनाई देना अथवा दिखाई देना बन्द हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि सूक्ष्म इन्द्रिय ने किसी कारण से कार्य करना बन्द कर दिया अथवा स्थूल रूप से देखने या सुनने वाला स्थान क्षतिग्रस्त हो गया है। उपचार सिर्फ स्थूल शरीर का किया जाता है। यदि स्थूल रूप से कमी आयी है, तब उपचार द्वारा वह क्रियाशील

हो सकती है अथवा उपचार सम्भव है। अगर वह इन्द्रिय सूक्ष्म रूप से खराब हुई है, तब आधुनिक चिकित्सा द्वारा उपचार सम्भव नहीं है।

अब शायद पाठकगण समझ गए होंगे कि स्थूल शरीर सिर्फ कार्य करने का यन्त्र मात्र है। कार्य कराने की क्रिया तो सूक्ष्म शरीर करता है। कार्य करते-करते स्थूल शरीर रूपी यन्त्र जब कमजोर पड़ जाता है अर्थात बुढ़ापा आ जाता है, तब एक समय आता है कि स्थूल शरीर में कार्य करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। बाह्य इन्द्रियाँ भी शिथिल पड़ जाती हैं। तब सूक्ष्म शरीर स्थूल से अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेता है और स्थूल शरीर को छोड़कर चला जाता है अर्थात मृत्यु हो जाती है।

अहंकार का विकृत रूप बुद्धि, बीज रूप में छुपी होती है। जब अहंकार में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ जाती है, तब बुद्धि व्यक्त रूप में बहिर्मुखी होने लगती है। जब बुद्धि में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ती है, तब मन बहिर्मुखी होने लगता है क्योंकि बुद्धि में मन बीज रूप में विद्यमान रहता है। मन इन्द्रियों का स्वामी है। बुद्धि का कार्य है निर्णय करना अथवा निश्चय करना। स्मृति का कार्य भी बुद्धि का ही है। तमोगुण से आच्छादित बुद्धि सदैव अज्ञान युक्त होती है, इस अवस्था में किया गया निर्णय भी अज्ञान से मिश्रित होता है। इसलिए अक्सर मनुष्यों का निर्णय अधर्म युक्त होता है क्योंकि राग-द्वेष और तृष्णा के कारण सही निर्णय करने में असमर्थ होते हैं। हर संसारी मनुष्य सुख चाहता है, दु:ख नहीं। मगर यह संसार दुखों से भरा हुआ है, सुख सिर्फ क्षणिक होता है।

मनुष्य का मन व इन्द्रियाँ तमोगुण की प्रधानता लिए हुए हैं, इसलिए जो मनुष्य मन और इन्द्रियों के वशीभूत होकर अधर्म युक्त कार्य करता है, उसका फल राग-द्वेष, सुख और दुख है। इसी कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने निज स्वरूप की प्राप्ति करे जिसे वह भूल गया है। निज स्वरूप अर्थात आत्मा की अनुभूति तभी होगी, जब इन्द्रियों को अन्तर्मुखी किया जाए। इन्द्रियों को अन्तर्मुखी तभी किया जा सकता है, जब तमोगुण व रजोगुण को प्रधानता से हटाकर सत्त्वगुण की अधिकता लायी जाए, अर्थात् इन्द्रियों को सांसारिक भोगों से हटाना होगा। साथ ही सत्त्व प्रधान कार्य करने होंगे, अर्थात् आध्यात्मिक मार्ग पर चलना होगा। आध्यात्मिक कार्य करने से चित्त में आध्यात्मिक कर्माशय बनेंगे। ऐसे कर्माशय योग करने में सहायक होंगे। योग के द्वारा मनुष्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर सकता है। जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होंगी. तब तमोगुण कम होगा तथा रजोगुण की भी प्रबलता कम होगी। इस अवस्था में सत्त्वगुण बढ़ेगा। इन्द्रियों के अन्तर्मुखी होने पर मन भी अन्तर्मुखी होने लगेगा। मन बुद्धि में कुछ समय के लिए विलीन होने का प्रयास करेगा। इसी प्रकार क्रमश: जो जिसकी विकृति है, वह अपने

मूल स्त्रोत में विलीन होने का प्रयास करेगा। योग के अधिक अभ्यास पर सत्त्वगुण की अधिकता आने लगेगी तथा अन्त में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने लगती है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति पर यह संसार सारहीन भासित होने लगता है।

कुछ मनुष्यों का सोचना है कि अहंकार बहुत खराब चीज है, मगर ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि अहम एक अच्छी चीज है। यदि अहंकार नहीं होगा तो इस संसार में कुछ भी नहीं होगा। स्थूल संसार की सारी क्रियाएँ ठप्प पड़ जायेंगी। किसी कार्य को करने में अहंकार अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अहंकार के कारण ही जीवात्मा अपने आपको ब्रह्म से अलग समझती है। अगर यह कहा जाए कि अहंकार तो ईश्वर के अन्दर भी रहता है तो यह गलत नहीं होगा। मगर, ईश्वर के अहंकार में और मनुष्य के अहंकार में कोई समानता नहीं होती है। ईश्वर का अहंकार विशुद्ध सत्त्वगुण से बना होता है। मनुष्य का अहंकार तमोगुण प्रधान होता है। तमोगुण प्रधान होने के कारण वह सदैव अज्ञान में लिप्त रहता है। इसीलिए मनुष्य इस प्रकार सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि अहंकार ही सबसे ज्यादा खराब वस्तु है। यदि इसे दूसरी ओर से सोचें कि अहंकार से तमोगुण की प्रधानता को यदि योग के अभ्यास द्वारा इतना कम करे दें कि वह सिर्फ गौण रूप में रह जाए, तब यही अहंकार फिर सत्त्वगुण प्रधान हो जाएगा, अज्ञानता मिट जाएगी और माया का प्रभाव भी समाप्त हो जाएगा। तब शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होगी। उस समय यह अहंकार (सत्त्वगुण प्रधान) अपने कर्त्तापन का भाव भूल जाता है, उसमें निष्काम भाव आ जाता है। निष्काम भाव से किये गये कर्मों के चित्त पर कर्माशय नहीं बनते हैं। तमोगुण प्रधान अहंकार, अविद्या और माया से युक्त रहता है। अविद्या के कारण ही चित्त पर कर्माशय बनते हैं, इन कर्माशयों के फल सुख और दुख हैं। सुख कम है और दुख ज्यादा होता है।

प्रत्येक मनुष्य में बुद्धि निर्णय करने का कार्य करती है। ज्ञानयोग के साधक इस बुद्धि को विज्ञानमय कोष कहते है। बुद्धि का कार्य है– निश्चय करना और स्मरण करना। इसी के द्वारा समाधि अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद रहता है। बुद्धि का उदय अहंकार में तम और रज की मात्रा बढ़ने पर होता है। बुद्धि (विवेक) की सहायता से मनुष्य आत्मा और प्रकृति का भेद समझ कर अपने वास्तविक रूप की विवेचना कर सकता है। सत्त्वगुण की अधिकता होने पर बुद्धि में धर्म, ज्ञान और वैराग्य बढ़ता है। तमोगुण बढ़ने पर इसमें अधर्म, अज्ञान और आसक्ति बढ़ती है। बुद्धि जब निर्मल या शुद्ध होती है, तब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और मन में ठहराव आ जाता है, मन की चञ्चलता चली जाती है। यह साधक की उच्चावस्था होती है। साधारण पुरुष में बुद्धि किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं करा पाती है और सही निश्चय करने

में भी असमर्थ होती है। इसका कारण मनुष्य में अविद्या व आसक्ति है। कुछ मनुष्यों का सोचना होता है कि अमुक कार्य मैंने बुद्धि से खूब सोच-विचार कर किया था, फिर मैं गलत मार्ग में कैसे भटक गया। कुछ मनुष्यों का कहना है कि जब कोई कार्य करो तो बुद्धि से नहीं, बल्कि आत्मा से सोच-विचार कर करो, फिर सफलता अवश्य मिलेगी। इसी प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार की दलीलें देता है। सच तो यह है कि ऐसे मनुष्यों की बुद्धि तमोगुण की अधिकता के कारण सही निर्णय नहीं ले पाती अथवा वे अपनी इच्छा को ही बुद्धि का निर्णय समझ लेते हैं। सही रूप से जानकारी न होने के कारण मनुष्य कहता है कि आत्मा से सोचकर कार्य करना चाहिए। आत्मा तो अकर्त्ता व अभोक्ता है, विकार से रहित है, फिर वह कैसे निर्णय करने का कार्य करेगी। निर्णय करने का कार्य सिर्फ बुद्धि का है, अन्य किसी का नहीं।

बुद्धि में मन बीज रुप में स्थित रहता है। जब बुद्धि में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ने लगती है, तब मन व्यक्त रूप में बहिर्मुखी होने लगता है। मन की दो अवस्थाएँ होती हैं– (1) अन्तर्मन और (2) बहिर्मन। अन्तर्मन को उत्कृष्ट मन भी कहते हैं। बहिर्मन को निकृष्ट मन कहते हैं। बहिर्मन सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहता है, यह इन्द्रियों को स्थूल कार्यों के लिए प्रेरित करता है। इसकी गति इतनी तीव्र होती है कि सारे संसार में इसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। क्षण भर भी कभी स्थिर नहीं बैठता है, बस इधर-उधर भागना इसका कार्य है, बड़ा चञ्चल है। इसे आराम से समझाओ तो जल्दी समझ में नहीं आता है।

अब हम इस पर ध्यान दें कि मन को इतनी शक्ति कहाँ से मिलती है, तो पायेंगे कि इसको शक्ति प्राणों से मिलती है और प्राणों को शक्ति अन्न से मिलती है। साधक को ध्यानावस्था में मन की एकाग्रता चाहिए। मन एकाग्र होने वाला नहीं है, इसे तो इधर-उधर भागने की आदत पड़ी है। मन की चञ्चलता को स्थिर करने के लिए साधक को प्राणायाम का सहारा लेना चाहिए। प्राणायाम करने से प्राणों की गति कम होने लगती है। साधक जब प्राणायाम द्वारा कुम्भक करता है, तब प्राण एक जगह स्थिर हो जाता है। जब प्राण शरीर के अन्दर रुकता है, तब मन को शक्ति मिलनी बन्द हो जाती है अथवा कम हो जाती है। उस समय मन उतनी देर के लिए ठहर जाता है, अर्थात् मन स्थिर हो जाता है। इसलिए साधक को मन को रोकने के लिए प्राणायाम अवश्य करना चाहिए।

मन कोई साधारण वस्तु नहीं है कि उस पर तुरन्त काबू पा लिया जाए क्योंकि उसकी कार्य-प्रणाली बड़ी सशक्त होती है। मन के अधीन दस इन्द्रियाँ होती हैं। ये दसों इन्द्रियाँ अपने स्वामी (मन) के लिए हमेशा कार्य करने को तैयार रहती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी सांसारिक पदार्थों की जानकारी मन को देती हैं।

मन कब चुप बैठने वाला है– मन तुरन्त कर्मेन्द्रियों को निर्देश देता है। कर्मेन्द्रियाँ मन के अनुसार कार्य करने के लिए आतुर हो जाती हैं। वे मन की आज्ञा का उल्लन्घन कैसे कर सकती हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ अपने स्वामी मन की बड़ी आज्ञाकारी होती हैं। उन कर्मेन्द्रियों से अमुक कार्य होगा अथवा नहीं, इससे इन्हें कुछ लेना-देना नहीं होता है, बस कार्य करने के लिए क्रियाशील हो पड़ती हैं। इन कार्यों को करने के लिए अहंकार भी साथ देता है। अहंकार प्रेरित करता है कि अमुक कार्य क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा, चाहे सम्पूर्ण कार्य को करने में अवरोध क्यों न हों। किसी कार्य को करने में बुद्धि भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि किसी भी कार्य को करने का निर्णय बुद्धि ही करती है।

ज्ञान योग के अनुसार शरीर में पाँच कोश होते हैं। तीसरा मनोमय कोष यही मन है। मनोमय कोष ही सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर को जोड़ने का कार्य करता है। मगर मनोमय कोष का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर रहता है, इसका प्रभाव कारण शरीर पर नहीं पड़ता है। मनोमय कोष को शुद्ध करने के लिए, प्राणमय कोष को शुद्ध करना आवश्यक है। प्राणमय कोष अन्नमय कोष की अपेक्षा शुद्ध होता है, अर्थात् मन को शुद्ध व स्थिर करने के लिए सात्त्विक भोजन व प्राणायाम जरूरी है। यदि साधक का भोजन तामसिक है, तब मन भी वैसा ही बनेगा। सात्त्विक भोजन भी यदि तामसिक व्यक्ति ने बनाया है, तब इसका प्रभाव मन पर पड़ेगा। साधक के ध्यान में तामसिक मन अवरोध है।

मनुष्य के चित्त में जिस प्रकार की वृत्तियाँ उठती हैं, वही मन का रूप धारण कर लेती हैं। चित्त में संचित कर्म व प्रारब्ध कर्म के संस्कार रहते है। मनुष्य का पिछला कर्म जिस प्रकार का रहा होता है, उन्हीं कर्मों के अनुसार मन हो जाता है। कुछ मनुष्य कहते हैं– "मैं जानता हूँ कि यह कार्य बुरा है। बुरे कार्य का बुरा ही परिणाम निकलता है। फिर भी वह कार्य मेरे द्वारा हो जाता है। मैं अपने आपको रोक नहीं पाता हूँ।" इसका मतलब यह है कि उस मनुष्य की बुद्धि ने निर्णय तो सही किया कि यह कार्य बुरा है, मगर संस्कारवश उसका मन बहुत अशुद्ध है। इसलिए उससे बुरा कार्य हो जाता है। साथ में ऐसे कार्यों में अहंकार हिम्मत बढ़ाए रखता है। इसलिए संस्कार जैसे होंगे, मन भी वैसा ही होगा। किसी मनुष्य के संस्कार यदि चोरी करने अथवा झगड़ा करने वाले हैं, तो वह चोरी अथवा झगड़े में रुचि अवश्य रखता होगा, चाहे चोरी अथवा झगड़ा भले ही न करे।

ज्यादातर साधकों की समस्या होती है कि जब वह ध्यान पर बैठते हैं, तब उनके मन में गन्दे विचार बहुत आते हैं। कभी-कभी ऐसे विचार आते हैं जैसा इस जीवन में सोचा ही नहीं था। इसका यही कारण है कि उनके चित्त से पिछले जन्मों के संस्कार निकलने लगते हैं। ऐसे संस्कार निकलना बन्द भी

नहीं हो सकते हैं क्योंकि यह उनके पिछले जन्मों की कमाई है जो संस्कारों के रूप में जमा है, अब उनकी सफाई होनी शुरू हो गयी है। ऐसी अवस्था में साधक को घबराना नहीं चाहिए और न ही ऊबना चाहिए। जो विचार आये तो आने दें। अन्दर की सफाई हो रही है। समय चाहे जितना लग जाए, ऐसे विचार कभी न कभी अवश्य बन्द हो जायेंगे। साधक को धैर्य से कार्य लेना चाहिए।

मनुष्य को कभी-कभी हठपूर्वक भी मन से कार्य ले लेना चाहिए, जिससे मन को अच्छे कार्यों में लगने की आदत पड़ सके। यदि कोई युवक है, तब उसका मन मित्रों के साथ बैठकर बातचीत करने के लिए उत्सुक होगा, घूमने के लिए, फिल्में आदि देखने के लिए लालायित रहता है। उस युवक को चाहिए कि अपने मन को हठपूर्वक रोक दे। उसी समय मन्दिर के लिए अथवा सन्तों के प्रवचन सुनने के लिए चल दे। हालाँकि वहाँ पहुँचने पर उसका मन नहीं लगेगा, फिर भी बैठा रहे और रोजाना यही क्रिया करे, तब कुछ समय बाद पायेगा कि उसका मन मन्दिर में व सन्तों के प्रवचन सुनने में रूचि लेने लगा है। एक समय ऐसा भी आयेगा कि उसका मन आध्यात्मिक कार्यों में पूरी तरह से रम जाएगा और बुरी आदतें छूटने लगेंगी। इसी प्रकार जरूरत पड़ने पर मनुष्य को बुरी आदतों की जगह अच्छी आदतें डालने का अभ्यास करना चाहिए। कुछ समय बाद आपकी बुरी आदतें छूटने लगेगी और अच्छी आदतों का अभ्यास हो जाएगा।

कानों को आदत डालनी चाहिए कि वे ईश्वर का गुणगान व शिक्षाप्रद बातों को सुनने का अभ्यास करें और उनमें रूचि लें। जिस जगह पर दूसरों की निन्दा हो रही हो या अपमान किया जा रहा हो, उसमें रूचि नहीं लेना चाहिए, बल्कि उठकर चल देना चाहिए। आँखों को अच्छा देखने की आदत डालनी चाहिए। हाथों को अच्छा काम करने की आदत डालनी चाहिए, जिससे दूसरों का भला हो। ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जो सामाजिक दृष्टि से अशोभनीय व निंदनीय हो, जिससे दूसरों को कष्ट होता हो। इसी प्रकार अच्छा बोलना चाहिए, जो दूसरों को अच्छा लगे। इसी प्रकार हमें सभी इन्द्रियों को शिक्षित करना चाहिए ताकि इन्द्रियों की लिप्तता सांसारिक पदार्थों से कम हो जाए। इसी प्रकार धीरे-धीरे आपका मन आपका कहना मानने लगेगा। जब आपका मन आपका दोस्त बन जाएगा, फिर यह आपका साथ देने लगेगा और अन्तर्मुखी होने लगेगा।

जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, उस समय भी ये इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में पहले की भाँति दिखाई देती हैं, मगर उनका स्वभाव व कार्य शैली बदल जाती है। इन्द्रियों में सात्त्विकता आने लगती है, फिर आप की इन्द्रियों से किसी को दु:ख अथवा नुकसान नहीं होगा। अब आपको अपने शत्रु भी अच्छे व्यक्ति

के रूप में दिखने लगते हैं। सभी के प्रति आपका आदर भाव होता है। मन में स्थिरता आने लगती है। स्थूल पदार्थों से पहले जैसा लगाव नहीं रह जाता है। मन अति सूक्ष्म होकर तेज रूप में आँखों द्वारा बाहर को गमन करता है। पहले यही तेजस रूप में निकला मन अपनी पसन्द की वस्तु पर ठहरकर चञ्चल हो उठता था, मगर अब इसकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है। आँखों के द्वारा निकला तेजस रूप में मन इधर-उधर फैला रहता है। यदि फैले हुए तेजस रूपी मन को एक बिन्दु या एक लक्ष्य पर केंद्रित करने का अभ्यास कर लें, तो मन की शक्ति अपार रूप से बढ़ जाएगी। एक कहावत है एकता में शक्ति होती है। इसी प्रकार तेजस रूपी किरणें एकत्र होने पर शक्तिशाली हो जाती हैं। शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि अब मनुष्य इसी मन से ढेरों आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। ऐसा मनुष्य अपने मन को सैकड़ों-हजारों किलोमीटर दूर भेजकर अपना कार्य करा लेगा, जैसे दूर की जानकारी लेना, दूर सन्देश भेजना, कहीं दूर स्थित मनुष्य से अपनी इच्छानुसार कार्य करा लेना, यहाँ तक कि बीमार मनुष्य का इलाज भी किया जा सकता है। मगर ऐसे कार्य सिर्फ परोपकार की दृष्टि से ही करने चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। वरना गलत कार्य करने वाले को उसके कर्मों की सजा अवश्य मिलेगी।

जब तक मन गन्दा रहेगा, तब तक ईश्वर प्राप्ति में यह मन अवरोध का काम करता है क्योंकि ईश्वर और साधक के बीच यही गंदगी की दीवार बनी रहती है। अर्थात् जब तक आप मन की सफाई नहीं करेंगे, तब तक कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है, इसलिए साधक के लिए मन की सफाई करना जरुरी है। जब मन की सफाई हो जाएगी, तब आपका मन शीशे के समान शुद्ध हो जाएगा। फिर आपका मन ईश्वर प्राप्ति में सहायक हो जाएगा। जो अभी तक सांसारिक पदार्थों की ओर भागता था, अब उसका भागना बन्द हो जाएगा। फिर मन ईश्वर चिन्तन व ईश्वरीय आनन्द में लगा रहेगा। जब मन शुद्ध हो जाता है, तब चित्त में संस्कारवश गन्दी वृत्तियाँ उठें भी तो इन वृत्तियों का प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। जिस मन को स्थूल संसार की असारता का ज्ञान होने लगता है, ऐसे साधक के अन्दर अद्वैत भाव का उदय होने लगता है, द्वैतभाव नष्ट होने लगता है। यह सब तभी होगा जब अन्त:करण में सत्त्वगुण का प्रभाव अधिक होने लगेगा, तब बुद्धि भी निर्मल होने लगती है।

आप तालाब के गन्दे पानी में अपनी शक्ल देखना चाहें तो बिल्कुल नहीं दिखेगी। पानी में मिली हुई मिट्टी की सफाई कर दें, उसमें उगा हुआ शैवाल भी उखाड़कर फेंक दें। फिर वह पानी साफ हो जाएगा, मगर उसमें आपकी परछाई या चेहरा फिर भी नज़र नहीं आयेगा क्योंकि उसमें लहरें उठ रही होती हैं, हमें उन लहरों को शान्त करना होगा। जब लहरें बिल्कुल शान्त हो जाएंगी, फिर आपका चेहरा बिल्कुल साफ

नजर आयेगा। यहाँ पर समझने की बात यह है कि पानी स्वच्छ है, मगर वायु के कारण उठी लहरों में आपका चेहरा साफ नजर नहीं आता है। यहाँ पर लहरों के द्वारा ही अवरोध है। इसी प्रकार आपको सिर्फ अपना मन ही शुद्ध नहीं करना है, बल्कि चित्त में उठी वृत्तियों को भी शान्त करना होगा, तभी आपको अपनी आत्मा की परछाई दिखाई पड़ेगी।

मनुष्य को जो स्वप्न दिखाई देते हैं, उस स्वप्न का कारण यही मन (बहिर्मन) होता है। मनुष्य तीन अवस्थाओं में रहता है– (1) जाग्रत अवस्था, (2) स्वप्नावस्था और (3) सुषुप्तावस्था। वैसे चौथी अवस्था तुरीयावस्था है, मगर यह अवस्था सिर्फ साधक को ही प्राप्त होती है क्योंकि तुरीयावस्था में अन्तर्मन कार्य करता है। उस समय बहिर्मन, अन्तर्मन में विलीन रहता है। जाग्रत अवस्था में मन का स्थान मस्तक (आज्ञा चक्र) है। यदि आप ध्यान दें, मनुष्य जब कुछ सोचता है, तब सोचते समय मनुष्य मस्तक पर जोर लगाता है अथवा जब कोई भूली हुई बात याद करने की कोशिश करता है, तब अपनी अंगुलियाँ कभी-कभी मस्तक पर लगाता है। उस समय वह अपने मन पर दबाव देता है ताकि जो बात वह सोच रहा है, वह उसे याद आ जाए। सुषुप्तावस्था में मनुष्य को गहरी नींद आती है। उसे स्वयं अपनी भी सुध-बुध नहीं रहती है। उस समय उसका मन कण्ठ चक्र में स्थित रहता है। इस अवस्था में मनुष्य का सूक्ष्म शरीर भी बिल्कुल शान्त रहता है। वह कारण शरीर में रहता है।

स्वप्नावस्था में मनुष्य का मन हृदय चक्र में स्थित रहता है। यहीं पर चित्त का स्थान है। इसलिए वृत्तियाँ भी यहीं से उठती हैं। इस अवस्था में मनुष्य सूक्ष्म शरीर में अवस्थित रहता है। स्वप्न दिखाने का काम मन ही करता है। मन में अपार शक्ति होती है। वह स्वयं अपना संसार बसा लेता है। मन जैसा चाहता है, उसका वैसा ही संसार होता है। मन के द्वारा बनाया गया संसार मनुष्य को स्वप्नावस्था में दिखाई देता है। स्वप्न में मनुष्य जो देखता है, वह उसे उस समय सच लगता है, मगर जब वह जागता है तब वही स्वप्न मिथ्या साबित होता है। स्वप्न में मन स्वयं एक से अनेक हो जाता है। उस समय जो भी वस्तु दिखाई देती है वह सब मन ही है। चाहे नदी, तालाब, पहाड़, पेड़, भीड़-भाड़ के दृश्य अथवा अन्य वस्तुएँ सब मन ही हैं। एक तरफ मन स्वयं द्रष्टा है, दूसरी ओर वही मन दृश्य है। स्वप्न में मन के सिवाय कुछ भी नहीं होता है। अब प्रश्न उठता है कि स्वप्न क्यों आते हैं। मनुष्य जब कोई कार्य जाग्रत अवस्था में पूरा नहीं कर पाता है अथवा किसी कार्य को करने की सोचता है तो उसका संस्कार चित्त में बन जाता है। फिर वही स्वप्न में दिखाई पड़ता है कि मनुष्य वही कार्य कर रहा है। स्वप्नावस्था में जो वृत्तियाँ उठती हैं, उन्हीं वृत्तियों को

मन साकार कर देता है। जैसे मनुष्य यदि जाग्रत अवस्था में सोचता है कि उसे कार खरीदनी है, मगर किसी कारण से नहीं खरीद पाता है, तब स्वप्न में देखेगा कि उसने कार खरीद ली है और चला रहा है अथवा खरीदने जा रहा है। इसी प्रकार उसको स्वप्न में बाल्यावस्था की घटनाएँ दिखाई पड़ सकती है। पिछले जन्मों के संस्कारों के कारण उसे पिछले जन्म की घटनाओं के दृश्य भी आ सकते हैं। कभी-कभी मनुष्य को ऐसे भी स्वप्न आ सकते हैं जो उसने कभी सोचा भी न होगा। ऐसे स्वप्न दो प्रकार के कारणों से आ सकते हैं। एक, उसे अपने पिछले जन्म के संस्कारों के कारण आये होंगे। दूसरा, कभी-कभी मन स्वयं काल्पनिक रूप से अपना संसार बना लेता है जिसका संस्कारों से कोई मतलब नहीं होता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं जिसका स्थूल जगत से कोई मतलब नहीं होता है। ऐसे दृश्य सिर्फ काल्पनिक होते हैं।

कुछ मनुष्यों का कहना है कि कभी-कभी उन्हें स्वप्नावस्था में भविष्य की जानकारी हो जाती है अथवा उनका स्वप्न सही निकलता है। इस तरह की क्रियाएँ कभी-कभी मनुष्य को हो जाती हैं। इस तरह की घटनाएँ ज्यादातर तब होती हैं, जब वर्तमान जीवन में उसके द्वारा अच्छे कार्य किये जाते हों और सत्त्वगुण अधिक मात्रा में पाया जाता हो। यदि ये गुण नहीं हैं, मनुष्य पापी और क्रूर है, तब उसके पिछले अच्छे संस्कारों के कारण उसे ऐसी जानकारी मिली होगी, मगर ऐसी घटना कभी-कभी ही घटती है।

मनुष्य जब स्वप्न देखता है, तब उसे उस समय सब सत्य सा लगता है। उस स्वप्न में जो भी दृश्य देखता है, परन्तु जाग जाने पर उस स्वप्न से कोई मोह नहीं होता है क्योकि उसे असलियत का पता चल जाता है। अब यह देखा जाए कि स्वप्न और स्थूल जगत में अन्तर क्या है क्योंकि स्वप्न भी उस समय सत्य सा प्रतीत होता है। स्वप्न की संरचना मन करता है, जबकि स्थूल संसार की संरचना ब्रह्म करता है। स्वप्न मन स्वयं अकेले देखता है, स्थूल संसार को अनेक मनुष्य देखते हैं। स्वप्न में मन एक से अनेक हो जाता है, जबकि स्थूल संसार में ब्रह्म एक से अनेक हो जाता है। मनुष्य जब जाग्रत अवस्था में आता है, तब स्वप्न मिथ्या लगता है। मगर योगी जब तुरीयावस्था में आता है, तब स्थूल संसार मिथ्या लगता है।

योगी पुरुष को स्वप्न नहीं आते हैं क्योंकि उनका बहिर्मन, अन्तर्मन में विलीन हो चुका होता है। स्वप्न का कारण यही बहिर्मन है। बहिर्मन जब अन्तर्मन में विलीन हो जाता है तब योगी का अन्तर्मन कार्य करता है। अन्तर्मन स्वप्न दिखाने का कार्य नहीं करता है। अन्तर्मन कारण शरीर में रहता है। कारण शरीर आत्मा के निकट का शरीर है। इसलिए यह शरीर आत्मा से प्रभावित रहता है। अन्तर्मन भी आत्मा के अथवा ईश्वर के चिन्तन में लगा रहता है। तब योगी स्वप्नावस्था की जगह योग निद्रा में स्थित रहता है। इस

(योग निद्रा) अवस्था में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह स्वप्न नहीं होता, बल्कि योग सम्बन्धी अनुभव अथवा अनुभूति ही होती है।

चित्त

त्रिगुणात्मक प्रकृति का पहला परिणाम चित्त ही है। इस जगह पर परिणाम का अर्थ है बदलाव, अर्थात अपने पहले रूप को छोड़कर, अन्य दूसरे रूप को ग्रहण कर लेना। तीनों गुणों का परिणाम दो प्रकार का होता है। प्रथम परिणाम साम्य है। साम्य का अर्थ है समान रूप से (जो सदैव एक जैसा रहे)। दूसरा परिणाम विषम है, अर्थात जिसमें समानता न हो। साम्य परिणाम दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि साम्य परिणाम वाला पदार्थ पहले जैसा बना रहता है। सिर्फ साम्य परिणाम का अनुमान लगाया जा सकता है। विषम परिणाम दिखाई पड़ता है क्योंकि उसके स्वरूप में परिवर्तन होता है। जैसे लकड़ी सड़ जाने के बाद मिट्टी में मिल जाती है, लकड़ी का रूप बदल जाता है। यदि लकड़ी में आग लगाकर जलाई जाए तो लकड़ी का स्वरूप अग्नि, धुआं और राख में परिवर्तित हो जाता है, इसे विषम परिणाम कहते हैं। लकड़ी जब तक लकड़ी रहेगी, अर्थात पहले जैसे रूप में रहेगी, तब तक उसे साम्यावस्था कह सकते हैं। मगर लकड़ी सदैव एक जैसी अवस्था में नहीं रह सकती है। कभी-न-कभी वह सड़ जाएगी अथवा रूपांतर होने लगेगी। इसलिए पूर्ण रूप से साम्यावस्था नहीं कह सकते क्योंकि विषमावस्था को प्राप्त हो गयी है। साम्यावस्था वह है जो सदैव एक जैसी रूप में रहे। अब आप कह सकते हैं कि लकड़ी साम्यावस्था में नहीं थी। उसके अन्दर अति सूक्ष्म रूप से परिणाम हो रहा था। चित्त का निर्माण गुणों के आधार पर होता है। जिस प्रकार गुणों के दो परिणाम होते हैं, उसी प्रकार चित्त में भी दो प्रकार के परिणाम होते हैं।

गुणों की साम्यावस्था के कारण जिस चित्त का निर्माण होता है, वह विशुद्ध सत्वमय चित्त होता है। इस प्रकार का चित्त सिर्फ ईश्वर का होता है ऐसे चित्त में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती है। विकृति न होने का कारण स्वयं गुण ही है। इस अवस्था में गुण एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते हैं। सत्त्वगुण, सत्त्वगुण में रहता है। रजोगुण अत्यन्त गौण रूप में रजोगुण में रहता है। तमोगुण अत्यन्त गौण रूप में तमोगुण में रहता है। चेतन तत्त्व का प्रकाश चित्त पर पड़ता है जिससे चित्त भी प्रकाशित सा हो जाता है। यह गुणों का प्रथम परिणाम है, इसलिए चित्त भी सर्वव्यापक सा हो जाता है। ईश्वर का चित्त सर्वव्यापक होने के कारण कहा जाता है कि सभी सृष्टि सर्वव्यापी ईश्वर में समाई हुई है। यह सत्य भी है, इसीलिए ईश्वर को साक्षी व दृष्टा कहा जाता है क्योंकि चूँकि सब-कुछ ईश्वर के अन्दर समाया हुआ है, इसीलिए वह सभी के विषय में जानता है।

गुणों की विषमावस्था के द्वारा भी चित्त का निर्माण हुआ है। ऐसा चित्त भी सत्त्वगुण की प्रधानता वाला होता है। ऐसे चित्त के सत्त्वगुण में क्रिया होना रजोगुण का विषम परिणाम और क्रिया को रोकना

तमोगुण का विषम परिणाम होता है। ऐसे चित्त असंख्य हैं, ये जीवात्माओं के चित्त हैं। ऐसे चित्तों में अहंकार बीज रूप में छिपा रहता है। रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से अहंकार बहिर्मुखी होने लगता है। इसीलिए अहंकार को चित्त की विकृति कहा गया है। अहंकार की विकृतियाँ तन्मात्राएँ व इन्द्रियाँ है। जैसे-जैसे विकृतियाँ बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ती जाती है, और जीवात्माओं के अन्दर राग-द्वेष, लोभ, लालच, तृष्णा आदि बढ़ते जाते हैं। इसीलिए जीवात्मा स्वयं अपने आपको बन्धन में बांधता जाता है। इसलिए अनंत चित्त व जीवात्माएँ हुईं, अहंकारवश जीवात्मा में कर्तापन का भाव आ गया और पतन का कारण बन गया।

साधकों! अब तर्क किया जा सकता है कि विशुद्ध सत्वमय चित्त में अहंकार नहीं होता है क्या? इसका उत्तर है कि अवश्य होता है, मगर विशुद्ध अहंकार होता है। इसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं आती है जबकि सत्वमय चित्त में विकृति आ जाती है, क्योंकि रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव पड़ रहा होता है। ऐसा विषम परिणाम के कारण होता है। विशुद्ध अहंकार में तमोगुण अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता है, मगर सत्वमय चित्त विशुद्धता छोड़े हुए है, इसीलिए तमोगुण का प्रभाव पड़ रहा है। तमोगुण के प्रभाव से अज्ञानता का प्रादुर्भाव होता है; इसीलिए जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग मानता है तथा 'मैं हूँ' की वृत्ति उत्पन्न होती है। अज्ञानता के कारण ही आत्मा और चित्त में अभिन्नता भासित होती है।

जीवात्मा जो भी कर्म करता है, देखता है, सुनता है अर्थात ज्ञानेंन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा किये कर्मों के संस्कार चित्त में चित्रित होते रहते हैं। ये सभी चित्रित संस्कार चित्त में एकत्र होते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार चित्त संकल्प-विकल्प करता है, अहंभाव प्रकट करता है, निर्णय, निश्चय और स्मृति का कार्य करता है। जब संकल्प-विकल्प करता है, तब उसे मन कहते हैं। अहंभाव प्रकट करने पर अहंकार कहते हैं। निर्णय तथा स्मृति के समय उसे बुद्धि कहते हैं। कहीं-कहीं पर अंत:करण का उल्लेख आता है अथवा कहा जाता है कि अंत:करण में अमुक संकल्प, निर्णय अथवा अहंभाव आया। अंत:करण का तात्पर्य है चित्त, अहंकार, बुद्धि व मन। इसे चतुष्टय अंत:करण भी कहते हैं।

मनुष्य जो भी कार्य करता है उसके संस्कार चित्त में एकत्र होते रहते हैं। फिर यही संस्कार वृत्ति रूप में चित्त में उठते रहते हैं। उसी प्रकार की इच्छाएँ (वृत्ति के अनुसार) चलती हैं तथा सुख-दुःख, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है। मनुष्य के चित्त में कर्मों के संस्कार कई-कई जन्मों के पड़े रहते हैं। जब ऐसे संस्कारों का उदय होता है, तभी उनसे सम्बन्धित कर्माशय भोगे जाते हैं। स्वयं मनुष्य को यह मालूम

नहीं पड़ता है कि ये संस्कार कितने जन्म पुराने हैं। जब दु:ख की प्राप्ति होती है, तब मनुष्य कहता है कि ऐसे कर्म तो मैने कभी नहीं किये थे, फिर हमें यह दुख क्यों आ गया। मगर वास्तव में ऐसा दुख स्वयं उसके पूर्व जन्मों द्वारा कमाया गया होता है। मनुष्य के चित्त का निर्माण जब से हुआ है, तब से उसके चित्त में संस्कार पड़ने शुरू हो जाते हैं। ऐसा समझो कि चित्त एक नदी है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है। जिसने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों को भोगने का कार्य किया है, उसकी वृत्तियों का प्रवाह संस्कारों के कारण दुख-रूपी संसार सागर में मिलता है, अर्थात वह संसारी वस्तुओं का भोग करता है। जिसने पूर्व जन्म में कल्याण अथवा योग रूपी कार्य किया है, उसकी वृत्तियों की धारा कल्याण-रूपी अथवा मोक्ष-रूपी अनंत में जाकर मिलती है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के चित्त में जैसा भरा होगा, वह वैसा ही भोग करेगा। जब तक चित्त में कर्माशय हैं, तब तक उसको भोग करने के लिए भूलोक में जन्म लेना होगा, और जब जीवन होगा तो कर्म भी करना होगा। इसलिए मनुष्य को चित्त की वृत्तियों को निरोध करने के लिए योग का सहारा लेना चाहिए।

चित्त की अवस्थाएँ गुणों के कारण पाँच प्रकार की होती हैं। पहली तीन अवस्थाओं में, रजोगुण व तमोगुण की अधिकता से विक्षेप तथा मैल का आवरण बना रहता है। बाद की दो अवस्थाएँ उच्च होती हैं। यह दोनों अवस्थाएँ मनुष्य योग के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। बिना योग के ये दोनों अवस्थाएँ प्राप्त करना सम्भव नहीं हैं। इसलिए ये अवस्थाएँ योगी पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। साधारण या सांसारिक पदार्थों के भोग में लिप्त तृष्णा वाला मनुष्य ये अवस्थाएँ प्राप्त नहीं कर सकता। ये अवस्थाएँ निम्न प्रकार की हैं: (1) मूढ़ावस्था, (2) क्षिप्तावस्था, (3) विक्षिप्तावस्था, (4) एकाग्रावस्था और (5) निरुद्धावस्था।

जब कोई मनुष्य अपने आपको अनुशासित करके योग में आरूढ़ हो जाता है अथवा यदि पूर्व जन्म का योगी है, तब उसके पिछले जन्म के संस्कार भी शीघ्र समाधि की ओर प्रेरित करते हैं। क्योंकि पूर्व जन्मों व वर्तमान कर्मों के कारण शीघ्र सफलता मिलती है और समाधि लगने लगती है, तब उसके चित्त के अन्दर रजोगुण व तमोगुण का प्रभाव कम पड़ने लगता है और सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ने लगती है। इसलिए रजोगुण व तमोगुण की प्रधानता वाली वृत्तियाँ शीघ्र ही तेजी के साथ उठने लगती हैं। इन वृत्तियों के कर्मफल निश्चय ही दु:ख से भरे हुए होते हैं, इसलिए साधक को सांसारिक कष्ट भी मिलते है। कभी-कभी साधक इन्हीं कष्टों के कारण विचलित-सा होने लगता है, मगर दृढ़ता के कारण आगे बढ़ता रहता है। वैसे गन्दे संस्कार भी बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात चित्त में तमोगुण की मात्रा कम होने लगती हैं तथा

सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ने लगती है। अभ्यास बढ़ने के कारण समाधि उच्चावस्था को प्राप्त होने लगती है। तब चित्त में कर्माशय कम होने लगते हैं। कर्माशय कम होने से साधक के जन्म भी घटने शुरू हो जाते हैं अर्थात् साधक को जन्म कम लेने पड़ते हैं।

जिन साधकों की कुण्डलनी पूर्ण यात्रा करके हृदय में स्थिर हो चुकी है तथा गहरी समाधि लगती है, तब इस अवस्था में अनुभव नहीं आते हैं। मगर यह भी देखा गया है कि इस अवस्था में साधक को कभी-कभी कुछ अनुभव आ जाते हैं, जैसे कि हल्के नीले रंग का प्रकाशित अंतरिक्ष दिखाई पड़ता है। इस आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि नहीं होते हैं, ऐसा आकाश साधक ने जाग्रत अवस्था में कभी नहीं देखा होता है। वास्तव में, आकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त ही है। कभी-कभी ध्यानावस्था में सूर्य दिखाई पड़ता है, साधक को लगता है कि मैं सूर्य के अति निकट हूँ। कभी-कभी पूर्ण या अर्ध चन्द्रमा दिखाई पड़ता है। कभी एक तारा बहुत चमकीला दिखाई पड़ता है। बहुत कम साधकों को अत्यन्त तेज मणि दिखाई पड़ती है। यह उज्जल, सफेद प्रकाश की मणि बहुत तेज होती है। यह एक प्रकार की चित्त की अत्यन्त सात्त्विक वृत्ति है। ऐसा समझो, साधक को यदि अत्यन्त तेजयुक्त मणि स्वच्छ आकाश (चित्त रूपी आकाश) में दिखाई पड़े, तो समझ लेना चाहिए कि योगी को उच्चतम अवस्था की प्राप्ति कुछ समय बाद होने वाली है।

जिन साधकों ने सांसारिक विषयों की अभिलाषा छोड़ दी है, अविद्या रूपी क्लेशों के संस्कार थोड़े रह गये हैं, ऐसे साधकों के चित्त में सात्त्विक संस्कार ही उत्पन्न होते हैं। साधकों को निरुद्धावस्था शीघ्र प्राप्त नहीं होती तथा सभी साधकों को यह निरुद्धावस्था प्राप्त नहीं होती है। सच तो यह है कि यह अवस्था प्राप्त करने के लिए योगी को कई जन्मों तक योग करना होता है, तब यह अवस्था प्राप्त कर पाता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक को सांसारिक विषयों के भोग की अभिलाषा पूरी तरह छूट चुकी होती है तथा कई घण्टे लगातार समाधि में स्थित रहता है। इस अवस्था में अनुभव बिल्कुल नहीं आते क्योंकि वृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी होती हैं। निरुद्धावस्था साधक को एकदम प्राप्त नहीं होती है। शुरुआत में मात्र कुछ समय के लिए यह अवस्था रहती है, जबकि योगी समाधि में कई-कई घण्टे बैठा रहता है। वास्तव में, एकाग्र अवस्था की चरम सीमा के बाद इस अवस्था की शुरुआत होती है। इसलिए एकाग्र अवस्था में निरुद्धावस्था का समय बढ़ता रहता है; धीरे-धीरे समय बढ़ते-बढ़ते निरुद्धावस्था की प्राप्ति हो जाती है।

निरुद्धावस्था की प्राप्ति के समय अभ्यासी अपने चेतन स्वरूप में स्थित रहता है। उस समय शेष संस्कार नहीं रहते, चित्त का साक्षात्कार हो चुका होता है। अहंकार में रजोगुण और तमोगुण क्षीण पड़

जाता है, सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ जाती है। इस समय अहंकार में तमोगुण की मात्रा अब सत्व की अपेक्षा बिल्कुल कम रह जाती है। साधक को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जब शेष संस्कार भोग लिए जाते हैं, तब साधक के चित्त में कर्माशय नहीं बनते हैं। कर्माशय न बनने का कारण अज्ञानता की समाप्ति हो जाना है, कर्माशय सिर्फ अज्ञान युक्त कर्मों के बनते हैं। इस अवस्था में चित्त एकदम स्वच्छ हो जाता है। चित्त में रजोगुण व तमोगुण सिर्फ गौण रूप में रहने पर वह शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ हो जाता है। ऐसी अवस्था में किये हुए कर्मों के कर्माशय जैसे ही चित्त पर पड़ते हैं, ज्ञान तुरन्त उन कर्माशयों का साक्षात्कार करा देता है, फिर कर्माशय स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी चित्त पर कर्माशय ठहरते नहीं हैं। अब साधक को कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है।

अब हम उन साधकों के लिए कुछ शब्द लिखेंगे जिन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्होंने वास्तव में आत्म-साक्षात्कार कर लिया है। साधकों का कहना है कि उन्हें आत्मा का दर्शन हुआ है। यदि मान लिया जाए कि वास्तव में आत्मा का दर्शन हुआ है, तब इसका अर्थ है कि उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी। फिर अगला जन्म धारण करने की आवश्यकता क्यों है, अथवा अगले जन्म का प्रयोजन ही क्या है, जिसने प्रकृति के सारे बन्धन तोड़ दिये हैं? मैने ऐसा इसलिए लिखा है क्योंकि आत्म-साक्षात्कार संस्कारों के पूर्णतया अभाव के बाद ही सम्भव हो सकता है, जबकि साधकों का कहना होता है कि आत्म-साक्षात्कार हो गया है, परन्तु अभी कुछ संस्कार शेष हैं, अभी और अगला जन्म लूँगा आदि। आत्म-साक्षात्कार हो जाना, साथ ही कर्माशयों का शेष रहना, दोनों बातें एक साथ असम्भव हैं। यदि आत्म-साक्षात्कार हुआ है तब संस्कार शेष नहीं रहेंगे। अवस्था परम उच्च होगी। अगर संस्कार शेष हैं तो आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ है। वास्तव में आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, बल्कि आत्मा में स्थित हुआ जाता है जिसे स्थितप्रज्ञ भी कहते हैं। आत्मा को कौन देखेगा, वह स्वयं चेतन तत्त्व है। जो दीपशिखा के समान ज्योति दिखाई देती है, वह चित्त पर स्थित अत्यन्त सशक्त सात्विक वृत्ति होती है। अन्य वृत्तियाँ इसका सहयोग करती हैं।

मगर साधकों! आप जो कह रहे हैं वह सही है कि आपने समाधि अवस्था में दीपक की लौ के समान तेजस्वी ज्योति का दर्शन किया है। ऐसा तब होता है जब साधक की कुण्डलनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो जाती है तथा एकाग्रावस्था का अभ्यास काफी बढ़ जाता है, और चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ जाती है। इसलिए सत्त्वगुणी वृत्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती हैं। उनको यह शक्ति आत्मा के प्रतिबिम्ब से मिलती है। अर्थात आत्मा का प्रतिबिम्ब (परछाई) चित्त पर पड़ता है, इसलिए चित्त

स्वप्रकाशित-सा भासित होने लगता है जिससे सत्त्वगुणी वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। तब सबसे शक्तिशाली वृत्ति (सत्त्वगुणी) ज्योति का स्वरूप धारण कर लेती है। ऐसी वृत्तियों में व्यापकता भी आने लगती है। यह सत्त्वगुण की प्रबलता के कारण होता है। तमोगुण कम होने के कारण दबा रहता है और सत्त्वगुण को रोकने का कार्य नहीं कर पाता है। जब वृत्ति ज्योति का स्वरूप धारण करती है, तब चित्त में स्थित सभी वृत्तियाँ उसका समर्थन करती हैं, इसलिए चित्त में सिर्फ ज्योति का स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। यह अवस्था उच्च है, मगर अभी क्लेशात्मक कर्माशय शेष रहते हैं जो साधक को भोग कर ही समाप्त करने होते हैं।

प्रिय साधकों! आपने देखा होगा कि योगी किसी के भी पिछले जन्मों के विषय में बता देते हैं अथवा वर्तमान जन्म के विषय में मुख्य घटनाएँ भी बता देते हैं। प्रश्न यह है कि दूसरों के विषय में अथवा पिछले जन्मों के विषय में कैसे बता देते हैं। जब योगी की उच्चावस्था आती है तो उसके अन्दर यह क्षमता आ जाती है कि वह दूसरे के चित्त के विषय में जानकारी हासिल कर लेता है। एक तरह से दूसरे के चित्त का साक्षात् होने लगता है। चित्त के साक्षात् होने पर संस्कार अपने आप साक्षात् होने लगते हैं। संस्कारों के अनुसार ही योगी सब कुछ जान लेता है, जिसके विषय में भी जानना होता है।

पहले लिखा जा चुका है कि चित्त स्वप्रकाशित नहीं है। चित्त पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है तथा आत्मा के सबसे ज्यादा नजदीक चित्त ही है। चित्त पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से चित्त प्रकाशित होने लगता है तथा चित्त चैतन्य सा मालूम पड़ने लगता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब शीशे पर डाला जाए तो सूर्य की किरणें शीशे पर परावर्तित होने लगती हैं; उस समय लगता है शीशा स्वयं प्रकाशित हो रहा है। क्योंकि उस समय सूर्य की किरणें परावर्तित होने से ऐसा होता है। इसी प्रकार चित्त पर भी शीशे के समान प्रकाश परावर्तित होने के कारण, चित्त प्रकाशित दिखाई पड़ता है। जब चित्त में रजोगुण व तमोगुण सिर्फ गौण रूप में रह जाता है, उस समय चित्त में जितनी शेष वृत्तियाँ रह जाती हैं, वे भी चित्त के प्रकाशित होने के कारण प्रकाशित दिखाई पड़ने लगती हैं। ऐसी वृत्तियों में व्यापकता व अत्यन्त शक्ति आ जाती है। वे किसी का भी रूप धारण कर सकती हैं। यहाँ तक कि वे किसी भी भगवान अथवा देवी-देवताओं का स्वरूप भी धारण कर सकती हैं। ज्योति का भी स्वरूप धारण कर लेती हैं। साधक अपनी उच्च अवस्था में देखता है कि उसे ईश्वर के दर्शन हुए हैं, जबकि वृत्ति ही ईश्वर का स्वरूप धारण कर लेती है।

आप यह कह सकते हैं कि वृत्तियाँ ईश्वर का स्वरूप धारण क्यों करती हैं अथवा कैसे जानें कि वास्तव में ईश्वर का दर्शन हुआ है अथवा वृत्ति का ही खेल है। वृत्ति ईश्वर का स्वरूप धारण इसलिए करती है, क्योंकि यदि साधक ने ईश्वर के दर्शन का इस जन्म में अथवा पिछले जन्म में संकल्प किया हो तो दर्शन

हो सकता है। ईश्वर दर्शन के संकल्प की वृत्ति चित्त पर हो सकती है, वह वृत्ति अब प्रकट हो गयी हो क्योंकि संस्कारों की वृत्तियाँ कई जन्मों पूर्व की चित्त में बनी रहती हैं। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि साधक को जब उचित मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है और उस समय स्थूल संसार में किसी कारणवश मार्गदर्शन नहीं मिल पा रहा हो, तब ब्रह्माण्ड की सात्त्विक शक्तियाँ स्वयं मार्गदर्शन करने लगती हैं। ये सात्त्विक शक्तियाँ योगी, ऋषि, मुनि, देवता आदि कोई भी हो सकते हैं। मार्गदर्शन के समय वे शक्तियाँ साधक के चित्त में सात्विक वृत्ति के सहारे अपना दर्शन कराने लगती हैं। उस समय वे शक्तियाँ अपने स्थान पर ही स्थित रहती हैं। इच्छा करते ही साधक से सम्बन्ध कर लेती हैं, फिर वृत्ति के द्वारा उन्हें दर्शन होने लगते हैं। यह भी हो सकता है कि दिव्य दृष्टि के द्वारा सारा कार्य हो रहा हो। यदि ऐसा है तो दिव्य दृष्टि अपनी शक्ति के अनुसार दर्शन करा रही होती है। दिव्य दृष्टि द्वारा वास्तव में देखा जाता है मगर दिव्य दृष्टि द्वारा देखे गये दृश्य के लिए (समाधि की) बहुत अधिक गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है, एकाग्रावस्था में ही दर्शन होने लगते हैं। सात्विक वृत्तियाँ अक्सर देवी-देवताओं के स्वरूप को धारण कर लेती हैं। सारा वृत्तियों का ही खेल है। अभ्यासी को भ्रमित नहीं होना चाहिए। ऐसी वृत्तियाँ अपनी व्यापकता के अनुसार किसी का भी स्वरूप धारण करने की सामर्थ रखती हैं।

चित्त का आत्मा के सबसे नजदीक होने के कारण, आत्मा का प्रभाव चित्त पर पड़ता है। आत्मा सर्वव्यापक, दृष्टा, ज्ञान का स्वरूप आदि होने के कारण चित्त में भी ऐसे गुण आ जाते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण उसका चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, इससे चित्त भी ज्ञानवान सा भाषित होने लगता है। इसीलिए साधक को उच्चतम अवस्था पर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। वैसे सत्य तो यह है कि चित्त जड़ है क्योंकि प्रकृति द्वारा बना है, इस प्रकृति द्वारा बनी सभी वस्तुएं जड़ होती हैं। चेतन तत्त्व की निकटता के कारण वह चैतन्य सा भासित होता है।

कहा जाता है ईश्वर एक है, आत्मा एक है, परन्तु एक ही प्रकृति से चित्त अलग-अलग अनेक क्यों है? ईश्वर का चित्त गुणों की साम्यावस्था से बना हुआ है। उसके चित्त में किसी प्रकार का परिणाम नहीं हो रहा होता, इसलिए एक है। मगर जीवों की चित्त गुणों की विषमावस्था से बने हैं, इसी कारण चित्त अनेक हैं। गुणों के विषमावस्था के कारण जीवों के चित्त में कर्माशय भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। उन्हीं कर्माशयों के अनुसार मनुष्य का स्वभाव होता है तथा वह कर्मों का भोग करता है। कामी पुरुष को यदि सुन्दर रूप वाली स्त्री मिल जाए तो उसका (कामी पुरुष) चित्त सुखी हो जाता है, उसी स्त्री की सौतन का मन दु:खी हो जाता है, जबकि साधक का चित्त सुन्दर स्त्री के प्रति उदासीन रहता है अर्थात उपेक्षा करता है, ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि चित्त और सुन्दर स्त्री दोनों ही त्रिगुणात्मक प्रकृति हैं। जब तक चित्त में

धर्म, अधर्म और अविद्या बनी रहती है, तब तक सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण की क्रमश: अधिकता से सुख-दुख और मोह हुआ करते हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति पर त्रिगुणात्मक वस्तुओं की उपेक्षा हो जाती है, इसी से स्थूल संसार को मिथ्यावाद, स्वप्नवाद आदि का समाधान समझना चाहिए।

प्रिय साधकों! हम सभी जानते है अथवा सुनते हैं, मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने भूले हुए वास्तविक स्वरूप को पहचाने और उसी में स्थित रहे। ये शब्द हम बड़ी आसानी से कह देते हैं, मगर इस अवस्था की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि असम्भव नहीं है। लोग बड़ी आसानी के साथ कह देते हैं कि अमुक योगी ब्रह्म में लीन हो गया है। अरे साधकों, ब्रह्म में कौन लीन हुआ है, मुझे मालूम नहीं है। चित्त अपना स्वरूप जब तक धारण किये हुए है, तब तक ब्रहा में लीन नहीं हुआ जा सकता, ऐसा कहा जा सकता है। मुझे अच्छी तरह से याद है कि मैंने सप्तऋषियों और कई ऋषियों से बात की, ये भी ब्रह्म में लीन नहीं हो सके। फिर, लीन कौन हुआ है? मुझे मालूम नहीं। कई-कई कल्पों की उम्र वाले ऋषि-मुनि ब्रह्माण्ड में उपस्थित हैं।

मैंने पहले लिखा है कि चित्त की अवस्थाएँ पाँच प्रकार की होती हैं। वे इस प्रकार की हैं: (1) मूढ़ावस्था, (2) क्षिप्तावस्था, (3) विक्षिप्तावस्था, (4) एकाग्रवस्था तथा (5) निरुद्धावस्था।

1. मूढ़ावस्था – इस अवस्था में चित्त में तम प्रधान होता है। रज और सत्त्व दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। इससे मनुष्यों में आलस्य बहुत रहता है तथा निद्रा में खूब रहते हैं। ऐसे मनुष्य नशीले पदार्थ पीकर अपने को नशे में डुबोये रहते हैं। क्रोधी स्वभाव भी होता है। दूसरों का अपमान करने में इन्हें मजा आता है। मनुष्य की प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग-द्वेष आदि में होती है। बुद्धि का विकास बहुत कम हुआ होता है। यह सबसे निम्न अवस्था है।

2. क्षिप्तावस्था – इसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है। तम और सत्त्व दबे रहते हैं। ऐसे मनुष्यों के चित्त में चञ्चलता अधिक रहती है, जिससे वे सांसारिक पदार्थों के भोग के चक्कर में इधर-उधर भटकते रहते हैं। ऐसे मनुष्य धन और वैभव के मद में चूर रहते हैं। सिवाय इन्हीं विषयों के, इन्हें कुछ और नहीं दिखाई देता है।

3. विक्षिप्तावस्था – ऐसी अवस्था में चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता हो जाती है। सत्त्वगुण की अधिकता रहने पर भी, मनुष्य के चित्त में कभी स्थिरता आ जाती है, मगर दूसरे क्षण रजोगुण के कारण अस्थिरता आ जाती है। इस अवस्था में चित्त विक्षिप्त-सा रहता है। साधक को यह अवस्था योग में कभी न

कभी अवश्य आती है। ये तीनों अवस्थाएँ साधारण मनुष्य के अन्दर पायी जाती हैं।

4. एकाग्रावस्था – जब एक ही विषय में वृत्तियों का प्रभाव चित्त में निरन्तर बहता रहे, तब उसको एकाग्रावस्था कहते हैं। योगी को यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में चित्त की वृत्ति इधर-उधर चलायमान नहीं होती है। एक समय में एक ही विषय में लगा रहता है। इस अवस्था में साधक की निर्विकल्प समाधि लगती है तथा विषयों का साक्षात होता है। यह अवस्था स्थूल विषयों से लेकर अहंकार तक चली जाती है।

5. निरुद्धावस्था – जब चित्त में वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है, तब उसमें शेष संस्कार नहीं रह जाते हैं। वृत्तियों के निरोध के कारण इस अवस्था को चित्त की सर्वोच्च अवस्था कहते हैं। किसी भी साधक के लिए यह अवस्था आनी अति आवश्यक है अर्थात साधक को कठोर साधना करके यह अवस्था अवश्य पानी चाहिए। इस अवस्था में निर्बीज समाधि लगती है।

साधक के लिए पहली तीन अवस्थाएँ साधना में अवरोध डालती हैं, मगर उसे दृढ़निश्चय और परिश्रम से इन अवस्थाओं को पार करना चाहिए। यह अवस्थाएं पार करने में उसे कुछ साल अवश्य लग जाते हैं। बाद की दो अवस्थाएँ, चौथी और पाँचवीं, साधक के लिए लाभदायक हैं। साधक में जब तमोगुण क्षीण होने लगता है तथा रजोगुण भी घटने लगता है, तब चित्त में शुद्धता बढ़ने लगती है और साधक के अन्दर ज्ञान व वैराग्य बढ़ने लगता है। यहाँ पर चित्त की जो तीसरी अवस्था है, इस में साधक को कभी-कभी अपना होश नहीं रहता। बाहर से वह पागलों की भाँति दिखता है, मगर पागल न होकर यह मन की उत्कृष्ट स्थिति है। कभी-कभी वह भूल सा जाता है। व्यवहारिक कार्य करते समय उसका मन कहीं और रहता है, इसलिए व्यवहारिक कार्यों में गड़बड़ी भी हो जाती है। इस अवस्था को कुछ लोग उन्मनी अवस्था भी कहते हैं।

साधक इस अवस्था में कभी-कभी अपने मुँह पर थप्पड़ भी मारता है क्योंकि उसकी ऐसी इच्छा चलती है कि मैं अपने आप को थप्पड़ मारूँ। यह अवस्था हमें बहुत दिनों तक रही। मैं अपने आप मुँह पे थप्पड़ जोर-जोर से मारा करता था। एक-दो बार मैंने अपना सिर भी दीवार पर मारा। मुझे अपने आप से डर लगता था कि यह सब क्या है। मगर स्वामी मुक्तानन्द जी की पुस्तक में मिल गया कि यह चित्त की एक अवस्था है, तब मुझे मानसिक शान्ति मिली। मगर इस तरह की क्रिया हर साधक को नहीं होती है।

जिस तरह से प्रकृति दो प्रकार की होती है: (1) परा-प्रकृति, (2) अपरा-प्रकृति; उसी प्रकार चित्त

भी दो प्रकार के होते हैं: (1) विशुद्ध चित्त, (2) परिणामी चित्त। परा-प्रकृति ही मूल प्रकृति है। इस प्रकृति में परिणाम नहीं होता है, सदैव साम्यावस्था में रहती है। इस प्रकार की प्रकृति के द्वारा ईश्वर के चित्त का निर्माण हुआ है। ईश्वर का चित्त साम्यावस्था वाला चित्त कहा गया है। ऐसा चित्त विशुद्ध चित्त होता है, इसमें विशुद्ध अहंकार रहता है तथा तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। अपरा-प्रकृति परिणामी, अर्थात परिवर्तनशील है। इस प्रकृति में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकृति से स्थूल संसार का निर्माण हुआ है। यही कारण है कि स्थूल संसार परिणामी अथवा परिवर्तनशील है। अपरा प्रकृति द्वारा ही जीवों के चित्त का निर्माण हुआ है। जीवों के चित्त, परिणामी चित्त कहे गये हैं। इनकी संख्या अनन्त है। परिणामी चित्त सत्वचित्त ही होते हैं मगर विशुद्धता (अति निर्मलता) को छोड़े हुए होते हैं। ऐसे चित्तों में तमोगुणी अहंकार बीज रूप में रहता है। तमोगुणी रूप में रहने के कारण अहंकार में विकृति पैदा हो जाती है, इसलिए बहिर्मुखी होने लगता है।

आत्मा क्रिया से रहित होते हुए भी चित्त की दृष्टा है। चित्त पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है। उसके प्रकाश में चित्त पर जो कुछ हो रहा है, वह आत्मा को ज्ञात रहता है। चेतन तत्त्व (आत्मा) का सम्बन्ध जब साम्यावस्था वाले चित्त से होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। इसे सगुण ब्रह्म भी कहते हैं। यह सर्वज्ञ है। चेतन तत्त्व का सम्बन्ध जब परिणामी चित्त से होता है तो उसे जीव कहते हैं। ये असंख्य और अल्प ज्ञान वाले होते हैं क्योंकि तमोगुणी अहंकार रज व तम की अधिकता से विकृत होकर बहिर्मुखी हो रहा होता है।

जाग्रत अवस्था में चित्त में सत्त्वगुण हल्का सा दबा रहता है। तमोगुण, सत्त्वगुण को वृत्तियों के वास्तविक रूप को दिखाने से रोके रहता है। रजोगुण प्रधान होकर चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में लगाये रखता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर स्थूल शरीर द्वारा कार्य करती हैं। स्वप्नावस्था में सत्त्वगुण पूरी तरह से दबा रहता है। तमोगुण, रजोगुण को इतना दबा लेता है कि वह चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में नहीं लगा पाता है। किन्तु रजोगुण की क्रिया सूक्ष्म रूप से चलती रहती है। इससे मन, इन्द्रियों के अन्तर्मुखी होने से, सूक्ष्म शरीर में स्वप्न देखने का कार्य करता रहता है। सुषुप्तावस्था में सत्त्वगुण पूरी तरह से दब जाता है। तमोगुण, रजोगुण को भी पूरी तरह से दबा लेता है, फिर स्वयं तमोगुण चित्त पर पूरी तरह से अधिकार कर लेता है। इसीलिए सुषुप्तावस्था में किसी विषय पर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता। सूक्ष्म शरीर में किसी प्रकार का कार्य नहीं होता है। सुषुप्तावस्था कारण शरीर में रहती है।

जब साधक की समाधि लगनी शुरू हो जाती है, तब तमोगुण हल्का सा दबा रहता है। रजोगुण की चित्त में स्थित वृत्तियों को चलायमान बनाने की क्रिया कमजोर पड़ने लगती है। सत्त्वगुण प्रधान होकर

चित्त को एकाग्र करने और वस्तु के वास्तविक स्वरूप को दिखाने में समर्थ होने लगता है। सविकल्प समाधि के समय चित्त में तमोगुण पूरी तरह से दबा रहता है। सत्त्वगुण, रजोगुण को पूरी तरह से दबा देता है तथा चित्त पर पूरा अधिकार कर लेता है। इससे सत्त्वगुण का चित्त पर प्रकाश फैल जाता है। चित्त वस्तु से तदाकार होकर उसका यथार्थ रूप दिखलाने में सामर्थ्यवान हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में एकाग्र वृत्ति बनी रहती है।

शुद्ध ज्ञान की अवस्था में तमोगुण सिर्फ नाममात्र का रहता है। चित्त से तमोगुण व रजोगुण का आवरण हट जाता है। सत्त्वगुण चित्त पर पूरी तरह से अधिकार कर लेता है, जिससे चित्त पर प्रकाश फैल जाता है। रजोगुण केवल इतनी मात्रा में रहता है कि वह आत्मा और चित्त को भिन्न-भिन्न दिखलाने की क्रिया कर सके। निर्बीज समाधि के समय चित्त में तीनों गुणों का बाह्य परिणाम होना बन्द हो जाता है। तीनों गुणों के परिणाम के अभाव में आत्मा और चित्त के भिन्नता का ज्ञान कराने वाली वृत्ति भी रुक जाती है। इससे चित्त चैतन्य स्वरूप आत्मा में अवस्थित हो जाता है।

प्रलय के समय चित्त की अवस्था सुषुप्त जैसी होती है। प्रलय का यह अर्थ नहीं कि जीव को मुक्ति मिल गयी है क्योंकि जीव के चित्त पर जब तक कर्माशय रहेंगे, उसे भोग करना ही होगा, अर्थात जन्म लेना अनिवार्य है। प्रलय के समय चित्त प्रकृति में विलीन हो जाता है। चित्त के अन्दर कर्माशय बीज रूप में बने रहते हैं। चित्त जब प्रकृति में विलीन होता है, तब जीव सुषुप्त जैसी अवस्था में होता है। सृष्टि के समय जीव को फिर अपने कर्माशयों का भोग करने के लिए स्थूल संसार में आना पड़ता है। बस, यही क्रम अनादि काल से चला आ रहा है।

साधकों, जब ध्यानावस्था में साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब उसे हल्के नीले रंग के स्वप्रकाशित आकाश में बिजली सी चमकती हुई दिखाई देती है। यह जो हल्के नीले रंग का स्वप्रकाशित सा आकाश दिखाई देता है, इसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि नहीं होते हैं, यह नीला आकाश चित्त ही है। चित्त ही हल्के-नीले रंग का स्वप्रकाशित सा दिखाई देता है। साधक अपने अभ्यास को जैसे-जैसे बढ़ाता है, वैसे-वैसे सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ती है, चित्त की भी निर्मलता बढ़ती है। उसकी निर्मलता का अन्दाज तब लगने लगता है, जब साधक की कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके हृदय में स्थिर हो जाती है। चित्त में तमोगुण व रजोगुण के संस्कार कम रह जाते हैं, तब साधक के अभ्यासानुसार चित्त में क्रमश: चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, मणि व प्रभा दिखाई देने लगते हैं। इन सबके दिखाई देने से चित्त की निर्मलता का ज्ञान होने लगता है। जब चित्त में प्रभा दिखाई दे, तब साधक को समझ लेना चाहिए कि निकट भविष्य में उसे

उच्चतम स्थिति प्राप्त होने वाली है। कुछ समय बाद साधक को शुद्ध ज्ञान प्राप्त होने लगता है। शुद्ध ज्ञान की परिपक्व अवस्था में साधक को चिर शान्ति प्राप्त होती है।

साधक को ध्यानावस्था में कभी-कभी नदी दिखाई देती है। कभी-कभी अनन्त जलाशय भी दिखाई देता है। साधक ध्यानावस्था में कभी-कभी नदी अथवा जलाशय के पानी के ऊपर चलता है, तैरता है, डुबकी लगाता है, स्नान करता है आदि। यह नदी या जलाशय स्वयं साधक का चित्त ही है। पानी कर्माशय रूप में वृत्तियाँ हैं। जब नदी या जलाशय का पानी गन्दा दिखाई दे, तब समझ लेना चाहिए कि उसके चित्त के ऊपरी सतह पर तमोगुणी कर्माशयों की बहुत अधिकता है। यदि पानी स्वच्छ दिखे, तब इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके चित्त में तमोगुणी वृत्तियाँ नहीं है, बल्कि चित्त में सत्त्वगुणी वृत्तियाँ बढ़ने के कारण पानी स्वच्छ दिखाई देता है। इस पानी में कभी-कभी मगरमच्छ अथवा मछलियाँ भी दिखाई दे सकती हैं। मगरमच्छ तृष्णा, लोभ, मोह आदि का प्रतीक है, मछली किसी बड़ी इच्छा का प्रतीक है। पानी में मछली ज्यादातर उच्चावस्था में दिखाई पड़ सकती है। यह सब मैंने इसलिए लिखा ताकि साधकों को समझने में आसानी हो जाए।

गुण

मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होने के कारण ही सृष्टि में बढ़ोत्तरी होना सम्भव हो पाता है। प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने के साथ-साथ ईश्वर की एक शक्ति माया भी प्रकृति का साथ देती है। माया के प्रभाव से जीव इस संसार में भ्रमित बना रहता है। इन तीनों गुणों के नाम हैं: **सत्त्वगुण, रजोगुण** और **तमोगुण**। सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश व हल्कापन है। रजोगुण का स्वभाव क्रिया व चञ्चलता है। तमोगुण का स्वभाव स्थिति व भारीपन है। ये तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं। जब कोई वस्तु प्रकाशवान होती है, तब उसमें सत्त्वगुण की अधिकता आ जाती है। रजोगुण व तमोगुण उस समय सत्त्वगुण की अपेक्षा काफी कम रहते है। जब कोई वस्तु क्रियाशील होती है तब रजोगुण की अधिकता बढ़ जाती है, सत्त्वगुण व तमोगुण की मात्रा कम पड़ जाती है। इसी प्रकार जब कोई वस्तु स्थिर हो जाती है अथवा स्थिर रहती है, तब तमोगुण की अधिकता बढ़ जाती है, सत्त्वगुण व रजोगुण कम पड़ जाता है। यह तीनों गुण हर पदार्थ में हर अवस्था में विद्यमान रहते हैं, मगर इन तीनों की मात्रा न्यूनाधिक रहती है, कभी समान रूप से नहीं रहते हैं।

इन तीनों गुणों की दो अवस्थाएँ रहती हैं: **(1) साम्यावस्था** और **(2) विषमावस्था**। साम्यावस्था दृष्टिगोचर नहीं होती, विषमावस्था दृष्टिगोचर होती है। परिणामी व विनाशी है। मूल प्रकृति, ईश्वर आदि में गुणों की अवस्था साम्य है। साम्यावस्था के कारण वे अपरिणामी व अनादि हैं। इसीलिए इसका विशुद्ध सत्त्वमय चित्त है। साम्यावस्था का अर्थ है गुण समान रूप से बने रहना। गुणों के समान रूप से होने के कारण गुणों की अवस्था न्यूनाधिक नहीं होती है। एक गुण अपने दूसरे साथी को नहीं दबाता है और न ही दबाने की चेष्टा करता है, इसीलिए किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। परिणाम न होने के कारण अपरिणामी कहा जाता है। ईश्वर का चित्त गुणों की साम्यावस्था व अपरिणामी के कारण सर्वव्यापक है।

गुणों की विषमावस्था के कारण ही परिणाम सम्भव हुआ है। विषमावस्था के कारण गुण समान रूप से एक-दूसरे के साथ नहीं रहते हैं, सदैव न्यूनाधिक रहते हैं। एक गुण दूसरे गुण को सदैव दबाने का प्रयास करता रहता है, इसी क्रिया के कारण एक गुण दूसरे पर हावी बना रहता है। किसी भी वस्तु में कभी सत्त्वगुण की मात्रा अधिक हो जाती है, कभी रजोगुण की अधिकता हो जाती है, कभी तमोगुण की अधिकता हो जाती है। जिस पदार्थ में जिस गुण की अधिकता होती है, उसी का गुण उभरकर आने लगता है। इसी कारण वस्तु में परिवर्तन आने लगता है, यह परिवर्तन सदैव बना रहता है। परिवर्तन को ही परिणाम कहा गया है। इसी परिवर्तन के कारण यह संसार विनाशी कहा गया है क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं का

परिवर्तन होना निश्चित है। परिवर्तन के कारण ही वस्तुएँ एक स्वरूप छोड़कर दूसरा स्वरूप धारण कर लेती हैं। इसी कारण इस संसार की तीन अवस्थाएँ हैं– सृष्टि, स्थिति और प्रलय। इस संसार को क्षणभंगुर इसीलिए कहा गया है।

गुणों की विषमावस्था के कारण ही जीवों के चित्त में छुपा हुआ अहंकार बहिर्मुखी हो जाता है। इसी विषमावस्था के कारण जीवों के चित्त में पहली विकृति के रूप में अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार के बहिर्मुखी होने से अहंकार से विकृति रूप में बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार क्रमश: विकृतियाँ बढ़ती जाती हैं। अन्त में जीवात्मा स्थूल शरीर को प्राप्त होता है। चित्त की जो पहली विकृति अहंकार है, उसमें पहले सत्त्वगुण की अधिकता रहती है, जब क्रमश: विकृतियाँ बढ़ती हैं, तब तमोगुण और रजोगुण के प्रभाव से लोभ, मोह, राग, तृष्णा आदि का जन्म होता है। फिर जीवात्मा इस स्थूल संसार को अपना मानने लगता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इस कारण जीवात्मा में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बढ़ जाती है। सत्त्वगुण की मात्रा कम पड़ने लगती है। मगर तीनों गुण सदैव एक साथ विद्यमान रहते हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि किसी वस्तु से एक गुण चला जाए, सिर्फ दो रह जायें। हाँ, मात्रा बहुत कम अथवा बहुत अधिक हो सकती है।

सत्त्वगुण का रंग उज्जवल सफेद व स्वभाव हल्का है। इसकी अधिकता से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। रजोगुण का रंग लाल व स्वभाव में क्रिया व चंचलता है। इसकी अधिकता से वस्तु या पदार्थ में गति करने की शक्ति आती है। तमोगुण का रंग काला व स्वभाव में भारीपन है। इसकी अधिकता होने पर यह गतिमान पदार्थ को रोकने का कार्य करता है। शरीर में जब तमोगुण प्रधान हो जाता है, तब शरीर भारी हो जाता है तथा काम करने का मन नहीं होता है। सत्त्वगुण में सुख, रजोगुण में दुख, तमोगुण में मोह उत्पन्न होता है।

गुणों की विषमावस्था के कारण चित्त से विकृति रूप में अहंकार बहिर्मुखी हो रहा है। अहंकार की विकृति ग्रहण रूप में मन है। मन की विकृति इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों का स्वामी मन है। दूसरी तरफ अहंकार की ग्राह्य रूप में विकृति पाँच तन्मात्राएँ है। इन्ही पाँचों तन्मात्राओं से विकृति रूप में सूक्ष्म पञ्चभूत बहिर्मुखी हो रहे हैं। इन्हीं सूक्ष्म पञ्च भूतों से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। सूक्ष्म पञ्च भूतों से विकृति रूप में स्थूल पञ्च भूत बहिर्मुखी हो रहे है। इन्हीं स्थूल पञ्च भूतों से स्थूल शरीर व स्थूल जगत का निर्माण हुआ है। जब साधक समाधि द्वारा इन विकृतियों का साक्षात्कार करता है और समाधि की उच्चतम अवस्था में कर्माशय पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते हैं, तब अहंकार में तमोगुण व रजोगुण समाप्त

होकर सिर्फ गौण रूप में रह जाते हैं। उस समय सत्त्वगुणी अहंकार प्रधान रूप में रहता है। इस अवस्था में साधक को गुणों की विषमावस्था का ज्ञान हो जाता है। अगर यह कहा जाए सारी सृष्टि गुणों का ही परिणाम है, तो यह गलत नहीं है।

गुणों की विषमावस्था का अनुभव हमें इस प्रकार आया, जिसे मैं संक्षेप में लिख रहा हूँ। यह अनुभव जनवरी, 1996 में आया था। ध्यानावस्था में देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर कबूतर, जिसका रंग बिल्कुल सफेद है, दिखने में बहुत आकर्षक है, वह आकाश में उड़ रहा है। उसके उड़ने का तरीका बड़ा विचित्र सा है। वह आकाश में इतनी तीव्र गति से उड़ता है मानो ऐसा लगता है कि पलक झपकाते ही आकाश के एक सिरे से दूसरे सिरे पर पहुँच जाएगा। कभी-कभी आकाश की अनन्त ऊँचाई में चला जाता है, फिर उसी क्षण पृथ्वी पर आ जाता है। मैं ध्यानावस्था में यही सब देखकर हर्षित हो रहा था। कुछ क्षणों में दृश्य बदल जाता है। आकाश में दो कबूतर हैं, एक के ऊपर दूसरा बैठा हुआ है। ऊपर वाला कबूतर नीचे वाले कबूतर के सिर पर चोंच से जोरदार प्रहार कर रहा था। नीचे वाला कबूतर चोंच के प्रहार से शिथिल हो गया और फिर बिल्कुल शान्त हो गया, मानो मर गया हो। उसमें किसी प्रकार का कम्पन नहीं हो रहा था। उसी क्षण देखा, आकाश में उड़ने वाला कबूतर बड़ी तेजी से उड़ता हुआ आया, ऊपर बैठे हुए कबूतर के ऊपर बैठ गया। बैठते ही अपने नीचे वाले (बीच वाले) कबूतर के सिर पर, अपनी चोंच से जोरदार प्रहार करने लगा। चोंच के प्रहार से बीच वाला कबूतर छटपटाने लगा। छटपटाते समय बीच वाले कबूतर ने अपने नीचे वाले कबूतर के भी सिर पर चोंच से प्रहार किया। मगर नीचे वाला कबूतर तो पहले से ही शिथिल पड़ा था, वह (सबसे नीचे वाला) मरा-सा पड़ा रहा। मगर सबसे ऊपर वाला कबूतर, बीच वाले कबूतर पर लगातार प्रहार कर रहा था। अब बीच वाला कबूतर भी शान्त होने लगा। उसी क्षण ऊपर वाला कबूतर आकाश में उड़ गया। फिर पहले की भाँति इधर-उधर उड़ने लगा। इतने में बीच वाले कबूतर के अंदर थोड़ी सी जान सी आ गई, उसी समय आकाश में उड़ने वाला कबूतर, बिजली के समान गति से उड़ता हुआ आया, और बीच वाले कबूतर के ऊपर बैठ गया। फिर वही पहले जैसी क्रिया करने लगा। बीच वाले कबूतर के सिर पर चोंच का प्रहार किया, चोंच बुरी तरह से सिर में घुस गयी। बीच वाला कबूतर तड़पा और फिर शान्त हो गया। फिर ऊपर वाला कबूतर आकाश में उड़ने लगा। मैं ध्यानावस्था में यही क्रिया देख रहा था, अनुभव समाप्त हुआ।

मैं सोचने लगा, अब मुझे अनुभव नहीं आते हैं, लेकिन इस अवस्था में अनुभव क्यों आ रहे हैं। मैं इस अनुभव का अर्थ नहीं निकाल पाया। जब ध्यानावस्था में कई बार अनुभव आया, तब हमें जानकारी

हो गयी, यह तीनों कबूतर तीनों गुणों के प्रतीक हैं। उड़ने वाला कबूतर सत्त्वगुण है, बीच वाला कबूतर रजोगुण है तथा नीचे वाला कबूतर तमोगुण है, जो एक दूसरे को दबाने का प्रयास कर रहे हैं। कुछ दिनों पश्चात् ये अनुभव आने बन्द हो गये। उड़ने वाला कबूतर बहुत ही सुन्दर था। बीच वाला कबूतर उससे कम सुन्दर था। नीचे वाले कबूतर का रंग मटमैला था तथा अच्छा नहीं लग रहा था। यह अनुभव हमारी योग्यता को बता रहा था।

सत्त्व, रज और तम का प्रभाव चित्त पर पड़ता है। मनुष्य का चित्त जब तमोगुण प्रधान होता है तब सत्त्वगुण और रजोगुण दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। यह अवस्था मनुष्य के द्वारा काम, क्रोध, लोभ और मोह के कारण आती है, उस समय मनुष्य की प्रवृत्ति अधर्म, राग-द्वेष आदि में होती है। मनुष्य के चित्त में जब रजोगुण की प्रधानता रहती है, तब सत्त्व और तम दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। यह अवस्था राग और द्वेष के कारण आती है, तब मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान आदि में होती है। जब तमोगुण सत्त्वगुण को दबा लेता है, तब अज्ञान और अधर्म में प्रवृत्ति होती है, और जब सत्त्वगुण तमोगुण को दबा लेता है, तब ज्ञान और धर्म में प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण पुरुषों में होती है। इसीलिए मनुष्य धार्मिक कार्य करता है और अधर्म भी करता है। कभी ज्ञान की बात करता है तो कभी अज्ञान की बात करता है।

जब मनुष्य के चित्त में सत्त्वगुण प्रधान होता है, तब रज और तम दबे हुए रहते हैं। यह अवस्था मनुष्य की उस समय आती है, जब मनुष्य अपने जीवन में लगातार परोपकार व धर्मयुक्त कार्य करता है तथा काम-क्रोध, राग-द्वेष, लोभ-मोह आदि छोड़ने का प्रयास करता है एवं उसकी प्रवृत्ति धार्मिक कार्यों में होती है, ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है, वैराग्य की इच्छा होती है। इस अवस्था में रजोगुण कभी-कभी चञ्चलता का प्रभाव छोड़ता है। इस कारण चित्त में कई प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रकट होने लगती हैं। यह अवस्था श्रेष्ठ पुरुषों की है क्योंकि बाह्य विषयों का प्रभाव चित्त पर पड़ता है, जैसे मन्दिरों, तीर्थ-स्थलों में भ्रमण करना, पूजा करना, आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़ना, धार्मिक कर्म करना आदि। हमारा कहने का अर्थ है कि यह जरूरी नहीं कि यह अवस्था सिर्फ योगी की ही होती है। योग में साधक की जब उच्चावस्था आती है, तब यह स्थिति प्राप्त होती है। फिर आगे की अवस्था सिर्फ योगी की ही होती है, जब सत्त्वगुण अत्यन्त प्रबल होता है, तब रज और तम एकदम गौण हो जाते हैं।

त्रिगुणात्मक प्रकृति का पहला विषम परिणाम चित्त है। सत्त्वगुण में रजोगुण सिर्फ क्रिया मात्र तथा तमोगुण सिर्फ रोकने मात्र होने से चित्त की उत्पत्ति हुई है। इसी क्रिया के कारण सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

जाग्रत अवस्था में मनुष्य में रजोगुण प्रधान रहता है, इसलिए सत्त्वगुण की मदद से (जो कि गौण रूप में है) चित्त को चञ्चल कर बाह्य विषयों में लगाए रहता है। सुषुप्त अवस्था में तमोगुण प्रधान होकर प्रबल बना रहता है, सत्त्वगुण व रजोगुण को जोरदार ढंग से दबाये रखता है, इसीलिए चित्त में तमोगुण की प्रधानता का परिणाम होता रहता है। चित्त की सभी वृत्तियों को दबाकर स्वयं स्थिर रूप में प्रधान रहता है। सुषुप्तावस्था में कुछ भी नहीं दिखाई देता है। अन्धकार अथवा दृश्य का अभाव सा प्रतीत होता है। इस अवस्था से जब मनुष्य जागता है तो कहता है कि मैं सोया था मगर हमें कुछ मालूम नहीं, यह तमोगुण के प्रभाव से कहता है। ऐसा समझो कि तमोगुण का प्रभाव सुषुप्तावस्था में पूरी तरह से रहा। जब सोने के बाद कहे कि मैं ठीक से सो नहीं पाया, मन दुखी सा है, तब समझो रजोगुण का प्रभाव सोते समय हल्का-सा बना रहा। जब सोने के बाद कहे कि मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, तब समझो सत्त्वगुण का प्रभाव हल्का-सा रहा, तथा सोने के बाद शरीर हल्का सा हो जाता है। स्वप्नावस्था में रजोगुण प्रभावी रहता है तथा सत्त्वगुण भी तमोगुण को दबा लेता है। रजोगुण, सत्त्वगुण की सहायता से व्यापार चलाता है।

स्वर्गलोक व ऊपर के लोकों में जो दिव्यात्माएँ हैं, उनके शरीर में सत्त्वगुण-प्रधान रूप से रहता है, रजोगुण और तमोगुण गौण रूप में विद्यमान रहते हैं। मगर, जो जीवात्माएँ मृत्यु के पश्चात् भुवर्लोक में यातनाएँ भोगती हैं, वे तमोगुण प्रधान होती हैं, रजोगुण व सत्त्वगुण दबा रहता है। मृत्यु के पश्चात् जो जीवात्माएँ पृथ्वी की परिधि में भटकती हैं, उनमें रजोगुण प्रधान रूप से रहता है, तमोगुण सत्त्वगुण को दबाये रखता है। भूलोक के नीचे के लोकों में जो जीवात्माएँ रहती हैं, उनमें तमोगुण प्रधान रहता है। भूलोक के नीचे के लोकों के लिए पुराणों में कहीं-कहीं वर्णन आता है कि दिव्यात्माएँ रहती हैं। मैंने उनके लिए नहीं लिखा है कि तमोगुण प्रधान रहता है। मैंने सिर्फ उन जीवात्माओं के लिए लिखा है जो अपने कर्म भोगने के लिए श्राप देकर नीचे के लोकों में पहुँचाई गयीं अथवा कभी-कभी तामसिक शक्तियाँ भी किसी कारण से नीचे के लोकों में कुछ समय के लिए चली जाती हैं। वे क्यों चली जाती हैं, उनका वर्णन करना यहाँ पर उचित नहीं है। ऐसी जीवात्माएँ तमोगुण प्रधान होती हैं।

भूलोक पर तीनों गुणों (क्रमशः अलग-अलग) की प्रधानता वाली जीवात्माएँ रहती हैं। स्वयं मनुष्य भूलोक पर तीनों अलग-अलग गुणों में प्रधान रूप में पाये जाते हैं। पौधों में, पेड़ों में तमोगुण प्रधान रहता है। पशुओं-जानवरों में भी तमोगुण प्रधान रूप में पाया जाता है। मगर पक्षियों, उड़ने वाले कीट-पतंगों में रजोगुण प्रधान रहता है, तमोगुण सत्त्वगुण को दबाये रखता है। सारी सृष्टि में तीनों गुणों के कारण बदलाव होता रहता है। यह क्रिया अनादि काल से चली आ रही है और यही अनंत भविष्य तक चलती रहेगी।

अविद्या और माया

अविद्या का अर्थ है अज्ञान। मनुष्य के अन्दर अविद्या आदि काल से स्थित है। जब ब्रह्म से जीवात्मा अलग होकर अस्तित्व में आयी, तब त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रभाव से चित्त की उत्पत्ति हुई। इस चित्त में सत्त्वगुण प्रधान रूप से था, जबकि रजोगुण क्रिया मात्र तथा तमोगुण क्रिया को रोकने मात्र के लिए थे, अर्थात् रजोगुण व तमोगुण गौण रूप में थे। गुणों के विषम परिणाम के कारण, तमोगुण में थोड़ी अधिकता के कारण चित्त में विकृति रूप में अहंकार बहिर्मुखी होने लगा। क्योंकि चित्त में अहंकार बीज रूप में विद्यमान रहता है। इसी अहंकार में अविद्या बीज रूप में छुपी रहती है। जब अहंकार बहिर्मुखी होने लगता है, तभी से अविद्या (अज्ञान) का प्रभाव जीवात्मा पर पड़ता है। अविद्या के कारण अहंभाव की उत्पत्ति होती है। इसी अहंभाव के कारण क्लेश उत्पन्न होता है और फिर जीवात्मा अपने आपको ब्रह्म से अलग मानने लगती है, त्रिगुणात्मक प्रकृति को अपना मानने लगती है जबकि प्रकृति जड़ है। इसी जड़ प्रकृति को अपना मानने के कारण जीवात्मा को क्लेश सहने पड़ते हैं क्योंकि जीवात्मा को जड़ प्रकृति चैतन्य जैसी लगने लगती है। जड़ प्रकृति स्वयं कुछ नहीं कर सकती है। उस पर चैतन्यमय तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, इसलिए चैतन्य सी दिखती है। यह सब अविद्या के कारण होता है। अविद्या तमोगुणी अहंकार से उत्पन्न हुई है। इसी से राग-द्वेष आदि दुःख उत्पन्न होते हैं।

साधारण मनुष्य अविद्या के कारण स्थूल पदार्थों को अपना मानने लगता है तथा अविद्या से युक्त होकर कार्य करता है। इसी अविद्या युक्त कार्य करने के कारण चित्त में कर्माशय बनते हैं। ये कर्माशय ही मनुष्य के जन्म, आयु और मृत्यु का कारण होते हैं। दुःख, क्लेश, मोह और देहाभिमान अविद्या के कारण होते हैं। अविद्या के कारण पहले जीव का ज्ञान क्षीण होने लगता है, इसी कारण आत्मा और चित्त में भिन्नता नजर नहीं आती है।

मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वे प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। मगर अहंकार वश मनुष्य यह समझ लेता है कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ, यही अज्ञान अर्थात अविद्या है। अविद्या का विरोधी ज्ञान है। ज्ञान जब साधकों में प्रकट हो जाता है, तब अविद्या का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है। वैराग्य के उदय होने पर अविद्या का प्रभाव भी कम पड़ने लगता है। वैसे मनुष्य के शरीर में अविद्या का स्थान कण्ठ चक्र में माना गया है। इसीलिए साधक जब कण्ठ चक्र से ऊपर की स्थिति प्राप्त करता है, तब आज्ञा चक्र पर पहुँचता है। उस साधक के अन्दर ध्यानावस्था में विचार आते हैं 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ', 'कहाँ जाऊँगा' आदि। उसके अन्दर यह सब जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होने लगती है, तथा खोज में लग जाता

है।

साधक जब योग का अभ्यास अधिक करता है और समाधि अवस्था पर आ जाता है, उस समय चित्त की एकाग्रता द्वारा तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। फिर तमोगुणी अहंकार का साक्षात्कार होता है। इसी तमोगुणी अहंकार के साक्षात्कार के समय से अविद्या का प्रभाव कम पड़ने लगता है क्योंकि वैराग्य और ज्ञान का उदय होने लगता है। मगर इस समय अविद्या का विनाश नहीं होता। आगे चलकर निर्विकल्प समाधि लगती है। इस समय कर्माशय अभी शेष रहते हैं। ये शेष कर्माशय अविद्या वाले तथा क्लेशात्मक होते हैं। ये कर्माशय साधक योगबल से जला नहीं सकता क्योंकि प्रकृति का नियम है, ये कर्माशय भोगकर ही समाप्त किये जाते हैं। इसलिए इन कर्माशयों को भोगते समय साधक को बहुत ही अधिक क्लेश उठाने (सहने) पड़ते हैं। जब यह कर्माशय भोग लिए जाते हैं, तब चित्त में कर्माशय नहीं रहते, सत्वमय अहंकार की प्रधानता रहती है। अविद्या का पूरी तरह नाश हो जाता है, शुद्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ये शेष कर्माशय भोगते समय ही अविद्या का नाश होता रहता है तथा अहंकार का तमोगुण धीरे-धीरे कम होने लगता है, फिर तमोगुण सिर्फ गौण रूप में रह जाता है। अविद्या अपने मूल स्रोत अहंकार में, बीज रूप में स्थित हो जाती है। शुद्ध ज्ञान के प्राप्त होने पर साधक को आत्मा और चित्त के विषय में ज्ञान हो जाता है जिससे आत्मा और चित्त की भिन्नता समझ में आ जाती है।

माया ईश्वर की अद्भुत शक्ति है। ईश्वर जब सृष्टि की रचना करते हैं तब इस माया रूपी शक्ति के सहयोग से करते हैं। ईश्वर की शक्ति होने के कारण, यह ईश्वर के ही समान सदा से है। माया और ईश्वर का आपस में तादात्म्य है। ये एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते हैं। माया जीवात्मा को भ्रम में डाले रखती है। जैसे कभी-कभी जमीन पर पड़ी हुई रस्सी सर्प के रूप में दिखाई पड़ती है, उस समय सर्प पूर्ण रूप से लगता है। मगर जब जानकारी हो जाती है कि यह रस्सी है, तब सर्प नहीं रहता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर माया दूर हो जाती है। ज्ञानियों पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता है। ज्ञान की प्राप्ति पर माया रूपी जगत की असलियत साफ दिखाई पड़ने लगती है। इसलिए माया अनिर्वचनीय है। इसका प्रभाव स्वयं ईश्वर पर नहीं पड़ता है। जिस प्रकार जब जादूगर अपना जादू दिखाता है, तब जादू का प्रभाव स्वयं जादूगर पर नहीं पड़ता है बल्कि उपस्थित अन्य सभी व्यक्तियों पर पड़ता है। देखने वाले को जादू उस समय सत्य लगता है मगर वास्तव में सत्य नहीं होता है, सिर्फ भ्रम मात्र है। माया सम्पूर्ण जगत में व्याप्त रहती है।

अविद्या जीव में रहती है, इस अविद्या से बुद्धि प्रभावित रहती है; यह अविद्या भी अनादि काल से है। अविद्या और माया मिलते जुलते एक ही पहलू जैसे हैं। वैसे इन दोनों में अन्तर है, माया ईश्वरीय शक्ति

है, जबकि अविद्या स्वयं जीव में मौजूद रहती है। अविद्या अव्यक्त रूप में है, इसका स्वभाव आवरण डालना है। अविद्या का आश्रय जीव ही है। जीव पर जैसे ही अविद्या का प्रभाव पड़ता है तब वह अपने निजस्वरूप आत्मा को नहीं पहचान पाता है। मगर आत्मा के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जैसे वर्षा ऋतु में बादलों के आच्छादित होने से सूर्य का दिखाई पड़ना बन्द हो जाता है, मगर सूर्य पर बादलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वह पहले की भाँति ही रहता है। अविद्या का अर्थ अज्ञान होता है। अज्ञान का मतलब ज्ञान का अभाव होना। इसका मतलब शुद्ध ज्ञान होने पर अविद्या का नष्ट होना निश्चित है।

अविद्या के कारण ही जीवात्मा को कर्मों के बन्धन में बन्धना पड़ता है, ज्ञान प्राप्त होने पर कर्मों के कर्माशय नहीं बनते हैं। ज्ञान की प्राप्ति ही माया की असलियत खोलती है। माया रहती तो पहले जैसी ही है, मगर वह ज्ञानियों पर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती है। योग के अनुसार माया और अविद्या का स्थान कण्ठ चक्र है।

आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान न होना ही अविद्या है। तमोगुणी अहंकार में अविद्या सूक्ष्म रूप से (बीज रूप में) विद्यमान रहती है। समाधि अवस्था में जब तमोगुणी अहंकार का साक्षात्कार होता है, उसी समय अविद्या का साक्षात्कार होता है। अभ्यास बढ़ने पर तमोगुणी अहंकार के साथ अविद्या भी अपने मूलस्रोत में विलीन होने लगती है। अविद्या और माया की आपस में गहरी दोस्ती है। अज्ञान के कारण माया मनुष्य को भ्रम में डाले रहती है। जब अविद्या का साक्षात्कार हो जाता है तब माया का भी प्रभाव समाप्त होने लगता है। माया सिर्फ अज्ञानियों को प्रभावित करती है। माया अविद्या के बिना अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती है। इसीलिए कहा गया है ज्ञानी पुरुषों को माया प्रभावित नहीं कर पाती है।

जब तमोगुणी अहंकार के साथ अविद्या मूल स्रोत में विलीन होने लगती है, तब ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राकट्य होने के कारण शुद्ध ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त होने लगता है। जब साधक के अन्दर शुद्ध ज्ञान की प्रबलता कम हो जाती है, तब व्युत्थान की वृत्तियाँ प्रकट होने लगती है। इन व्युत्थान की वृत्तियों के प्रकट होने के समय अविद्या भी तमोगुणी अहंकार के साथ अपने मूलस्रोत से प्रकट हो जाती है। तभी साधक को लगने लगता है 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ' आदि। जब शुद्ध ज्ञान की प्रबलता समाधि के अभ्यास द्वारा फिर बढ़ती है, तब व्युत्थान की वृत्तियाँ धीरे-धीरे नष्ट होने लगती हैं। अविद्या फिर अपने मूलस्रोत में विलीन हो जाती है। जब तक शुद्ध ज्ञान परिपक्व नहीं होता है, यही क्रम चलता रहता है। यह मेरी स्वयं की अनुभूति है।

साधकों, यह बात ध्यान में रखनी चहिए कि स्वाध्याय से, शास्त्रों के पढ़ने से अथवा उपदेश सुनने से अविद्या से मुक्ति नहीं मिल सकती, अर्थात् ज्ञानवान नहीं बना जा सकता है। अविद्या से मुक्ति के लिए समाधि लगाना अति-आवश्यक है। कई जन्मों तक समाधि लगाते रहने के अभ्यास के बाद ही अविद्या से आप मुक्त हो पायेंगे। अविद्या का विरोधी शुद्ध ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान से अविद्या का मूलोच्छेद हो जाता है।

प्रकृति

प्रकृति पाँच तत्त्वों व तीन गुणों से निर्मित है। इसका स्वभाव जड़, सक्रिय तथा सदैव परिणामी हैं। पाँच तत्त्वों व तीनों गुणों के कारण इसमें हर क्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का कारण तीनों गुण हैं। ये तीनों गुण विषम अवस्था में रहते हैं। विषम अवस्था के कारण एक गुण दूसरे गुण को दबाता रहता है। अब यह कहा जा सकता है कि प्रकृति जड़ है तो चैतन्य-सी क्यों दिखती है। इसका कारण है कि यह जड़ प्रकृति, चेतन तत्त्व के अति निकट होती है। इसलिए जब चेतन तत्त्व की परछाई (प्रतिबिम्ब) जड़ प्रकृति पर पड़ती है, तब यह जड़ प्रकृति भी चेतन-सी भासित होने लगती है। सत्त्वगुण में रजोगुण क्रिया मात्र तथा तमोगुण रोकने मात्र होता है। इन्हीं गुणों की विषम अवस्था के कारण, प्रकृति का सबसे पहला परिणाम चित्त है। इसी चित्त में अहंकार बीज रूप में विद्यमान रहता है। जब जीवात्मा ब्रह्म से अलग होती है, तब प्रकृति का प्रभाव पड़ता है। प्रकृति के प्रभाव के कारण गुणों की जो विषम अवस्था है, वह चित्त का निर्माण करती है। चित्त में अहंकार बीज रूप से विद्यमान होने के कारण, यह अहंकार बहिर्मुखी होने लगता है। इसी अहंकार में अविद्या बीज रूप में विद्यमान रहती है और इसी अविद्या के कारण जीवात्मा के अन्दर अहम् भाव आ जाता है। इस अहम् भाव आने के कारण सत्त्वगुण में रजोगुण व तमोगुण की अधिकता आने लगती है। इससे जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग मानने लगता है। जब अहंकार बहिर्मुखी होता है, तब इससे बुद्धि प्रकट हो जाती है। अहंकार की अपेक्षा बुद्धि में रज और तम का प्रभाव अधिक रहता है। बुद्धि के बहिर्मुखी होने पर मन व दसों इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इन इन्द्रियों का स्वामी मन होता है।

अहंकार में गुणों का प्रभाव बढ़ने से यह बहिर्मुखी होता है, तब इसकी विकृति होकर ग्रहण और ग्राह्य दो विषम परिणाम होने लगते हैं, जिससे बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इन तन्मात्राओं से सूक्ष्म पंचभूत और इन सूक्ष्म पाँचों भूतों से स्थूल पंचभूत बहिर्मुखी होते हैं। इसीलिए बहिर्मुखता के कारण चित्त की अपेक्षा अहंकार में, अहंकार की अपेक्षा बुद्धि में, बुद्धि की अपेक्षा मन में, मन की अपेक्षा इन्द्रियों में रज और तम की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। तथा तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म पंचभूतों में, सूक्ष्म पंचभूतों की अपेक्षा स्थूल पंचभूतों में रज और तम की मात्रा बढ़ती जाती है। इसलिए स्थूल शरीर में रज और तम ही व्याप्त रहता है, सत्त्वगुण तो नाममात्र ही रहता है।

जिस समय चित्त गुणों की विषम अवस्था के परिणाम स्वरूप बनता है, उस समय तमोगुण की मात्रा अत्यंत कम होती है। तभी उसमें अविद्या बीज रूप में विद्यमान रहती है। इस अविद्या के कारण ही

जीवात्मा अपने आपको ब्रह्म से अलग मानती है क्योंकि जब अहंकार बहिर्मुखी होता है, तब उसके अंदर से 'मैं हूँ' की वृत्ति उठती है। इसी अहम् भाव के कारण राग, द्वेष, क्लेश और सकाम कर्म किए जाते हैं तथा यही कर्माशय जन्म, आयु, मृत्यु द्वारा भोगे जाते हैं।

जो ईश्वर का शरीर है, वह भी प्रकृति के पाँचों तत्त्वों व तीनों गुणों से निर्मित है। मगर जीवात्मा और ईश्वर में भिन्नता होती है। भिन्नता का कारण तीनों गुण हैं। ये तीनों गुण ईश्वर में साम्यावस्था में रहते हैं। इस कारण एक गुण दूसरे गुण पर दबाव नहीं देता है। साम्यावस्था के कारण ईश्वर के चित्त में कभी विकृति नहीं आती। स्वयं मूल प्रकृति जड़ होते हुए भी गुणों की साम्यावस्था वाली होती है। गुणों की साम्यावस्था के कारण मूल प्रकृति अदृश्य रूप में रहती है। जो प्रकृति हमें नेत्रों द्वारा दिखाई पड़ती है, वह गुणों की विषमावस्था वाली है जो कि परिणामी है और माया जैसी प्रतीत होती है। इसीलिए ईश्वर हमें स्थूल नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ता है, गुणों की साम्यावस्था के कारण वह स्थूल भूतों से रहित अति सूक्ष्म है।

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। अंहकार के द्वारा मोहित हुआ जीव यह समझता है कि यह कर्म मैं करता हूँ, ऐसा अज्ञान के कारण होता है। अज्ञान के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है। यह सब क्रिया चित्त में होती है क्योंकि सारे परिणाम चित्त में होते हैं। आत्मा अपरिणामी है। इसलिए आत्मा सुख और दुःख में, ज्ञान के समय या मोक्ष में, समान रूप से रहती है। सब कुछ प्रकृति का ही बदलाव है। प्रकृति अपने आपको बन्धन में डालती है व प्रकृति ही अपने आपको बन्धन से छुड़ाती है।

साधक जब समाधि अवस्था में पहुँचता है, तब तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ आदि अंतर्मुखी होने लगती हैं। जिस क्रम से बहिर्मुखी हुई थीं, उसी उल्टे क्रम से अंतर्मुखी होने लगती हैं। इससे तमोगुण का प्रभाव कम पड़ने लगता है। रजोगुण भी धीरे-धीरे कम होने लगता है। सत्त्वगुण का प्रभाव बढ़ने लगता है। सत्त्वगुण का प्रभाव बढ़ने पर अंत में अपने निज स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है।

जब साधक योगाभ्यास के द्वारा अंतर्मुखी होने लगता है, तब उसकी अवस्था भी बदलने लगती है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में, सूक्ष्म शरीर से कारण शरीर में, कारण शरीर से महाकारण शरीर में साधक की स्थिति हो जाती है। महाकारण शरीर का उल्लेख अक्सर कम ही मिलता है। मगर साधक कारण शरीर के बाद महाकारण शरीर को मानता है। ये शरीर स्थूल शरीर से घनत्व औसत में क्रमशः कम घनत्व वाले होते जाते हैं, इसीलिए साधक के अंदर व्यापकता आती जाती है। महाकारण शरीर आखिरी शरीर है, अर्थात प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था है।

साधक को जब योग में उच्चावस्था प्राप्त होती है, तब साधक दिव्य दृष्टि के द्वारा प्रकृति देवी के दर्शन कर सकता है। वैसे प्रकृति देवी के दर्शन साधकों को कई रूपों में होते हैं। जहाँ तक मेरा स्वयं का अनुभव है, मैंने प्रकृति देवी के दर्शन अंतरिक्ष में कई बार किए। उस समय उसके शरीर पर हरे रंग की साड़ी व हरा ब्लाउज होता था। उसकी साड़ी में चमकदार सितारे लगे रहते थे। उन सितारों से चमक निकला करती थी। सिर पर ऊँचा मुकुट होता था। वह अंतरिक्ष में खड़ी मुस्कुराया करती थी। एक बार प्रकृति देवी ने बताया था कि मैं ही सारे ब्रह्मांड की व्यवस्था करती हूँ। कुछ समय के लिए मेरा और प्रकृति देवी का ज्यादा निकट का सम्बन्ध रहा है। कभी-कभी मैं प्रकृति देवी द्वारा बताए गए कार्यों को करता था। उसी समय प्रकृति देवी ने हमें ढेरों गुप्त कार्य बताए तथा अपने कुछ नियमों से अवगत कराया, जिसका वर्णन मैं यहाँ पर नहीं कर सकता हूँ क्योंकि प्रकृति के नियमों के अनुसार वह अपने भेद गुप्त रखती है। मैं सिर्फ इतना बता सकता हूँ कि इस विषय में हमें गुप्त नियम बताए गए व कुछ गुप्त दृश्य भी दिखाए गए, जैसे– साधक अपने कर्माशय कैसे कम कर सकता है, क्योंकि साधकों को कई जन्मों तक योग का अभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं उसका जन्म लेना रुकता है। यदि साधक इन नियमों को अपनाए तो उस साधक के कर्माशय कम हो जाते हैं, तब उस साधक को जन्म कम लेने पड़ेंगे। लेकिन ये कर्माशय एक निश्चित मात्रा में ही कम किए जा सकते हैं क्योंकि कर्माशयों के कारण ही जन्म निश्चित है। प्रकृति देवी को अपनी व्यवस्था भी बदलनी पड़ती है, इस व्यवस्था के विषय में सिर्फ उच्चकोटि का साधक ही समझ सकता है। कुछ सरल शब्दों में वर्णन करता हूँ– इस संसार को योगियों की बहुत जरूरत पड़ती है। साधकों के द्वारा योग की परम्परा चलती रहती है जिससे धर्म और अधर्म का निश्चित मात्रा में संतुलन बना रहता है। यही कारण है जब अधर्म अधिक फैल जाता है तो बड़े-बड़े साधक स्वयं स्वेच्छा से जन्म ग्रहण करने लगते हैं, फिर भूलोक पर धर्म का प्रचार करते हैं। जैसे-जैसे कलियुग बढ़ेगा, वैसे-वैसे अधर्म निश्चित मात्रा में बढ़ेगा। यदि अधर्म निश्चित अनुपात से अधिक हो गया हो, क्योंकि मनुष्य अधर्मी व तमोगुणी अधिक संख्या में हो जाते हैं, तब साधक धर्म का प्रचार करके संतुलन बना देते हैं। हाँ, यह सच है कलियुग के अंत में अधिकांश मनुष्य अधर्मी हो जाएँगे। मगर ऐसा प्रकृति देवी की व्यवस्था के अनुसार होगा।

प्रकृति देवी ने मुझे बताया कि मनुष्य की मृत्यु के बाद की अवस्था क्या होती है, अर्थात जीवात्मा कहाँ जाती है, क्या करती है। साधारण मनुष्य की जीवात्मा और साधक पुरुष की जीवात्मा के विषय में जानकारियाँ उपलब्ध करायीं तथा सूक्ष्म जगत में क्या होता है, जिसका थोड़ा-सा वर्णन मैं पहले भी कर चुका हूँ; साधक जन्म किस प्रकार लेता है तथा साधारण पुरुष जन्म किस प्रकार लेता है, पशु-पक्षी और

पेड़ों आदि के विषय में भी बताया । सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि साधक प्रकृति की व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा कर सकता है। वह इस प्रकार से कि साधक जब किसी को श्राप या वरदान देता है तो श्राप और वरदान की दोनों अवस्थाओं में साधक का योगबल कार्य करता है। इसलिए साधक के शब्द सत्य करने के लिए प्रकृति देवी को वैसी ही व्यवस्था करनी पड़ती है। हाँ, यह भी सत्य है कि श्राप या वरदान तुरन्त लागू नहीं होता। उसका कारण है कि आज के युग (कलियुग) में अधर्म के कारण अशुद्धता अथवा तमोगुण की ही अधिकता है। साधक का योगबल सत्त्वगुण वाला होता है। इसलिए सत्त्वगुण में तमोगुण अवरोध डालता है। श्राप अथवा वरदान से युक्त पुरुष की व्यवस्था, मृत्यु के बाद दूसरा जन्म ग्रहण करते समय वैसी ही कर दी जाती है। श्राप अथवा वरदान पुरुष के चित्त पर अंकित हो जाता है। जब उचित समय आता है, तब यह फलित हो जाता है।

वैसे प्रकृति देवी द्वारा हमें एक विशेष प्रकार का आशीर्वाद प्राप्त है– मैं किसी भी पुरुष के एक निश्चित मात्रा में कर्माशय कम कर सकता हूँ। मगर यह ध्यान रखना है कि यह कार्य बहुत सोच समझकर करना चाहिए। इस आशीर्वाद का प्रयोग मैंने तीन साधिकाओं पर किया। एक साधिका पूना की है तथा दो साधिकाएँ जलगाँव (महाराष्ट्र) की हैं। बाद में इन सभी के कर्माशयों के कारण हमें बड़ा कष्ट उठाना पड़ा क्योंकि हमने जितने चाहे कर्माशय कम कर दिए, मगर उनको भोगेगा कौन? कुछ योगबल से जला दिए, कुछ पृथ्वी के अंतरिक्ष में बिखेर दिए। बाद में हमें मालूम हुआ कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह सब कुछ मोह-वश हुआ था, मगर अब भविष्य में ऐसा नहीं होगा। अब ज्ञान के द्वारा सारी जानकारी हो गयी है।

ईश्वर

ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का सगुण स्वरूप है। ईश्वर चेतन तत्त्व और कारण (महाकारण) शरीर से निर्मित है। उसका शरीर पाँचों तत्त्वों व तीनों गुणों द्वारा निर्मित हैं। ईश्वर के अंदर गुणों की साम्यावस्था होती है, अर्थात तीनों गुण समान रूप से रहते हैं। कोई भी गुण दूसरे गुण को दबाव नहीं देता है। ईश्वर का चित्त गुणों की साम्यावस्था से निर्मित होने के कारण, चित्त में विकृति नहीं होती है। इसीलिए ईश्वर विभु (व्यापक) है। जबकि जीवों का चित्त गुणों की विषमावस्था से निर्मित होने के कारण उसमें विकृति उत्पन्न होती है। इसी विकृति में अहंकार व अविद्या बीज रूप में रहते हैं। इसी कारण जीव विभु नहीं है। योगी चाहे जितनी तपस्या अथवा योग कर ले, वह ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वर के समान शरीर वाला हो सकता है, मगर ईश्वर की जगह नहीं ले सकता, इसी कारण द्वैतवादी योगी अपनी अंतिम अवस्था में ईश्वर के शरीर के अंदर विलीन हो जाता है।

ईश्वर की एक शक्ति माया भी है जो जीवों को भ्रम में डाले रहती है। माया अविद्या के कारण अपना कार्य करती रहती है। जब योगी अहंकार को, जिसमें अविद्या बीज रूप में स्थित रहती है, रजोगुण व तमोगुण से साफ (क्षीण) कर देता है, तब सत्वमय अहंकार के समय, इस अविद्या का भी आवरण हट जाता है। इस अवस्था में योगी को ईश्वर की माया प्रभावित नहीं करती। एक उदाहरण दे रहा हूँ– ईश्वर और जीव रूपी दो पक्षी एक ही साथ रहने वाले और मित्र भी हैं। ये दोनों एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृति रूपी वृक्ष पर रहते हैं। इनमें से एक जीव रूपी पक्षी, स्वाद वाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी फल को नहीं खाता, सिर्फ साक्षी रहता है। प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीव रूपी पक्षी फल पर आसक्त होकर धोखा खाता है और दुःख महसूस करता है, मगर ईश्वर रूपी पक्षी फल पर आसक्त नहीं होता, इसलिए वह सुख-दुःख से परे है। यहाँ पर फल का अर्थ जन्म है तथा भोग रूपी सुख-दुःख जिसे आयु व मृत्यु कहते हैं।

विशुद्ध सत्वमय चेतन स्वरूप ईश्वर में किसी प्रकार का परिणाम होना बिल्कुल असंभव है क्योंकि उसमें रजोगुण व तमोगुण नाममात्र को ही विद्यमान हैं। इसीलिए अविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है; वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान का स्वरूप होने के कारण ईश्वर ने संसार सागर में दुःख भोग रहे जीवों को ज्ञान व उपदेश के द्वारा उद्धार करने के लिए, विशुद्ध सत्वरूप धारण कर रखा है। ईश्वर का चित्त गुणों की साम्यावस्था के कारण, परिणामी नहीं होने के कारण विभु है, अर्थात स्वयं ईश्वर व्यापक है। जीव का चित्त गुणों की विषमावस्था के कारण परिणामी है, इसीलिए जीव बन्धन में होता है। बन्धन के कारण यह निश्चित सीमा तक ही सीमित है, इसीलिए जीवों की संख्या अनंत है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ईश्वर

का चित्त व्यापक होने के कारण, हर क्षण प्रत्येक कण-कण में उपस्थित रहता है। कण-कण में व्याप्त होने के कारण, वह सभी जीवों के विषय में जानता है, हर जीव के चित्त को वह भली प्रकार जानता पहचानता है। जीवों के कल्याण हेतु, उनका अंश कभी-कभी अवतार ग्रहण कर लेता है।

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त तथा विशुद्ध सत्वमय होने के कारण सर्वशक्तिमान है क्योंकि उसकी उपस्थिति हर जगह पर होती है। यही कारण है कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय के समय ईश्वर सदैव रहता है। यह तीनों कार्य (सृष्टि, स्थिति, प्रलय) बिना ईश्वर के नहीं हो सकते, अर्थात सृष्टि, स्थिति और प्रलय ईश्वर की इच्छा पर होती है। प्रलय के समय सभी जीव बीज रूप में ईश्वर के अंदर समा जाते हैं। सृष्टि के समय यही बीज रूप जीव, ईश्वर से बाहर आ जाते हैं। क्योंकि जीवों के कर्माशय समाप्त न होने के कारण सृष्टि होना अनिवार्य है, जीवों के कर्माशय सूक्ष्म बीज रूप में बने रहते हैं। प्रकृति ईश्वर के अंदर समा जाती है और ईश्वर निर्गुण ब्रह्म के अंदर समा जाता है। ऐसा केवल आत्यंतिक प्रलय के समय होता है। ईश्वर को प्रकृति से परे व सगुण ब्रह्म कहते हैं।

मूल प्रकृति को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता, जबकि कुछ लोगों का मानना है कि मूल प्रकृति स्वतंत्र है। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि ईश्वर को प्रेरक न मानकर प्रकृति को संसार की रचना का कारण मानें, तो दोष होगा। बिना चेतन की प्रेरणा से जड़ पदार्थ में किसी प्रकार की क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती, जैसे सारथी के बिना रथ नहीं चल सकता। इसीलिए विशुद्ध सत्वमय, ज्ञान स्वरूप, चेतन ईश्वर को मानना ही पड़ेगा।

सुख-दुःख, क्लेश आदि जीवों के चित्त का स्वभाव है न कि आत्मा का। ईश्वर का इन सुख-दुःख, क्लेश आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर तीनों कालों (सृष्टि, स्थिति और प्रलय) में मुक्त है। ईश्वर का अर्थ है– 'ईशनशील', अर्थात इच्छा मात्र से सब कार्य करने में समर्थ। इसीलिए ईश्वर की इच्छा (संकल्प) मात्र से सृष्टि होनी शुरू हो जाती है। स्थिति भी इच्छा मात्र से रहती है। प्रलय भी इच्छा मात्र से होने लगती है। इन तीनों कार्यों के लिए उसे कहीं जाना नहीं पड़ता अथवा किसी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती। ईश्वर का ऐश्वर्य अनादिकाल से है क्योंकि ईश्वर का चित्त तीनों गुणों की साम्यावस्था द्वारा निर्मित अनादिकाल से है। ईश्वर के विशुद्ध सत्वमय चित्त में ज्ञान नित्य है। इसीलिए ईश्वर ज्ञान का स्वरूप कहा गया है। योगी चाहे जितने युगों तक योग करे (समाधि लगाये), वह ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि जीवों का चित्त गुणों की विषमावस्था द्वारा निर्मित हुआ है। योगी योग के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँच सकता है, जैसे– उसी (ईश्वर) के स्वरूप का हो जाना अथवा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त कर लेना, मगर जो गुण ईश्वर में

अनादिकाल से हैं, वे गुण योगी कहाँ से लायेगा। इसीलिए योगी को अंतिम अवस्था में ईश्वर के शरीर में विलीन होना पड़ेगा, जिसे सायुज्य मोक्ष कहते हैं। ईश्वर के शरीर में वही योगी विलीन होगा जो सगुण उपासक अथवा द्वैतवादी होगा। अगर अद्वैतवादी अथवा निर्गुण उपासक है, तब योगी अत्यंत तेजोमय प्रकाश (निर्गुण ब्रह्म) में विलीन होगा।

ईश्वर को ज्ञान का स्वरूप इसलिए कहते हैं कि ईश्वर के चित्त में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, उसका चित्त विशुद्ध सत्त्वगुणमय है। वह अनादि काल से इस संसार का दृष्टा है क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है, उसकी सर्वत्र व्यापकता अनादि है। अनादिकाल से दृष्टा होने के कारण वह सम्पूर्ण जगत का ज्ञान रखता है। यह ज्ञान परिणाम द्वारा प्राप्त नहीं हुआ होता, बल्कि अनादि दृष्टा होने के कारण उसका ज्ञान अपरिणामी है। अपरिणामी का तात्पर्य नित्य है, ईश्वर का ज्ञान नित्य है। नित्य ज्ञान होने के कारण उसे ज्ञानस्वरूप कहा गया है। जबकि योगी का ज्ञान परिणाम द्वारा प्राप्त हुआ होता है। योगी को ज्ञान उच्चतम अवस्था में प्राप्त होता है, यह उच्चतम अवस्था उसने समाधि द्वारा प्राप्त की होती है। चित्त के परिणाम, अहंकार से जब रजोगुण व तमोगुण हटने लगते हैं, तब योगी को ज्ञान प्राप्त होने लगता है; इसलिए योगी का ज्ञान, चित्त का परिणाम है। योगी का ज्ञान योग के द्वारा धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। धीरे-धीरे बढ़ता हुआ एक न एक सीमा पर जाकर रुक जाता है, इसलिए योगी का ज्ञान ईश्वर की अपेक्षा कम होता है। योगी का ज्ञान सीमित है, जबकि ईश्वर का ज्ञान नित्य होने के कारण असीमित है। इसीलिए, सभी योगियों का ज्ञान समान नहीं हो सकता। योगी का ज्ञान जिस सीमा पर जाकर रुक जाए, फिर समझ लेना चाहिए कि उसके ज्ञान का आधार ईश्वर है।

ईश्वर का शरीर परा-प्रकृति द्वारा निर्मित होता है। ईश्वर के बराबर कोई बड़ा भी नहीं है, वह सर्वत्र व्याप्त है। विशुद्ध सत्त्वगुण द्वारा उसका शरीर बने होने के कारण तथा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण, सभी प्रकार की शक्तियाँ उसके अंदर निहित हैं, इसलिए उसे शक्तिमान कहा गया है। ईश्वर की एक शक्ति, माया है जिसके द्वारा इस संसार में प्राणी, सांसारिक पदार्थों को अपना समझकर भ्रमित बने रहते हैं। इसीलिए ईश्वर को मायापति कहा गया है। ईश्वर शक्तिमान होने के कारण, उसे सभी उपाधियों से युक्त कहा गया है।

ईश्वर जगत का उद्धार करने के लिए स्वयं अपने अंश से अवतार ग्रहण कर लेता है, इसीलिए उसे उद्धारकर्ता व दयालु कहा गया है। ऐसा तब होता है जब इस जगत में अधर्म अधिक हो जाता है। अर्थात अज्ञान वश मनुष्य अधर्म को ही अपना लेता है और अपना वास्तविक मार्ग (ईश्वर-प्राप्ति) छोड़ देता है, तब ईश्वर का अंश मनुष्यों को पाप का मार्ग छुड़वाकर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताता है ताकि उनका उद्धार

हो सके। जैसे भगवान यीशु स्वयं कहते हैं– तू पाप का मार्ग छोड़ दे, मेरे द्वारा बताए हुए मार्ग पर चल, मैं तेरा उद्धार करूँगा। भगवान यीशु ने मनुष्यों को सन्मार्ग बताने में अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया। जब उन्हें सूली पर चढ़ाया गया तो कहा– हे पिता (ब्रह्म), इन्हें माफ कर दे (जिन्होंने सूली पर चढ़ाया था) क्योंकि इन्हें नहीं मालूम है कि ये क्या कर रहे हैं। इसी तरह भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अधर्मियों का नाश किया और नाश कराया। भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा महाभारत में गीता का उपदेश दिया जाना, आज के युग में इस संसार में अमृत के समान है क्योंकि स्वयं भगवान द्वारा गीता का उपदेश दिया गया है। इसमें इस जगत के उद्धार के लिए सर्वोत्तम शिक्षाएँ हैं। भगवान कृष्ण ने प्रकृति, कर्म योग और ज्ञान योग के विषय में सब कुछ स्पष्ट कर दिया है।

मैंने देखा है कि आजकल के योगी अपने आपको भगवान का अवतार कहलाने लगते हैं। उनके शिष्य तथा अनुयायी यही कहते हैं कि हमारे गुरुदेव भगवान के अवतार हैं। कैसी विडम्बना है, कितने दु:ख की बात है कि थोड़ा-सा योग क्या कर लिया, भगवान बन गये! ऐसे योगियों के लिए मैं यही कहूँगा कि उन्हें अभी और योग करना चाहिए। समाधि के द्वारा योगी को अति उच्च अवस्था प्राप्त करनी चाहिए ताकि उन्हें ज्ञान प्राप्त हो सके। ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त होने पर वह (योगी) अपने आपको भगवान कहलाना छोड़ देगा। अपने शिष्यों व अनुयाइयों को तत्त्वज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए ताकि भगवान कहने वालों को यह मालूम हो सके कि भगवान और योगी में क्या फर्क है। क्योंकि मनुष्य कभी भगवान नहीं हो सकता और योगी चाहे जितनी समाधि लगाए रहे, वह भगवान नहीं हो सकता। अपने आपको भगवान कहलवाना व दूसरों को भगवान कहना (योगी को) अज्ञानता के अलावा और कुछ नहीं है। ऐसे योगियों को योग में उच्चावस्था प्राप्त न होने के कारण चित्त में स्थित अनेक प्रकार की वृत्तियों के कारण भ्रम हो जाता है। जब योगी समाधि की प्रथम अवस्था प्राप्त कर चुका होता है, तब चित्त की वृत्तियाँ साकार रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने पर योगियों को तरह-तरह के अनुभव आते हैं। कुछ विशेष प्रकार के अनुभव होने के कारण योगी अपने आपको भगवान समझ बैठता है। इस अवस्था से अभी तत्त्वज्ञान बहुत दूर है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए योगी को कई जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। इसलिए योगी की साधना एक जन्म में कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है। योगी एक जन्म में समाधि की जिस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, फिर जब अगले जन्म में योग की शुरुआत करता है, तब कुछ ही वर्षों में पूर्व जन्म की स्थिति प्राप्त कर लेता है। फिर अभ्यास के द्वारा वह समाधि की उच्च अवस्था प्राप्त करता है।

जब ईश्वर अंश रूप से अवतार ग्रहण करता है, तब वह शुरुआत से ही अपनी ढेरों शक्तियों से युक्त

होता है। उसे अन्य योगियों के समान योग करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर ने अवतार रूप में स्थूल शरीर धारण किया होता है, फिर भी उसमें सांसारिक पुरुषों के समान प्रकृति के परिणाम स्वरूप अहंकार, इन्द्रियाँ आदि बहिर्मुखी नहीं होतीं क्योंकि वह जगत का उद्धार करने आया होता है। इस जगत का उद्धार करने के लिए उसने स्थूल शरीर धारण किया होता है। स्थूल शरीर के कारण इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार (सत्यमय अहंकार), चित्त आदि से युक्त है, मगर वह इन सबसे परे है क्योंकि प्रकृति तो स्वयं उसी के अधीन है और उसी में विलीन हो जाती है। फिर, प्रकृति उसे कैसे प्रभावित कर सकती है। वह सांसारिक भोग अथवा किसी प्रकार के बन्धन के कारण नहीं आया होता। अवतार स्वतन्त्र है, वह जगत के उद्धार के लिए आता है। अपनी इच्छा से आता है और अपना कार्य करके अपनी इच्छा से वापस चला जाता है। अवतार ग्रहण करने के लिए प्रकृति का सहारा तो लिया, मगर प्रकृति से परे रहता है। स्थूल जगत में आने के लिए, स्थूल भूतों का सहारा लेना आवश्यक है। फिर भी वह प्रकृति के नियमों की मर्यादा रखता है, अर्थात लौकिक कार्य करता है, जैसे भगवान श्रीराम ने किया, भगवान श्रीकृष्ण ने किया, भगवान यीशु ने किया।

साधकों! भगवान का अर्थ संक्षेप में लिखता हूँ। भगवान दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द है 'भग', दूसरा शब्द 'वान' है। भग का अर्थ प्रकृति है, वान का अर्थ है 'चालक', अर्थात प्रकृति का चालक, प्रकृति को चलाने वाला। 'प्रकृति' द्वारा सारे ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। सारे ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली जो शक्ति (प्रकृति) है, उस शक्ति का जो संचालक और नायक है, उसे भगवान कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि प्रकृति जो कार्य करती है, वह भगवान की इच्छानुसार ही करती है। प्रकृति में जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का स्वरूप है, उसके नायक भगवान ही हैं। इसीलिए कहा जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश क्रमश: सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करते हैं। प्रलय के बाद प्रकृति इस जगत को अपने अन्दर बीज रूप में समेट लेती है, फिर प्रकृति भगवान नारायण के शरीर में विलीन हो जाती है। भगवान नारायण अनन्तकाल तक क्षीर सागर में योगमुद्रा में शान्त लेटे रहते हैं, फिर उनकी इच्छानुसार ही प्रकृति का प्रादुर्भाव होता है और सृष्टि का कार्य शुरू हो जाता है। साधकों, भगवान और ईश्वर पर्यायवाची शब्द हैं। फिर किसी योगी को भगवान कहना कितना अनुचित है, एक तरह से ऐसा समझो कि भगवान शब्द के अपमान जैसा है। फिर योगी स्वयं अपने आपको भगवान कैसे कहलवा लेता है। ऐसे योगियों का तत्त्वज्ञान उस समय क्या कर रहा होता है। हमारा सोचना है कि न तो किसी योगी को भगवान कहना चाहिए और न ही किसी योगी को अपने आपको भगवान कहलवाने के लिए किसी को प्रेरित करना चाहिए क्योंकि कोई भी योगी चाहे जितना योग कर ले, वह भगवान नहीं हो सकता।

आत्मा

आत्मा ब्रह्म का ही स्वरूप है, इसलिए ब्रह्म के ही सारे गुण उसमें स्थित हैं। आत्मा भी प्रकृति से सर्वथा परे, निर्लेप, सर्वव्यापक, गुणातीत, निष्क्रिय, अपरिणामी व नित्य है। इसी आत्मा का जब अपरा-प्रकृति से सम्बन्ध होता है, तब जीव कहा जाता है। तब जीव में तीनों गुणों की विषमावस्था के कारण अहम् भाव जाग्रत हो जाता है, इसलिए जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग मानने की भूल कर बैठता है, अतः आत्मा पर जीव रूपी आवरण चढ़ जाता है। इसी जीव रूपी आवरण के कारण, वह स्थूल जगत को ही वास्तविक समझकर जन्म, आयु और मृत्यु को प्राप्त होता है एवं सुख-दु:ख भोगता है।

आत्मा चैतन्य स्वरूप है। आत्मा का प्रकाश चित्त पर पड़ता है, इसलिए चित्त प्रकाशित सा दिखाई पड़ने लगता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा पर पड़ता है और चन्द्रमा प्रकाशित दिखाई पड़ता है, मगर वह स्वप्रकाशित नहीं है, इसी प्रकार आत्मा के कारण चित्त में चैतन्यता सी आ जाती है। इससे अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि क्रियाशील हो जाते हैं। इन सभी में आत्मा की ही शक्ति काम करती है। आत्मा के कारण ही मनुष्य में श्वास लेने, देखने व सुनने की शक्ति है। मनुष्य के अन्दर सारी क्रियाएँ करने की शक्ति आत्मा द्वारा मिलती है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त सभी सूक्ष्म और स्थूल भूत जो प्रकृति के हैं, बिना आत्मा के कुछ भी नहीं कर सकते।

आत्मा तो निर्लेप है, उदासीन है, इसलिए प्रकृति का प्रभाव उस पर कुछ भी नहीं पड़ता। उसे तो जगत के व्यवहार से कोई मतलब नहीं है। वह सुख-दु:ख, राग-द्वेष, जन्म, युवावस्था, जरा, मृत्यु आदि इन सबसे अलग है, ये सब व्यवहार तो जीव के हैं।

योगीजन जब योग के माध्यम से अपने यथार्थ रूप (आत्मा) की अनुभूति कर लेते हैं, तब सभी प्रकार के क्लेशों से छुटकारा मिल जाता है क्योंकि क्लेश आदि धर्म तो प्रकृति के स्वभाव हैं। आत्मा की अनुभूति कर लेने पर योगी, प्रकृति के सारे व्यवहारों को अच्छी तरह समझ लेता है। प्रकृति में रहते हुए भी प्रकृति के प्रभाव से अलग रहता है।

जीवों द्वारा किए गए सभी प्रकार के कार्यों, चाहे अतीत या वर्तमान में किये गए हों, की आत्मा निर्लिप्त रूप से साक्षी है, क्योंकि वह (आत्मा) तो चित्त से भी पहले थी और उसी के द्वारा प्राणी के अन्दर कार्य करने की क्षमता आती है। इसलिए कोई भी प्राणी आत्मा से छुपाकर कोई कार्य नहीं कर सकता। आत्मा हम सभी प्राणियों तथा जगत की साक्षी है।

आत्मा को ब्रह्म से भिन्न मानना सर्वथा दोषपूर्ण है, इसे अज्ञानता ही कहेंगे। व्यवहार की दशा में आत्मा के रूप में ब्रह्म का ही व्यवहार होता है क्योंकि दोनों एक ही हैं।

मनुष्य के शरीर में आत्मा का स्थान हृदय में माना गया है। हृदय के अन्दर जो आकाश है, उस आकाश में आत्मा रहती है। आकाश पञ्चभूतों में आता है, इसलिए आत्मा आकाश से भी परे है। साधकों को हृदय के अन्दर ज्योति के रूप में जो दर्शन होता है, वह चित्त की ही अत्यंत सात्विक सशक्त वृत्ति होती है।

अपने ज्ञान के अनुसार, मैं साधकों को बतलाना चाहूँगा कि जब कुण्डलनी ब्रह्मरन्ध्र खोलकर हृदय में आती है, फिर समाधि के काफी अभ्यास के बाद कुण्डलिनी हृदय में स्थिर हो जाती है। स्थिर होने का तात्पर्य कुण्डलिनी का मूलाधार में वापस न आकर, मूलाधार से ब्रह्मरंध्र होते हुए हृदय में हमेशा के लिए स्थिर रहने से है। कुण्डलिनी स्थिर होने पर, वह अपना अग्नि तत्त्व का स्वरूप छोड़कर वायु तत्त्व में विलीन हो जाती है। उसके बाद साधक को कुण्डलिनी का दर्शन अपने शरीर में नहीं होता। इसके बाद साधक को जो हृदय के अंदर दर्शन तेजस्वी ज्योति रूप में होता है, वह वृत्ति का स्वरूप होता है।

आत्मा की अनुभूति तब होती है, जब योगी ने चित्त के अंदर के सारे कर्माशय भोगकर नष्ट कर दिए हों। सारे कर्माशय तभी नष्ट होते हैं, जब निर्विकल्प समाधि के समय शेष कर्माशयों को भोग लिया जाता है। इन शेष कर्माशयों को भोग लेने पर शुद्ध सात्विक अहंकार रह जाता है, तमोगुणी अहंकार व अविद्या नहीं रह जाते, शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सात्विक अहंकार आत्मा का दर्शन करा सकता है क्योंकि आत्मा को देखने वाला भी तो कोई होना चाहिए, तभी तो मालूम पड़ेगा कि आत्म-साक्षात्कार हुआ है। यह भी मालूम है कि आत्मा प्रकृति से परे है; जब प्रकृति से परे है तो जो वस्तु अपने से परे हो क्या उसे देखा जा सकता है? आत्मा का साक्षात्कार अहंकार नहीं करा सकता। आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, उसकी अनुभूति की जाती है। क्योंकि आत्मा तो सर्वत्र व्याप्त है, जबकि अहंकार व चित्त की निश्चित सीमाएँ है। अज्ञान की अवस्था में आत्मा चित्त के अन्दर भासित होती है, मगर ज्ञान की अवस्था में आत्मा के अन्दर चित्त विद्यमान हुआ दिखता है, यही वास्तविकता है। इसलिए आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, उसमें स्थित होना होता है। इसीलिए स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जिस साधक के कर्माशय पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुए होते, अर्थात कुछ कर्माशय चित्त में अभी भी पड़े हुए हैं, उसे कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद, समाधि अवस्था में आत्मा का दर्शन होता है। वास्तव

में, होता यह है कि चित्त की सात्त्विक व अत्यन्त सशक्त वृत्ति आत्मा का स्वरूप धारण कर लेती है, जिसे साधक आत्मा के रूप में देखता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा का स्वरूप वृत्ति धारण कर सकती है? उत्तर है– हाँ, कर सकती है क्योंकि आत्मा के ही प्रकाश से चित्त प्रकाशित है। जब आत्मा का प्रकाश चित्त पर पड़ता है, चित्त में स्थित (सत्त्वगुण वाली) वृत्तियाँ भी स्वप्रकाशित सी भाषित होने लगती हैं। इसी प्रकार चित्त में स्थित वृत्ति भी आत्मा का स्वरूप धारण कर लेती है, जिसे योगी वास्तविक आत्मा समझने लगता है। इसलिए साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यदि आत्मा का दर्शन हो गया है, तब चित्त में शेष कर्माशय रह ही नहीं गए होंगे। यदि कर्माशय नहीं होंगे, तब जन्म लेना असम्भव है। जबकि साधक जानता है कि वह पिछले कई जन्मों से योग कर रहा है, अभी वह और जन्म ग्रहण करेगा, तब उसे आत्म-साक्षात्कार कैसे हुआ है! साधकों! आपकी चित्त की वृत्ति ने ही आत्मा का स्वरूप धारण कर लिया होता है।

अभी मैंने आत्म-साक्षात्कार के विषय में लिखा कि योगी को समाधि काल में आत्मा का साक्षात्कार होता है। सच यह है कि चित्त में जो लौ के रूप में आत्म-साक्षात्कार होता है, वह अधिक सात्विकता वाली वृत्ति ही है, चाहे वह सात्विक अहंकार की ही वृत्ति क्यों न हो। ऐसी वृत्तियाँ आत्मा के अति नजदीक होने के कारण, आत्मा का स्वरूप धारण कर आत्मा का निर्देशन करने लगती हैं, मगर यह वास्तविक आत्मा नहीं है। जिस प्रकार दर्पण को देखने पर जो चेहरे की आकृति दिखाई देती है, वह वास्तविक चेहरा नहीं होता, बल्कि चेहरे की परछाई होती है। इसी प्रकार चित्त पर स्थित अत्यंत सात्विक व शक्तिशाली वृत्ति आत्मा का स्वरूप धारण कर लेती है जो जलती हुई मोमबत्ती के लौ के आकार की होती है। बहुत से अज्ञानी अभ्यासी इसी को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं।

अब आप कह सकते हैं कि आत्मा का वास्तविक आत्म-साक्षात्कार कब और कैसे होता है। आत्मा स्वयं दृष्टा तथा निराकार है। जो स्वयं दृष्टा हो, उसे कौन देख सकता है, अर्थात कोई नहीं। योगी की अवस्था जब शुद्ध ज्ञान में हो, तब आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। अभ्यास के और बढ़ने पर चित्त कैवल्य की ओर अभिमुख होने लगता है। तब तीनों गुण कुछ समय के लिए अपना परिणाम का कार्य करना बन्द कर देते हैं, तब चित्त व तीनों गुण अपने मूलस्रोत आत्मा में अवस्थित हो आत्माकार हो जाते हैं। समाधि भंग होने पर चित्त व तीनों गुण अपने स्वरूप में आ जाते हैं। आत्मा में अवस्थित होने को निर्बीज समाधि कहते हैं। साधक अब समझ गए होंगे कि आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता, बल्कि आत्मा में अवस्थित हुआ जाता है। आत्मा निराकार होने के कारण, उसका कोई स्वरूप नहीं होता, मगर वह चित्त में लौ के आकार में भासित होती है।

सृष्टि और प्रलय

सृष्टि और प्रलय की क्रिया अनादि काल से होती चली आ रही है। सृष्टि से पूर्व सिर्फ तेजोमय निराकार ब्रह्म ही रहता है। जब उसके अन्दर एक से अनेक होने का संकल्प उठता है, तब सृष्टि का समय आ जाता है। इस जगह पर यह तर्क नहीं किया जा सकता कि वह विकार युक्त है। ब्रह्म तो निर्विकार है, सृष्टि की क्रिया अनादि काल से चली आ रही है। संकल्प उठने के साथ ही ओंकार की ध्वनि प्रकट होती है। इस ओंकार के साथ पाँचों तन्मात्राएँ प्रकट होती हैं। इन तन्मात्राओं के द्वारा सूक्ष्म रूप से सूक्ष्म पंचभूत प्रकट होते हैं। यही सूक्ष्म पञ्चभूतों से फिर स्थूल पञ्चभूत प्रकट हो जाते हैं। स्थूल पञ्चभूतों से ही सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, तारों आदि का निर्माण हुआ है। शुरुआत में ओंकार की ध्वनि के साथ तीनों गुणों का प्रादुर्भाव हुआ। इन तीनों गुणों का प्रभाव, तन्मात्राओं व सूक्ष्म, स्थूल पंचभूतों पर रहता है। इसीलिए प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों का प्रभाव रहता है। ओंकार की ध्वनि बहुत समय तक गूँजती रहती है; यह ध्वनि निश्चित केंद्र बिंदु से उत्पन्न होती है।

ब्रह्म सृष्टि का कार्य करने के लिए अपना सगुण रूप प्रकट करता है, अर्थात स्वयं ब्रह्म सगुण रूप में प्रकट हो जाता है जिसे भगवान नारायण कहते हैं। भगवान नारायण के नाभि कमल से भगवान ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। परम-शिव ब्रह्म के सगुण रूप में पहले ही प्रकट हो जाते हैं। प्रकृति पाँच तत्त्वों व तीन गुणों से बनी है, इन आठों तत्त्वों का मिश्रण है। प्रकृति के द्वारा ही सृष्टि होती है। हर पदार्थ में पाँचों तत्त्वों व तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

सृष्टि का कार्य करने के लिए प्रकृति दो स्वरूपों में प्रकट हो जाती है। एक, परा-प्रकृति के रूप में, दूसरी, अपरा-प्रकृति के रूप में। ईश्वर की प्रकृति परा-प्रकृति के रूप में और जीवों की प्रकृति अपरा-प्रकृति के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए योग शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि प्रकृति दो प्रकार की होती है। परा-प्रकृति में साम्य परिणाम हो रहा है। इस परिणाम में गुण समान रूप से रहते हैं, एक गुण दूसरे गुण को नहीं दबाता। अपरा-प्रकृति में विषम परिणाम हो रहा है। इस परिणाम में तीनों गुण समान रूप से नहीं रहते। एक गुण दूसरे गुण को दबाता रहता है, इसी कारण विकृति उत्पन्न होती है और सृष्टि का कार्य आगे बढ़ता है। परा-प्रकृति को मूल प्रकृति भी कहते हैं।

मूल प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। इसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं होती, इसलिए मूल प्रकृति सर्वव्यापक है। ईश्वर का शरीर भी गुणों की साम्यावस्था से बना होता है। ईश्वर सर्वव्यापक है। ईश्वर

की एक शक्ति, माया भी है। माया का स्वभाव है, अविद्या से युक्त जीव को भ्रम में डाले रखना। माया और अविद्या दोनों मिलकर सृष्टि आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं। गुणों की विषमावस्था से बने चित्त में स्थित तमोगुणी अहंकार में अविद्या बीज रूप में छिपी रहती है। तमोगुण की अधिकता होने पर, अविद्या व्यक्तभाव में प्रकट हो जाती है। अविद्या का अर्थ है अज्ञान। इसी अविद्या के कारण अहंकार में अहंभाव प्रकट हो जाता है, फिर जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग समझने लगता है तथा जड़ प्रकृति को अपना मानने लगता है, इसीलिए जीव इस स्थूल संसार में अविद्या युक्त कर्म करता है। ऐसे कर्मों का फल दु:ख ही दु:ख है क्योंकि परिवर्तनशील प्रकृति में स्थायी सुख नहीं हो सकता। इन्हीं कर्मों के द्वारा बने कर्माशयों के कारण जीव जन्म, आयु और मृत्यु को प्राप्त होता है। यही क्रम सदैव चलता रहता है।

जब चेतन तत्त्व का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से होता है, तब उस चेतन तत्त्व को जीव कहते हैं। जीव का चित्त अपरा-प्रकृति से बने होने के कारण, उसके चित्त में परिणाम होता रहता है। ऐसे चित्त में तमोगुणी अहंकार बीज रूप में छुपा रहता है। तमोगुण की अधिकता होने पर, तमोगुणी अहंकार प्रकट हो जाता है। इसी तमोगुणी अहंकार में अविद्या जो बीज रूप में छुपी रहती है, वह भी प्रकट हो जाती है। उसी समय अहम भाव प्रकट हो जाता है, तब जीवात्मा अपने आपको ब्रह्म से अलग मानने लगता है। यहीं से उसका पतन होना शुरू हो जाता है। फिर जीवात्मा का पतन होते-होते वह अपने आपको स्थूल शरीर तक सीमित मानने लगता है। जब चेतन तत्त्व का सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है, तब उस चेतन तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। परा-प्रकृति में गुण साम्यावस्था में रहते हैं, इसीलिए ईश्वर के चित्त में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। परा-प्रकृति अव्यक्त रूप में रहती है। अपरा-प्रकृति व्यक्त रूप में रहती है। परा-प्रकृति को समष्टि प्रकृति और अपरा-प्रकृति को व्यष्टि प्रकृति भी कहते हैं। ईश्वर जीवों पर शासन करता है, जबकि जीव शासित होता है। जीव बन्धन में रहता है, ईश्वर पूर्णरूप से स्वतंत्र है।

भगवान नारायण की नाभि कमल से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मा जी को हिरण्यमय पुरुष भी कहा जाता है क्योंकि उनका शरीर स्वर्ण के समान सुनहले रंग का होता है। उनके केश व दाढ़ी भी स्वर्ण के समान सुनहले रंग के होते हैं। सृष्टि का सृजन इन्हीं ब्रह्मा जी द्वारा होता है तथा ये ही सूक्ष्म लोकों के अधिपति माने गए हैं। भगवान नारायण के अंश-रूप भगवान विष्णु पालन का कार्य करते हैं। भगवान शिव से उत्पन्न भगवान रुद्र (शंकर) संहार का कार्य करते हैं। भगवान शिव से उन्हीं के समान ग्यारह रुद्र प्रकट हुए हैं। भगवान ब्रह्मा जी ने कई प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति की है, उनमें कुछ इस प्रकार से हैं– इन्द्र, वसु, आदित्य, देवता, दैत्य, गंधर्व, किन्नर, यक्ष, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, रेंगने वाले जीव, कीट, पेड़,

पौधे आदि। ये सभी प्राणी चौदह लोकों के अंतर्गत आते हैं। पुराणों में वर्णन है कि 84 लाख योनियाँ इस ब्रह्माण्ड में हैं। आज के वैज्ञानिकों ने भी विभिन्न प्रकार के कई लाख जीवधारियों की खोज कर ली है, ऐसा मैंने सामान्य ज्ञान में पढ़ा था। ब्रह्माण्ड में चौदह लोक माने गए हैं। इन चौदह लोकों के ऊपर तीन लोक और भी हैं, जिन्हें क्षर लोकों में नहीं माना गया। इन चौदह लोकों में भूलोक स्थूल जगत है, अन्य सभी लोक सूक्ष्म हैं। इन लोकों के आपस में घनत्व अलग-अलग हैं। इन चौदह लोकों से ऊपर के लोक महाकारण जगत में आते हैं। ईश्वर इसी महाकारण जगत में रहता है। उसका शरीर भी महाकारण तत्त्वों से बना है।

जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं: (1) बद्ध और (2) मुक्त।

बद्ध – इनमें वे जीव आते हैं जो जन्मते और मरते रहते हैं। चौदह लोकों में रहने वाले जीव इसी श्रेणी में आते हैं क्योंकि इनके जन्म और मृत्यु कभी न कभी अवश्य होते हैं। इनमें से कुछ जीवात्माएँ उत्कृष्ट होती हैं जो हमेशा प्रभु स्मरण में लगी रहती हैं तथा मोक्ष की इच्छा रखती हैं, जबकि अधिकतर जीवात्माएँ भोग की इच्छा रखती हैं। इनमें से कुछ की आयु बहुत ज्यादा होती है तथा कुछ की अल्पायु होती है। इनमें से कुछ ईश्वर द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार कार्य करते हैं, कुछ अपनी इन्द्रियों के वशीभूत होकर स्वयं को कर्मों के बन्धन में बांध लेते हैं। अगर वे चाहें तो कर्मों के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

मुक्त – इस प्रकार की जीवात्माएँ संसार में कभी नहीं आतीं। इनका ज्ञान भी कभी क्षीण नहीं होता। भक्ति करने वाले साधक ईश्वर के गुणगान व सेवा में तत्पर रहते हैं। योग करने वाले साधकों के अन्दर एक्यभाव रहता है। ऐसे साधक समाधि के द्वारा ईश्वर के चित्त में अंतर्मुखी रहते हैं। ये स्थान परा-प्रकृति के अन्तर्गत आता है। शास्त्रों के अनुसार परा-प्रकृति के अन्तर्गत तीन लोकों का वर्णन मिलता है। इन लोकों को गोलोक, शिवलोक और वैकुण्ठ कहा गया है।

सृष्टि की शुरुआत में जब जीवात्माएँ मनुष्य शरीर धारण करने के लिए आती हैं, तब उनमें सत्त्वगुण की अधिकता पायी जाती है। उस समय पृथ्वी पर सत्त्वगुण का ही ज्यादा व्यापार चलता है, क्योंकि उस समय पृथ्वी पर सत्त्वगुण का प्रभाव अधिक रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे तमोगुण की अधिकता बढ़ने पर अधर्म की वृद्धि होने लगती है। अंत में अधर्म का नाश करने के लिए व धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वर अंश रूप से अवतार ग्रहण करते हैं।

पृथ्वी पर सत्त्वगुण तथा तमोगुण की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार चार युग कहे गए हैं– (1) सत् युग, (2) त्रेता युग, (3) द्वापर युग और (4) कलियुग। सत् युग के आरम्भ में सत्त्वगुण का ही व्यापार चलता है। सभी मनुष्य सत्यवादी होते हैं तथा पूरी तरह से धर्म पर विश्वास रखते हैं। इसलिए मनुष्य योग, तप व यज्ञ आदि अधिक किया करते थे। जब तमोगुण का प्रभाव थोड़ा बढ़ने लगता है, तब लोग तमोगुण के प्रभाव से अधर्म करने लगते हैं। तब भगवान विष्णु, वराह व नृसिंह आदि का रूप धारण कर अधर्मियों का नाश करते हैं। इस युग में जब अधर्म 1/4 भाग में प्रभावित हो जाता है, तब युग परिवर्तन मान लिया जाता है। उसके बाद से त्रेता युग कहा जाता है। इस युग की शुरुआत में धर्म 3/4 तथा अधर्म 1/4 भाग में रहता है। धीरे-धीरे जब अधर्म बढ़ता रहता है, तब भगवान श्री राम के रूप में अवतार ग्रहण करके अधर्मियों का नाश करते हैं और धर्म की स्थापना करते हैं। इस युग के अंत में 1/2 भाग धर्म रह जाता है तथा 1/2 भाग अधर्म हो जाता है। जब आधा धर्म और आधा अधर्म हो जाता है, तब द्वापर युग की शुरुआत कही जाती है। अधर्म जब और बढ़ता है, तब युग के अंत में भगवान श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अधर्मियों का नाश कर धर्म की स्थापना करते हैं। इस युग के अंत में धर्म 1/4 भाग रह जाता है तथा अधर्म 3/4 भाग हो जाता है, तब कलियुग का आगमन माना जाता है। कलियुग का अर्थ है अधर्म का युग। इस युग में तमोगुण का ही व्यापार अधिक रहता है। धीरे-धीरे अधर्म बढ़ता रहता है। इसलिये धार्मिक स्वभाव वालों को काफी परेशानी उठानी पड़ती है। इस युग में योग, जप-तप, यज्ञ आदि प्राय: लुप्त से होने लगते हैं। कलियुग के अंत में धर्म (सत्त्वगुण) सिर्फ नाममात्र का रह जाता है। लगभग पूरी तरह से अधर्म का साम्राज्य हो जाता है। फिर पृथ्वी पर विनाश शुरू हो जाता है। इसे प्रलय भी कहते हैं। प्रलय के समय सभी मनुष्यों व जीवधारियों की मृत्यु हो जाती है। पृथ्वी जलमग्न हो जाती है।

पृथ्वी पर इन युगों का कारण प्रकृति की विषमावस्था का परिणाम है। सृष्टि के समय तीनों गुणों में सत्त्वगुण की अधिकता रहती है। गुणों की विषमावस्था के कारण, तमोगुण का प्रभाव सदैव बढ़ता रहता है। तमोगुण का प्रभाव बढ़ने से मनुष्यों में अज्ञानता बढ़ने लगती है। अज्ञानता बढ़ने के कारण मनुष्यों की प्रवृत्ति अधर्म में होने लगती है। इसी प्रकार अधर्म सदैव बढ़ता रहता है। प्रकृति का नियम है कि अधर्म एक निश्चित मात्रा में बढ़े। जब धर्म-अधर्म का निश्चित मात्रा में असंतुलन हो जाता है, तब भगवान का अंश अधर्म का नाश करने के लिए अवतार ग्रहण कर लेते हैं, फिर धर्म की स्थापना करते हैं। सत् युग की अवधि सबसे ज्यादा रहती है। अन्य युग क्रमश: कम अवधि के होते जाते हैं।

कहा जाता है कि प्रलय कई प्रकार की होती है। एक प्रकार की प्रलय में पृथ्वी जलमग्न हो जाती है,

ऊपर के लोक बने रहते हैं। फिर, एक निश्चित समय में पृथ्वी का पानी बर्फ रूप में जम जाता है और सृष्टि होनी शुरू हो जाती है। एक अन्य प्रकार की प्रलय में चौदह लोक नष्ट हो जाते हैं। स्वयं ब्रह्मा जी, भगवान नारायण के शरीर में लीन हो जाते हैं। ऊपर के तीनों लोक बने रहते हैं, इसीलिए ये लोक नित्य कहे गये हैं। परंतु आत्यंतिक प्रलय में चौदह लोकों को तथा तीनों ऊपर के लोकों को मूल प्रकृति अपने अन्दर बीज रूप में समेट लेती है। भगवान शिव व भगवान श्रीकृष्ण सगुण रूप छोड़कर निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश कर जाते हैं। मूल प्रकृति भगवान नारायण के अन्दर बीज रूप में लीन हो जाती है। भगवान नारायण अपना सगुण रूप छोड़कर निराकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उस समय सिर्फ तेजोमय ब्रह्म ही रह जाता है। तेजोमय ब्रह्म अनन्त काल तक अकेला रहता है, फिर वही सृष्टि का क्रम चलता है। इस सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या प्रलय के समय सभी को मोक्ष मिल जाता है क्योंकि एक समय ऐसा आता है, जब प्रकृति ईश्वर में, ईश्वर ब्रह्म में लीन हो जाता है। उस समय अच्छे और बुरे कर्म करने वाली जीवात्माएँ सभी एकाकार हो जाती हैं। हाँ, यह सत्य है कि एक समय ऐसा भी आता है, जब तमोगुणी और सत्त्वगुणी, धर्मी व अधर्मी सभी प्रकार की जीवात्माएँ प्रकृति में, प्रकृति ईश्वर में, ईश्वर निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, मगर यह समय अनन्त काल बाद आता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवात्मा मोक्ष का प्रयास न करे अथवा ईश्वर चिन्तन न करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तब अनन्त काल तक, इस दु:ख रुपी संसार में जन्म, आयु व मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा।

साधकों! सृष्टि होने का कारण यह भी है, प्रलय के समय प्रकृति सभी जीवात्माओं को बीज रूप में अपने अन्दर समेट कर ईश्वर में लीन हो जाती है। इस अवस्था में जीवात्माओं के कर्माशय उनको भोगने के लिए शेष रह जाते हैं, इसी कारण सृष्टि होना अनिवार्य होता है क्योंकि जीवात्माओं को उनके कर्म भोगना जरूरी है। सृष्टि के समय जीवात्मा जब प्रकट होती है, तब पूर्वकाल के कर्माशय उसके चित्त में रहते हैं। इन बीज रूपी कर्माशयों के कारण इस जगत में आना पड़ता है, इसलिए जीवात्मा को प्रलय के बाद भी मोक्ष नहीं मिलता।

जब योगी योगाभ्यास द्वारा चित्त के कर्माशय समाप्त कर निर्बीज समाधि का अभ्यास बढ़ाता है, तब उसे शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में योगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा वह प्रकृति के रहस्य को जान लेता है। इसलिए प्रकृति के बन्धन में अपने आपको नहीं बन्धने देता क्योंकि उसने प्रकृति के स्वरूप को भलीभाँति से जान लिया होता है, अब बन्धन में बन्धने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसका

अर्थ यह भी नहीं लगा लेना चाहिए कि उसके चित्त में कर्माशय नहीं रह गये होते हैं, इसलिए स्थूल शरीर छोड़ने के बाद वह ब्रह्म में लीन हो जाएगा। ऐसा योगी अब भी ब्रह्म में लीन नहीं हो पाएगा क्योंकि चित्त में गुणों का आंतरिक परिणाम हो रहा होता है। इस अवस्था वाला योगी महाकारण जगत में अनन्त काल तक समाधिस्थ रहेगा।

मुझे एक अनुभव याद आ गया। मैंने प्रलय का दृश्य देखा है। मैंने यह अनुभव अपने अनुभवों में नहीं लिखा है। अनुभव में यह देखा है कि चन्द्रमा, पृथ्वी, सूर्य और तारे आदि किस प्रकार विलीन होते हैं। सबसे पहले ब्रह्माण्ड भर में ओंकार की ध्वनि गूँजती है। उस ओंकार की आवाज़ से सभी तारों, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि में कंपन पैदा होता है। यह कंपन धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। फिर स्थूल पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों आदि में भयंकर आवाज़ के साथ सभी में विस्फोट हो जाता है। विस्फोट के साथ नक्षत्रों और ग्रहों का स्थूल आकार नष्ट हो जाता है। स्थूल पदार्थ सारे अंतरिक्ष में फैल जाते हैं। उसी समय सारे अंतरिक्ष में आग ही आग नजर आती है। एक निश्चित समय बाद फिर सब कुछ शांत हो जाता है। अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व में विलीन हो जाता है, वायु तत्त्व आकाश तत्त्व में विलीन हो जाता है, आकाश तत्त्व (अपरा-प्रकृति) परा-प्रकृति में विलीन हो जाता है। जब सृष्टि की शुरुआत होने वाली होती है, तब ओंकार की ध्वनि प्रकट होने के बाद भयंकर विस्फोट होता है। विस्फोट के साथ ही प्रकाश व गति उत्पन्न हो जाती है। फिर से सृष्टि का कार्य होना शुरू हो जाता है।

ब्रह्म

ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अनन्त, सर्वव्याप्त, सारे स्रोतों का स्रोत, सत्य, गति से रहित व चैतन्यमय है। ब्रह्म के विषय में ज्यादा जानना अत्यंत कठिन है। आदिकाल से आज तक बड़े-बड़े योगी, ऋषि, मुनि भी ब्रह्म के विषय में अधिक नहीं जान सके हैं। ब्रह्म, गति से रहित होता हुआ भी सबसे तेज गति वाला कहा गया है क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए उसकी उपस्थिति हर जगह पर है। प्रत्येक जगह उपस्थित रहने के कारण उसे सबसे अधिक गति वाला भी कहा गया है। अन्य किसी भी प्राणी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिए कुछ न कुछ समय लगता है, मगर ब्रह्म को कोई समय नहीं लगता, इसलिए वह सबसे तेज गति वाला कहा गया है। सारे तत्त्व ब्रह्म में ही समाये हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो तत्त्व किसी प्रकार गति करेगा, उसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं, जैसे वायु तत्त्व वहीं तक गति कर सकता है जहाँ तक उसका अस्तित्व है। वायु तत्त्व आकाश तत्त्व में समाया हुआ है और आकाश तत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। जो तत्त्व किसी तत्त्व के अन्दर समाया होता है, उसकी एक निश्चित सीमाएं होती हैं। जहाँ तक उसकी सीमाएँ होती हैं, वहीं तक उसका अस्तित्व होता है तथा वहीं तक वह गति कर सकता है, उससे परे नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार आकाश तत्त्व ब्रह्म में समाया हुआ है, इसीलिए आकाश तत्त्व की एक निश्चित सीमा होती है। ब्रह्म किसी में नहीं समाया है, इसलिए उसकी कोई सीमाएँ नहीं हैं। वह आदि-अंत से रहित है, इसीलिए उसे पूर्ण कहते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। सर्वत्र व्याप्त होने के कारण हर जगह उसका अस्तित्व है। दूसरे शब्दों में वह हर जगह उपस्थित है।

जब कोई पदार्थ गति करेगा और अपने लक्ष्य तक पहुँचेगा, तब गति करके अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अवश्य कुछ न कुछ समय लगेगा तथा अपनी परिधि के अन्दर रहेगा क्योंकि उसकी सीमाएँ होती हैं। मगर ब्रह्म असीमित है, हर जगह उपस्थित है, हर जगह अखण्ड रूप से उपस्थित होने के कारण, उसे गति करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मगर सबसे अधिक गतिशील इसलिए कहते हैं क्योंकि किसी पदार्थ को दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिए गति करनी पड़ती है। गति के कारण समय लगता है, मगर ब्रह्म पहले से ही उपस्थित है। उसे किसी प्रकार का समय नहीं लगता। जिसे किसी स्थान पर पहुँचने में किसी प्रकार का समय नहीं लगता, उसे हम यही कहेंगे कि सबसे अधिक गतिशील है। वह काल या समय से भी परे है।

ब्रह्म सारे स्रोतों का स्रोत होने के कारण, सारे तत्त्व अपने में समाहित कर लेता है और सारे तत्त्वों को पुन: प्रकट कर देता है। मगर काल या समय की गणना तो तत्त्वों के प्रकट होने के बाद ही की जाती है

जब प्रकृति अस्तित्व में आती है। ब्रह्म की यह क्रिया प्रकृति को उत्पन्न करना और अपने में समाहित कर लेना, कब से चल रही है, यह कोई नहीं जानता। इसलिए ब्रह्म को काल या समय की परिधि में नहीं बांधा जा सकता, वह इससे सर्वथा परे है।

इस जगत की सृष्टि, स्थिति और प्रलय जिसके द्वारा होती है, वह ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म इन्द्रियों की पहुँच से परे है, सिर्फ ज्ञान के द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि वह स्वयं ज्ञान का स्वरूप है। ब्रह्म का सारे पदार्थों से अलग, उसका निजी निर्गुण शुद्ध स्वरूप है। परन्तु वास्तव में समूची परा- और अपरा-प्रकृति तत्त्व दृष्टि से ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म से भिन्न किसी भी पदार्थ अथवा जीवधारी की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वास्तव में एकमात्र ब्रह्म ही है, जो स्वयं भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है, स्वेच्छा से अलग-अलग पात्रों द्वारा लीला करता है और अन्त में सब कुछ स्वयं में ही समेट लेता है। तात्त्विक दृष्टि से इकलौते ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व कभी हुआ ही नहीं है, और न ही होना संभव है। ब्रह्म प्रकृति के सम्बन्ध से जो सगुण रूप में है, उसका वर्णन तीन रूपों में मिलता है: (1) विराट, (2) हिरण्यगर्भ और (3) ईश्वर।

1. विराट – विराट स्वरूप में वह जड़ और चेतन में अभिव्यक्त हो रहा है। इस शरीर में सारे स्थूल पदार्थ समाए हुए है। महाभारत के समय भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट स्वरूप दिखाया था। अर्जुन को समझाया था कि मोह-वश जिनसे युद्ध नहीं करना चाहते हो, वे पहले से ही मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, तुम (अर्जुन) सिर्फ निमित्त मात्र हो। भगवान श्रीकृष्ण पहले से ही अपने शरीर के अन्दर (विराट स्वरूप में) उन्हें मृत दिखा रहे थे जिनसे अर्जुन लड़ने के लिए मना कर रहे थे, क्योंकि सृष्टि, स्थिति और प्रलय विराट स्वरूप के अन्दर ही स्थित हैं।

2. हिरण्यगर्भ – हिरण्यगर्भ, चेतन तत्त्व व सूक्ष्म पदार्थों से निर्मित होता है। वहीं से सारी सृष्टि का प्राकट्य होता है। हिरण्यगर्भ के विषय में वेद व महाभारत में भी वर्णन मिलता है। उपनिषद में भी इसका वर्णन मिलता है। हिरण्यमय पुरुष का दर्शन योगी सिर्फ उच्चावस्था में कर सकता है क्योंकि वह सूक्ष्म जगत का नायक अथवा अध्यक्ष है। उसका शरीर अत्यंत तेजोमय स्वर्ण के समान सुनहले रंग वाला है। उसके केश व दाढ़ी भी सुनहले रंग के हैं। नाखून से लेकर सारा शरीर स्वर्ण के समान सुनहरा है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति सबसे पहले हुई, फिर उसने सृष्टि के सृजन का कार्य किया। इन्हें विरंच और अजन्मा कहा गया है। हिरण्यगर्भ का स्थान प्रत्येक प्राणी के चित्त पर स्थित हिरण्यगुफा (हृदय गुफा) के अन्दर होता है। हिरण्यमय पुरुष ब्रह्मा जी को कहते हैं।

3. ईश्वर – ईश्वर चेतन तत्त्व व कारण (महाकारण) शरीर से निर्मित है, जैसे– नारायण, शिव, श्रीकृष्ण, आदि। ईश्वर, ब्रह्म का सगुण रूप कहा गया है। भक्त अथवा सगुण उपासक ईश्वर को ही ब्रह्म मानते हैं। ईश्वर के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

एक बार राजा जनक की सभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा– "ब्रह्म क्या है?" महर्षि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया– "गार्गी, वह अक्षय है, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न किसी रंग का है, वह वायु नहीं है, वह आकाश नहीं है, वह असंग है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, उसके नेत्र नहीं हैं, स्त्रोत नहीं है, वाणी नहीं है, मन नहीं है, प्राण नहीं है, सुख नहीं है, परिणाम नहीं है, उसके कुछ अन्दर नहीं है, उसके कुछ बाहर नहीं है, न कुछ भोगता है, न कोई उसका उपभोग करता है।"

ब्रह्म के द्वारा ही सृष्टि की रचना हुई है, फिर भी वह सृष्टि में समाहित होते हुए भी सृष्टि से अलग है। इसी ब्रह्म को माया के सम्बन्ध से ईश्वर कहते हैं। इसी ब्रह्म को अविद्या के सम्बन्ध से जीव कहते हैं। अविद्या के कारण जीव अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियों व स्थूल शरीर को अपना मानने लगता है। इसी कारण ईश्वर, जीव पर शासन करता है। ईश्वर शासक है, जीव शासित होता है।

योगी जब सविकल्प समाधि में बहुत समय तक अभ्यास करता है, तब कुण्डलिनी द्वारा उसका ब्रह्मरंध्र खोल दिया जाता है। ब्रह्मरंध्र खुलने पर योगी को अत्यंत तेजस्वी प्रकाश दिखाई पड़ता है। उस समय सिवाय तेज प्रकाश के कुछ नजर नहीं आता। योगी स्वयं अपने को तेज प्रकाश में स्थित हुआ देखता है। यह तेज प्रकाश अहंकार की एक सात्विक वृत्ति होती है, जो ब्रह्म की ओर से निर्देशन करती है। इस प्रकार का तेज प्रकाश योगी ने पहले कभी नहीं देखा होता। इस अवस्था को प्राप्त होने पर योगी को विशेष प्रकार के आनंद की अनुभूति होती है। इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, सिर्फ अनुभूति की जा सकती है और न ही उस तेज प्रकाश के विषय में कुछ लिखा जा सकता है। सहस्त्रार चक्र में निर्गुण ब्रह्म का निवास स्थान कहा गया है।

साधकों के दो शब्द

जब मैं गुरुदेव से प्रथम बार मिला, तब मैं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर में एक शोध छात्र था। मुझे याद है जब मैं और मेरे कुछ मित्र, जो उनकी पुस्तकों (जो कि संस्थान के पुस्तकालय में उपलब्ध थीं) से प्रभावित थे, उनसे मिलने उनकी कुटिया में गये थे। मिलने पर हम लोगों को योग के बारे में बहुत कुछ नया सुनने को मिला। योगी जी (यही सम्बोधन हम सभी उनके लिए प्रयोग करते थे) के हमारे प्रश्नों के उत्तर देने की शैली में उनका योग के विषय में अधिकार स्वत: ही प्रदर्शित होता था। उस समय मैं आध्यात्मिक विषयों में अति रुचि लेता था और इधर-उधर की पुस्तकें पढ़कर थोड़ा बहुत अभ्यास भी किया करता था। लेकिन मैं इससे सन्तुष्ट नहीं था। इस भेंट के लगभग चार वर्षों के बाद, मैंने पुन: उनसे सम्पर्क किया और मार्गदर्शन की प्रार्थना की। उस समय हालाँकि उन्होंने – मैं इस सम्बन्ध में विचार करूँगा – ऐसा कह कर इसे स्थगित कर दिया। मैंने उनसे सम्पर्क बनाए रखा। एक वर्ष के बाद उन्होंने मार्गदर्शन करना स्वीकार कर लिया। मैं उनकी कुटिया में गया। तीसरे दिन उन्होंने मुझ पर एक विशेष प्रकार का शक्तिपात किया जो कि अपने आप में अति दुर्लभ प्रयोग था। उन्होंने सीधे मेरे कारण शरीर पर शक्तिपात किया था। उन्होंने मुझे ध्यान का अभ्यास सतत् रखने का सुझाव दिया अन्यथा शक्तिपात का समुचित लाभ नहीं लिया जा सकता था। इस शक्तिपात से मेरे भीतर जो सूक्ष्म परिवर्तन हुआ, उसका प्रभाव मेरे भौतिक जीवन पर भी पड़ा। इस शक्तिपात के अगले वर्ष गुरुदेव ने मेरे नीचे के चार चक्र खोल दिए। फिर, इसके अगले वर्ष मेरा कण्ठ चक्र और दो माह बाद मेरा ब्रह्मरन्ध्र भी उन्होंने खोल दिया। मेरी ध्यान में गति बढ़ गयी है। मेरी नींद भी कम हो गयी है। मैं नियमित रुप से ध्यान करता हूँ। मेरे वैवाहिक जीवन का मेरे ध्यान के अभ्यास पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं आता। मैं वर्तमान में कॉलेज में एक प्राध्यापक हूँ। ध्यान के साथ-साथ मैं भौतिक कर्तव्यों का भी निर्वाह करता हूँ। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि ध्यान मनुष्य की मूल आवश्यकता है। ध्यान के अनुभव के बिना यदि हमारा जीवन समाप्त हो जाता है तो यह बड़े दु:ख की बात होगी। ऊपर की आप-कहानी लिखने का मेरा उद्देश्य यह था कि शायद यह पुस्तक आपके लिए भी आध्यात्मिक प्यास जगा जाए।

इस पुस्तक में आप योग के बारे में तो जानेंगे ही, साथ में गुरुदेव जी की अपनी स्वयं की साधना से भी परिचित होंगे; कुछ अद्भुत सूक्ष्म घटनाओं के भी बारे में जानेंगे। साथ में, अध्यात्म विषयक कुछ शब्द, जैसे ब्रह्म, ईश्वर, पुनर्जन्म, मृत्यु, आदि के सटीक अर्थ भी आप समझ पाएँगे। इस पुस्तक के माध्यम से पाठकों के जीवन में एक उच्चतर आध्यात्मिकता का प्रवेश हो जाए, मैं ऐसी कामना करता हूँ।

डॉ. रवीन्द्र

(आई.आई.टी. कानपुर)

सद्गुरु योगी श्री आनन्द जी के बारे में और उनसे जुड़े अपने अनुभव के बारे में लिखते समय मेरी स्थिति – "सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जाइ बखानी।।"– की हो रही है। कहाँ तो उनका विराट व्यक्तित्व! कहाँ मेरी लघु लेखनी! तथापि पाठकों से जुड़ने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ एवम् अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार जो थोड़ाबहुत ग्रहण कर सका हूँ, उसे संक्षेप में निवेदित करता हूँ। यहाँ यह भी बता देना उचित प्रतीत होता है कि मैंने आध्यात्मिक उन्नति की चाह में शास्त्रों का पर्याप्त अध्ययन किया, विद्वानों की दुरूह व्याख्याएँ पड़ी, कुशल मार्गदर्शक की तलाश में जगह-जगह की खाक छानी, लेकिन परिणाम भूसे के ढेर में सूई खोजने जैसा साबित हुआ। साथ ही वैज्ञानिक परिवेश में शिक्षित होने के कारण, सिर्फ कोरे तर्कजाल या अंध श्रद्धा से संतुष्ट हो पाना मेरे लिए संभव नहीं था। मैंने आई.आई.टी., कानपुर से पीएच.डी. किया है और वर्तमान में बेंगलुरु में वैज्ञानिक पद पर कार्यरत हूँ। ऐसे में ईश्वरीय कृपा का अनुपम उदाहरण योगी श्री आनन्द जी से मिलन के रूप में सामने आया। सद्गुरु की तलाश पूरी हुई। फिर उनके मार्गदर्शन में साधना प्रारम्भ हुई। शीघ्र ही कृपापुंज गुरुदेव ने शक्तिपात द्वारा कुण्डलिनी मार्ग के चक्रों को खोल दिया। कालांतर में गुरुदेव से कुण्डलिनी उर्ध्व हुई एवम् वर्तमान में कण्ठ चक्र से ऊपर आज्ञा चक्र एवम् ब्रह्मरंध्र द्वार तक गति करती है। इस दौरान कई अनुभव भी आए, जिनका अर्थ श्री गुरुदेव ने बारीकी से समझाया। साधना एवम् तत्संबंधी अनुभव सिर्फ श्रद्धावश नहीं लिखा गया है, बल्कि गुरुकृपा से ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

पुनश्च– "कहते हैं गुरु दो प्रकार के होते हैं; पहले, शिष्य के वित्त का हरण करने वाले और दूसरे, शिष्य के चित्त का हरण करने वाले।" योगी श्री आनन्द जी उन विरले गुरुओं में हैं जो दूसरी श्रेणी में आते हैं। योग की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने के बाद भी व्यवहार में सरलता एवम् स्पष्टवादिता श्री आनन्द जी के व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करती है। मेरा सौभाग्य है कि उनके मार्गदर्शन में मुझे योग के अभ्यास का अवसर मिला है एवम् समय-समय पर उनकी कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव भी किया है। प्रस्तुत पुस्तक में योगी श्री आनन्द जी ने थोथे पांडित्य से दूर, सहज, सरल शैली में योग के गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर साधकों पर बड़ा उपकार किया है। निश्चय ही यह पुस्तक न केवल योग के प्रारम्भिक अभ्यासियों के लिए बल्कि प्रौढ़ साधकों के लिए भी पठनीय, अनुकरणीय एवम् संग्रहणीय है।"

डॉ. रविकान्त पाण्डेय
वैज्ञानिक, पी.बी.डी.सी.
(फाइजर बायोलोजिक्स डेवलपमेंट सेंटर)
टाइसेल बायो-पार्क, चेन्नई – 113

अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।

तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

हमारे प्राचीन समय के ऋषि मुनियों द्वारा प्रदत्त योग का वास्तविक स्वरूप वर्तमान में प्रायः देखने को नहीं मिलता है, अपितु अधिकांशतः इसे मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों के निवारण तक ही सीमित मान लिया गया है, जबकि इसका वास्तविक फल तो आत्म स्थिति है।

योगी श्री आनन्द जी उन दुर्लभ योगियों में से एक हैं जो साधक को न केवल योग के पूर्ण सत्य से अवगत कराते हैं अपितु स्वयं उन्हें समाधि की अवस्था तक पहुँचने हेतु सहायता भी करते हैं। मैं भाग्यशाली हूँ कि जिसे गुरु जी का कृपा प्रसाद प्राप्त हुआ एवं उन्हीं के मार्गदर्शन में नियमित अभ्यास कर रहा हूँ। जब से गुरु जी ने मेरी कुण्डलिनी जाग्रत करके ऊर्ध्व की है, तब से मेरे जीवन में केवल और केवल सकारात्मक परिवर्तन ही हुए हैं। उदाहरण हेतु मैं पहले की भाँति व्यर्थ चर्चा या वाद विवाद में ना उलझ कर स्वयं की उत्तरोत्तर अंतर्मुखता एवं ध्यान सिद्धि हेतु प्रयास करता रहता हूँ एवं अपनी ऊर्जा को सकारात्मक समाधानों में व्यय करता हूँ।

संतत्व भीतर का गुण है, इसे किसी बाहरी आडंबर की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसे अनेक व्यक्ति जो संतों की वेशभूषा में होते हैं, वे आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन कर अथवा पूर्व में सुने हुए प्रवचनों के आधार पर इस विषय पर चर्चा करते रहते हैं, परन्तु इसमें उनका न तो अपना अनुभव और न ही अभ्यास होता है। अतः मैं उनसे संतुष्ट कम ही हो पाता था, परन्तु गुरु जी की अनुभव सिद्धि एवं अभ्यास को जानकर व योग के वास्तविक मूल को समझ कर मुझ जैसे तार्किक विश्लेषण में समर्थ अच्छे संस्थानों के छात्र भी प्रयोगात्मक अभ्यास करने लगे हैं। अतः मेरे अनुसार एक सफल साधक होने के लिये एक सिद्ध गुरु का होना अत्यंत आवश्यक है, जो साधना की मथनी द्वारा साधक को योग का माखन स्वरूप दिव्य रस चखा देते हैं, जिसे अन्य अनुभवहीन गुरु न तो स्वयं चख पाते हैं और न ही अपने साधकों को चखा पाते हैं, अपितु माखन के प्रतिफल छाछ को पाकर ही प्यासे रह जाते हैं।

गुरु जी ने योग के वास्तविक स्वरूप को अत्यंत सरल शब्दों में वर्णित किया है, जो आप के समक्ष एक पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। मैं निवेदन करता हूँ कि इसे पढ़कर न केवल आप स्वयं लाभान्वित हों, अपितु अन्य मित्रों, संबंधियों को भी लाभ पाने का अवसर दें, जिससे सभी को यह ज्ञात हो सके कि वर्तमान में भी ऐसे कुछ दिव्य महात्मा विद्यमान हैं, जैसे प्राचीन युग में हुआ करते थे।

डॉ. रजत

(आई.आई.टी., कानपुर)

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।

मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

जीवन रूपी नौका अपने सत्य गन्तव्य को केवल तभी प्राप्त कर सकती है जब उसकी पतवार एक अनुभव सिद्ध मार्गदर्शक के हाथ हो। अनेकानेक जन्मों के पश्चात सौभाग्यवश सद्गुरु का सानिध्य प्राप्त होता है।

मैं स्वयम् को भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे इस जन्म में सद्गुरु जी जैसे सिद्ध योगी के दर्शन भी हुए और समय-समय पर उनका सानिध्य भी प्राप्त होता है। सद्गुरु जी से भेंट होने के पूर्व, मैंने उनके द्वारा रचित पुस्तकों का अध्ययन किया, जिसके लिए मैं श्रीमान अंशुल खण्डेलवाल जी का आभारी हूँ। अध्ययन के पश्चात ही मैं अपने क्षणिक अनुभव का सत्य जान पाया अन्यथा मैं उसे एक स्वप्न जानकर ही जी रहा था एवम् तभी से मुझ में एक नयी जिज्ञासा का संचार हुआ कि मैं भी सद्गुरु जी से मार्गदर्शन एवम् उनकी कृपा प्राप्त करूँ एवम् अपने जीवन को वास्तविक अर्थों में सफल बनाऊँ। ऐसे उच्च कोटि के योगी संत विरले ही दर्शन देते हैं क्योंकि वे तो सदैव ब्रह्म चिंतन में ध्यानस्थ एवं आत्मस्थ होते हैं, किन्तु सद्गुरु जी सुपात्रों पर करुणा करके अपने शिष्य होने का सौभाग्य प्रदान करते हैं एवं सभी शिष्यों के कल्याण में सदैव तत्पर रहते हैं। मैं जब भी उनके समीप जाता हूँ, मुझमें शक्ति का संचार होने लगता है।

सद्गुरु जी के मुखमंडल पर एक सहज बालस्वरूप हास्य सदैव शोभायमान रहता है। वे अति गूढ़ रहस्यों को सरलता से उद्घाटित करते हैं एवं संशयों का निवारण करते हैं। सद्गुरु जी के समान मैंने अपने जीवन में किसी और योगी के दर्शन नहीं किए हैं; वे अतुल्य हैं एवं उनमें एक दिव्यानन्द स्वतः प्रस्फुटित होता दिखाई देता है, जिसका अभिलाषी ये चराचर जगत है। सद्गुरु जी अवगुणों को सद्गुणों में परिवर्तित करने का सामर्थ्य रखते हैं एवं शिष्यों को उनके स्वरूप ही बनाते जाते हैं। वे वर्तमान समय के ध्यान योग के सूर्य हैं, जिनसे अनेक साधक प्रकाशमान हुए हैं और हो रहे हैं।

अतः मैं प्रतिदिन सद्गुरुदेव जी के श्री चरणों एवं दिव्य मुखमंडल का स्मरण करता हूँ एवं परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि सद्गुरु जी के प्रति मेरी यह श्रद्धा एवं विश्वास अटूट रहे और मुझे वो सामर्थ्य दें जिससे मुझे भी उनका वरद हस्त एवं कृपा प्राप्त हो सके।

आशीष जोशी
वैज्ञानिक अधिकारी
एप्सीजेन टेक्नोलोजिस प्राइवेट लिमिटेड,
एस. आई. डी. बी. आई. (आई.आई.टी., कानपुर)

योगी श्री आनन्द जी से मेरा प्रथम परिचय मई 2009 में उनकी पुस्तक 'योग कैसे करें' के माध्यम से हुआ था, जब मैं आई.आई.टी., कानपुर में एम.टेक. अध्ययनरत विद्यार्थी था। उनके आध्यात्मिक अनुभव इतने अद्भुत और अलौकिक थे कि मैं उनके विषय में जानने को आतुर हो गया। बचपन से ही मेरे मन में गहन आध्यात्मिक जिज्ञासा और रुचि रही है, और ऐसे सच्चे संतों से मिलने की हार्दिक उत्कंठा, जिन्होंने स्वयं अपने जीवन में आध्यात्मिक रहस्यों का अन्वेषण कर निज अनुभव द्वारा सच्चा ज्ञान प्राप्त किया हो। जैसे ही मुझे किसी के माध्यम से यह ज्ञात हुआ कि वे अभी भी जीवित हैं, मैं यथाशीघ्र उनके निवास स्थान के विषय में पड़ताल कर एक मित्र के साथ उनके गाँव तक उनसे मिलने गया। जनजीवन से कटे उनके गाँव, जहाँ अब तक बिजली के तार ही नहीं बिछे हैं, तक पहुँचने में बहुत सी असुविधाओं का सामना करते हुए जब मैं घंटों तक भटकने के बाद उनके गाँव तक पहुँचा, तो पता चला कि वे जंगल में एक कुटिया बना कर रहते हैं। उस समय वह कुटिया कच्ची ही थी। उस दिन उनसे प्रथम भेंट मेरे जीवन का सबसे अविस्मरणीय अनुभव बन गया। मैंने उनसे अपनी अनेक जिज्ञासाएँ भी शांत की। उस रात हम उनके साथ अधिक समय बिताने के मंतव्य से रात में उनके गाँव ही रुक गए, और फिर अर्धरात्रि तक विभिन्न रोचक विषयों पर चर्चा होती रही। तब से लेकर आज तक, जब मैं राजस्थान तकनीकी विश्वविद्यालय में शिक्षक के रूप में कार्यरत हूँ, मैं उनके निरंतर संपर्क में रहा हूँ। उनका मेरे आध्यात्मिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव रहा है।

2010 से 2015 तक जब मैं आई.आई.टी., कानपुर से पीएच.डी. कर रहा था, योगी श्री आनन्द जी का असंख्य बार संस्थान में आने का प्रयोजन हुआ। उनके आने का मुख्य उद्देश्य जनमानस में अध्यात्म का प्रचार और लोगों की जिज्ञासा शांत करना होता था। अनेक बार मेरे कमरे पर गोष्ठियाँ हुईं, जिनमें अनेक लोगों ने आकर हर प्रकार के प्रश्न पूछे। मुझे योगी श्री आनन्द जी की सबसे बड़ी खूबी उनकी ईमानदारी लगी; वो हर बात का जवाब अपने अनुभव से ही देते थे। जिस विषय का उन्हें ज्ञान नहीं होता था, सरलता से बता देते थे। बिल्कुल एक साधारण व्यक्ति की तरह रहना और सबसे सरलता से बात करना उनके व्यक्तित्व की ऐसी विशेषताएँ हैं कि किसी के लिए भी उनकी वास्तविक अवस्था का अनुमान लगाना कठिन है। बाद में जब उन्हें चुनिन्दा लोगों को आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ा देने का संदेश प्राप्त हुआ, तो उन्होंने कुछ युवाओं को चुन कर अपना शिष्य बनाया, जिनमें से कई मेरे घनिष्ठ परिचित थे। मैंने खुद लोगों को परिवर्तित होते देखा और मित्रों ने भी बताया कि कैसे योगी जी इच्छा मात्र से कुण्डलिनी को जाग्रत और ऊर्ध्व कर देते हैं, और अत्यन्त कठिनता से खुलने वाले चक्रों का बात-ही-बात में भेदन कर देते हैं। मैंने एक साथी को, जिसके ऊपर योगी श्री आनन्द जी ने कारण शरीर के स्तर पर शक्तिपात किया था, बातों के बीच ही में समाधिस्थ होते देखा। ये घटनाएँ योगी जी के योगसामर्थ्य की प्रत्यक्ष प्रमाण थीं। इसी प्रकार उनके शिष्यों से मैंने अविश्वसनीय दिव्य अनुभव सुने। योगी जी एक पारस के समान हैं, जो किसी भी साधक को क्षण-भर में रूपांतरित कर देने का सामर्थ्य रखते हैं।

आज जब योगी जी की प्रथम पुस्तक के द्वितीय संस्करण के विषय में 'दो शब्द' लिखने का अवसर मिला, तो मैं खुद को गौरवान्वित महसूस कर रहा हूँ। पाठकों, यह पुस्तक अमृत कणों से भरी हुई है, जिसमें योग के अनछुए रहस्यों से पर्दा उठाया गया है। चूँकि इसमें वर्णित तथ्य स्वयं योगी जी के दीर्घ साधनामय जीवन के श्रमसाध्य शोध के अनुभव हैं, अतः मुझे कोई संशय नहीं कि इसमें योगमार्ग और जीवन के गोपनीय रहस्यों के विषय में अत्यन्त प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराई गयी है, जो वर्तमान काल में बहुत ही दुर्लभ है। योगी जी साधारण वेश में एक सिद्ध पुरुष हैं, और इतने उच्च कोटि के योगी का वर्तमान काल में मिलना अत्यंत दुर्लभ है। उनसे मिलकर मेरा जीवन कृतार्थ हो गया। इस सम्पूर्ण पुस्तक का मैंने स्वयं गहराई से अध्ययन किया है। किसी भी साधक के मार्गदर्शन हेतु यह एक बेहतरीन पुस्तक है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रसार हो, ताकि ज्यादा-से-ज्यादा लोग इससे लाभान्वित हो सकें और अपना अनमोल मानव जीवन सफल बनाएँ, ऐसी मेरी शुभकामनायें हैं।

प्रो॰ अंशुल खण्डेलवाल

राजस्थान तकनीकी विश्वविद्यालय

मैं गुरुजी से 2014 में मिला था। उनसे मिलने के बाद से ही मैंने ध्यान शुरू कर दिया था। वो दिन याद है, जब उन्होंने मुझ पर शक्तिपात किया था, तब मुझे मूलाधार में गरम-गरम महसूस हुआ था। उसके बाद मैंने अपनी ध्यान की अवधि बढ़ा दी थी। शुरू में मुझे वायु के बुलबुले जैसा कुछ मूलाधार में महसूस हुआ और वो बुलबुला रीढ़ की हड्डी के सहारे ऊपर चढ़ते हुए भी महसूस हुआ। अब मुझे ध्यान करते-करते एक साल हो गया है और कभी-कभी कुण्डलिनी की कण्ठ चक्र तक अनुभूति होती है। गुरुजी बहुत उच्च कोटि के योगी हैं। मुझे ध्यान में जो भी उपलब्धि मिली है, उनकी वजह से ही मिली है। यह उनका मुझ पर कृपा प्रसाद है।

विपुल
एम.टेक.
(आई.आई.टी., दिल्ली)

आई.आई.टी., दिल्ली में एम.टेक. करते समय इस पुस्तक के द्वारा ही योगी आनन्द जी (गुरुजी) हमें गुरु रूप में प्राप्त हुए। गुरुजी ने अपनी कठोर साधना और अभ्यास से जो आध्यात्मिक ज्ञान व अनुभव प्राप्त किया है, उन्होंने उसका इस पुस्तक में सरल व सहज भाषा में वर्णन किया है जो सभी साधकों के लिए बहुत लाभकारी है। साथ ही अगर कोई साधक, गुरूजी की साधना पद्धति का निष्ठापूर्वक अभ्यास करे तो वह स्वयं अपने शरीर में कुण्डलिनी की अनुभूति करेगा, जैसा मैंने किया। अत: मेरा सभी पाठकों से निवेदन है कि वे एक बार इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें तथा अपना आध्यात्मिक विकास करें।

विकास
एम.टेक.
(आई.आई.टी., दिल्ली)

योगी आनन्द जी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

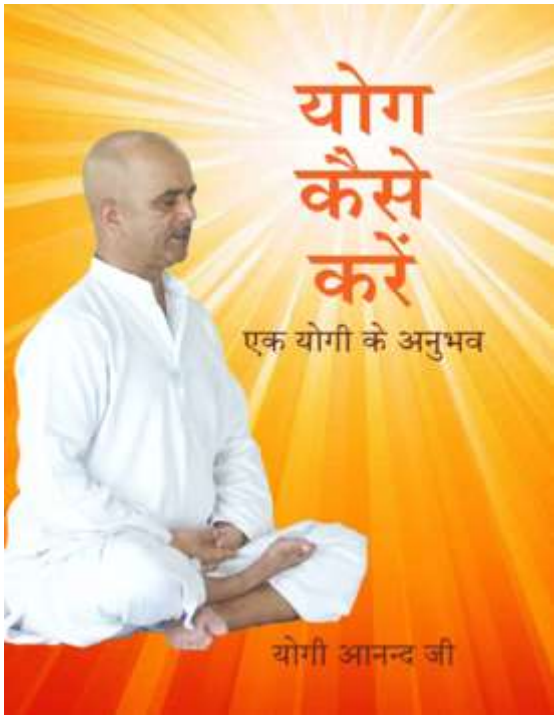

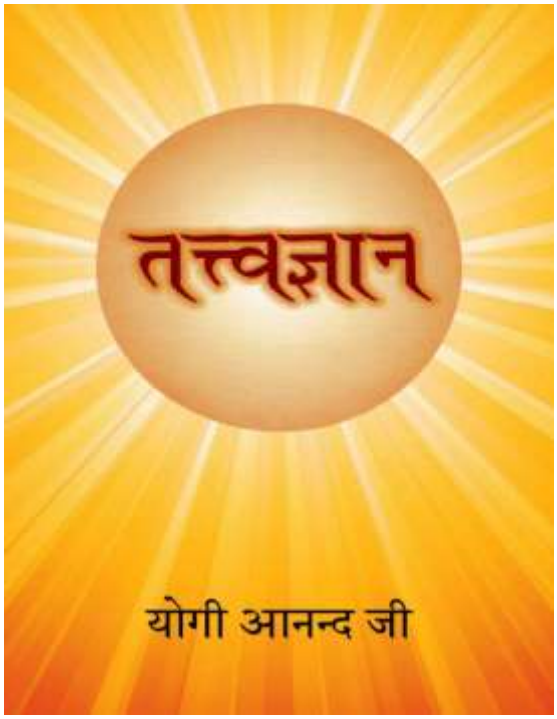

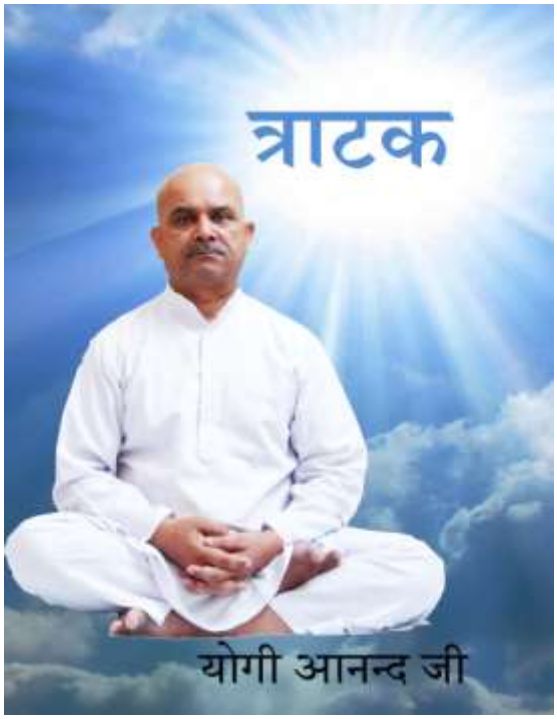

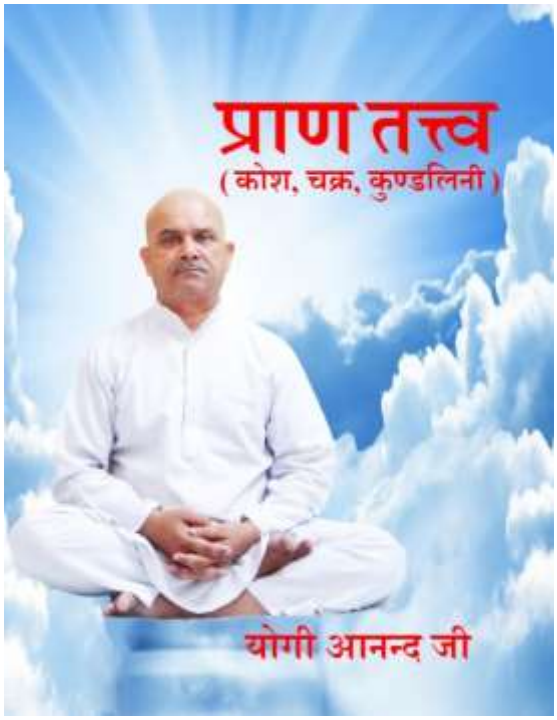

हे साधकों!

"लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संयम, परिश्रम, धैर्य और संतोष का होना आवश्यक है। मार्ग में अवरोध अवश्य आएंगे। स्वयं अभ्यासी का शरीर, प्राण और मन अवरोध उपस्थित करेगा। अभ्यासी को ठहरना नहीं है। अवरोधों को समझिये, सुलझाइये, अगर न सुलझें तो छलांग लगा कर पार हो जाइये। अभ्यास की निरन्तरता बनाए रखें। सफलता आपका स्वागत करेगी।"

-योगी आनन्द जी

ISBN 978-93-5288-031-7

Email id: anandkyogi@gmail.com
Facebook: http://www.fb.com/sahajdhyanyog
Website: http://www.kundalinimeditation.in/
Youtube: http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog